ओ३म्

सामवेद संहिता

छन्द आर्चिकः

अथाग्नेयं पर्व काण्डं वा

तत्र

प्रथमे प्रपाठके प्रथमार्द्धः

(प्रथमाध्याये प्रथमा दशतिः)

अग्न आयाहीत्यस्या भरद्वाज[1] ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः ॥

२ ३ १ २ ३ १२ ३ २ ३ १ २
१—अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये ।
१ २र ३ १ २
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥१॥

अथ प्रकरणशः मन्त्र-भाष्य का आरम्भ किया जाता है ॥

इस छन्द आर्चिक नामक सामवेद के प्रथम भाग में ३ पर्व हैं १—आग्नेय २—ऐन्द्र और ३—पावमान । इन में से पहिले आग्नेय पर्व में ११८ मन्त्र हैं जिन में विशेष कर अग्निपदवाच्य का वर्णन है ॥

---

[1] वाजस्यान्नस्य भरणाद् भरद्वाजः इति सार्थक संज्ञा—अन्न के भरण से "भरद्वाज" नाम हुआ ॥

उसमें—प्रथम प्रपाठक का प्रथमार्ध—

पहिले अध्याय की पहिली दशति

भावार्थः— (अग्ने) हे प्रकाश के पुञ्ज ! **(वीतये)** कान्ति प्राप्ति वा हव्य खाने के लिये **(आग्न्हि)** प्राप्त हूजिये । कैसे हो तुम ? **(गृणानः)** स्तुति किये हुए और **(होता)** हव्यपदार्थों के लेने वाले हो । **(र्बाहिषि)** यज्ञ में **(नि, सत्सि)** विराजिये **(हव्यदातये)** वायु आदि देवों को हव्य देने=पहुँचाने के लिये ।

इस प्रकार के मन्त्रों में "हे अग्ने" इत्यादि सम्बोधन के व्यवहार को देख कर कोई लोग शङ्का करते हैं कि "वेदों में विशेष करके अचेतन जड़ों का सम्बोधन देखा जाता है सो किस कारण ?"

उत्तर—निरुक्त(अध्याय ७ । खं० १)में लिखा है कि वेद में तीन प्रकार की ऋचा हैं । १—परोक्षकृता २—प्रत्यक्षकृता और ३—आध्यात्मिकी । फिर उसी निरुक्त (७ । २) में लिखा है कि १—प्रत्यक्षकृता वे हैं जिनमें मध्यम पुरुष का योग है और "त्वम्" इस सर्वनाम से व्यवहार है । इसीलिये वेदों में अग्नि आदि प्रत्यक्ष देवताओं (व्यावहारिकों) का मध्यम पुरुष के प्रयोगों और "तुम" इस सर्वनाम से सम्बोधन करके वर्णन किया है । अर्थात् वेद की यह शैली (मुहावरा) है कि प्रत्यक्ष अग्न्यादि पदार्थों का वर्णन इस ढंग से किया जाता है । ऐसा ही आगे भी सर्वत्र जानो । बार-बार न लिखेंगे । तात्पर्य यह है कि अग्नि को अग्निकुण्ड में बुलाना अर्थात् आधान करना चाहिये इस लिये कि होमे हुए द्रव्यों को वायु आदि में फैलावे और हुतद्रव्यों को प्रक्षेप करके फैलाने वा भक्षण करने के लिये । प्र०—वह अग्नि कैसा है ? उ०—जिस की स्तुति की जाती है । प्र०—अग्नि आदि जड़ पदार्थों की स्तुति से क्या फल है ? उ०—जिस प्रकार परमेश्वर की स्तुति अर्थात् गुणानुवाद करने से उसमें श्रद्धा उत्पन्न होती है इसी प्रकार अग्नि आदि जड़ पदार्थों के गुण वर्णन करने से उन गुणों के द्वारा उपकार लेने की श्रद्धा उत्पन्न होती है अर्थात् होमादि करने का क्या फल है, शिल्पादि में अग्नि क्या काम देता है, इत्यादि विदित होता है । इस लिये गुणकीर्त्तन व्यर्थ नहीं । इस मन्त्र का अग्नि देवता है अर्थात् अग्नि का इसमें वर्णन=स्तुति है । अग्नि शब्द मुख्य करके परमात्मा का वाचक है इसलिये ईश्वरपक्ष के श्लेषालङ्कार वाले अर्थ में यह आशय होगा कि—

हे **(अग्ने)** प्रकाशमय ! आप हमारे **(र्बाहिषि)** यज्ञ में अर्थात् ज्ञानयज्ञरूप ध्यान में **(आयाहि)** प्राप्त हूजिये, **(गृणानः)** आप स्तुत किये हुए हैं, **(होता)** आप सबको सब पदार्थों के दाता हैं । **(नि, सत्सि)** विराजिये । किस लिये ? **(वीतये)** हृदय में प्रकाश करने के लिये और **(हव्यदातये)** भक्ति का फल देने के लिये ॥

वेदों में प्रायः श्लेषालङ्कार[1] है जिससे दो अर्थ होते हैं, जिनमें से परमार्थ-विषयक ईश्वरार्थ तो मुख्य ही है। क्योंकि कठोपनिषद् (२ । ५) में लिखा है कि:– [**सर्वे वेदा यत्०**] "समस्त वेद जिस पद का सब प्रकार से मनन करते हैं वह ओंकार है" ओ३म् परमात्मा का नाम है। जैसा कि योगशास्त्र में लिखा है कि "परमात्मा का वाचक प्रणव ओङ्कार है (१ । २७)" तो जब कि अग्नि आदि पदों से परमात्मा का ग्रहण किया जावे तभी यह ठीक घट सकता है कि समस्त वेद परमात्मा का वर्णन करते हैं। वास्तव में प्रकाशादि जो दिव्य गुण हैं सो परमात्मा में असीम(बेहद) भाव से वर्त्तमान हैं इसलिये अग्नि आदि पदों का मुख्य अर्थ तो परमात्मा ही है परन्तु वे प्रकाशादि गुण ससीम(हद्दवाले) होकर अग्नि आदि भौतिक पदार्थों में भी किसी अंश तक रहते हैं इस लिये उस अंश में वे भौतिक पदार्थ देवता कहे जाते हैं। इसी लिये सम्पूर्ण देवतावाचक पदों से पूर्ण भाव में तो परमात्मा ही वेदों में विवक्षित है परन्तु यौगिकार्थ से किसी अंश तक भौतिक पदार्थ भी विवक्षित जानने चाहियें ॥

इस प्रकार सब जगह देवता शब्द से उस मन्त्र का वर्णन किया पदार्थ और ऋषि शब्द से उस-उस मन्त्र के अर्थ का अनुभव करने वाला ऋषि, तथा स्तुति शब्द से उस के गुणों का वर्णन (बयान), और सम्बोधन से उस-उस पदार्थ का प्रत्यक्ष होना, समझना चाहिये। यह ठीक स्मरण रखना चाहिये क्योंकि आगे बार-बार यह नहीं लिखा जायगा। यह ऋचा ऋग्वेद मं० ६ । सूक्त १६ । ऋ० १० में भी ज्यों की त्यों है ॥ १ ॥

अथ द्वितीया । ऋष्याद्याः पूर्ववत् ॥

१ २   ३ २ ३   २ ३   १ २   ३ २
२—त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः ।
३ २ ३ १ २३ १ २
देवेभिर्मानुषे जने ॥ २ ॥

भावार्थः—[**अग्ने**] हे अग्ने ! तुम (**विश्वेषाम्**) सब (**यज्ञानाम्**) अग्निष्टोमादि कर्मयज्ञों के (**होता**) होम करने वाले (**देवेभिः**) विद्वान् ऋत्विजों द्वारा (**मानुषे, जने**) यजमान के यहां (हितः) स्थापन किये जाते हो ॥

भावार्थः—स्पष्ट है कि अग्नि ही सब यज्ञों का होता है, वही हव्य पदार्थों

[1] श्लेषालङ्कार के २ भेद हैं, शब्दश्लेष और अर्थश्लेष । जिनमें से अर्थश्लेष वह कहाता है जिसमें एक पद वा वाक्य में अनेक अर्थ हों ॥

को होमता=फूंकता है. उसे ही होता उद्गाता अध्वर्यु आदि ऋत्विज् लोग यजमान के घर कुण्ड में स्थापित करते हैं सो करें ॥

ईश्वर विषय में:—(अग्ने) हे प्रकाशमान ! तुम (विश्वेषाम्) समस्त (यज्ञानाम्) ब्रह्मयज्ञादि ज्ञानयज्ञों के (होता) ग्रहण करने वाले यज्ञस्वामी हो, तुम (देवेभिः) विद्वान् उपासकों से (मानुषे, जने) मनुष्य वर्ग में (हितः) धारण किये जाते हो ॥

इस से विदित कराया गया है कि परमात्मा सब ज्ञानयज्ञों का स्वामी अधिष्ठाता है, सब मनुष्यों में वे मनुष्य जो उपासक हैं उस का ध्यान करते हैं सो करें ॥ यह ऋचा भी ऋग्वेद (६ । १६ । १) में ज्यों की त्यों है ॥ २ ॥

अथ तृतीया—अग्निं दूतमित्येषा कण्वपुत्रेण मेधातिथिना दृष्टा ।

छन्दोदेवते पूर्ववत् ॥

३ २ ३१ २ ३ १ २ ३ १२
३—अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् ।
३ २ ३१ २ ३१ २
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥३॥

भाषार्थः—(विश्ववेदसम्) सब को जताने वाले (होतारम्) देवों के बुलाने वाले (अस्य) इस (यज्ञस्य) यज्ञ के (सुक्रतुम्) सुधारने वाले (दूतम्) दूत (अग्निम्) अग्नि को (वृणीमहे) हम वरण करते हैं अर्थात् स्वीकार करते हैं ॥

तात्पर्य यह है कि यज्ञ का अग्नि दूत है । जिस प्रकार दूत द्वारा बुलाने वा सत्कार करने योग्यों को बुलाते हैं इसी प्रकार अग्नि द्वारा वायु आदि देवों को बुलाया जाता है । इस का प्रकार यह है कि जब कुण्ड में अग्नि स्थापना करके होम करते हैं तो अग्निकुण्ड के ऊपर छाये हुए वायु और वायु के अन्तर्गत अन्य ३३ में से कई भौतिक देवों को आहुति पहुंचा कर अग्नि अपनी उष्णता से हलका कर देता है, तब हलकी (लघु) वस्तु स्वाभाविक रीति पर जल पर तैल के समान ऊपर को हट जाती है और उसका स्थान रिक्त (खाली) हो जाता है परन्तु चारों ओर का वायु और उसके अन्तर्गत अन्य देव फिर उस स्थान को भर देते हैं, अग्नि फिर उन्हें भी अपनी उष्णता से आहुति पहुँचा हलका करके ऊपर को हटा देता है । इसी प्रकार बार-बार होता है, इस रीति से अग्नि दूत है जो वायु आदि देवनां का आवाहन कर करके विसर्जन करता जाता है । अग्नि सबका जताने वाला इसलिये

है कि अग्नि में प्रकाश है और प्रकाश ज्ञान का साधन है, जहां प्रकाश होता है वहां जाना जाता है कि क्या है क्या नहीं है ? अन्धकार में अज्ञान होता है ॥

ईश्वर विषय में:—(विश्ववेदसम्) सब के लिये वेदों द्वारा ज्ञान के दाता **(होतारम्)** व्यापकता से सब के ग्रहण करने वाले **(दूतम्)** कर्मों का फल पहुंचाने वाले **(अस्य)** इस **(यज्ञस्य)** योगयज्ञ के **(सुक्रतुम्)** संवारने वाले **(अग्निम्)** परमात्मा को [हम यजमान उस के भक्त उपासक लोग] **(वृणीमहे)** वरण करते हैं—स्वीकार करते हैं ॥

परमात्मा ही वेद द्वारा सब को ज्ञान का दाता, सब को कर्मफलप्रदाता, सब को सर्वत्र व्यापक होता हुआ पकड़ रहा है वा धारण कर रहा है, वही हमारी उपासना के सुन्दर फल का सम्पादक है, उसी की हम भक्ति करें यह आशय है ॥

अष्टाध्यायी ३। २। १३५॥ ६। १। ३४॥ उणादिकोष ४। २६८॥ निघण्टु २। १॥ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखो। सायणाचार्य भी लिखते हैं कि तैत्तिरीय में कहा है कि "अग्नि देवों का दूत है" इत्यादि। यह ऋचा भी ऋग्वेद (१। १२। १) में भी ऐसे ही है॥ ३॥

अथ चतुर्थी -अग्निर्वृत्राणीत्येषा भरद्वाजेन दृष्टा। छन्दोदेवते पूर्ववत् ॥

४—अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद्द्रविणस्युर्विपन्यया।
समिद्धः शुक्र आहुतः॥ ४॥

भावार्थ:—(विपन्यया) कीर्तन से कीर्तित **(द्रविणस्युः)** बल चाहता हुआ **(समिद्धः)** सुलगाया हुआ **(शुक्रः)** श्वेत=प्रज्वलित होता हुआ **(आहुतः)** सब ओर से होमा हुआ **(अग्निः)** अग्नि **(वृत्राणि)** दुःखदायक रोगादिकों को **(जङ्घनत्)** हनन करे॥

आशय यह है कि वेदोक्त मन्त्रों से अग्नि का कीर्तन करना चाहिये इस से होम के साथ मन्त्र पढ़ने से तात्पर्य है। जिस से अग्नि के गुण ज्ञात होकर उस के उपयोग की शिक्षा मिले। वह अग्नि बल को चाहता अर्थात् समिधा आदि द्वारा अपने को बढ़ाना चाहता है, उसे बढ़ना चाहिये, यह शिक्षा है। प्र०—अग्नि जड़ है उसमें चाहना नहीं बन सकती। उ०—भींत गिरना चाहती है, आग फूंकना चाहती है। जैसे यह व्यवहार है वैसे ही यहां भी जानो। जब वह अग्नि सुलगाया जाता है और प्रदीप्त होता है और चारों ओर से होम किया जाता है तब सब ओर के वृत्र

अर्थात् अन्धकारों, दुःखदायक रोगों और अनावृष्ट्यादि दुःखों को हनन करता है, सो करे। इसलिये मनुष्यों को यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिये ॥

ईश्वर विषय में: – **(विपन्यया)** स्तुति से **(द्रविणस्युः)** भक्तों को आत्मिक बल का चाहने वाला **(समिद्धः)** अच्छे प्रकार ध्यान किया हुआ **(शुक्रः)** बलवान् और बलप्रदाता **(आहुतः)** सर्वथा भक्ति किया हुआ **(वृत्राणि)** अविद्यादि अन्धकारों, दुःखों और दुःखसाधनों को **(जंघनत्)** हनन करे। इसलिये सबको नित्य परमात्मा की स्तुति प्रार्थना उपासना श्रद्धा भक्ति से करनी चाहिये।

निघण्टु ३।१४॥ २।६॥ अष्टाध्यायी ७।४।३३॥ ७।४।३५॥ ७।४।३६॥ ३।४।७॥ ३।२।१६८॥ ३।२।१७७ के प्रमाण संस्कृत-भाष्य में देखने चाहियें। यह ऋचा भी ऋ० ५।१६।३४ में ठीक इसी प्रकार है॥ ४॥

अथ पंचमी – उशनसा दृष्टा। छन्दोदेवते उक्ते॥

५ – प्रेष्ठं वो अतिथिं स्तुषे मित्रमिव प्रियम्।
अग्ने रथं न वेद्यम्॥ ५॥

भावार्थः – हे मनुष्यो! **(मित्रमिव प्रियम्)** मित्र के समान हितसाधक **(प्रेष्ठम्, अतिथिम्)** अत्यन्त प्रिय, अतिथि **(वेद्यम्)** वेदी में स्थित **(रथं, न)** रथ के समान देवतों के वाहन **(अग्ने)** अग्नि को **(वः)** तुम्हारे उपकारार्थ **(स्तुषे)** कीर्तन करता कहता अर्थात् उपदेश करता हूं॥

परमात्मा उपदेश करता है कि अग्नि तुम्हारा मित्र के समान हितसाधक है, तुम को उससे अत्यन्त प्रीति करनी चाहिये, वह अतिथि के समान एक स्थान में स्थित नहीं रहता, उसका स्वभाव सदा चलने का है, तुम उसे वेदी में स्थापन करो, वह रथ के समान वायु आदि का वाहन है अर्थात् अग्नि की सहायता से वायु चलता और अन्य सब भौतिक देव चलते हैं। इसी अग्नि से आन्धी आती तथा वायु का संचार होता है, इत्यादि जानो॥

उणादिकोष ४।२॥ निरुक्त १।४॥ ऋग्वेद ८।७३।१॥ अष्टाध्यायी ३।१।२४ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखने चाहियें।

ईश्वर विषय में – हे मनुष्य! **(मित्रमिव, प्रियम्)** मित्र के समान, कल्याण-कारक **(प्रेष्ठम्)** अतिप्रिय **(अतिथिम्)** निरन्तर व्यापक **(वेद्यम्)** जानने योग्य वा हृदयरूप वेदी में ध्यान करने योग्य **(रथं, न)** रथ के समान सब के आधार और वाहक पहुँचाने वाले **(अग्निम्)** प्रकाशमान परमात्मा को **(स्तुषे)** तू स्तुति कर।

ऋ० ८ । ७३ । १ में "अग्ने" के स्थान में "अग्नि" यही भेद है, अन्य सब पद तुल्य हैं ॥ ५ ॥

अथ षष्ठी–सुदीतिपुरुमीळाभ्यां तयोरन्यतरेण वा दृष्टा । छन्दोदेवते उक्ते ॥

६—त्वं नो अग्ने महोभिः पाहि विश्वस्या अरातेः ।
उत द्विषो मर्त्यस्य ॥ ६ ॥

भावार्थ (**अग्ने, त्वम्**) अग्ने ! तुम (**महोभिः**) हवनादि से (**विश्वस्याः**) सब (**अरातेः**) दुःखदायक (**उत**) और (**मर्त्यस्य, द्विषः**) मनुष्य के शत्रु से (**नः**) हम को (**पाहि**) बचाओ ॥

अर्थात् जब मनुष्य होमादि से अग्नि का उपयोग लें और अग्नि को अपने अनुकूल करें तब वह अग्नि वायु आदि की शुद्धि द्वारा मनुष्य के शत्रु दुःखदायक जो रोग शोक दुःखादि हैं उन सब से बचाता है । इस लिये मनुष्यों को अग्नि द्वारा यज्ञ करना चाहिये जिस से मनुष्य के हानिकारक जो वाय्वादिगत दोष हैं और उन में उत्पन्न हुए जो सूक्ष्म संक्रामक कीड़े आदि हैं उनका नाश हो और मनुष्य सुखी हों । प्र०—अग्नि जड़ है वह प्रसन्न वा अनुकूल कैसे हो सकता है ? उ०—जब जिस पदार्थ के गुण भले प्रकार सेवन किये जाते हैं तब वह चेतन वा अचेतन कोई हो, अनुकूल हो जाता है । पित्तकोप वा कफप्रसाद के समान जड़ में भी कोप और शान्ति का व्यवहार होता है । इसलिये प्रश्न को अवकाश नहीं ॥

ईश्वर पक्ष में—भी यही अर्थ है कि मनुष्यों को परमात्मा की पूजा अर्थात् स्तुति प्रार्थना उपासनादि करनी चाहिये जिससे सब प्रकार के मनुष्य के दुःख और दुःखदायक शत्रु निवृत्त हों ॥ ऋग्वेद ८ । ६०।१ में भी ऐसी ही ऋचा है ॥ ६ ॥

अथ सप्तमी—भरद्वाजेन दृष्टा । छन्दोदेवते उक्ते ॥

७—एह्यू षु ब्रवाणि तेऽग्न इत्थेतरा गिरः ।
एभिर्वर्धास इन्दुभिः ॥ ७ ॥

भावार्थः—(**अग्ने**) हे अग्ने (**एहि**) आओ (**ते**) तुम्हारे द्वारा (**इत्था**) सत्य [वैदिक] और (**इतराः**) अन्य लौकिक (**गिरः**) वाणियों को (**सु, ब्रवाणि**) उच्चारण करूँ । और तुम (**एभिः**) इन (**इन्दुभिः**) यज्ञों से (**वर्द्धासि**) बढ़ते हो ॥

तात्पर्य यह है कि लौकिक वैदिक सब प्रकार की वाणी अग्नि ही की सहायता से बोली जाती है क्योंकि वाक् इन्द्रिय का अग्नि देवता है वा यह समझिये कि वाक्

इन्द्रिय अग्नि का प्रधान कार्य है। इसी से "मुख से अग्नि उत्पन्न हुआ" यह यजुः ३१।१२ में तथा "शब्द स्पर्श और रूप ये तीन अग्नि के गुण हैं" यह महाभारत शान्तिपर्व अध्याय १८४ श्लोक ३२ में कहा गया है (मूल प्रमाण संस्कृत भाष्य में देखो) वह अग्नि यज्ञों से बढ़ता है इसलिये यज्ञानुष्ठान से वागिन्द्रिय का सुधार भी जतलाया गया है। क्योंकि सदा वाणी आदि सब इन्द्रियां अपने-अपने नियमानुकूल निज-निज अग्नि आदि भौतिक देव का ग्रहण करते रहते हैं और इसी से समस्त व्यवहार की सिद्धि है ।:

ईश्वर विषय में—भी यही अर्थ होगा कि (अग्ने) ज्ञानदातः परमात्मन् ! (एहि) हमें प्राप्त होओ (ते) तुम्हारे द्वारा ही, मैं (इत्था) सत्य [वैदिक] (इतराः) और लौकिक (गिरः) वाणियों को (सु, अवाणि) भले प्रकार बोलूं और आप (एभिः) इन (इन्दुभिः) ब्रह्मयज्ञों से (वर्धासि) हमें बढ़ाते हैं ।।

अर्थात् ईश्वरदत्त वेदवाणी के ही द्वारा मनुष्यों ने लौकिक वैदिक शब्द बोलने का सामर्थ्य प्राप्त किया है और वेदपाठ वा परमात्मा की स्तुति प्रार्थनोपासना आदि ज्ञान यज्ञों के करने से जो हमारा बोलने का ज्ञान बढ़ता है, उसे परमात्मा ही बढ़ाता है ।।

अथाष्टमी—कण्वगोत्रेण वत्सेन दृष्टा । छन्दोदेवते उक्ते ।।

१ २ ३ २ ३क ३ १ २ ३१ २
८—आ ते वत्सो मनो यमत्परमाच्चित्सधस्थात् ।
२ ३ १ २ ३ २
अग्ने त्वाङ्कामये गिरा ।।८।।

भावार्थः—(अग्ने) हे भौतिकाग्ने ! (गिरा) वाणी के सहित (त्वाम्) तुम को (कामये) कामना करता हूं । क्योंकि (ते) तुम से ही (वत्सः) बोलने वाला (मनः) मनरूप विद्युत्पदार्थ, (परमाच्चित्) उत्कृष्ट (सधस्थात्) हृदय-स्थान से (आ-यमत्) फैलता है ।।

अर्थात् अग्नि की ही सहायता से मनरूप बिजुली हृदय से सम्पूर्ण शरीर में फैलती है और उसी से सब कोई बोल सकता है इसलिये प्रत्येक बोलने वाले को आग्नेय वाणी इन्द्रिय का उपयोग अच्छे प्रकार करना चाहिये और कामना करनी चाहिये कि वह वाणी रूप अग्नि मुझे प्राप्त हो । अग्नि और वाणी में क्या सम्बन्ध है सो मन्त्र ७ की व्याख्या में प्रमाणपूर्वक सिद्ध कर चुके हैं और जैसा कि शिक्षा में कहा है कि—आत्मा बुद्ध्यासमे०

"आत्मा बुद्धि से मिलकर अर्थों के बोलने की इच्छा से मन को युक्त करता है, मन देहस्थ अग्नि का ताडन करता है, वह अग्नि वायु को प्रेरित करता है, वायु उरःस्थल में विचरता हुआ मन्दस्वर को उत्पन्न करता है ।"

मूल श्लोक संस्कृत भाष्य पृष्ठ २८ पं० २३ में देखिये। ऋग्वेद (८।११।७) में 'कामये' के स्थान में 'कामया' ऐसा पाठान्तर और तदनुसार अर्थान्तर भी है। इस मन्त्र का द्रष्टा ऋषिवत्स नामक है और इस मन्त्र में भी वत्स पद आया है इसलिये कई लोग यह शंका करते हैं कि वत्स ऋषि ने ही यह मन्त्र बनाया है। परन्तु वेद में जो वत्स पद है वह ऋषिविशेष का नाम नहीं, किन्तु मन्त्र में वत्स पद देख कर ही उसके द्रष्टा ऋषि ने अपना नाम भी वत्स रख लिया, ऐसा समझना चाहिये। लोक में भी जब किसी के पुत्र का जन्म होता है तो उस के नाम रखने को किसी अपूर्व शब्द को नहीं उपजाया जाता किन्तु प्राचीन शब्दसमूह में से छाँटकर जो अपने को अच्छा लगता है सो नाम रख देते हैं। इसी प्रकार उक्त वत्स पद को अनादि अपौरुषेय वेद में से लेकर ऋषिविशेष ने वा उसके इष्ट-मित्रों ने उसका वत्स नाम रख दिया है। यह नहीं है कि वत्स ऋषि ने बनाया इससे उस मन्त्र में वत्स का नाम है। क्योंकि अन्य मन्त्रों में भी उन-उन मन्त्रों के द्रष्टा ऋषियों के नाम नहीं हैं तथा अपौरुषेय वेद वा उसका कोई मन्त्र किसी ऋषि का बनाया नहीं है, और वेद में वत्स शब्द का यौगिकार्थ "बोलने वाला" है। जैसा कि उणादि सूत्र ३।६२ संस्कृतभाष्य में लिखा है ॥ ८ ॥

अथ नवमी—भरद्वाजेन दृष्टा। छन्दोदेवते उक्ते ॥

१ २ ३ १ २ ३१ २र ३ १२

९—त्वामग्ने पुष्कराद्ध्यथर्वा निरमन्थत ।

२ १ २र ३ १२

मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः ॥ ९ ॥

भावार्थः—(अग्ने) हे अग्ने (त्वाम्) तुझ को (अथर्वा) परमात्मा ने (मूर्ध्नः) शिर के समान धारक और (विश्वस्य) सबके (वाघतः) अग्निजन्य प्रकाश के ले चलने वाले (पुष्करात्, अधि) आकाश में (निरमन्थत) उत्पन्न किया है ॥

तात्पर्य यह है कि परमात्मा ने अग्नि को प्रकाश में उत्पन्न किया है और इसका प्रयोजन वेदमन्त्र बतलाता है कि वह आकाश सब का धारण करता है और उत्पन्न हुए अग्नि के प्रकाश का वही वाहन है अर्थात् आकाश ही प्रकाश को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाता है [सूर्यादि का प्रकाश आकाश द्वारा ही हम तक आता है] ॥

ईश्वर पक्ष में:—(**अग्ने**) हे ज्ञानप्रद ! परमात्मन् ! (**त्वाम्**) तुझको (**अथर्वा**) ज्ञानी पुरुष (**मूर्ध्नः**) मस्तिष्क [दिमाग] से और (**विश्वस्य**) सबके (**वाघतः**) वाहक (**पुष्करात्**) हृदयकमल (**अधि**) में (**निरमन्थत**) आविर्भूत =प्रत्यक्ष करता है ॥

अर्थात् परमात्मा ज्ञानियों के हृदय में प्रत्यक्ष होता है। परन्तु सामान्यतया नहीं किन्तु मस्तिष्क से अर्थात् विचार के बल से। इस मन्त्र में हृदय को सबका वाहन बताया गया है। यथार्थ में हृदय के ज्ञान विना प्राणिमात्र जड़ है और हिल-चल सकने को असमर्थ है इसलिये हृदय ही सबका वाहन है॥

निघं० ३।३ ऋ० १।१६४।२० के प्रमाण संस्कृतभाष्य पृष्ठ ३० में देखिये। ऋग्वेद ६।१६।१३। में भी यही पाठ है॥९॥

अथ दशमी—वामदेवेन दृष्टा। छन्दोदेवते पूर्वोक्ते॥

२ ३ १२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
१०—अग्ने विवस्वदाभरास्मभ्यमूतये महे।
३ १ २र ३ २
देवोह्यसि नो दृशे॥ १०॥

इति प्रथमा दशतिः॥ १॥

भावार्थः—(अग्ने) हे अग्ने! (महे) बड़ी पूरी (ऊतये) रक्षा के लिये (विवस्वत्) सुख में रखने वाले यज्ञादि को (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (आ-भर) सिद्ध कराइये (हि) क्योंकि (नः) हमारे (दृशे) देखने के लिये (देवः) प्रकाशक (असि) हो॥

तात्पर्य यह है कि अग्नि से बड़ी रक्षा और सुख सम्पादन करना चाहिये। तथा अग्नि ही की सहायता से नेत्रेन्द्रिय की उत्पत्ति से देखने का काम सिद्ध होता है सो करना चाहिये। और यज्ञ वा शिल्प कर्म से सुख में निवास करना चाहिये॥

ईश्वरपक्ष में:—(अग्ने) हे जगदीश! (महे) पूर्ण (ऊतये) रक्षा के लिये (विवस्वत्) सुख में बसाने वाले यज्ञादि कर्म को (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (आ-भर) पूर्ण कीजिये [क्योंकि आप ही] (नः) हमारे (दृशे) देखने के लिये (देवः) प्रकाशक (असि) हैं॥

अर्थात्—परमात्मन्! यज्ञादि कार्य्यों में हमारी सहायता कीजिये जिस से हम सुख में निवास करें। आप ही बड़े भारी रक्षक और मार्ग दिखाने वाले हैं। आपने ही ज्ञान और आंख आदि इन्द्रियाँ दी हैं, वे इन्द्रियाँ भी आप ही की सहायता से अपने काम करने में समर्थ होती हैं॥

अष्टाध्यायी ३।३।९७ सूत्र संस्कृतभाष्य पृष्ठ ३१ पं० २४ में देखिये॥ १०॥

यह प्रथम दशति पूर्ण हुई॥ १॥

अथ द्वितीया दशतिस्तत्र प्रथमाऽऽयुङ्क्ष्वाहिना दृष्टा । छन्दोदेवते पूर्वोक्ते ॥

अब दूसरी दशति का प्रारम्भ किया जाता है ॥

१२ ३ १२ ३१२ ३१२
११—नमस्ते अग्न ओजसे गृणन्ति देव कृष्टयः ।
१२३१२
अमैरमित्रमर्दय ॥१॥

भावार्थः—(**अग्ने**) हे प्रकाशस्वरूप ! परमात्मन् ! (**नमः, ते**) आपको नमस्कार है (**कृष्टयः**) भक्त मनुष्य (**ओजसे**) बल के लिये (**गृणन्ति**) स्तुति करते हैं (**देव**) हे सर्वप्रकाशक ! (**अमैः**) रोगों वा भयों से (**अमित्रम्**) शत्रु-पापी को (**अर्दय**) पीड़ित कीजिये ॥

तात्पर्य्य यह है कि परमात्मा की स्तुति करनी चाहिये, इससे आत्मिक बल बढ़ता है और ज्ञान का प्रकाश होता है । और जो लोग परमात्मा से विमुख होकर अधर्माचरण करते हैं वे उसका फल रोगादि दुःख भोगते हैं ।

अग्नि के पक्ष में:—(**अग्ने**) हे अग्ने (**ते**) तेरे लिये (**नमः**) अन्नादि की आहुति हो (**कृष्टयः**) मनुष्य लोग (**ओजसे**) बल के लिये (**गृणन्ति**) गुणकीर्त्तन करते हैं (**देव**) दिव्यप्रभाव ! (**अमैः**) रोगों वा भयों से (**अमित्रम्**) [पापी] शत्रु को (**अर्दय**) नष्ट करो ॥

अर्थात् अग्नि में अन्न यवादि ओषधियों का होम करना चाहिये जिससे बल की वृद्धि हो । साथ में वेदमन्त्रों द्वारा अग्नि का वर्णन भी करना चाहिये । जिससे अग्नि के गुणों को जानकर रोगादि से बचना ज्ञात हो जावे, जो कि अग्नि के गुण न जानने और वेदोक्त विधि से उपयोग में न लाने वाले और इसी कारण वेदविरुद्ध अधर्माचरण करने वाले पापी जन अनेक प्रकार के रोग तथा भय से पीड़ित होते हैं, इस कारण उसको जान कर यज्ञादि से रोगनिवृत्ति तथा युद्धयज्ञ में आग्नेयास्त्रादि के प्रयोग से शत्रुओं को दूर करना चाहिये ॥

निघं० २ । ३ ।२७ ॥ प्रमाण संस्कृत भाष्य पृष्ठ ३३ प० ७।११ में देखो ॥ ऐसी ही ऋचा ऋग्वेद (८।६४।११) तथा उत्तरार्चिक अ० १७ सूक्त १२ में है ॥

प्रश्न—कोई लोग ऐसी शंका करते हैं कि ऋग्वेद के मन्त्र वा सूक्त यजुः साम और अथर्व में आते कहीं-कहीं देखे जाते हैं और इसी प्रकार अन्य वेदों के वाक्य मन्त्र वा सूक्तादि दूसरे वेदों में देखे जाते हैं, तथा एक ही वेद में एक वाक्य मन्त्र वा सूक्तादि अनेक वार आते हैं, सो ऐसा जान पड़ता है कि पूर्व-पूर्व से उत्तरोत्तर में उद्धृत कर लिया गया है ॥

उत्तर—यदि ऐसा हो तो आपको यह भी शङ्का होनी चाहिये कि काक शब्द में प्रथम ककार आकर फिर कर्पूर शब्द में भी ककार देखा जाता है तो काक शब्द का

ककार कर्पूर शब्द में उद्धृत किया गया है ! इसी प्रकार एक अक्षर एक पुस्तक में सहस्रों वा लक्षों वार आता है और एक ही अग्नि वायु आदि शब्द सैकड़ों वार ग्रन्थों में आते और हम आप सब एक ही शब्द को दिन भर में अनेक वाक्यों में सम्मिलित करके बोलते हैं, तो क्या पूर्वोच्चरित को ही उठा-उठाकर रक्खा करते हैं? यदि नहीं, तो फिर अक्षर, पद वा वाक्य के समान मन्त्र वा सूक्त के द्वितीय वार आने से भी शंका कहाँ रहती है ? यथार्थ यह है कि जिस-जिस अक्षर, पद, वाक्य, मन्त्र वा सूक्त का जितनी वार प्रयोजन आता है उतनी वार उस-उस अक्षर, पद, मन्त्र, वाक्य वा सूक्तादि को पुनः-पुनः एक ही वेद वा अनेक वेदों में प्रयुक्त किया गया है ॥१॥

अथ द्वितीया—वामदेवेन दृष्टा । उक्ते छन्दोदेवते ॥

३१ २ ३ १२ ३ २ ३ १२
१२—दूतं वो विश्ववेदसं हव्यवाहममर्त्यम् ।
१ २ ३ २
यजिष्ठमृञ्जसे गिरा ॥२॥

भावार्थः—हे "अग्ने" यह पूर्व मन्त्र से अनुवृत्ति करी जाती है । हे ज्ञान स्वरूप ! परमात्मा ! (**विश्ववेदसम्**) सर्वज्ञ (**अमर्त्यम्**) अविनाशी (**हव्यवाहम्**) कर्मफल के पहुँचाने वाले । इसीलिये (**दूतम्**) दूत के समान (**वः**) आप को (**गिरा**) वाणी से (**ऋञ्जसे**) स्तुत करता हूँ—प्रसन्न करता हूँ ॥

भोगने योग्य कर्मफल हव्य है, उसको परमात्मा यथायोग्य दूत के समान विभागपूर्वक पहुँचाता है इस लिये उसको हव्यवाह कहा है ॥

भौतिक पक्ष में—(**विश्ववेदसम्**) सब प्रकार के धनों वाले (**अमर्त्यम्**) अमनुष्य अर्थात् देव (**यजिष्ठम्**) अतिशय से यजन के योग्य (**हव्यवाहम्**) होम किये पदार्थों के पहुँचाने वाले (**दूतम्**) दूत [अग्नि] को (ऋञ्जसे) अनुकूल—प्रसन्न करता हूँ वा करूँ ।

अग्नि को सब धनों वाला इस कारण कहा है कि सुवर्णादि समस्त धन आग्नेय हैं । इसीसे सुवर्ण रत्न मणि माणिक्यादि सब रत्न चमकीले और देखने में रमणीय हैं । अमर्त्य इसलिये कहा है कि मनुष्यादि प्राणियों के समान अग्नि नहीं है किन्तु दिव्य प्रभाव और शक्ति रखने से देव है । (वः) त्वाम् के स्थान में और (ऋञ्जसे) ऋञ्जामि वा ऋञ्जानि के स्थान में व्यत्यय से हुआ है ॥ ऋग्वेद (४ । ८ । १) में भी ऐसा ही पाठ है ॥२॥

अथ तृतीया—प्रयोगेण दृष्टा । छन्दोदेवते पूर्ववत् ॥

१२ १ ३ २ ३ २३ १ २ ३ १ २
१३—उप त्वा जामयो गिरो देदिशतीर्हविष्कृतः ।
३ १ २ ३२
वायोरनीके अस्थिरन् ॥३॥

भावार्थ—प्रथम ऋचा से "अग्ने" यह अनुवृत्ति आती है। हे उपासनीय देव ! (**हविष्कृतः**) भक्ति करने वाले की (**जामयः**) स्त्रियों के समान (**वे-वेशतीः**) अत्यन्त त्याग वाली (**गिरः**) वाणी, (**वायोः, अनीके**) वायु के, मण्डल में (**त्वा**) आप का (**उप, अस्थिरन्**) उपस्थान करती हैं।

अर्थात् हे जगत्पति ! आप के भक्तों की वाणी जो यज्ञादि कर्मों में अत्यन्त दक्षिणादि द्वारा दान वा त्याग वा विरक्त भाव को उच्चारती हैं उन वाणियों ने इस वायुमण्डल को भर रक्खा है, और मानो वे वाणी वायुमण्डल में आपका उपस्थान कर रही हैं। यथार्थ में जो परमात्मा की भक्ति की ओर झुकते हैं उन्हें क्रमशः सांसारिक धनादि पदार्थों में वैराग्य भाव उत्पन्न होता जाता है, और वे उन धनादि पदार्थों का सत्पात्रों में दान करने के लिये प्रायः त्याग किया करते हैं और करना चाहिये। तथा तदनुकूल वाणी भी उनकी वैसा ही दानादि शब्दों का प्रयोग करती हैं और जितना धनादि का त्याग करती जाती हैं उतना ही परमात्मा का उपस्थान [सामीप्य] करती जाती हैं॥

भौतिक पक्ष में—हे अग्ने ! (**हविष्कृतः**) यज्ञ करने वाले की (**जामयः**) स्त्रियों के समान (**वेवेशतीः**) अत्यन्त त्यागशील (**गिरः**) वाणियें (**वायोः, अनीके**) वायुमण्डल में (**त्वा**) तेरे (**उप**) समीप (**अस्थिरन्**) ठहरती हैं।

अर्थात् यज्ञकर्त्ताओं को चाहिये कि वाणी से दान वा त्याग का प्रयोग करें जैसा कि प्रति मन्त्र के अन्त में हवन करने वाले "स्वाहा" बोलते हैं, वा "इदन्न मम" इत्यादि बोलते हैं। उन स्वाहा आदि का अर्थ दान त्याग वा छोड़ना आदि है। वे वाणियें वायुमण्डल में अग्नि के समीप गूंजती हुई वायुमण्डल को अलंकृत करें। इस मन्त्र से यह भी विज्ञान का अंश जतलाया गया है कि वाणी आग्नेय है और वह वायु के आधार पर एक मनुष्यादि से उच्चारण की हुई दूसरे मनुष्यादि के श्रोत्र द्वारा उसे प्राप्त होती है॥

अष्टाध्यायी ३।४।६॥ १।३।२३ संस्कृतभाष्य पृष्ठ ३७१ से देखिये॥ ऐसी ही ऋचा ऋग्वेद (८।९१।१३) में आई है॥३॥

अथ चतुर्थी—मधुच्छन्दसा दृष्टा। छन्दोदेवते उक्ते॥

१२ ३१२३ २ ३२ ३२
१४—उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्।
२३ १२३ १२
नमो भरन्त एमसि॥४॥

भावार्थः—(**अग्ने**) मार्गदर्शक ! परमात्मन् ! (**वयम्**) हम लोग (**धिया**) मन से (**नमः, भरन्तः**) नमस्कार, लिये हुए (**दिवे दिवे**) प्रतिदिन (**दोषावस्तः**) सायं और प्रातः (**त्वा**) आप की (**उप, एमसि**) उपासना करें॥

इस मन्त्र से प्रातः सायं नित्य प्रति मनुष्यमात्र को परमात्मा की उपासना मन लगाकर करने की शिक्षा दी गई है। ब्रह्मयज्ञ सन्ध्योपासना के अनुष्ठान का समय बताया गया है। दोषा रात्रि को और वस्तः दिन को कहते हैं सो जिन गृहाश्रमी आदि मनुष्यों से अन्य कार्य्यों के वश समस्त दिन रात्रि में उपासना नहीं हो सकती, क्योंकि वेद ने उन-उन आश्रमों के अन्य कर्तव्य भी बतलाये हैं जिन का करना आवश्यक है और समय चाहता है। इसलिये रात्रि दिन के अर्थ में संकोच विवक्षित समझ कर प्रातः सायं समझना ठीक है ॥

भौतिक पक्ष में—(**अग्ने**) प्रत्यक्ष अग्नि ! (**वयम्**) हम लोग (**दिवे दिवे**) प्रतिदिन (**दोषावस्तः**) सायं प्रातः (**धिया**) मन लगाकर (**नमः**) चरु वा आहुति के अन्न को (**भरन्तः**) [स्रुवादि में] लिये हुए (**त्वा**) तेरे (**उप**) समीप (**एमसि**) आवें ॥

अर्थात् मनुष्य को योग्य है कि प्रातः सायं नित्य विधिपूर्वक मन लगा कर श्रद्धा से होम करने को होम सामग्री लिये हुए अग्निकुण्ड के समीप जावे ॥

शान्तनसूत्र ५। ११ ॥ अष्टा० ३। १। ४ ॥ ६। १। १८६ ॥ ६। १। १६२ ॥ ७। १। ४६ ॥ ८। १। २३ ॥ निघं० २। ७ ॥ १। ७ ॥ १। ९ ॥ महाभाष्य ६। १। १५८ के प्रमाण संस्कृतभाष्य पृष्ठ ३६ से देखो ॥ ऋग्वेद (१। १। ७) में भी ऐसा ही पाठ है ॥४॥

अथ पञ्चमी—शुनःशेपेन दृष्टा। छन्दोदेवते पूर्वोक्ते ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१५—जराबोध तद्विविड्ढि विशेविशे यज्ञियाय ।
१ २ ३१ २ ३ २
स्तोमं रुद्राय दृशीकम् ॥५॥

भावार्थः—(**जराबोध**) हे स्तुति से बोध्यमान ! (**विशे विशे**) सर्व प्रजा के हितार्थ (**तत्**) उस [पूर्व मन्त्रोक्त हमारे मन] को (**विविड्ढि**) प्राप्त हूजिये अर्थात् ध्यानपथ को प्राप्त हूजिये। "वयम्" यह पूर्व मन्त्र से अनुवृत्त होती है। हम लोग (**यज्ञियाय**) योगयज्ञ के हितकर (**रुद्राय**) तुम न्यायकारी के लिये (**दृशीकम्**) मनोहर (**स्तोमम्**) स्तोत्र "करते हैं" ॥

अर्थात् हे परमात्मन् ! हम आपको स्तुतिपूर्वक सम्बोधन करते हुए प्रार्थना करते हैं कि कृपया हमें हमारे हृदय में प्राप्त हूजिये। अर्थात् आप का प्राप्त होना कठिन है जब तक कि हमारी भक्ति से प्रसन्न वरद होकर आप स्वयं हमें प्राप्त न हों। किसी प्रकार तर्कादि के बल से आपका साक्षात्कार नहीं हो सकता। इसलिये दया करके हमें प्राप्त हूजिये। और हमारे इस ध्यानयज्ञ के आप हितैषी यज्ञस्वामी

हैं, परन्तु आप पापियों को दण्ड देकर रुलाने वाले रुद्र हैं,इस कारण आप न्यायकारी के लिये हम लोग दर्शनीय उत्तम स्तुति करते हैं। जिससे आपके कृपाकटाक्ष से समस्त पापों से बचे रहें, आपके दण्डपात्र न बनें ॥

भौतिक पक्ष में—(जराबोध) गुणकीर्त्तनपूर्वक प्रदीप्त किये हुए ! अग्ने ! **(तद्)** उस [अग्निकुण्ड] में **(विविड्ढि)** आहित हो **(यज्ञियाय)** यज्ञ के सिद्ध करने वाले **(रुद्राय)** तीव्र प्रज्वलित के लिये **(दृशीकम्)** मनोहर **(स्तोमम्)** वेद-पाठ से स्तुति "करते हैं" यह क्रियापद जोड़ना चाहिये ॥

इस पक्ष में भाव यह है कि हम को प्रत्येक दिन की सायं प्रातः की वेला में पूर्व मन्त्र के अनुसार अग्नि के समीप आकर इस मन्त्र के अनुसार कुण्ड में अग्न्याधान करना चाहिये जिससे अग्नि उस कुण्ड में आहित हो। फिर स्तुतिपूर्वक अर्थात् अग्नि के गुणों का कीर्त्तन करने वाले "उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते॰" इत्यादि (यजुः १५।५४) मन्त्र में प्रदीप्त वा उद्बुद्ध करके समिधाओं में अग्नि प्रविष्ट करना चाहिये। यह अग्नि, यज्ञ का साधने वाला और रुद्र अर्थात् अनाहिताग्नि लोगों को जो कि होम नहीं करते हैं पीड़क प्रतीत होता तथा दुष्ट शत्रुओं का आग्नेयास्त्रादि में प्रयुक्त होकर रुलाने वाला है। हमको योग्य है कि कुण्ड के समीप बैठकर पुष्कल मनोहर अग्नि देवता वाले मन्त्रों का पाठ करें ॥

निरु॰ १०।८॥ अष्टाध्यायी ३।३।१०४॥ ३।३।१९॥ ६।१।१९८॥ ३।४।८७॥ ८।१।१॥ ८।१।४॥ ८।१।२॥ ८।१।३॥ ५।१।७१॥ ६।१।१९७ इत्यादि प्रमाण संस्कृत-भाष्य पृष्ठ ४१ से देखिये। ऋग्वेद १।२७।१० में भी ऐसा ही पाठ है ॥५॥

अथ षष्ठी—मेधातिथिना दृष्टा। छन्दोदेवते उक्ते ॥

२ ३ १ २र ३१ २ ३ २ ३ १ २
१६—प्रति त्यञ्चारुमध्वरं गोपीथाय प्र हूयसे।
३१ २ ३ १ २
मरुद्भिरग्न आ गहि ॥६॥

भावार्थः- **(अग्ने)** हे ज्ञानमय ! तुम **(मरुद्भिः)** उपासकों से **(गोपीथाय)** आनन्दलाभ के लिये **(त्यम्)** उस **(चारुम्)** रमणीय **(अध्वरम्)** ज्ञानयज्ञभूमि=हृदयदेश को **(प्रति)** लक्ष्य करके **(प्रहूयसे)** ध्यान किये जाते हो। वह तुम **(आगहि)** प्राप्त होओ ॥

अर्थात् परमात्मा जो ज्ञानमय है उसका, ज्ञानयज्ञ के ऋत्विज् **(मरुत्)** उपासक लोग, **(गोपीथाय)** सोमपान के तुल्य परमानन्द की प्राप्ति के लिये ध्यान करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि सुन्दर यज्ञस्थल जो हमारा हृदयदेश है उसमें परमात्मा हमें मिले ॥

भौतिक पक्ष में—(**अग्ने**) तू (**चारुम्**) सुन्दर (**अध्वरम्**) यज्ञस्थल (**प्रति**) को (**गोपीथाय**) सोमादि रस पीने के लिये (**प्रहूयसे**) बुलाया जाता है, सो तू (**मरुद्भिः**) वायुओं के साथ (**आगहि**) आ ॥

तात्पर्य यह है कि कर्मफल का साधक अग्नि चारु=सुन्दर सुनिर्मित यज्ञकुण्ड में बुलाया जाता अर्थात् स्थापित किया जाता है और वायुओं के साथ आता है अर्थात् स्थापित होकर प्रदीप्त होते ही अपने मित्र वायुओं को प्रेरित करता है। विज्ञान की रीति से यह नियम है कि अग्नि अपने आस-पास के वायु को हलका करके उसमें गति उत्पन्न करता है। इसी लिये जहाँ अग्नि अधिक प्रचण्ड होता है वहां वायु भी वेग से बहने लगता है ॥

निरुक्त १० । ३६ ॥ अष्टाध्यायी ७।२।१०२॥ १।४।८८॥ १।३।८॥ उणादि १।३॥१६॥ निघण्टु ३।१८ के प्रमाण संस्कृत भाष्य पृष्ठ ४३ से देखिये । ऐसी ही ऋचा ऋग्वेद १ । १६ । १ में है ॥ ३ ॥

अथ सप्तमी—शुनःशेपेन दृष्टा । छं० दे० उक्ते ॥

२ ३ १ ३ १ २ ३ १ ४ ३ १ २
१७—अश्वं न त्वा वारवन्तं वन्दध्या अग्निं नमोभिः ।
३ १ २ ३ १ २
सम्राजन्तमध्वराणाम् ॥७॥

भावार्थः—पूर्व मन्त्र से अनुवृत्ति करके "हे अग्ने" प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! (**अध्वराणाम्**) ज्ञानयज्ञों के मध्य में (**सम्राजन्तम्**) भले प्रकार प्रकाशमान (**अग्निम्**) पूजनीय उपासनीय (**त्वा**) आप को (**नमोभिः**) प्रणामों से (**वन्दध्यै**) वन्दना करने के लिये "आहुवे" ध्यान करता हूं, यह अगले मन्त्र से सम्बन्ध जोड़ना चाहिये । (**वारवन्तम्**) बालों वाले (**अश्वं, न**) अश्व के समान । जिस प्रकार बाल वाला घोड़ा दंश मशकादि का निवारण करता है इसी प्रकार आप भी हमारे बाधक काम क्रोधादि दुर्गुणों को अपने बालतुल्य सर्वोपकारक सामर्थ्यों से दूर करते हैं ॥

भौतिकपक्ष में—अग्ने! (**अध्वराणाम्**) कर्मयज्ञों के मध्य में (**सम्राजन्तम्**) अच्छे प्रकार प्रदीप्त (**त्वा**) तुझ (**अग्निम्**) अग्नि को (**नमोभिः**) स्थालीपाकादिसहित (**वन्दध्यै**) स्तुति करने=गुण वर्णन करने के लिये "आहुवे" आधान करता हूं (**वारवन्तम्**) बालों वाले (**अश्वं, न**) घोड़े के समान । अर्थात् जिस प्रकार घोड़ा पुच्छादि के बालों से ईति मच्छर आदि को निवृत्त करता है इसी प्रकार अग्नि में होम करने से अग्नि भी अपने चारों ओर से वायु आदि में रहने वाले दोषों वा कीड़ों को निवृत्त करता है । इसलिये यज्ञों के सम्राट् अग्नि को स्थालीपाकादि साथ लेकर कुण्ड में आहुत करना चाहिये और साथ में उस अग्नि के गुणों का कीर्तन करना चाहिये ॥

अष्टाध्यायी ३ । १ । ११४ ॥ ३।४।६ ॥ निघं० २।७॥ ३।१७ ॥ निरुक्त १ । २० के प्रमाण संस्कृतभाष्य से देखिये ॥ ऋग्वेद १।२७।१ में भी ऐसा ही पाठ है ॥७॥

अथाऽष्टमी प्रयोगेण दृष्टा । छं० दे० उक्ते ॥

१८—और्वभृगुवच्छुचिमप्नवानवदाहुवे ।
अग्निं समुद्रवाससम् ॥८॥

भावार्थः—(और्वभृगुवत्) पृथिवी के उपदेष्टाओं के समान और (अप्नवानवत्) कर्मकाण्डियों के समान, मैं (समुद्रवाससम्) आकाश में व्यापक (शुचिम्) पवित्र (अग्निम्) पूजनीय परमात्मा को (आ - हुवे) आह्वान करता हूं कि वह मुझे प्राप्त हो ॥

भौतिक पक्ष में—(और्वभृगुवत्) पृथिवी के ज्ञानकाण्डियों के समान और (अप्नवानवत्) कर्मकाण्डियों के समान, मैं (समुद्रवाससम्) आकाश में व्यापी (शुचिम्) शोधने वाले (अग्निम्) अग्नि को (आ—हुवे) आधान करता हूं ॥

उत्तम पुरुष दो प्रकार के हैं १—और्वभृगु ज्ञानकाण्डी जो पृथिवी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करते हैं । ऋग्वेद में "अग्निमीडे पुरोहितं" इत्यादि मन्त्रों से मुख्य करके अग्न्यादि पदार्थों के गुणों का वर्णन किया है । २—अप्नवान जो कर्मकाण्ड में कुशल हैं, "इषे त्वोर्जे त्वा" इत्यादि मन्त्रों से यजुर्वेद में मुख्य करके कर्मकाण्ड यज्ञ, जिसका शिल्पविद्या का उपयोग भी अङ्ग है, उसका वर्णन है । तो तात्पर्य यह हुआ कि ऋग्वेदज्ञ ज्ञानकाण्डियों के समान मैं अग्नि के गुणों को जानकर यजुर्वेदज्ञ कर्मकाण्डियों के समान अग्नि को यज्ञकुण्ड में वा शिल्पसाधक यन्त्रादि में आधान करता हूं । वह अग्नि शुचि है अर्थात् स्वयं मलिनतादि दोषरहित है और अपने संसर्ग से अन्य पदार्थों के मलिनता आदि दोषों को दूर करने वाला है । और अन्तरिक्ष में वायु के समान व्याप रहा है । जब हम कहीं अग्नि जलाते हैं तो थोड़ी देर में भस्म शेष रह जाता है और अग्नि गतिशील होने से आकाश में फैल जाता है । इस प्रकार अग्नि की अदृश्य अवस्था हो जाती है और वह आकाश में व्यापा रहता है ॥

निघण्टु ३।१॥ ३।३०॥ ४।४॥ २।१४।२।३॥ अष्टाध्यायी ३।३।१२१॥ उणादि ४।२१८ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥८॥

अथ नवमी—प्रयोगेण दृष्टा। छं० दे० उक्ते ॥

३ १ २ ३ १ २र ३ १२ ३ १ २
१९—अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः।
३ १ २ ३१ २
अग्निमिन्धे विवस्वभिः ॥९॥

भावार्थः—(मर्त्यः) मनुष्य (मनसा) श्रद्धा से (अग्निम्, इन्धानः) परमात्मा का, ध्यान करता हुआ (धियम्) बुद्धि को (सचेत) अच्छे प्रकार प्राप्त हो, इसलिये (विवस्वभिः) सूर्य्यकिरणों के साथ (अग्निम्) परमेश्वर को (इन्धे) हृदय में विराजित करे॥

अर्थात् परमात्मा की उपासना "तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्" इत्यादि मन्त्रों से करने वाला मनुष्य बुद्धि को प्राप्त करता है। इसलिये उसे चाहिये कि सूर्य की किरणों के साथ ही [प्रातः ही] परमात्मा की उपासना करे। "मर्त्य" पद से यह दिखलाया है कि मनुष्य मरणधर्मा है और मृत्यु से बचना चाहता है तो परमात्मा की उपासना करे। उसका फल मन्त्र में यह सुझाया है कि बुद्धि बढ़ती है। बुद्धि बढ़ने से मिथ्याज्ञान निवृत्त होता है, मिथ्याज्ञान की निवृत्ति से "दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः" न्यायदर्शन सू० २ के अनुसार मोक्ष होने से मर्त्य=मनुष्य का मृत्यु छूट जाता है। "मनसा" पद इसलिये है कि मन से अर्थात् श्रद्धा से उपासना करे, न कि देखाने के लिये दम्भमात्र। "इन्धानः" का ठीक अर्थ "सुलगाता हुआ" है, सो ध्यान करके परमात्मा को हृदय में प्रकाशमान करना ही हृदयकुण्ड में ज्योतिःस्वरूप अग्नि पर-मात्मा का सुलगाना है। सूर्यकिरणों के साथ प्रातः होते ही तमोगुण वा अन्धकार क्षीण होता है और ज्ञान वा प्रकाश की उन्नति होती है इसलिये उस प्रातःकाल को विशेष करके उपासना का काल ठहराया गया है॥

भौतिक पक्ष में—(मर्त्यः) मनुष्य (मनसा) जी लगाकर (अग्निम्, इन्धानः) अग्नि को, प्रदीप्त करता हुआ (धियम्) कर्म को (सचेत) संप्राप्त हो, इसलिये (विवस्वभिः) सूर्य की किरणों की सहायता से (अग्निम्) अग्नि को (इन्धे) सुलगावे॥

इसमें मुख्य करके दो बातों का ज्ञानोपदेश है। एक तो यह कि मनुष्य अग्नि को प्रदीप्त करता हुआ कर्म को प्राप्त हो, इससे यह शिक्षा है कि यज्ञ शिल्प युद्ध आदि समस्त कर्त्तव्य कर्मकाण्ड की सिद्धि अग्नि द्वारा होती है। यथार्थ में अग्नि का गुण प्रकाश ही प्राणियों को विशेष करके कर्म में प्रवृत्त करता है, अन्धकार में सब कर्म बन्द होना चाहते हैं, रात्रि में कर्म करने वालों को अग्नि के प्रकाश की आव-श्यकता होती है। दूसरी बात यह कि सूर्यकिरणों की सहायता से मनुष्य अग्नि को प्रदीप्त करता है, जब शीत ऋतु में सूर्य की किरणें अधिक तीव्र नहीं पड़ती तब

उतना ही अग्नि का बल घट जाता है, ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की प्रचण्डता के साथ आहवनीयादि अग्नि में कैसी तीव्रता हो जाती है, जिससे स्पष्ट है कि अग्नि के प्रदीप्त वा उद्‌बुद्ध होने के लिये सूर्यकिरणों की सहायता अपेक्षित है। जिसको जान कर मनुष्य नाना प्रकार अग्निसम्बन्धी कार्य सिद्ध कर सुख पा सकते हैं।

निघण्टु ३।६ और ३।१ के प्रमाण संस्कृतभाष्य से देखिये। तथा तीसरी बात इस मन्त्र में यह भी दिखाई गई है कि होम का काल नित्य प्रातःकाल है। क्योंकि इसमें कहा गया है कि "सूर्यकिरणों के साथ" ॥ ऋग्वेद ८।९१।२२ में केवल "इन्वे" के स्थान में "ईंखे" इतना पाठभेद है ॥९॥

अथ दशमी—वत्सेन दृष्टा। छं० दे० उक्ते ॥

२०—आदित्प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिः पश्यन्ति वासरम्।
परो यदिध्यते दिवि ॥१०॥

भावार्थः—(आत्, इत्) यह भी, कि (यत्) जो (परः) अतिशायित (दिवि) द्युलोक में (इध्यते) चमकता है [सूर्य से तात्पर्य है] जिसको (वासरम्) दिन भर (पश्यन्ति) देखते हैं, उसमें भी (प्रत्नस्य) सनातन (रेतसः) सामर्थ्यवान परमात्मा की (ज्योतिः) ज्योति है ॥

अर्थात् जिस प्रकार सोना चान्दी पीतल आदि पदार्थ सूर्य की ज्योति की सहायता से प्रकाशित होते हैं, इसी प्रकार सूर्य स्वयं भी परमात्मा की ज्योति से प्रकाशित होता है। जैसा कि श्वेताश्वतरोपनिषद्वाक्य (६।१४) संस्कृतभाष्य पृष्ठ ५१ में लिख आये हैं कि "न वहाँ सूर्य चमकता है, न चन्द्र, न तारे, न ये बिजुलियाँ चमकतीं, फिर यह अग्नि कहाँ! किन्तु उसी की चमक से लौटे हुए प्रकाश से सब कुछ अनुप्रकाशित है, उसी की चमक से यह सब चमकता है ॥"

भौतिक पक्ष में:—(आत्, इत्) यह, भी कि (यत्) जो (परः) अत्यन्त (दिवि) आकाश में (इध्यते) चमकता है [सूर्य], जिसे (वासरम्) दिन भर (पश्यन्ति) देखते हैं, उसमें भी (प्रत्नस्य) नित्यस्वरूप (रेतसः) वीर्यवान् कारणाग्नि का ही (ज्योतिः) प्रकाश है ॥

अर्थात् कारण रूप अग्नि तत्त्व जो नित्य है उसी से सूर्यादि प्रकाशक लोक भी प्रकाशित हैं। इसमें एक बात यह निकलती है कि सूर्य का प्रकाश अत्यन्त है, दूसरी यह कि सूर्य से दिन बनता है, तीसरी यह कि कारणाग्नि से सूर्य बना है ॥

निघं० ३।२७॥ १।९॥ उणादि ४।२०२ के प्रमाण संस्कृतभाष्य

में देखिये। ऋग्वेद ८।६।३० में "दिवि" के स्थान में "दिवा" यह पाठभेद है ॥१०॥

यह दूसरी दशति समाप्त हुई ॥२॥

अथ तृतीया दशतिस्तत्र प्रथमा प्रयोगेण दृष्टा। छन्दोदेवते प्रकृते ॥

अब तीसरी दशति का आरम्भ किया जाता है ॥

३ १   २ ३ १ २   ३ १ २   ३ १ २
२१—अग्निं वो वृधन्तमध्वराणां पुरूतमम्।
२ ३ १   ३ १ २
अच्छा नप्त्रे सहस्वते ॥१॥

भावार्थः—(वः) तुम्हारे (अध्वराणाम्) ज्ञानयज्ञों को (पुरूतमम्) अतिशयित (वृधन्तम्) बढ़ाते हुए (नप्त्रे) बन्धुतुल्य सहायक (सहस्वते) बलवान् (अग्निम्) तेजोमय परमात्मा को (अच्छ) तुम अच्छे प्रकार उपासित करो ॥

परमात्मा तुम्हारे ज्ञान का सहायक है और बढ़ाने वाला है तथा बल का धारण करने वाला और बल का दाता है। तुम उसकी अच्छे प्रकार उपासना करो ॥

भौतिक पक्ष में:—(वः) तुम्हारे (अध्वराणाम्) कर्मयज्ञों की (पुरूतमम्) अतिशयित (वृधन्तम्) वृद्धि करते हुए (नप्त्रे) बन्धुतुल्य सहायक (सहस्वते) बलवान् (अग्निम्) अग्नि को (अच्छ) भले प्रकार प्रयुक्त करो ॥

अर्थात् अग्नि तुम्हारे समस्त देवयजन शिल्प युद्धादि क्रियाकलाप को अत्यन्त सहायता करने वाला है, वह तुम्हारा बन्धु के तुल्य सहायक है। जिस प्रकार बान्धव लोग अपने कार्य्यों की सहायता करते हैं, इसी प्रकार अग्नि भी सहस्रों भाइयों का काम अकेला ही करता है। मेघमण्डलादि दूरवर्ती स्थानों में तुम्हारे इष्टसाधक यज्ञ को फैलाता है, शिल्पविद्या में प्रयुक्त होकर अनेकशः कार्यों को साधता, तथा युद्धादि में आग्नेयास्त्रादि द्वारा सहस्रों लक्षों मनुष्यों का काम करता है। इसलिये "अच्छे प्रकार" पूर्ण ध्यान से विचार तत्परता से उसके प्रयोग करने में प्रवृत्त होओ।

अष्टाध्यायी ६।३।१३६ उणादि २।८४ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऐसी ही ऋचा ऋ० ८।६१।७ में है ॥१॥

अथ द्वितीया—भरद्वाजेन दृष्टा। छं० दे० उक्ते ॥

३ २ ३ १२ ३ १ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
२२—अग्निस्तिग्मेन शोचिषा यंसद्विश्वं न्य३त्रिणम्।
३ १ २ ३ २
अग्निर्नो वंसते रयिम् ॥२॥

भावार्थ - (**अग्निः**) तेजोमय न्यायकारी (**तिग्मेन**) वज्रतुल्य तीक्ष्ण (**शोचिषा**) तेज से (**विश्वम्**) सम्पूर्ण (**अत्रिणम्**) दुष्ट हिंसक शत्रु को (**नियंसत्**) निगृहीत करता है (**अग्निः**) वही (**नः**) हमारे लिये (**रयिम्**) धनादि को (**वंसते**) बांटता है ॥

परमात्मा न्यायकारी है इसलिये वह परपीडक दुष्टों को दण्ड देता और धर्मात्माओं को उनके कर्मानुसार धनादि पदार्थ बांटता है ॥

भौतिक पक्ष में—(**अग्निः**) तेजोमय अग्नि (**तिग्मेन**) तीक्ष्ण (**शोचिषा**) तेज से (**विश्वम्**) सब (**अत्रिणम्**) हिंसक शत्रु को (**नि-यंसत्**) निगृहीत करता है (**अग्निः**) वही, तब (**नः**) हमारे लिये (**रयिम्**) राज्यादि धन को (**वंसते**) बांटता है ॥

मनुष्यों को जानना चाहिए कि अग्नि में तीव्रता है, इसलिए उससे आग्नेयादि अस्त्र शस्त्र बन सकते हैं, उनसे शत्रुओं का निग्रह हो सकता है, इसलिए उसे प्रयुक्त करके अपना जय और परपीडक दुष्ट दस्यु आदि का पराजय करके अपने-अपने उचित परिश्रमानुसार धनादि पदार्थ बांट लेने चाहिएं। इस मन्त्र में तीन बातों की मुख्य शिक्षा है। एक तो यह कि अग्नि की तीव्रता का ज्ञान प्राप्त करो और उससे अस्त्रादि बनाओ, दूसरी यह कि संसार के सभ्य परोपकारक नीतिमान् पुरुषों का विरोध नहीं करना, क्योंकि अपने सुखभोग के लिए पराया राज्यादि धन हरण नहीं करना किन्तु परायी रक्षार्थ, तीसरी बात यह है कि इस प्रकार विजय द्वारा प्राप्त हुए धनादि को योग्यतानुसार बांट करना ॥

निघण्टु ३।२०॥१।१७॥३।१०॥ उणादि १।१४६॥३।१०८॥४।६८ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये। ऋग्वेद ६।१६।२८ में यंसत्=यासत्, वंसते=वनते, इतना पाठभेद है ॥२॥

अथ तृतीया—वामदेवेन दृष्टा। छं० दे० उक्ते ॥

१ २ ३ २ ३२ ३ २३ १ २३१ २र
२३—अग्ने मृड महाँ असयय आ देवयुञ्जनम्।
३१२ ३२३ १२
इयेथ बर्हिरासदम् ॥३॥

भावार्थः—(अग्ने) पूजनीय ईश्वर ! हम को (मृड) सुख दो (महान्, असि) तुम महान् हो और (देवयुम्, जनम्) देवयजन चाहने वाले, मनुष्य को (अयः) प्राप्त होने वाले हो (बर्हिः) यज्ञस्थल में (आ -सदम्) विराजने को (आ इयेथ) प्राप्त होते हो ॥

परमात्मा अपने धर्मात्मा भक्त उपासकों को सुख देता है और प्राप्त होता है जिससे परमानन्ददायक है। परन्तु देवयु अर्थात् देव परमात्मा का यजन पूजन चाहने वाले को ही, न कि अभक्त अनुपासक नास्तिकादि को। वह महान् है। यद्यपि वह सर्वान्तर्यामी होने और सर्वगत होने से सब ही के हृदय में विराजता है परन्तु देवयु पुरुष के ही हृदय में उसको मिलता है, अन्य साधारण को नहीं।

भौतिक पक्ष में—(अग्ने) अग्ने ! (मृड) सुख दो (महान्, असि) तू महान् है (देवयुं, जनम्) वाय्वादि देवों के गुण खोजने की इच्छा वाले, पुरुष को (अयः) प्राप्त होने वाले हो (बर्हिः) यज्ञ और शिल्पस्थल में (आ -सदम्) स्थापित होने को (आ—इयेथ) प्राप्त होते हो ॥

आशय यह है कि यदि अग्नि को शिल्पी लोग और ऋत्विज् लोग नानाविध क्रियाकलाप तथा यज्ञ में अच्छे प्रकार प्रयुक्त करें तो "सुखदायक" है, परन्तु साधारण लोग उससे सुख नहीं प्राप्त कर सकते हैं, न उसके इन गुणों को पा सकते हैं, किन्तु "देवयु" लोग जो वाय्वादि पदार्थविद्या की खोज में रहते हैं वे ही प्राप्त होते हैं। वह अग्नि अपने गुणों से "महान्" है, उसे "यज्ञ और शिल्प कार्य्यालय स्थल में" स्थापित करना और सब प्रकार से प्राप्त करना चाहिए ॥

निघं० २।१४॥ ३।१८॥ अष्टाध्यायी ३।४।६ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद (५।९।१) में "महां असि य ईमा देवयुम्" इतना पाठभेद है ॥३॥

अथ चतुर्थी-वसिष्ठेन दृष्टा । छ० दे० उक्ते ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
२४—अग्ने रक्षा णो अंहसः प्रति स्म देव रीषतः ।
१ २ ३ १ २
तपिष्ठैरजरो दह ॥४॥

भावार्थः—(अग्ने) सदुपदेशकेश्वर ! (नः) हमारी (रक्ष) रक्षा करो (देव, हे परमात्मन् ! (अजरः) आप अजर हैं, (अंहसः) पापियों और विशेषतः (रीषतः) हिंसकों को (तपिष्ठैः) तीव्र तेजों से (प्रति, दह, स्म) भस्म करो ॥

भौतिक पक्ष में—(अग्ने) अग्ने ! (नः) हमारी (रक्ष) रक्षा करो और (देव) दिव्यगुणयुक्त ! (अजरः) शिथिलतारहित तू, (अंहसः) अन्यायी

(रीषतः) हिंसकों को (तपिष्ठैः) अत्यन्त तेजस्वी अस्त्रों से (प्रति, दह, स्म) भस्म कर ॥

अर्थात् अग्नि दिव्यगुणयुक्त देव और शिथिलतारहित अजर होता हुआ उससे सिद्ध हुए अस्त्रों द्वारा अन्यायियों के दमन और धर्मात्माओं की रक्षा में प्रयत्न करना चाहिये ॥

अष्टाध्यायी ६।३।१३३ ॥ ६।३।१३५ ॥ ८।४।२६॥ उणादि ४।२१३॥ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये । ऋग्वेद ७।१५।१३ में "स्म" के स्थान में "दम" इतना पाठभेद है ॥४॥

अथ पञ्चमी-भरद्वाजेन दृष्टा । छ० दे० उक्ते ॥

२५—अग्ने युङ्क्ष्वा हि ये तवाश्वासो देव साधवः ।
अरं वहन्त्याशवः ॥५॥

भावार्थः—(देव) द्योतमान-प्रकाशमान ! (अग्ने) पूजनीयेश्वर ! (ये, तव) जो, तेरे (साधवः) साधने वाले (आशवः) शीघ्र करने वाले (अश्वासः) व्यापक गुण हैं, उन्हें (हि) शीघ्र (युङ्क्ष्व) युक्त कर, वे गुण (अरम्) भरपूर (वहन्ति) पहुँचाते हैं ॥

जिस प्रकार कोई राजा आदि वेग वाले अश्वादि पर चढ़कर तत्काल अपनी प्रजा की रक्षार्थ पहुँचता है, इसी प्रकार परमात्मा से इस मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि आप कृपा करके उन गुणों को जो साधने वाले हैं, जिनसे आप अपने कर्तव्य समस्त कार्यों को सिद्ध करते हैं,और तत्क्षण ही उन-उन कार्यों को सिद्ध करने को समर्थ हैं, और अश्वासः=जो व्यापक हैं । अर्थात् राजा आदि तो यानादि द्वारा प्रजा की रक्षार्थ पहुँचें इतने कुछ देर भी लगे परन्तु आप सर्वव्यापक हैं, साथ ही आपके वे गुण भी गुणी के साथ-साथ व्यापक हैं, इसलिए प्रतिक्षण आप अपने गुणों सहित सर्वत्र पहुँचे पहुँचाये हैं । इसलिये आपको शरणागत धर्मात्मा भक्तों की रक्षा में देरी करने का कारण नहीं ॥

भौतिक पक्ष में (देव) दिव्यशक्तियुक्त ! विद्युत् रूप ! (अग्ने) अग्ने ! (ये तव) जो तेरे (आशवः) शीघ्रगामी (साधवः) हितसाधक (अश्वासः) तीव्र गुण हैं, उन्हें (हि) शीघ्र (युङ्क्ष्व) प्रयुक्तकर, वे मुझ को (अरम्) भरपूर (वहन्ति) वहाने-पहुँचाने अर्थात् भौतिकाग्नि में दिव्यगुण हैं इसलिये वह देव है, वे गुण "साधवः" जगत् के कार्य्यसाधक और "अश्वासः घोड़ों के समान तीव्रगामी हैं तथा "आशु"=शीघ्र काम करने वाले हैं, उन गुणों से अग्नि सर्वत्र बड़ी शीघ्रता

से पहुँच सकता है, इसलिये उनको यथावत् जानकर शिल्प यज्ञ और संग्राम आदि में भले प्रकार शीघ्रता से प्रयुक्त करना चाहिये। जिससे नालिक (बन्दूक) आदि द्वारा वे गुण शीघ्र अपना कार्य प्रारम्भ करें ॥

निघण्टु २।१५ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद ६।१६।४३ में "मृड्ध्व" के स्थान में "मृध्व" इतना भेद है ॥४॥

अथ षष्ठी-वसिष्ठेन दृष्टा। छ० दे० उक्त ॥

२६—नि त्वा नक्ष्य विश्पते द्युमन्तं धीमहे वयम्।
सुवीरमग्न आहुत ॥६॥

भावार्थः (नक्ष्य) हे शरण्य! (विश्पते) हे प्रजापते! (आहुत) हे भक्तों से आह्वान किये हुए! (अग्ने) परमात्मन्! (वयम्) हम लोग (सुवीरम्) श्रेष्ठ भक्त पुरुषों वाले (द्युमन्तम्) प्रकाशस्वरूप (त्वा) आपका (नि-धीमहे) निरन्तर ध्यान करते हैं ॥

भौतिक पक्ष में (नक्ष्य) सेवनीय! (विश्पते) प्रजापालक! (आहुत) सब ओर से जिस में होम किया जावे ऐसे (अग्ने), (वयम्) हम (त्वा) तुझे (नि–धीमहे) नितराम् आधान करते हैं ॥

आशय यह है कि अग्नि सेवनयोग्य है, यज्ञ और शिल्पद्वारा प्रजा का पालक है, और सब ओर से होम करने योग्य तथा शिल्प में उपयोग लेने योग्य है, द्युमान्= प्रकाशगुणविशिष्ट है, जो उसको होम वा नानाविध शिल्पक्रिया में प्रयुक्त करते हैं वे सुन्दर वीर होते हैं इसलिये उसका बीच में स्थापन करके चारों ओर बैठकर होम करना चाहिये तथा शिल्पक्रिया द्वारा अनेक प्रकार से उपयोग लेना चाहिये ॥

निघं० १।१६॥२।१८॥ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ७।१५।७ में "धीमहे वयम्" के स्थान में "देव धीमहे" इतना पाठान्तर है ॥६॥

अथ सप्तमी -विरूपेण दृष्टा। छ० दे० उक्ते ॥

२७ – अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत् पतिः पृथिव्या अयम्।
अपां रेतांसि जिन्वति ॥७॥

भावार्थः – (अयम्) यह (अग्निः) प्रकाशमान परमात्मा (मूर्द्धा) सर्वोच्च है और (दिवः, ककुत्) प्रकाश की, टाट है। जिस प्रकार बैल की टाट सब

अङ्गों में ऊँची होती है इसी प्रकार परमात्मा का प्रकाश अन्य सबके प्रकाशों से उत्तम है। (पृथिव्याः) पृथिव्यादि लोकों का (पतिः) पालक है और (अपाम्) कर्मों के (रेतांसि) बीजों को (जिन्वति) जानता है ।।

सर्वोच्च सर्वोत्तम प्रकाशस्वरूप परमात्मा सबके कर्मों का साक्षी और फल-प्रदाता तथा ज्ञाता है ।।

भौतिक पक्ष में—(अयम्, अग्निः) यह, अग्नि (मूर्द्धा) ऊर्ध्वगमनशील होने से उच्च और (दिवः ककुत्) प्रकाश की टाट है। तथा (पृथिव्याः) पृथिव्यादि लोकों का पालक है और (अपाम्) अन्तरिक्ष के मध्य में (रेतांसि) जलों को (जिन्वति) पहुँचाता है ।।

अर्थात् अग्नि सदा ऊपर को जाने वाला, वाय्वादि देवों का मस्तक के समान है, और प्रकाश का उत्तुङ्ग पुञ्ज है, तथा शिल्पक्रियाकलाप यज्ञ आदि द्वारा पृथिव्या-दिलोकस्थ प्राणिवर्ग का पति है, और यही अत्यन्त नीचे स्थान समुद्र के जल अदृष्टपार अन्तरिक्ष के मध्य में पहुँचाय मेघ बनाय वर्षाता है ।।

निघं० २ । १ ।। १ । ३ ।। २ । १४ ।। १ । १२ ।। के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।। ऋग्वेद (८।४४।१६) में भी ऐसा ही पाठ है ।।

अथाऽष्टमी शुनःशेपेन दृष्टा । छ० दे० उक्ते ।।

३ २ ३ २ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ र

२८—इमम् पु त्वमस्माकं सनिं गायत्रं नव्यांसम् ।

१ २ ३ २ ३ १ २

अग्ने देवेषु प्र वोचः ।।८।।

भावार्थः—(अग्ने) ज्ञानप्रद ! (अस्माकम्, इमम्, नव्यांसम्, सनिम्) हमारे, इस, नवीनतर, हव्य को (उ) और (देवेषु) देवों के विषय में (गायत्रम्) गायत्र्यादि छन्दोविशिष्ट मन्त्रपाठ को (त्वम्) आप (सु-प्र-वोचः) भले प्रकार उपदेश करते हैं। हे परमात्मन् ! आप बड़े दयालु हैं जो कि हमारे लिये हव्यदान और साथ में मन्त्रपाठ के गान का उपदेश करते हैं, जो हमारे कल्याण का हेतु है ।।

भौतिक पक्ष में—(अग्ने) अग्ने ! (त्वम्) तू (अस्माकम्, इमम्, नव्यांसम्, सनिम्) हमारे, इस, नवीनतर, हव्य को (उ) और (देवेषु) देवों के विषय में (गायत्रम्) मन्त्रगान को (सु-प्र-वोचः) भले प्रकार प्राप्त कराता और बोलता है ।।

अग्नि ही आहवनीयादि रूप से हमारे उत्तम-उत्तम नवीन (ताजे) हव्य पदार्थों को देवतों में पहुँचाता है। और अग्नि ही वाणी रूप होकर मन्त्रपाठ करता है। अग्नि के वाणीरूप होने में १ दशति के ६ मन्त्रभाष्य में प्रमाण देखिये ।।

अष्टाध्यायी ६।३।१३६॥ ३।२।२७॥ ८।३।१०७॥ ३।४।६॥ ३।१।५२॥ ७।४।२० के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद १।२७।४ में भी ऐसा ही पाठ है ॥८॥

अथ नवमी—गोपवनेन दृष्टा । छ० दे० उक्ते ॥

१ २ ३ १२ ३ १ २र
२९—तन्त्वा गोपवनो गिरा जनिष्ठदग्ने अङ्गिरः ।
१ २ ३ १२
स पावक श्रुधी हवम् ॥९॥

भावार्थः—(अग्ने) ज्ञानसागर ! (तम्) पूर्वोक्त (त्वा) आपको (गोपवनः) वाणी का पवित्र रखने वाला (गिरा) वाणी से (जनिष्ठत्) प्रकट करता है, अर्थात् वाणी से स्तुति करता है कि (अंगिरः) हे ज्ञाननिधे ! (पावक) हे पवित्र कारक ! पतितपावन ! (सः) ऐसे तुम (हवम्) स्तोत्र को (श्रुधि) अङ्गीकार करो ॥

पवित्रवाणी वाला पुरुष परमात्मा से प्रार्थना करे कि दयानिधे ! मेरी प्रार्थना स्तुति को अङ्गीकार करो ॥

भौतिक पक्ष में—(अग्ने) अग्ने ! (तम्) पूर्वोक्त (त्वा) तुझ को (गोपवनः) पवित्र वाणी वाला उद्गाता (गिरा) वाणी से (जनिष्ठत्) प्रकट करता है कि (अंगिरः) अङ्गारों वाले दहकते ! (पावक) शोधने वाले ! (सः) इस प्रकार के तुम (हवम्) गुणवर्णन को (श्रुधि) अङ्गीकार करो ॥

संसार भर की पवित्रता चाहने वाले को योग्य है कि प्रथम स्वयं पवित्र होकर अग्नि का आधान और गुणवर्णन वाले मन्त्रों का पाठ करे । ऐसा करने से दहकता हुआ शोधक अग्नि उसके वर्णन को अङ्गीकार करता है । अर्थात्, उसके जाने तथा वर्णन किये अनुसार काम देने लगता है । खोजने से मिलता है ॥

मन्त्र में गोपवन शब्द देखकर कोई लोग शङ्का करते हैं कि इसके द्रष्टा का नाम भी गोपवन है इसलिये यह मन्त्र उसी ने रच लिया है । इसका समाधान १ दशति के आठवें मन्त्र के भाष्य में कर चुके हैं ॥

निघं० १।११॥ ५।५॥ उणादि २।६७॥ अष्टाध्यायी ३।६।१३७॥ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद ८।६३।११ में "तम्" के स्थान में "यम्" पाठ है ॥९॥

अथ दशमी—कामदेवेन दृष्टा । छ० दे० उक्ते ॥

२३ १ २ ३ २३ २३ १ २
३०—परि वाजपतिः कविरग्निर्हव्यान्यक्रमीत् ।
२३१ २ ३ १२
दधद्रत्नानि दाशुषे ॥१०॥

भावार्थः—(वाजपतिः) अन्नपति अन्नदाता (कविः) बुद्धिमान् (अग्निः) प्रकाशस्वरूप परमात्मा (दाशुषे) दानी के लिये (हव्यानि) ग्रहणयोग्य (रत्नानि) धनों को (दधत्) देता हुआ (परि-अक्रमीत्) सर्वत्र व्याप रहा है।

यथार्थ में परमात्मा ही सबका अन्नदाता है और अनन्त ज्ञानवान् तथा प्रकाशवान् है। वह दानशीलों को अपनी व्यापकता से कर्मानुसार धनादि पदार्थ देता है॥

भौतिक पक्ष में—(वाजपतिः) अन्न का पालक (कविः) बुद्धितत्त्ववाला (अग्निः) सूर्यरूप अग्नि (दाशुषे) यज्ञ करने वाले के लिये (हव्यानि) हवनयोग्य (रत्नानि) धनों को (दधत्) देता हुआ (परि-अक्रमीत्) सब ओर व्यापता है॥

सूर्यरूप अग्नि वृष्टिद्वारा अन्न का पति है और प्रकाश द्वारा तमोगुण की निवृत्ति और बुद्धितत्त्व की वृद्धि करने से बुद्धितत्त्व वाला है। इसलिये उस सूर्य के द्वारा जगत् के उपकारार्थ हवनयोग्य अनेक रमणीय पदार्थों की प्राप्ति के लिये मनुष्यों को हवनशील होना चाहिये॥

निघं० २।७॥ ३।१५॥ २।१०॥ ३।२० के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये॥ ऐसा ही पाठ ऋग्वेद ४।१५।३ में है॥१०॥

अथैकादशी—कण्वेन दृष्टा। सौरोऽग्निर्देवता। गायत्री छन्दः।

२३ १ ३ १२ ३१ २ ३१२
३१—उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
३१ २९ ३ १२
दृशे विश्वाय सूर्यम्॥११॥

भावार्थः—(उ) प्रश्न। हम परमात्मा को कैसे जानें? उत्तर—(त्यम्) उस (जातवेदसम्) वेदों का प्रकाश करने वाले (देवम्) दिव्यगुणी (सूर्यम्) चराऽचरात्मा परमात्मा को (केतवः) प्रज्ञान अर्थात् उसके ज्ञानादि गुण (विश्वाय दृशे) सबके देखने के लिये (उत्-वहन्ति) जताते हैं॥

जिस प्रकार सूर्य अपने किरणों से जाना जाता है इसी प्रकार दिव्य गुणों वाला चराऽचर का आत्मा परमात्मा अपने चेतनत्वादि गुणों से सब जगत् को अपना ज्ञान कराता है अर्थात् सृष्टि को ज्ञानपूर्वक ज्ञानी प्रज्ञावान् ने रचा है। जड़कृत रचना सुडौल नहीं होती। इत्यादि प्रकार से परमात्मा का ज्ञान उसके गुणों से होता है। इसी प्रकार के वेदमन्त्र उन प्रकरणों का मूल हैं जो दर्शनशास्त्रों में परमात्मा की सिद्धि के विषय में तर्कवाद है॥

भौतिक पक्ष में—(उ) प्रश्न। इतनी दूर का सूर्य हम तक कैसे व्यापता है? उत्तर—(त्यम्) उस [पूर्वमन्त्र में वर्णित] (जातवेदसम्) ज्ञान के प्रकाशक अन्धियारे को मिटाकर अज्ञान के नाशक (देवम्) दिव्य आश्चर्यगुणयुक्त

(**सूर्यम्**) सूर्य को (**केतवः**) उसकी किरणें (**विश्वाय**) सबके (**दृशे**) देखने के लिये (**उत्-वहन्ति**) पहुँचाती हैं ।

अर्थात् सूर्य अपनी किरणों द्वारा हमें व्यापता, प्रकाश करता, जगाकर ज्ञान को उत्तेजित करता और सर्व वस्तुओं को दिखाता है ॥

निघण्टु ५ । १ ॥ ३ । ६ ॥ ५ । ६ तथा निरुक्त १२ । १५ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद १ । ५० । १ में भी ऐसा ही पाठ है ॥ इस ऋचा का देवता सूर्य=अग्नि है । इस पर्व का नाम "आग्नेय" है इसलिये अन्य देवता भी इसी प्रसङ्ग का समझना चाहिये ॥११॥

अथ द्वादशी – मेधातिथिना दृष्टा । छं० दे० उक्ते ।

३ २ ३ १ २र ३ १ २ ३२
३२—कविमग्निमुप स्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे ।
३ १ २ ३ १ २
देवममीवचातनम् ॥१२॥

भावार्थः—(**कविम्**) सर्वज्ञ (**सत्यधर्माणम्**) सत्यधर्मी (**देवम्**) प्रकाशक (**अमीवचातनम्**) रोगविनाशक (**अग्निम्**) तेजस्वी परमात्मा की (**अध्वरे**) **ब्रह्म**-यज्ञादि में (**उप-स्तुहि**) उपासना और स्तुति कर ।

भौतिक पक्ष में—(**कविम्**) जगाने वाले (**सत्यधर्माणम्**) नियम से न डिगने वाले (**देवम्**) प्रकाशयुक्त (**अमीवचातनम्**) रोगनिवारक (**अग्निम्**) सूर्याग्नि का (**अध्वरे**) विज्ञानकाण्ड में (**उप-स्तुहि**) वर्णन कर ।

मनुष्य को विहित है कि वह विज्ञान (साइंस) के प्रसंग में सूर्य की स्तुति करे कि सूर्य जगाने वाला है क्योंकि उसके उदय से अन्धियारा मिटता, चान्दना होना, निद्रा और तमोगुण निवृत्त होता है, जिससे यह कहा जाता है कि बुद्धि का प्रेरक होने से कवि अर्थात् मेधावी है । वह सत्यधर्मा है, क्योंकि उसके उदय अस्त नियमबद्ध होते हैं । यह प्रकाशक होने से देव है । उसके प्रकाश के साथ गरमी फैलती है, गरमी से वायु बहता है, वायु बहने से सड़न निवृत्त होती है और सड़न रोगों की उत्पादक है, अतः सड़न का निवारक होने से सूर्य रोगनिवारक है ॥ ऐसा ही पाठ ऋग्वेद १ । १२ । ७ में आया है ॥१२॥

अथ त्रयोदशी—सिन्धुद्वीपेनाऽम्बरीषेण त्रितेनाऽऽप्त्येन वा दृष्टा ।
ऋग्वेदे आपोदेवता अत्र तु प्रसङ्गादनुक्तोऽप्यग्निरेव ।
गायत्री छन्दः ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
३३—शन्नो देवीरभिष्टये शन्नो भवन्तु पीतये ।
२उ ३ १ २

भावार्थः—(देवीः) परमात्मा की दिव्य शक्तियें (नः) हमारे (अभिष्टये) मनचाहे आनन्द के लिये (शम्) सुखदात्री (भवन्तु) होवें । (नः) हमारी (पीतये) तृप्ति के लिये (शम्) सुखदा होवें । किन्तु (नः) हमारे लिये (शंयोः) अभीष्ट सुख को (अभि-स्रवन्तु) वर्षावें ।

परमात्मा की स्तुति उपासना का फलस्वरूप आशिष इस मन्त्र में मांगा गया है कि उसकी कृपा से हमें सब प्रकार सदा सुख मिले ॥

भौतिक पक्ष में भीः—(देवीः) अग्नि आदि की दिव्यशक्तियां जानी हुई हम को सब प्रकार सदा सुखदायिनी हो सकती हैं । इसके लिये हम को सूर्य्यादि देवों की क्या-क्या शक्ति=सामर्थ्य है, इस बात के जानने के लिये उस-उस पदार्थ के गुणों का वर्णन यजन—मिलान करना चाहिये ॥ ऋग्वेद १० । ६ । ४ में "शन्नो" के स्थान में "आपो" ऐसा पाठ है और तदनुसार "आपोदेवता" है । परन्तु यहां पाठ में "आपः" न होने से तथा आग्नेयपर्व के प्रकरण से अग्नि देवता की ही अनुवृत्ति जाननी चाहिये ॥

निघं० ३ । ६ ॥ ५ । ६ ॥ ४ । १ अष्टाध्यायी ३ । ३ । ९५ ॥ ६ । ४ । ६५-६६ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।'१३॥

अथ चतुर्दशी —उशनसा दृष्टा । अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः ॥

१ २ ३१ २र ३ १ २
३४—कस्य नूनं परीणसि धियो जिन्वसि सत्पते ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
गोषाता यस्य ते गिरः ॥१४॥

भावार्थः—(सत्पते) हे सन्तों के रक्षक ! (यस्य) जिस की (गिरः) वाणी (ते) आपके विषय में (गोषाताः) अमृतभरी हैं, उसके लिये (कस्य) सुख की (परीणसि) बहुत-सी (धियः) बुद्धियों को (जिन्वसि) भरपूर कर देते हो ॥

अर्थात् जो मनुष्य परमात्मा के भक्त हैं और अमृतभरी वाणी से परमात्मा का गुणगान करते हैं, उन्हें वह भक्तपरिपालक जगदीश सुख देने वाली बुद्धि से भरपूर कर देते हैं ॥

भौतिक पक्ष में: -(सत्पते) यज्ञकर्त्ताओं के पालक ! अग्ने (यस्य) जिसकी (गिरः) वाणी (ते) तेरे विषय (गोषाताः) सोमादि औषधियों का विभाग करने वाली हैं उसको तू (कस्य) सुख की (परीणसि) बहुत-सी (धियः) बुद्धियों को (जिन्वसि) प्राप्त कर देता है ॥

अर्थात् अग्नि यज्ञकर्त्ताओं का पालक-रक्षक है, वह उस मनुष्य के बुद्धितत्त्व

को बढ़ाता है और पुष्ट शुद्ध करता है जो सोमादि का होम और अग्न्यादि देवों के गुणवर्णनपूर्वक यज्ञ करता है। क्योंकि अग्नि में होम करने से वायु आदि की शुद्धि, उससे अन्नादि भोज्य पेय पदार्थों का शोधन, उससे शरीरस्थ सांख्यप्रतिपादित बुद्धितत्त्व का परिशोधन वृद्धि और आप्यायन होता है। यह जानना सुगम ही है ॥

निघण्टु ३।६॥ ३।१॥ ३।६ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद ८।७३।७ में तां परीणसि=परीणमः। सत्पते=दम्पते, पाठ है ॥१४॥

यह तीसरी दशति पूर्ण हुई ॥३॥

अथ चतुर्थी दशतिस्तत्र प्रथमा—शंयुना दृष्टा। अग्निर्देवता। बृहती छन्दः ॥

३१ २ ३ १२ ३१ २ ३ १ २
३५—यज्ञा यज्ञा वो अग्नये गिरा गिरा च दक्षसे।
१२ ३२३ १२ ३ १२ ३२ ३२ २१
प्रप्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रन्न शंसिषम् ॥१॥

भावार्थः—हे [मनुष्यो !] (वयम्) हम (वः) तुम्हारे (यज्ञा यज्ञा) यज्ञ यज्ञ में और (गिरा गिरा च) वाणी वाणी [ऋचा ऋचा] से (अग्नये) ज्ञानस्वरूप (दक्षसे) महान् (अमृतम्) अमर (जातवेदसम्) वेदप्रकाशक [परमात्मा अपने आप] को (प्रियं, मित्रं न) प्यारे, मित्र के समान (प्र, प्र, शंसिषम्) उपदेश करते हैं ॥

परमात्मा उपदेश करते हैं कि हम तुम्हारे समस्त ज्ञानयज्ञों में समस्त वेद-मन्त्रों से तुम्हें अपना उपदेश करते हैं अर्थात् अपने ज्ञानस्वरूप, महान् अमर वेद-प्रकाशक ईश्वरभाव को जताते हैं ॥

भौतिक पक्ष में:—(वयम्) हम (वः) तुम्हारे (यज्ञा यज्ञा) यज्ञ-यज्ञ में (गिरा गिरा च) और मन्त्र-मन्त्र से (दक्षसे) बड़े भारी (अमृतम्) देव (जातवेदसम्) बुद्धिप्रसारक (अग्नये) अग्नि को (प्रियं, मित्रं न) प्रिय, मित्र के समान (प्र, प्र शंसिषम्) बताते हैं ॥

अर्थात् परमात्मा बताते हैं कि हे मनुष्यो! तुम्हारे यज्ञ-यज्ञ में हम ऋचा-ऋचा से तुमको यह बताते हैं कि अग्नि महान्, देव, बुद्धिप्रसारक है, उससे उपयोग लो, यह तुम्हारा हितसाधक मित्र के समान है।

अष्टाध्यायी ८। १। ६ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद ६। ४८। १ में भी ऐसा ही पाठ है ॥१॥

अथ द्वितीया—भर्गेण दृष्टा। अग्निर्देवता। बृहती छन्दः ॥

३६—पाहि नो अग्न एकया पाह्यु३त द्वितीयया।
पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जांपते पाहि चतसृभिर्वसो ॥२॥

भावार्थः—(ऊर्जांपते) हे बलपते ! (वसो) हे अन्तर्यामिन् ! (अग्ने) अग्नीयेश्वर ! (एकया) ऋग्वेद के उपदेश से (नः) हमारी (पाहि) रक्षा करो (उत) और (द्वितीयया) यजुर्वेद की वाणी से (पाहि) रक्षा करो। (तिसृभिः, गीर्भिः) ऋग्यजुसामरूप त्रयी की वाणी से (पाहि) रक्षा करो। (चतसृभिः) चारों [वेदों] से (पाहि) रक्षा करो ॥

क्योंकि मनुष्यों की रक्षा जिस प्रकार वेदों के उपदेश से हो सकती है उस प्रकार की राजा आदि भी नहीं कर सकते। इसलिये मनुष्यों को सदा परमेश्वर से प्रार्थना करनी चाहिये कि वह चारों वेदों के सत्योपदेश से हमारी रक्षा करे ॥

भौतिक पक्ष में (ऊर्जांपते) रसादि के पालक ! (वसो) ८ वसुओं में एक (अग्ने) अग्ने ! (एकया, नः, पाहि) एक [ऋग्वेदस्थवाणी] से हमारी रक्षा कर। (उत, द्वितीयया, पाहि) और, दूसरी [यजुर्वेदस्थ वाणी] से, रक्षा कर। (तिसृभिः, गीर्भिः पाहि) तीन [ऋग्यजुः साम की] वाणियों से रक्षा कर। (चतसृभिः, पाहि) चारों [वेदोक्त वाणियों] से, रक्षा कर ॥

अग्नि ही दृष्ट्यादि द्वारा रस का फैलाने वाला, वसुसंज्ञक देव है। यहां यजन करने से हमको चार वेदों में लिखे अनुसार फलदायक होता है ॥

निघं० २।७ शतपथ ५।१।२।८ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद ८।४१।९ में भी ऐसा ही पाठ है ॥२॥

अथ तृतीया—शंयुना दृष्टा। अग्निर्देवता। बृहती छन्दः ॥

३७—बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः शुक्रेण देव शोचिषा।
भरद्वाजे समिधानो यविष्ठ्य रेवत् पावक दीदिहि ॥३॥

भावार्थः—(देव) दिव्यैश्वर्य ! (यविष्ठ्य) अत्यंत बल ! (पावक)

पवित्रकर्त्ता परमात्मन् ! आप (**बृहद्भिः, अर्चिभिः**) महान्, किरणरूप गुणों से (**शुक्रेण, शोचिषा**) शुद्ध, तेज के साथ (**भरद्वाजे**) पुरुषार्थी उपासक में (**समिधानः**) प्रकाश करते हुए (**रेवत्**) उसे विद्यादि धनयुक्त करते हुए (**दीदिहि**) प्रकाश कीजिए ॥

भौतिक पक्ष में- (**देव**) चमकते ! (**यविष्ठ्य**) दहकते ! (**पावक**) शोधक ! (**अग्ने**) ! अग्ने तू (**बृहद्भिः, अर्चिभिः**) भारी, लपटों से हुए (**शुक्रेण, तेजसा**) श्वेत तेज से (**भरद्वाजे**) स्थालीपाकादि अन्नवाले यजमान के यहां (**समिधानः**) प्रदीप्त होता हुआ (**रेवत्**) नानाविध धनादियुक्त करता हुआ (**दीदिहि**) सुलग ॥

तात्पर्य यह है कि चमकता, दहकता, घर-द्वार आदि को शुद्ध करता, भारी लपटों वाला, उज्ज्वल, तजस्वी, अग्नि, प्रत्येक यजमान के अग्न्यागार नामक [कमरे] स्थान में सुलगता रहना चाहिए। ऐसा करने से सर्व रोगादि की निवृत्ति होकर धनादि पदार्थों की वृद्धि होती है ॥

निघं० ३।३॥२।८॥१।१७॥२।६॥२।७॥१।१६॥ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद (६।४८।६) में चतुर्थपाद में केवल "रेवन्नः शुक्र दीदिहि द्युमत्पावक दीदिहि" इतना पाठान्तर है ॥३॥

अथ चतुर्थी—वसिष्ठेन दृष्टा । अग्निर्देवता । बृहती छन्दः ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २
३८—त्वे अग्ने स्वाहुत प्रियासः सन्तु सूरयः ।
३ २ ३ २ ३१ २ ३ १ २ ३१ २र ३ १ २
यन्तारो ये मघवानो जनानामूर्वं दयन्त गोनाम् ॥४॥

भाषार्थः—(**स्वाहुत**) अच्छे प्रकार ध्यान किये हुए ! (**अग्ने**) हे ज्ञान-स्वरूप ! (**ये**) जो लोग (**त्वे**) आपके (**प्रियासः**) प्यारे (**सूरयः**) स्तुतिकर्त्ता हैं, वे (**मघवानः**) विद्यादिधनयुक्त और (**जनानां, यन्तारः**) मनुष्यों के नेता राजा वा उपदेष्टा (**सन्तु**) हों वे और (**गोनाम्**) गौओं के (**ऊर्वम्**) बाहुल्य वा समूह को (**दयन्त**) रक्षित करें ॥

जो लोग मनुष्यों के अग्रणी मुखिया उपदेष्टा वा राजा हों उन्हें ईश्वर का भक्त, ईश्वर का प्यारा, विद्यादिधनयुक्त और गौ आदि का रक्षक, होना चाहिए ॥

भौतिक पक्ष में—(**स्वाहुत**) अच्छे प्रकार आहुत ! (**अग्ने**) अग्ने ! (**ये**) जो लोग (**त्वे**) तेरे (**प्रियासः**) प्यारे हैं, वे (**सूरयः**) विद्वान् गुणज्ञ, (**मघवानः**) विद्यादिधनवान्, (**जनानां, यन्तारः**) मनुष्यों के नेता अग्रणी मुखिया

उपदेष्टा वा राजा (सन्तु) हों और (गोनाम्) गौ आदि के (ऊर्वम्) समूह की (वयन्त) रक्षा करें ॥

भावार्थ यह है कि जो मनुष्य अग्निविद्या के द्वारा अग्नि से उपयोग लेना जानते हैं, वे सर्वप्रिय, यज्ञशील, विद्वान्, धनवान्, मुखिया, अगुवा वा राजा और गवादि पशुओं के रक्षक होने चाहियें और होते हैं ॥

अष्टाध्यायी ७ । १ । ३६ ॥ ७ । १ । ५० ॥ ६ । १ । १०६॥ ८ । २ । ७६ ॥ ७ । १ । ५४ ॥ ७ । १ । ५६ ॥ ७ । १ । ५७ निघण्टु ३ । १६ ॥ २ ।१० ॥३। १ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद ७।१६।७ में भी ऐसा ही पाठ है ॥४॥

अथ पञ्चमी —भारद्वाजेन दृष्टा । अग्निर्देवता । बृहती छन्दः ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

३६—अग्ने जरितर्विश्पतिस्तपानो देव रक्षसः ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

अप्रोषिवान् गृहपते महाँ असि दिवस्पायुर्दुरोणयुः ॥५॥

भावार्थः—(**जरितः**) सर्व पदार्थों के गुण बताने वाले ! (**देव**) अलौकिक ऐश्वर्य वाले ! (**गृहपते**) हमारे घरों के स्वामिन् ! (**अग्ने**) हे परमात्मन् ! आप (**विश्पतिः**) मनुष्यों के रक्षक और (**रक्षसः, तपानः**) राक्षसों के सन्तापक (**अप्रोषिवान्**) कभी प्रवास न करने वाले (**दिवः**) द्युलोकादि लोकों के (**पायुः**) रक्षक (**दुरोणयुः**) घर-घर में ओत-प्रोत और (**महान्**) पूजनीय (**असि**) हैं ॥

अर्थात् परमात्मा ऊपर कहे गुणों से युक्त सर्वकाल में सबका पूज्य है ॥

भौतिक पक्ष में—(**जरितः**) वाणीरूप से वर्णन करने वाले ! (**देव**) ३३ देवों में एक ! (**गृहपते**) गार्हपत्य नाम (**अग्ने**) अग्ने ! तू (**विश्पतिः**) मनुष्यों का रक्षक (**रक्षसः, तपानः**) दुष्ट शत्रु का, नाशक (**अप्रोषिवान्**) अग्न्यागार से अलग न करने योग्य (**दिवः, पायु**) प्रकाश का, रक्षक और (**दुरोणयुः**) घर-घर से मिला हुआ (**महान्**) हवन द्वारा प्रयोजनीय (**असि**) है ॥

तात्पर्य यह है कि अग्नि वाणीरूप से प्रत्येक पदार्थ के गुणों का बखानने वाला, गार्हपत्य नाम एक देव है, जो अपने गुणों से मनुष्यों का रक्षक, रोगादि दुष्ट शत्रु का नाशक, सदा अग्न्यागार नाम कमरे में रक्खा हुआ, घर-घर में निरन्तर रखने योग्य और हवनादि की रीति से नानाविध शिल्प का उपयोगी है ॥ इसमें कई बार गृह शब्द के आने से यह भी सूचित होता है कि गृहस्थों का ही गार्हपत्य नाम अग्नि से विशेष सम्बन्ध है । ऐसा अन्य आश्रमों का नहीं [अग्नि से वाणी—देखो १ दशति ७ वे मन्त्र का भाष्य] ॥

निघं० ३ । १६ ॥ २ । ३ ॥ ३ । १४ ॥ ३ । ४ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद (८ । ४६ । १६) में "गृहपतिः" इतना पाठान्तर है ॥५॥

अथ षष्ठी—प्रस्कण्वेन दृष्टा । अग्निर्देवता । बृहती छन्दः ।।

१ ३ १२ ३१२ ३१ २र
४०—अग्ने विवस्वदुषसश्चित्रं राधो अमर्त्य ।
२ ३१२ ३ २३२ ३१ २३१ २
आ दाशुषे जातवेदो वहा त्वमद्या देवाँ उषर्बुधः ।।६।।

भावार्थः—(जातवेदः) वेदों के प्रकाशक ! (अमर्त्य) अमर ! (अग्ने) परमात्मन् ! (त्वम्) आप (राधः) भक्तिधन (दाशुषे) देने वाले उपासक के लिये (उषसः) प्रभात वेला के (विवस्वत्) रंग-बिरंगे वस्त्र से धारे हुए (चित्रम्) चित्र और (उषर्बुधः) प्रभात में चेतने वाले (देवान्) ज्ञानेन्द्रियों को (अद्य) अब (आ-वह) प्राप्त कराइये ।।

जो मनुष्य प्रभात में उठकर परमात्मा का ध्यान-उपासना करते हैं उन्हें दयालु जगत्पिता, प्रभात वेला के विचित्र चित्र और ज्ञानेन्द्रियों की चेत देते हैं जिससे वे उस-उस इन्द्रिय से धर्मानुकूल कार्य लेते हुए सुखी होवें ।।

भौतिक पक्ष में—(जातवेदः) प्रकाश से ज्ञान के उभारने वाले ! (अमर्त्य) देव ! (अग्ने) अग्ने ! (त्वम्) तू (राधः) हव्यरूप धन (दाशुषे) देने वाले याज्ञिक के लिये (विवस्वत्) विविध वस्त्र से धारे हुए (उषसःचित्रम्) प्रभात वेला के, चित्र और (उषर्बुधः,देवान्) प्रभात में चेतने वाले, इन्द्रियों को (अद्य) अब (आ-वह) प्राप्त करा ।।

आशय यह है कि मनुष्य को प्रभात में उठकर होम करना चाहिये । अग्नि के ही प्रभाव से सूर्य से उषा=प्रभात वेला उत्पन्न होती है जो लाल-लाल वस्त्र से धारती हुई अपने चित्र को दिखाती है और जिसके प्रभाव से मनुष्यों के रात्रि में मृतप्राय ज्ञानेन्द्रिय फिर जागते हैं । जो मनुष्य प्रभातयाजी हैं वे विशेष सुखपूर्वक उषा के उदय और ज्ञानेन्द्रियों की चेत को पाते और सुखी होते हैं ।।

निघं० २।१०।। ३।२० अष्टाध्यायी ६।१।१२।। ६।३।१३५।। ६।३।१३६ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।। ऐसा ही पाठ ऋग्वेद १।४४।१ में भी है ।।६।।

अथ सप्तमी—तृणपाणिना दृष्टा । अग्निर्देवता । बृहती छन्दः ।।

१ २ ३२ ३२४ ३ १२
४१—त्वन्नश्चित्र ऊत्या वसो राधांसि चोदय ।
३ २ ३१ २र ३१२ ३२ ३२ ३१ २र
अस्य रायस्त्वमग्ने रथीरसि विदा गाधं तुचे तु नः ।।७।।

भावार्थः—(वसो) घट-घट वासी ! (अग्ने) ज्ञानस्वरूप ! (त्वम्) आप (नः) हमारी (ऊत्या) रक्षा के साथ (राधांसि) विद्यादि धनों को (बोधय) प्राप्त कराइये, क्योंकि (त्वम्) आप ही (अस्य, रायः) इस, धन के (चित्रः, रथीः) विचित्र दाता हैं। (तु) और (तुचे) सन्तान के लिये (गाधं, विदाः) आश्रय दीजिये ॥

जो परमात्मा के प्यारे सदा उसी का भरोसा, शरण, आश्रय रखते हैं, उसी के उपासक और आज्ञापालक रहते हैं, वह दयालु परमात्मा उन्हें और उनके सन्तानों को अनेकशः विद्यादि धनों से भरपूर करता और आश्रय देता है तथा उनकी रक्षा करता है। क्योंकि वही सम्पूर्ण धन आश्रय और रक्षा के साधनों का स्वामी और उनमें वास कर रहा है ॥

भौतिक पक्ष में—(वसो) ८ वसुओं में एक ! (अग्ने) अग्ने ! (त्वम्) तू (नः) हमारी (ऊत्या) रक्षा से (राधांसि) रत्नादि धनों को (बोधय) प्राप्त करा। क्योंकि (त्वम्) तू (अस्य) इस युद्धादि में निर्जित (रायः) धन का (चित्रः) विचित्र (रथीः) नेता (असि) है। (तु) और (तुचे) सन्तान के लिये (गाधम्) आश्रय (विदाः) मिला ॥

अग्नि ८ वसुओं में एक विचित्र वसु है जिसके प्रभाव से मनुष्य अपनी रक्षा और शत्रु का पराजय करके उसके धनादि को पा सकते हैं तथा अपनी सन्तान के लिये आश्रय दिला सकते हैं। अग्नि आश्चर्य्य गुणों से ऊपर कहे कार्य्यों का साधक है, उसके गुण खोजने और तदनुसार अग्नि को काम में लाना चाहिये ॥

निघं० २।१४॥ २।२ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखने चाहियें ॥ ऐसा ही पाठ ऋग्वेद (६।४८।६) में भी है ॥७॥

अथाष्टमी—विरूपेण दृष्टा। अग्निर्देवता। बृहती छन्दः ॥

२उ ३१२ ३ १२ ३ २ ३२
४२—त्वमित्सप्रथा अस्यग्ने त्रातर्ऋतः कविः।
१ २र ३ १ २ ३१२
त्वां विप्रासः समिधान दीदिव आ विवासन्ति वेधसः ॥८॥

भावार्थः—(समिधान) ध्यान किये हुए ! (दीदिवः) तेजोमय ! (त्रातः) रक्षक ! (अग्ने) परमात्मन् ! (त्वम्) आप (सप्रथाः) सर्वतो-व्याप्त (ऋतः) सत्य और (कविः) ज्ञानी (असि) हैं (त्वाम्, इत्) आप को, हो (वेधसः) मेधावी (विप्रासः) विप्र लोग (आ-विवासन्ति) सर्वतोभाव से भजते हैं ॥

भौतिक पक्ष में—(**समिधान**) समिधाओं में स्थापित ! (**दीदिवः**) दहकते ! (**त्रातः**) रोग वा शत्रु से रक्षक ! (**अग्ने**) अग्ने ! (**त्वम्**) तू (**सप्रथाः**) साथ फैलने वाला (**ऋतः**) प्राप्त और (**कविः**) वाणीरूप से बोलने वाला (**असि**) है । (**त्वाम्, इत्, वेधसः, विप्राः, आ-विवासन्ति**) तुझको, ही, मेधावी, जानने वाले लोग, सब ओर से, सुप्रयुक्त करते हैं ।

मन्त्र में लिखे गुणों वाले अग्नि को ही सब विद्वान् काम में लाते हैं और उसकी सहायता से बोलते, उससे अपनी रक्षा करते, उसे प्रदीप्त करते और सब काम सिद्ध करते हैं ॥

निघं० ४।३॥ ५।४॥ ३।१५॥ ३।५ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद ८।४६।५ में भी ऐसा ही पाठ है ॥८॥

अथ नवमी—शुनःशेपेन दृष्टा । अग्निर्देवता । बृहती छन्दः ॥

४३—आ नो अग्ने वयोवृधं रयिं पावक शंस्यम् ।
रास्वा च न उपमाते पुरुस्पृहं सुनीती सुयशस्तरम् ॥९॥

भावार्थः—(**उपमाते**) हे धातः ! (**पावक**) हे पतितपावन ! (**अग्ने**) हे ज्ञानप्रकाशक ! परमात्मन् ! [आप] (**नः**) हमारे लिये (**वयोवृधं, शंस्यं, रयिम्**) अन्न उपजाने वाला, उत्तम जल (**च**) और (**सुनीती**) सुन्दर नीति से सहित (**पुरुस्पृहं, सुयशस्तरम्**) अत्यन्ताऽभीष्ट, अति सुन्दर यश (**रास्व**) दीजिये ॥

भौतिक पक्ष में—(**उपमाते, पावक**) धारने वाले ! शोधक ! (**अग्ने**) अग्ने ! (**नः, वयोवृधं, शंस्यं, रयिम्**) हमारे लिये, अन्न उपजाने वाले, उत्तम, जल (**च**) और (**सुनीती, पुरुस्पृहं, सुयशस्तरम्**) सुन्दर नीति के सहित अत्यन्ताऽभीष्ट, अति सुन्दर यश (**रास्व**) दे ॥

तात्पर्य यह है कि आग्नेयविद्या और यज्ञ द्वारा सुहुत अग्नि धाता अर्थात् जगत् को धारता है, वही पवित्र जल वर्षाता है, उससे उत्तम अन्न उपजाता है, उस से हृष्टि पुष्टि बल पुरुषार्थ द्वारा सुनीति के बर्त्ताव करने से सुन्दर कीर्त्ति बढ़ती है, जो सब मनुष्यों को चाहने योग्य है और चाहनी चाहिये ॥

अष्टाध्यायी ७।१।३९॥ ६।३।१३५, निघण्टु ७।३॥ १।१२ के प्रमाण संस्कृत-भाष्य में देखिये ॥ ऐसा ही पाठ ऋग्वेद ८।४९।१४ में है परन्तु वहाँ "सुयशस्तरम्" के स्थान में "स्वयशस्तरम्" इतना पाठान्तर है ॥९॥

अथ दशमी—सौभरिणा दृष्टा । अग्निर्देवता । बृहती छन्दः ॥

२८ ३ १२३ २३ १२ ३१ २८
४४—ये विश्वा दयते वसु होता मन्द्रो जनानाम् ।
२३१ २८ ३१ २ ३ १ २८ ३ १२
मघोर्न पात्रा प्रथमान्यस्मै प्र स्तोमा यन्त्वग्नये ॥१०॥

इति चतुर्थी दशतिः ॥ ४ ॥

भावार्थः – (यः) जो (होता) कर्मफलप्रदाता (मन्द्रः) आनन्ददाता (जनानाम्) मनुष्यों के लिये (विश्वा वसु) सब प्रकार के, विद्यादि धन (दयते) देता है (अस्मै, अग्नये) इस, परमात्मा के लिये (मघोः पात्रा न) मधु के, पात्रों के, समान (प्रथमानि) मुख्य उत्तम (प्रस्तोमा) स्तोत्र (यन्तु) प्राप्त हों ॥

परमात्मा ही कर्म का फल पहुँचाता है उसके विना किये कर्मों की हानि और न किये पापों का शिर मढा जाना हो जाता है । इसलिये उस दयालु के धन्य-वादरूपी मधुर वचन जैसे मानो मधुर रस के पात्र हों, ऐसे मधुर मुख्य स्तोत्र पढ़े जावें, वह हमको नाना प्रकार के विद्यादि रत्नरूप धन देता है ॥

भौतिक पक्ष में—(होता) होमने वाला (मन्द्रः) और उससे आनन्द का दाता (यः) जो (जनानाम्) मनुष्यों के लिए (विश्वा, वसु, दयते) सम्पूर्ण, सुखसाधन धन, देता है (अस्मै, अग्नये) इस, अग्नि के लिये (प्रथमानि, प्रस्तोमा) मुख्य स्तुतियें (यन्तु) पहुँचे ॥

परमात्मा उपदेश करता है कि हे मनुष्यो ! जिस अग्नि में तुम सुगन्ध मिष्ट पुष्ट रोगनाशकादि नाना पदार्थों को होमते हो और उन पदार्थों को वायु यथास्थान बादल ओषधि वनस्पति आदि में पहुँचाता है और तुम्हें आनन्द देता है तथा सब धान्यादि धन देता है, तुम उस अग्नि के गुणों को स्वयं जानने और अन्यों को जताने के लिये साथ-साथ अग्नि की स्तुति किया करो अर्थात् अग्नि के गुण वर्णन वाले मन्त्रों का पाठ भी करते जाया करो । जिससे उस अग्नि विद्या के द्वारा सब सुखों को प्राप्त करके कृतकृत्य होओ ॥

अष्टाध्यायी ७ । १ । ३९ ॥ २ । ३ । ५० ॥ २ । ३ । ६२ ॥ निघं० ४ । १ ॥ २ । १० ॥ ३ । १४ ॥ निरुक्त १ । ४ ॥ उणादि १ । ६५ ॥ २ । १३ ॥ २ । ११६ ॥ १ । १४० के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद (८ । ६२ । ६) में "यन्त्व-ग्नये" इतना पाठ में भेद है ॥१०॥

यह चतुर्थ दशति पूर्ण हुई ॥ ४ ॥

अथ पंचमी दशतिस्तत्र प्रथमा वामदेवेन दृष्टा । अग्निर्देवता । बृहती छन्दः॥

३ १ २ ३ १ २३ १ २३ १ २
४५—एना वो अग्निं नमसोर्जो नपातमा हुवे ।
३ १ २ ३ १ २ ३१ २ ३ २३१ २
प्रियं चेतिष्ठमरतिं स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम् ॥ १ ॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करता है कि हे उपासको ! मैं (**वः**) तुम्हारे लिये (**एना, नमसा**) इस, स्तोत्र से (**ऊर्जः, नपातम्**) बल के रक्षक (**प्रियम्**) हितकर (**चेतिष्ठम्**) ज्ञानदाता (**अरतिम्**) स्वामी (**स्वध्वरम्**) सुष्ठु पूजनीय (**विश्वस्य, दूतम्**) सबके, कर्मफल पहुँचाने वाले (**अमृतम्**) अमर (**अग्निम्**) अपने स्वरूप का (**आ-हुवे**) उपदेश करता हूं, जताता हूं ।

इस मन्त्र तथा पूर्व मन्त्रों में वर्णित स्तोत्र के अनुसार परमात्मा अपने स्वरूप का बोध कराता है ।

भौतिक पक्ष में:—हे याज्ञिको ! मैं (**वः**) तुम्हारे लिये (**ऊर्जः, नपातम्**) अन्न और बल के रक्षक (**प्रियम्**) हितसाधक (**चेतिष्ठम्**) अत्यन्त चेताने वाले (**अरतिम्**) गमनशील (**स्वध्वरम्**) यज्ञ के सुधारने वाले (**विश्वस्य**) संसारभर के (**दूतम्**) दूत के समान इत उत पदार्थों के पहुँचाने वाले (**अमृतम्**) अमर (**अग्निम्**) अग्नि का (**एना, नमसा**) उक्त, गुणवर्णन से (**आ-हुवे**) उपदेश करता हूं ॥

मन्त्रोक्त गुणों के साथ अग्नि के जानने का परमात्मा उपदेश करता है । गुणों का वर्णन [बयान] स्तोत्र कहाता है । प्रकाश अग्नि का गुण है और प्रकाश से चेत होता है, इसलिये अग्नि को "चेताने वाला" कहा है । जिस प्रकार अमर जीवात्मा एक देह से दूसरे देह को धारण करता है, मरता नहीं, इसी प्रकार अग्नि एक काष्ठादि से निकल कर अन्य पदार्थों में प्रवेश करता है, मरता नहीं । इसलिये नित्य अग्नितत्त्व को "अमर" कहा गया है । जब तक देहादि में अग्नि रहता है तब तक देहादि का पात [नाश] नहीं होता, इसलिये इसको "बल का रक्षक" कहा है । कर्मकाण्ड का उपयोगी होने से "यज्ञ का सुधारने वाला" कहा है ॥

अष्टाध्यायी ७ । १ । ३६ ॥ निघण्टु २ । ७ ॥ ३ । ६ के प्रमाण संस्कृत-भाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद ७ । १६ । १ में भी ऐसा पाठ है ॥१॥

अथ द्वितीया—भर्गेण दृष्टा । अग्निर्देवता । बृहतीच्छन्दः ॥

२३ १२ ३ २ ३ २ ३ १२
४६—शेषे वनेषु मातृषु सं त्वा मर्त्तास इन्धते ।
१२ ३ १ २ ३ २ २३ ३ १ २
अतन्द्रो हव्यं वहसि हविष्कृत आदिद्देवेषु राजसि ॥२॥

भावार्थः—आग्नेयकाण्ड के प्रकरण से हे अग्ने परमात्मन् ! आप (**वनेषु**) वनस्थानी देहों में (**मातृषु**) आपके साक्षात्काररूप प्रकट होने के स्थान हृदयों में (**शेषे**) शयन करते हो । (**त्वा**) आपका (**मर्तासः**) मनुष्य (**सम् इन्धते**) ध्यान करते हैं । (**अतन्द्रः**) आलस्यरहित जागरूक आप (**हविष्कृतः**) कर्मकर्त्ता के (**हव्यम्**) कर्मफल को (**वहसि**) पहुँचाते हैं । (**आत् इत्**) इसके अतिरिक्त (**देवेषु**) पृथिव्यादि सब पदार्थों में (**राजसि**) प्रकाश करते हैं ॥

जिस प्रकार वन के काष्ठों में अदृश्य रूप से अग्नि वर्तमान है और वे वन उस अग्नि को माता के समान गर्भ में ले रहे हैं और मनुष्य लोग उस छिपे अग्नि को मन्थन द्वारा प्रकट करके प्रदीप्त कर लेते हैं । इसी प्रकार परमात्मारूप महान् अग्नि, देहरूप भस्मान्तभावी वनों में व्याप रहा है, उसे योगी लोग अपने हृदयों की भूमियों में प्रकाशित पाते हैं । वे हृदयभूमियाँ परमात्मा को प्रकट [साक्षात्] करने के स्थान हैं । ध्यानरूप मन्थन से वह प्रकट होता है । शयन कहने से निद्रा की भ्रांति न हो इसलिये "अतन्द्रः" कहा गया है अर्थात् वह दयालु आलस्यरहित सबको कर्मों का फल पहुँचाता है तथा सम्पूर्ण देहों,इन्द्रियों तथा पृथिव्यादि भूतों में प्रकाश कर रहा है ॥

भौतिक पक्ष में—अग्ने ! तू (**मातृषु, वनेषु, शेषे**) गर्भ रूप से तुझे छिपा हुआ धारने वाले, वनों में, शयन करता है (**मर्तासः,त्वा, सम्-इन्धते**) मनुष्य लोग, तुझे, प्रदीप्त करते हैं (**अतन्द्रः**) प्रदीप्त हुआ तू (**हविष्कृतः, हव्यं, वहसि**) यज्ञकर्ता के हव्य को, पहुँचाता और (**आत् –इत्**) अनन्तर ही (**देवेषु**) वाय्वादि देवों में (**राजसि**) जा विराजता है ॥

अर्थात् वन के काष्ठ अग्नि की उत्पत्तिभूमि माता हैं, उनके गर्भ में छिपा हुआ अग्नि है जिसे मनुष्य लोग यज्ञादि कार्यों में मथ कर प्रदीप्त कर लेते हैं और वह प्रदीप्त होकर हवन किये हुए द्रव्यों को वाय्वादि देवों में पहुँचाता है ॥

अष्टाध्यायी (वा० १ । ४ । ८७) का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये । ऋग्वेद ८ । ७ । ६० में "मात्रोः, हव्या" इतना पाठभेद है ॥२॥

अथ तृतीया—सौभरिणा दृष्टा । अग्निर्देवता । बृहती छन्दः ॥

१२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३२
४७—अदर्शि गातुवित्तमो यस्मिन्व्रतान्यादधुः ।

२३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२
उपो षु जातमार्यस्य वर्धनमग्निं नक्षन्तु नो गिरः ॥३॥

भावार्थः—(**गातुवित्तमः**) योगभूमि को उत्तम प्रकार से जानने वाले लोग (**यस्मिन्**) जिस परमात्मा में (**व्रतानि**) कर्मों को (**आ दधुः**) अर्पण करते हैं वह (**अदर्शि**) साक्षात् हो जाता है, उस (**सु-जातम्**) साक्षात् हुए (**आर्यस्य**)

उपासक की (वर्धनम्) उन्नति करने वाले (अग्निम्) परमात्मा को (नः) हमारी (गिरः) स्तुतियां (उप उ नक्षन्तु) उपस्थित हों ॥

अर्थात् जो योगभूमियों के उत्तम ज्ञाता योगी लोग उस परमात्मा को ही समस्त शुभ कर्मों का अर्पण कर देते हैं, और निष्काम भजन करते हैं, वह दयालु उनके हृदयकमलों में प्रकट होता है अर्थात् साक्षात् अनुभव में आता है। तथा उन आर्यों की वृद्धि—उन्नति करता है। इसलिए उस साक्षात् हुए जगत्पिता को हमारी स्तुतियां प्राप्त हों ॥

भौतिक पक्ष में– (गातुवित्तमः) यज्ञ वा शिल्पभूमि के ज्ञाता (यस्मिन्) जिस अग्नि में (व्रतानि) कर्मों और शिल्पों को (आ—दधु.) आहित करते हैं, वह (अवर्द्धि) प्रदीप्त होता है और उस (सु जातम्) भले प्रकार प्रदीप्त हुए (आर्यस्य) आर्य याज्ञिक और शिल्पी की (वर्धनम्) उन्नति करने वाले (अग्निम्) अग्नि को (नः) हमारी (गिरः) वर्णन रूप वाणियां (उप उ नक्षन्तु) उपस्थित हों ॥

अर्थात् अग्नि से काम लेना चाहने वाले को प्रथम अग्निस्थापना की भूमि का ज्ञान अच्छे प्रकार प्राप्त करना चाहिए, तब अग्नि को प्रकट करना चाहिए, फिर जो कर्म करना हो, अग्नि पर आरम्भ करना चाहिये। ऐसा करने से वह अग्नि उस आर्य यज्ञकर्त्ता वा शिल्पी की वृद्धि—उन्नति करता है। इसलिए हमारी वाणी जो अग्नि के गुण वर्णन करने वाली है वे उसमें उपस्थित रहें, जिससे हम स्वयं अग्नि के गुणों को जानकर उपयोग लेते हुए इष्ट सुखों को प्राप्त हों और अन्यों को करावें ॥

निघं०१।१॥ २। १ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद ८।१०३।१ में "नक्षन्त" इतना पाठभेद है ॥३॥

अथ चतुर्थी—मनुना दृष्टा । अग्निर्देवता । बृहती छन्दः ॥

३ २३ २ ३१ २३ १२ ३१२ ३२
४८—अग्निरुक्थे पुरोहितो ग्रावाणो बर्हिरध्वरे ।
३१ २ ३ १३ २३ १२
ऋचा यामि मरुतो ब्रह्मणस्पते देवा अवो वरेण्यम् ॥४॥

भावार्थः—(उक्थे) वाङ्मय (अध्वरे) यज्ञ में (अग्निः) अग्नि (पुरोहितः) अग्रणी है। (ग्रावाणः) तात्वादिस्थान (बर्हिः) कुशासन हैं। (देवाः) प्राणादि वायु (मरुतः) ऋत्विज् हैं। (ब्रह्मणस्पते) हे वेद के प्रकाशक ! भगवन् ! (ऋचा) मन्त्र से (वरेण्यम्, अवः) उत्तम, रक्षा को (यामि) मांगता हूं ॥

जैसे कर्मयज्ञ में पुरोहित,कुशादि के आसन और होता उद्गाता आदि ऋत्विज्

होते हैं, वैसे स्तुतिरूप वाणी के यज्ञ में अग्नि पुरोहित है क्योंकि इसके बिना अग्रणी हुए वाणी की उत्पत्ति नहीं, अग्नि से वाणी इन्द्रिय का बनना ७ वें मन्त्र के भाष्य में लिख ही चुके हैं। जैसे कर्मयज्ञ में ऋत्विजों के बैठने को आसन होते हैं वैसे इस वाग्यज्ञ में ताल्वादिस्थान आसन हैं, जिन पर वायुरूप ऋत्विज् लोग बैठकर अपने-अपने काम करते हैं, अर्थात् प्रयत्न गुरुत्व लघुत्वादि का विभाग करके बोलते हैं। क्योंकि वायु ही ताल्वादि स्थानों में आधार पाकर वर्णों का यथावत् उच्चारण करता है। इसलिये हे परमात्मन् ! मैं ऋचा से अपनी रक्षा की प्रार्थना करता हूँ ॥

उणादि २।७॥ निघण्टु ३।१८॥३।१६॥ राधाकान्त देव बहादुर प्रकाशित "शब्दकल्पद्रुम" के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ताल्वादि स्थानों को "ग्रावा" इसलिए कहा गया है कि यौगिकार्थ इस शब्द का "निगलना और बोलना" है। तथा ग्रावा पत्थर को भी कहते हैं,बस जिस प्रकार ग्रावाओं से यज्ञसामग्री कूट-छेतकर ठीक करते हैं इसी प्रकार वाग्यज्ञ की सामग्री दन्त, तालु, मूर्द्धा आदि से ठीक की जाती है ॥

सायणाचार्य ने इस मन्त्र के भाष्य में ३ भूल की हैं। १–"यामि" की सिद्धि में वर्णलोपादि वृथा परिश्रम करना और निघं० ३। १६ में यामि का याचना अर्थ न देखना ॥ २–"याचामि" यह परस्मैपद का स्वयं प्रयोग करना ॥ ३–मूलमन्त्र में "वः" यह पद ही नहीं है फिर निर्मूल "वः, युष्माकम्" यह भाष्य करना ॥ यह ही तीनों भूलें गतानुगतिकता से ज्वालाप्रसाद भार्गव (आगरा) ने भी की हैं।

ऋग्वेद (८।२७।१) में "ब्रह्मणस्पतिं देवान्" यह द्वितीयान्त पाठभेद है ॥४॥

अथ पञ्चमी—सुदीतिना पुरुमीढेन वाण्कम्भेण वा दृष्टा।
अग्निर्देवता। बृहती छन्दः ॥

३ १२ ३ १२३ १ २ ३ १ २
४९—अग्निमीडिष्वावसे गाथाभिः शीरशोचिषम्।
३ २ ३ १ २ ३२३ ३ १ २ ३ १ २३ २
अग्निं राये पुरुमीढ श्रुतं नरोग्निः सुदीतये छर्दिः ॥५॥

भावार्थः—(**पुरुमीढ**) हे बहुधा उपदेश से सींचे हुए जीवात्मन् ! तू (**शीरशोचिषम्**) फैली हुई ज्योति वाले (**श्रुतम्**) वेदों में विख्यात (**अग्निम्**) परमात्मा वा भौतिक अग्नि को (**अवसे**) रक्षा के लिए और (**अग्निम्**) उसी को (**राये**) धन के लिए (**गाथाभिः**) स्तुतिरूपा वाणियों से (**ईडिष्व**) स्तुत वा वर्णित कर (**नरः**) हे मनुष्यो ! (**अग्निः**) पूर्वोक्त दोनों अग्नि (**सुदीतये**) भले प्रकार रक्षा के लिए (**छर्दिः**) घर हैं ॥

अर्थात् परमात्मा वा भौतकाग्नि का उपदेश पाये हुए मनुष्य को वर्णन करना चाहिए, परमात्मा की कृपा और भौतिकाग्नि के उचित व्यवहार से मनुष्य की रक्षा

और रत्नादि धनों की प्राप्ति होती है। इस अग्नि की ज्योति सब ओर फैली है औ: यह वेदों में बहुधा वर्णित है। जिस प्रकार आंधी और वर्षा आदि उपद्रवों से मनुष्य को उसका घर बचाता है, उसी प्रकार पूर्वोक्त अग्नि मनुष्य को सब प्रकार के रोग, शत्रु आदि के किये उपद्रवों वा काम क्रोधादि दुर्गुणों से बचाता है। परमात्मा के प्यारे लोगों को कामादि जगद्विध्वंसक शत्रु नहीं सता सकते। तथा भौतिकाग्नि से होम वा शिल्प द्वारा काम लेने वाले यजमान आदि शिल्पियों को रोग अकालमरं शत्रु निर्धनता आदि की पीड़ा नहीं होती ॥यदि "श्रुतम्" को व्यत्यय से क्रियापद मानें तो "हे मनुष्यो ! सुनो" यह अन्वय होगा ॥

उणादि २। ४॥ २। १३॥ निघण्टु १। ११॥ ३। ४॥ अष्टाध्यायी ३। १। ८५ इत्यादि के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये। ऋग्वेद ८। ७१। १४ में "अग्नि" पाठ है ॥५॥

अथ षष्ठी—प्रस्कण्वेन दृष्टा। अग्निर्देवता। बृहती छन्दः ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
५०—श्रुधि श्रुत्कर्ण वह्निभिर्देवैरग्ने सयावभिः।
१ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
आ सीदतु बर्हिषि मित्रो अर्यमा प्रातर्यावभिरध्वरे ॥६॥

भावार्थः—(श्रुत्कर्ण) हे सुनने में समर्थ प्राणी ! तू (श्रुधि) सुन—(अग्निः) परमात्मा और (मित्रः) प्राण वायु तथा (अर्यमा) मारक यम अपान वायु (प्रातर्यावभिः) प्रातः उठकर ध्यानस्थल को जाने वालों से अनुष्ठित (अध्वरे) योगयज्ञ के मध्य (बर्हिषि) उनका यज्ञिय आसन है, उसमें (सयावभिः) सह-वर्ती (वह्निभिः) देह के वहने वाले (देवैः) उदानादि अन्य वायुओं के साथ (आ-सीदतु) स्थिर होवे ॥

तात्पर्य यह है कि मनुष्य को परमात्मा का यह उपदेश सुनना और तदनुकूल आचरण करना चाहिये कि प्रातःकाल उठकर ध्यान करने की जगह को जावे और फिर प्राण अपान तथा इनके सहवर्ती उदानादि अन्य वायुओं सहित परमात्मा को उनके ठहरने के आसनरूप सुषुम्णादि में ठहरावें ॥

भौतिक पक्ष में—(श्रुत्कर्ण) हे सुनने वाले मनुष्य ! तू (श्रुधि) सुन—(अग्निः, मित्रः, अर्यमा) भौतिक अग्नि, मित्र और अर्यमा (प्रातर्यावभिः, अध्वरे) प्रातः उठकर यज्ञ भूमि को जाने वालों से किये हुए, यज्ञ के मध्य (बर्हिषी) कुण्डादि अपने-अपने आसन पर (सयावभिः) सहवर्ती (वह्निभिः) हव्य ले जाने वाले (देवैः) अन्य देवों के साथ (आ-सीदतु) स्थापित होवे ॥

अर्थात् मनुष्यों को परमात्मा का यह उपदेश सुनना और तदनुकूल आचरण

करना चाहिये कि प्रातःकाल उठकर यज्ञस्थल पर जायें और फिर अग्नि मित्र अर्यमा आदि देवों का अन्य सहवर्त्ती देवों के साथ स्वागत करें और उन्हें यज्ञभाग दें। अग्नि के अतिरिक्त मित्र अर्यमा अंशुमान् आदि ऐसे कई देवविशेष हैं जो वायु आदि के भेद हैं और जिनको विशेष करके हम लोग [वैदिक प्रणाली के न रहने से] प्रायः भूल गये हैं ॥

अष्टाध्यायी ६।४।१०२॥ उणादि ४।५१ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये। ऋग्वेद (१।३।३०) में "आ-सीदन्तु·········प्रातर्यावाणो अध्वरम्" इतना पाठ-भेद है ॥६॥

अथ सप्तमी—सौभरिणा दृष्टा। अग्निर्देवता। बृहती छन्दः ॥

१ २र ३ १२३२उ ३ २ ३ १२
५१—प्र दैवोदासो अग्निर्देव इन्द्रो न मज्मना।
१ २ ३ १२ ३ १ २र ३ १ २र ३ १२
अनु मातरं पृथिवीं वि वावृते तस्थौ नाकस्य शर्मणि ॥७॥

भावार्थः—(**दैवोदासः**) द्युलोक का दास अनुचर जो विद्युत्, तत्सम्बन्धी (**अग्निः**) आग (**इन्द्रः, न**) इन्द्र के समान (**मातरम्, पृथिवीम्**) माता, पृथिवी के (**अनु**) चारों ओर (**मज्मना**) बलपूर्वक (**प्र-वि-वावृते**) अत्यन्त भाव से फैल रहा है। और (**नाकस्य, शर्मणि, तस्थौ**) द्युलोक के, घर में, स्थित है ॥

पृथिवी में एक प्रकार की गरमी है जिसको वेद की भाषा में इस मन्त्र में दैवोदास कहा है क्योंकि वह पृथिवी से निरन्तर बाहर को निकलती रहती है। और जिस प्रकार सूर्य्य की धूप पृथिवी के चारों ओर छा जाती है इसी प्रकार बिजुली के से बल से निकल कर वह भी अपनी माता पृथिवी के चारों ओर दूर-दूर द्युलोक के घर में अर्थात् द्युलोक रूप घर में स्थित है। और वर्षादि का हेतु है। प्रायः पाठक द्युलोक जानने की इच्छा रखते होंगे, इसलिये हमारी समझ में पृथिवी के दूर चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश है, वही द्युलोक है और उसमें वर्त्तमान समस्त दिव्य पदार्थ निरुक्त में लिखे "द्युस्थान देवता" हैं। सूर्य्य पृथिवी से बहुत बड़ा है पृथिवी उसकी अपेक्षा बहुत ही छोटी है, इस कारण सूर्य से जो प्रकाश की धारा बहती हैं वे पृथिवी के छोरों को छूती हुई सुकड़ती-सुकड़ती चन्द्र से परे जिस बिन्दु स्थान पर मिल जायेंगी वही द्युलोक का प्रारम्भ है। बस इस दूरी से आगे पृथिवी के चारों ओर अन्धियारा नहीं है और वहाँ के स्थान को द्युलोक जानिए ॥

निघण्टु २। ६॥ ३। ४॥ १। ४॥ उणादि ४। ५०॥ २। २८॥ ४। १४५ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ इस मन्त्र में आये "न" पद की व्याख्या ही सायणाचार्य्य ने नहीं की और अन्वय पूरा कर दिया ! ज्वालाप्रसाद जी ने

"वः" यह पद मूल में न होने पर भी निर्मूल व्याख्यात किया है ।।

ऋग्वेद ८।१०३।२ में "ग्ग्निर्देवो अच्छा न मज्मना" "नाकस्य सानवि" इतना पाठभेद है ।।७।।

अथाष्टमी–मेधातिथिना मेध्यातिथिना च दृष्टा । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ।।

२३ १ २९ ३१ २३१ २३१ २९
५२—अध ज्मो अध वा दिवो बृहतो रोचनादधि ।
३ १ २ ३१२९ ३२९ ३ १ २
अया वर्धस्व तन्वा गिरा ममा जाता सुक्रतो पृण ।।८।।

भावार्थः—(सुक्रतो) इन्द्र ! तू (ज्मः, अधि) पृथिवी से ऊपर (अध वा) और (बृहतः, रोचनात्, दिवः, अध) बड़े प्रकाशमान, द्युलोक से, नीचे (अया) इस (तन्वा) विस्तृत शरीर से (मम, गिरा) मेरी, वाणी के साथ ही (वर्धस्व) वढ़ और (जाता) यवादि सस्यों [पैदावार] को (पृण) तृप्त वा पुष्ट कर ।।

पूर्वमन्त्र में पृथिवी के ऊष्मा दैवोदास का वर्णन हो चुका है । वही अग्नि दिव्लोक को पहुँचकर इन्द्र नामक हो जाता है । और वही वर्षा का देवता अर्थात् अपनी दिव्यशक्ति से वर्षा का कर्त्ता होता है । और वही दैवोदास इन्द्र पद को प्राप्त हो जाता है । इस ही कारण आग्नेय पर्व में यहाँ यह एक ऋचा इन्द्र की है । अन्यथा प्रकरणविरोध आता । इस मन्त्र में प्रार्थना है कि वह इन्द्र पृथिवी से ऊपर और दिव्लोक से नीचे उतरकर फैले और हमारी खेती को तृप्त और पुष्ट करे । प्रार्थना मन से चाहना को कहते हैं जो यहाँ लोट्लकार से विवक्षित है । बस मन में यह चाहना उत्पन्न होती है जिसे ईश्वर पूरी करे कि इन्द्र से हमारी खेती आदि की पुष्टि हो । इसलिए यह भ्रान्ति न हो कि (भौतिक) इन्द्र ही से प्रार्थना की गई है कि वह ऐसा करे । "मेरी वाणी के साथ ही" इसका तात्पर्य यह है कि हम चाहते हैं कि कहते के साथ ही अर्थात् शीघ्र परमात्मा ऐसी कृपा करे ।।

निघण्टु १ । १ ।। ३ । ३ ।। अष्टाध्यायी ६ । ३ । १११ ।। ६ । ३ । १३७ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिए ।।

इस मन्त्र के भाष्य में–ज्वालाप्रसाद जी ने जो "सुक्रतो" पद से "परमात्मा" अर्थ ग्रहण किया है सो भौतिक दैवोदास के प्रसङ्ग में ठीक नहीं ।। "अधज्मो" ऐसा अन्तस्थ यकार वाला पाठ भी बहुत से पुस्तकों में पाया जाता है ।। ऋग्वेद ८ ।१। १८ में भी ऐसा ही पाठ है ।।८।।

अथ नवमी—विश्वामित्रेण दृष्टा । अग्निर्देवता । बृहती छन्दः ।।

१ २ ३१२ ३ १ २९ ३३
५३—कायमानो वना त्वं यन्मातृरजगन्नपः ।
१ २९ ३१२ ३१२३ २ ३१२ ३ १२
न तत्ते ऽअग्ने प्रमृषे निवर्तनं यद्दूरे सन्निहाभुवः ।।९।।

भावार्थः—(अग्ने) हे अग्ने ! (यत्) जो कि (त्वम्) तू (वना) किरणों को (कायमानः) चाहता (सन्) हुआ (अपः) व्यापक बिजुलीरूप (मातॄः) माताओं को (अजगन्) प्राप्त होता है [उससे जाना जाता है कि] (यत्) जो (इह) यहां पृथिवी आदि पर (दूरे, आभुवः) तू दूर हो गया (तत्, निवत्तनम्) वह, दूर होना (ते) तुझे (न, प्र मृषे) नहीं अच्छा लगता ॥

भाव यह है कि कार्यरूप अग्नि जो दैवोदासादि संज्ञक है और पृथिव्यादि से प्रतिक्षण निकलकर दिव् लोक की ओर जाता है, वह मानो अपने कारणरूप बिजली में ऐसे जाता है जैसे बालक उत्पन्न होकर फिर अपनी माता की ओर जाता है। ऐसे ही वह अग्नि भी कार्यरूप में उत्पन्न होते ही फिर कारणरूप विद्युत् की ओर दौड़ता है और यहां माता [कारण] से दूर रहना इसे अच्छा नहीं लगता ॥

निरुक्त में भी इसका यही व्याख्यान किया है। निरुक्त ४।१४॥ निघं० १।५॥ २।१४॥ ५।३ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ "आमवः" ऐसा भी पाठान्तर है। तथा ऐसी ही ऋचा ऋग्वेद ३।९।२ में भी है ॥९॥

अथ दशमी—कण्वेन दृष्टा। अग्निर्देवता। बृहती छन्दः ॥

१ २९ ३ १२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
५४—नि त्वामग्ने मनुर्दधे ज्योतिर्जनाय शश्वते।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २९ ३ १ २ ३ १ २
दीदेथ कण्व ऋतजात उक्षितो यं नमस्यन्ति कृष्टयः ॥१०॥

इति पञ्चमी दशतिः

भावार्थः—(अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप ! परमात्मन् ! (मनुः) मैं मननशील मनुष्य (शश्वते, जनाय) सनातन, पुरुष के लिए अर्थात् आपकी प्राप्ति के लिए (त्वाम्) आप (ज्योतिः) ज्योतिःस्वरूप को (नि—दधे) नितरां ध्यान करता हूं। इससे आप (कण्वे) मुझ मेधावी में (दीदेथ) प्रकाश कीजिए। जिस से मैं (ऋतजातः) सत्य वेद से प्रसिद्ध (उक्षितः) महान् [होऊँ] (यम्) जिस मुझको (कृष्टयः) मनुष्य लोग (नमस्यन्ति) सत्कृत करते हैं वा करें ॥

अर्थात् हे दयालु ! भगवन् ! मैं विचार और ध्यान में परायण योगी, आपका ध्यान करता हूं। आप ज्योतिःस्वरूप हैं, कृपया मुझे ज्योति दीजिए। जिससे मैं मेधावी, वेदपारंगत, आपकी ज्योति से ज्योतिष्मान्, महात्मा और मनुष्यों से नमस्करणीय होऊँ ॥

भौतिक पक्ष में—(अग्ने) अग्ने ! (मनुः) मैं मननशील यजमान

(शाश्वते, जनाय) सनातन प्राणिमात्र के लिए अर्थात् प्राणिमात्र के उपकारार्थ (त्वाम्) तुझे (ज्योतिः) ज्योतिष्मान् को (नि-दधे) स्थापित करता हूँ। मैं (ऋतजातः) धन में प्रसिद्ध (उक्षितः) महान् होऊँ (यम्) जिसे (कृष्टयः) मनुष्य (नमस्यन्ति) सत्कृत करते हैं वा करें ॥

अर्थात् हम यज्ञकर्त्ता लोगों को शिल्प वा यज्ञ में अग्नि का स्थापन करना चाहिये, जिससे प्राणिमात्र का उपकार हो, और हम उसके तेज से तेजस्वी, महात्मा, धनी और नमस्करणीय हो जावें। यथार्थ में यज्ञ और शिल्पद्वारा यह कार्य सिद्ध हो सकता है ॥

निघं० ५ । ६ ॥ १ । १६ ॥ ३ । १५ ॥ ३ । १० ॥ २ । १० ॥ २ । ३ ॥ उणादि १ । १० के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिए। मनु और कण्व शब्द से किसी ऋषिविशेष का नाम न समझना चाहिए। क्योंकि निघण्टु के विरुद्ध होने, वेद के अनादि और यौगिक अर्थ की प्रधानता होने से। किन्तु मन्त्र में आए हुए मेधावी के वाचक "कण्व" शब्द को देखकर ही इस ऋचा के द्रष्टा ने अपना नाम भी कण्व रक्खा, ऐसा समझना चाहिए ॥ ऋग्वेद १।३६।१६। में भी ऐसा पाठ है ॥१०॥

यह पांचवीं दशति समाप्त हुई ॥५॥

अथ षष्ठी दशतिस्तत्रेयं प्रथमा–वसिष्ठेन दृष्टा। अग्निर्देवता। बृहती छन्दः॥

५५—देवो वो द्रविणोदाः पूर्णां विवष्ट्वासिचम्।
उद्वा सिञ्चध्वमुप वा पृणध्वमादिद्वो देव ओहते ॥१॥

भावार्थः—(द्रविणोदाः, देवः) अग्नि देवता (वः) तुम्हारी (पूर्णाम्, आसिचम्) भरी हुई, स्रुच् को (विवष्टु) चाहता है। तुम (उप-पृणध्वं वा) भरो और (उत्-सिञ्चध्वं, वा) ऊपर, छोड़ो (देवः) अग्नि (वः) तुम्हारी आहुति को (आत्-इत्) तत्काल, ही (ओहते) पहुँचाता है।

अर्थात् परमात्मा विधिवाक्य द्वारा उपदेश करता है कि–अग्नि तुम्हारी भरी हुई स्रुच् को चाहता है, तुम भरो और अग्नि में सींचो अर्थात् छोड़ो। अग्नि में सींचा हुआ घृतादि व्यर्थ नहीं होता। यह बताने के लिए कहा है कि वह अग्नि तत्काल वायु आदि देवों को पहुँचा देता है। "वा" शब्द समुच्चयार्थ है अर्थात् भरो छोड़ो, भरो छोड़ो, बार-बार डाल दो। निघं० २।९ और २।१० में द्रविण नाम धन और बल का है, अग्नि से ही शरीरों में बल है यह तो सब जानते ही हैं तथा अग्नि का बल अग्नि-

यानों को देखने से जाना जा सकता है और उसी से धन की प्राप्ति भी देखी जा सकती है। इसीलिये निरुक्त ८।२ में भी धन और बल का दाता होने से अग्नि का नाम 'द्रविणोदा' ठहराया है। निरुक्त का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये जिसका तात्पर्य यह है कि 'शाकपूणि' आचार्य कहते हैं कि यही अग्नि 'द्रविणोदा' है, क्योंकि अग्नि के ही सूक्तों में 'द्रविणोदा' की चर्चा है जैसा कि—'देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम्' यह वेदवचन है इत्यादि। अग्नि में चाहना ऐसे ही समझिये जैसा – भीत गिरना चाहती है, वा यह रोगी मरना चाहता है, अर्थात् अब मरा, इत्यादि॥ 'विवष्टु' के स्थान में 'विवष्टि' ऐसा साक्षात् पाठ भी किन्हीं पुस्तकों में पाया जाता है॥ ऋग्वेद ७।१६।११ में भी ऐसी ही ऋचा है॥१॥

अथ द्वितीया—कण्वेन दृष्टा। ब्रह्मणस्पतिर्देवता। बृहती छन्दः॥

२३ १२३ २३ २ ३क२र ३१२
५६—प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता।
१ २ ३१ २र ३१२ ३२ ३१ २
अच्छा वीरं नर्यं पंक्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः॥२॥

भावार्थः—(ब्रह्मणस्पतिः) परमात्मा (नः) हम को (प्रैतु) प्राप्त हो (देवी सूनृता) वेद की सत्यवाणी (अच्छा) भले प्रकार (प्र-एतु) प्राप्त हो (वीरम्) फैलने वाले (नर्यम्) मनुष्यों के हितकारक (पङ्क्तिराधसम्) पाँच पुरुषों से सेवित (यज्ञम्) यज्ञ को (देवाः) अग्नि वायु आदि देवता (नयन्तु) ले जावें॥

मनुष्यों को तीन वस्तुओं की कामना करनी चाहिए। १—परब्रह्म की प्राप्ति, २—वेद विद्या, ३—और यज्ञ। अथवा–१–यज्ञकर्त्ताओं को मन से परमेश्वर का चिन्तन, २—वाणी से वेदमन्त्रों का उच्चारण, ३—और कर्म से आहुति छोड़ना और यज्ञ का सेवन ५ पुरुषों से किया जाय अर्थात् १—यजमान, २ ब्रह्मा, ३—अध्वर्यु, ४—होता और ५—उद्गाता॥

निघं० ५। ४ और अष्टाध्यायी ६। ३। १३६ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये॥ ऋग्वेद १। ४०। ३ में भी ऐसा ही पाठ है॥२॥

अथ तृतीया—कण्वेन दृष्टा। अग्निर्देवता। बृहती छन्दः॥

३ २ ३ १ २३२३ १ २ ३१ २र३२
५७—ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये तिष्ठा देवो न सविता।
३ १ २र ३ १ २३ २३ १२३१ २३१२
ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदञ्जिभिर्वाघद्भिर्विह्वयामहे॥३॥

भावार्थः—प्रकरण से हे अग्ने ! परमात्मन् ! (**नः ऊतये**) हमारी रक्षा के लिये (**देवः, सविता, न**) सूर्य देव के समान (**ऊर्ध्वः**) उच्च भाव से युक्त (**सु, तिष्ठ**) स्थित हूजिये (**वाजस्य**) आत्मिक बल के (**ऊर्ध्वः**) उच्च (**सनिता**) दाता हूजिये । (**यत्**) क्योंकि हम (**अञ्जिभिः**) स्नेह भक्तिवाले (**वाघद्भिः**) मेधावियों सहित (**वि-ह्वयामहे**) पूजते हैं । (**ऊ**) पादपूरणार्थ है ।।

हे दयालु ! पिता ! हमारी रक्षा के लिये ऊँचा हाथ करिये और हमको सूर्य के से प्रकाशित उच्चभाव से आत्मिक बल दीजिये अर्थात् महती रक्षा और आत्मिक बल का महादान दीजिये । हम सब बुद्धिमानों सहित आपकी शरण में हैं, आपका पूजन करते हैं ।।

भौतिक पक्ष में—अग्ने ! तू (**नः ऊतये**) हमारी रक्षा के लिये (**देवः, सविता, न**) सूर्य देव के, समान (**ऊर्ध्वः**) उच्च प्रदीप्त होकर (**सु-तिष्ठ**) भले प्रकार ठहर और (**वाजस्य, ऊर्ध्वः, सनिता**) बल और अन्न का, उच्च, दाता हो (**यत्**) क्योंकि हम (**अञ्जिभिः**) घृतादियुक्त (**वाघद्भिः**) होता आदि ऋत्विजों द्वारा (**वि-ह्वयामहे**) विशेष करके होम करते हैं ।।

तात्पर्य यह है कि यह भौतिक अग्नि कुण्डादि में उच्चभाव से सूर्य के समान प्रदीप्त किया जाना चाहिये । जिससे रोगादि से हमारी रक्षा हो । क्योंकि हम स्नेह अर्थात् घृतादि उत्तम पदार्थ वाले होता आदि से होम कराते तथा करते हैं । जिससे वृष्टि द्वारा हमारा अन्न और बल बढ़े ।।

इस मन्त्र में (ऊर्ध्वः तिष्ठ) इस चिह्न को देखकर किसी-किसी ने यज्ञ के "यूप" को खड़ा करने में इस ऋचा का विनियोग किया है । इसी कारण सायणाचार्य ने इसका "यूप" देवता लिखा है । परन्तु मूल मन्त्र में यूप वा यूप का वाचक कोई शब्द नहीं आया, तथा अग्नि का प्रकरण भी आरम्भ से ही चला आता है इसलिये हमने तो अग्नि ही देवता माना है । तथा सायणाचार्य ने भी (यद्वा, यूपात्मकदारुनिष्ठाग्ने!) अर्थात् हे यूप के काष्ठ में रहने वाले अग्नि!, यह भी व्याख्या की है जिससे एक पक्ष में सायणाचार्य को भी अग्नि देवता सम्मत प्रतीत होता है ।

अष्टाध्यायी ८।३।१०७।। ८।४।२६।। ६।३।१३५।। निघण्टु २।७।। २।६।। ३।१४।। ३।१५।। ३।१८ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।। ऋ० १ । ३६ । ३ में भी ऐसी ऋचा है ।। ३ ।।

अथ चतुर्थी—सौभरिणा दृष्टा । अग्निर्देवता । बृहती छन्दः ।।

२उ ३ १ २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
५८—प्र यो राये निनीषति मर्त्तो यस्ते वसो दाशत् ।
२ ३ १ २ ३ २३ १ २ ३ १ २
स वीरं धत्ते अग्न उक्थशंसिनं त्मना सहस्रपोषिणम् ।।४।।

भावार्थः—(**वसो**) सब में वास करने वाले ! (**अग्ने**) प्रकाशस्वरूप ! (**यः मर्त्तः**) जो मनुष्य (**त्मना**) अपने को (**राये**) विद्यादि धन के लिये (**प्र, निनीषति**) पहुँचाना चाहता है (**यः**) और जो कोई (**ते**) आपको (**दाशत्**) आत्मा का समर्पण करता है (**सः**) वह मनुष्य अपने को (**सहस्रपोषिणम्**) बहुतों को पालने वाला (**उक्थशंसिनम्**) स्तोत्रपाठी (**वीरम्**) और पुरुषार्थी (**धत्ते**) धारता—बनाता है ॥

जो मनुष्य विद्यादि धन की प्राप्ति की इच्छा करता है और आत्मा को आप के समर्पित करता है, वह अपने को वीर, सर्वोपकारक और स्तोत्रपाठी बनाता है। अर्थात् परमात्मा की कृपा से वह इन लक्षणों से युक्त हो जाता है ॥

भौतिक पक्ष में:—(**वसो**) आठ वसुओं में एक (**अग्ने**) अग्ने ! (**यः, मर्त्तः, त्मना, राये, प्र, निनीषति**) जो, मनुष्य, अपने को, धनादि के लिये, पहुँचाना चाहता है (**यः ते**) जो तेरे लिये (**दाशत्**) हविः देता है (**स**) वह मनुष्य अपने को (**सहस्रपोषिणम्, उक्थशंसिनम्, वीरं, धत्ते**) सर्वोपकारक, स्तोत्रपाठी और वीर बनाता है ॥

निघण्टु ३।२०॥ २।३॥ ३।१॥ अष्टाध्यायी ६।४।१४१ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद ८।१०३।४ में "प्र यं राये निनीषसि" ऐसा पाठ और अर्थ में भी भेद है ॥४॥

अथ पंचमी—कण्वेन दृष्टा । अग्निर्देवता । बृहती छन्दः ।

१ २ ३१ २ ३ २ ३ १ २ ३१ २
४६—प्र वो यह्वं पुरूणां विशां देवयतीनाम् ।
३ २ ३ २ ३१ २ ३ २उ ३ २ ३ १२
अग्निं सूक्तेभिर्वचोभिर्वृणीमहे यं समिदन्य इन्धते ॥५॥

भावार्थः—(**वः**) तुम (**पुरूणाम्**) बहुत (**देवयतीनाम्**) ईश्वरभक्त (**विशाम्**) प्रजाओं के हितकर (**यह्वम्**) महान् (**अग्निम्**) परमात्मा का (**सूक्तेभिः, वचोभिः**) सूक्तरूप, वेदवाक्यों सहित (**प्रः, वृणीमहे**) हम वरण करते हैं (**यम्**) जिसका कि (**अन्ये, इत्**) और, लोग भी (**सम्-इन्धते**) भले प्रकार ध्यान करते हैं ॥

भौतिक पक्ष में—(**वः, पुरूणां, देवयतीनां, विशां, यह्वम्, अग्निम्**) तुम, बहुत, यज्ञप्रिय, प्रजाओं के [हितकारी] बड़े अग्नि को (**सूक्तेभिः, वचोभिः, प्र-वृणीमहे**) हम सूक्तरूप, वेदवाक्यों के साथ, अच्छे प्रकार से आधान करते हैं। (**यम्, अन्ये, इत्, सम्—इन्धते**) जिसका कि, और लोग, भी, भले प्रकार ध्यान करते हैं ॥

निघण्टु ३।३।। अष्टाध्यायी ७।१।१० के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।। ऋग्वेद १।३६।१ में "वचोभिरीमहे यं समिदन्य ईष्ठते" इतना उत्तरार्ध में पाठभेद है ।।५।।

अथ षष्ठी—प्रास्कीलेन दृष्टा । अग्निर्देवता । बृहती छन्दः ।।

३ २ ३ २ ३ २३ २३ १ २र

६०—अयमग्निः सुवीर्यस्येशे हि सौभगस्य ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २३ १२ ३१२

राय ईशे स्वपत्यस्य गोमत ईशे वृत्रहथानाम् ।।६।।

भावार्थः—(अयम्) यह (अग्निः) परमात्मा वा भौतिक (सुवीर्यस्य सौभगस्य, हि) सुन्दर वीर्य और सौभाग्य का (ईशे) स्वामी है । (रायः) धन का (स्वपत्यस्य) सुन्दर सन्तान का (गोमतः) और गवादि पशुयुक्त होने का (ईशे) अधिकारी है । तथा (वृत्रहथानाम्) वृत्र जो रोगादि शत्रु असुर उनके नाशों का (ईशे) अधिष्ठाता है ।

परमात्मा की भक्ति और भौतिक अग्नि में हवन करने वा उससे अनेकविध शिल्पप्रयोगादि द्वारा मनुष्यों को बल वीर्य पुरुषार्थ सौभाग्य धन सुसन्तान और गवादि पशु प्राप्त होते हैं और सर्व दुष्ट रोगादि असुर शत्रुगण का नाश होता है । क्योंकि परमात्मा वा भौतिकाग्नि इन सबका ईशिता है ।। उणादि २ । २ सूत्र संस्कृतभाष्य में देखिये ।। जिससे 'वृत्रहथानाम्' पद सिद्ध होता है । परन्तु इस पद की सिद्धि में सत्यव्रत सामश्रमी जी की छपाई कलकत्ते की सायणभाष्यसहित सामवेद संहिता की टिप्पणी में भूल से (देखो संस्कृतभाष्य पृ० १२८ पं० २१–२२) दो सूत्र इस पद की सिद्धि में छपे हैं, जिनसे यह पद सिद्ध नहीं हो सकता । इसकी देखा-देखी अटकलपच्चू पं० ज्वालाप्रसाद भार्गव ने भी वही दोनों सूत्र अपने भाष्य में टीप दिये । यह नहीं विचारा कि धन आदेश से और इससे क्या सम्बन्ध ! और यह भी नहीं सोचा कि अष्टाध्यायी के सप्तमाध्याय प्रथम पाद में १५५ समस्त सूत्र भी नहीं किन्तु १०३ है फिर "सप्तनप्तनथनाश्च" की संख्या १५५ कैसे हो सकती है किन्तु ४५ है । कलकत्ते की छपी ऊपर लिखी ऐसियाटिकसुसाइटी की पुस्तक से ज्यों का त्यों अशुद्ध १५५ का अंक उद्धृत करदिया, न सूत्रसंख्या देखी, न उन सूत्रों के विषय को विचारा, शोक ! ।।६।।

अथ सप्तमी वसिष्ठेन दृष्टा । अग्निर्देवता । बृहती छन्दः ।।

१ २ ३१ २३ १ २र ३२

६१—त्वमग्ने गृहपतिस्त्वं होता नो अध्वरे ।

१ २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १

त्वं पोता विश्ववार प्रचेता यक्षि यासि च वार्यम् ।।७।।

भावार्थः—(**अग्ने**) प्रकाशस्वरूप ! (**विश्ववार**) सबको भक्ति करने योग्य ! परमात्मन् ! (**त्वम्**) आप (**नः**) हमारे (**अध्वरे**) ज्ञानयज्ञ में (**गृहपतिः**) यजमान हैं (**त्वम्**) आप ही (**होता**) होता हैं (**त्वम्**) आप ही (**पोता**) शुद्ध करने वाले हैं (**प्रचेता**) चेताने वाले भी आप ही हैं (**यक्षि**) यज्ञ भी आप ही करते हैं (**च**) और (**वार्यं, यासि**) कर्मफल भी आप ही पहुँचाते हैं ।।

यद्यपि ज्ञानयज्ञ में जीवात्मा, यजमान और वाणी आदि होता पोता प्रचेता आदि ऋत्विज् हैं, परन्तु परमात्मा की कृपा बिना कुछ नहीं, इसलिये परमात्मा की मुख्यता दिखाने को यह कहा गया है कि आप ही सब कुछ हैं ।।

भौतिक पक्ष में—(**अग्ने**) अग्ने ! (**विश्ववार**) सबको स्वीकार करने योग्य ! (**त्वम्**) तू ही (**नः**) हमारे (**अध्वरे**) कर्मयज्ञ में (**गृहपतिः**) घर धणी यजमान है और (**त्वं, होता**) तू ही, होता (**त्वं, पोता**) तू ही शोधने वाला (**प्रचेताः**) चेताने वाला है । (**यक्षि**) तू ही यज्ञ करता है (**च**) और (**वार्यं, यासि**) हव्य, पहुँचाता है ।।

यद्यपि कर्मयज्ञ में भिन्न-भिन्न यजमान होता पोता प्रचेता आदि ऋत्विज् होते हैं, परन्तु मुख्य अग्नि है इसलिये उसकी मुख्यता दिखाने को यह कहा है कि अग्नि ही सब कुछ है ।। ऋग्वेद ७।१६।५ में "यक्षि वंषि च" ऐसा पाठ है ।।७।

अथाऽष्टमी—विश्वामित्रेण दृष्टा । अग्निर्देवता । बृहती छन्दः ।।

१ २ ३ १ २र ३ १ २
६२—सखायस्त्वा ववृमहे देवं मर्त्तास ऊतये ।
३ १ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अपान्नपातं सुभगं सुदंससं सुप्रतूर्त्तिमनेहसम् ।।८।।

इति षष्ठी दशतिः ।।६।।

भावार्थः - हम (**सखायः**) मित्र (**मर्त्तासः**) मनुष्य (**त्वा**) आप (**देवम्**) दिव्यगुणयुक्त (**अपान्नपातम्**) कर्मों के न गिराने वाले अर्थात् कर्मों के अनुसार याथातथ्य फल देनेवाले, कर्मों का निक्षेप [अमानत वा धरोहर] रखने वाले (**सुभगम्**) शोभन ऐश्वर्यशाली (**सुदंससम्**) उत्तम कर्मों के कर्त्ता (**सुप्रतूर्त्तिम्**) तत्क्षण कार्य करने वाले (**अनेहसम्**) उपद्रवरहित शान्तस्वरूप परमात्मा को (**ऊतये**) रक्षा के लिये (**ववृमहे**) सेवित करते हैं ।।

मनुष्यों को परस्पर मित्र होकर उक्त गुणयुक्त परमात्मा की स्तुति उपासना करनी चाहिये ।।

भौतिक पक्ष में—(**सखायः, मर्त्तासः**) हम मित्र, मनुष्य (**त्वा, देवम्**) शुभ देव (**सुभगम्**) शोभन ऐश्वर्यकारक (**सुदंससम्**) शुभ कर्म यज्ञादि के सहायक (**सुप्रतू-**

तिम्) तीव्रतायुक्त (अंहोहसम्) उपद्रव की शान्ति करनेवाले (अपांनपातम्) अग्नि का (ऊतये) रोगादि शत्रुओं से बचने के लिये (ववृमहे) वरण करते हैं ॥

अर्थात् उक्त गुणयुक्त अग्नि का सुप्रयोग करके मित्रतापूर्वक काम में लाना चाहिये । अग्नि का नाम "अपान्नपात्" इसलिये है कि यह अप्=जलों का, नपात् =पौत्र वा नाती है । इस विषय में निरुक्त ८।५ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये । जिसका अर्थ यह है कि "तनूनपात्" और "अपान्नपात्" अग्नि को कहते हैं, ऐसा शाकपूणि आचार्य का मत है । क्योंकि अन्तरिक्ष में फैले हुए जल को अप् और तनू कहते हैं, उन जलों का पौत्र अग्नि को इस कारण माना है कि जल से ओषधि वनस्पति और ओषधि वनस्पतियों काष्ठों में से अग्नि उत्पन्न होता है । इसलिये अग्नि जलों का पौत्र=नपात् वा नप्ता है ॥

निघं० २।१॥ २।१३ के प्रमाण भी संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद ३।६।१ में "सुभगं सुदीदितिम्" ऐसा पाठ है ॥८॥

यह छठी दशति समाप्त हुई ॥६॥

खण्डयोराजुहोतेति त्रिष्टुभो दश पञ्च च ॥
अग्निं नरो विराट्, चित्र—इमं स्तोममिति द्व्यृचः ॥

अथ सप्तमी दशतिस्तत्र प्रथमायाः श्यावाश्वो वामदेवो वा ऋषिः ।
अग्निर्देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २
६३—आ जुहोता हविषा मर्जयध्वं नि होतारं गृहपतिं दधिध्वम् ।
३२ ३१ २र ३१२ ३ १ २ ३ २ ३क २र
इडस्पदे नमसा रातहव्यं सपर्यता यजतं पस्त्यानाम् ॥१॥

भावार्थः – परमात्मा उपदेश करता है कि हे मनुष्यो ! तुम (पस्त्यानाम्) घरों में (इडः, पदे) पृथिवी के, ऊपर [कुण्ड में] (गृहपतिम्) घर के रक्षक [अग्नि] का (नि, दधिध्वम्) नितरां आधान करो । (हविषा) घृतादि से (आ-जुहोता) सब ओर से होम करो । (मर्जयध्वम्) [वेदी के इधर-उधर] मार्जन करो । (रातहव्यम्) जिसने हव्य दिया उस (होतारम्) होता नामक ऋत्विज् को (नमसा) नमस्कारादि से (सपर्यता) सत्कृत करो । (यजतम्) इस प्रकार यज्ञ करो । इसमें मनुष्य को यह उपदेश है कि तुम घरों में पृथ्वी पर अग्निकुण्ड में अग्न्याधान करो । घृतादि की आहुति दो । वेदी के समीप मार्जन [शुद्धि] करो । जिस होता आदि से यज्ञकार्य कराओ उसका नमस्कारादि से वा अन्नादि द्रव्यों से सत्कार करो । इस प्रकार स्त्री-पुरुष मिलकर यज्ञ किया करो ॥

ईश्वर पक्ष में - हे मनुष्यो ! तुम (**पस्त्यानाम्**) मन्दिरों में (**इडः पदे**) इडा नाड़ी के अधिष्ठान में (**गृहपतिम्**) घर आदि के स्वामी परमात्मा का (**नि-षदिध्वम्**) नितरां, ध्यान करो । (**मर्जयध्वम्**) मार्जन अर्थात् देह और आत्मा की शुद्धि करो । (**रातहव्यम्**) जिसने भक्ति का स्वीकार किया उस (**होतारम्**) फल-प्रदाता की (**नमसा**) नमस्कार से (**सपर्यता**) पूजा करो । (**यजतम्**) इस प्रकार [स्त्री-पुरुष वा गुरु-शिष्य दोनों] उपासना किया करो ॥

निघं० १।१॥ ३।५॥ ३।४॥ अष्टाध्यायी ६।३।१३३ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—वाष्टहव्योवार्षहव्यो वा उपस्तुतो वा ऋषिः ।
अग्निर्देवता । जगती छन्दः ॥

३ २उ ३ १२ ३ २ ३ २उ ३ १ २३ २ ३ १२
६४—चित्र इच्छिशोस्तरुणस्य वक्षथो न यो मातरावन्वेति धातवे ।
३ १ २उ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ ३ १ २
अनूधा यदजीजनदधा चिदा ववक्षत् सद्यो महि दूत्यं३चरन् ॥२॥

भावार्थः—परमात्मा उपदेश करता है कि हे मनुष्य ! (**शिशोः**) उत्पन्न होते ही (**तरुणस्य**) युवा के तुल्य काम करने वाले [अग्नि-प्रकरण से] का (**वक्षथः**) हविः ले जाना (**चित्रः इत्**) आश्चर्य ही है । (**यः**) जो कि (**धातवे**) स्तनपान के लिये (**मातरौ**) दोनों उत्तरारणि और अधरारणि रूप माताओं को (**न, अन्वेति**) नहीं, साथ लगता । किन्तु (**यत् चित्**) जब, ही (**अजीजनत्**) तुमने उत्पन्न किया (**अध, सद्यः**) तत्काल ही (**अनूधाः**) बाल बिना ही (**महि, दूत्यम्**) भारी दूत का काम (**चरन्**) करता हुआ (**आ-ववक्षत्**) हव्य पहुँचाने लगता है ॥

तात्पर्य यह है कि जब बालक उत्पन्न होता है तो कुछ काल पर्यन्त बाल्या-वस्था में कोई परिश्रम का काम नहीं करता, केवल माता का दुग्ध पीता और पुष्ट होता है । तब पीछे बड़ी अवस्था होने पर काम कर सकता है । परन्तु अग्नि का देवताओं को हव्य पदार्थ पहुँचाना आश्चर्य है, जो शिशु ही तरुण है अर्थात् उत्पन्न होते ही बाल (स्तन) का सेवन बिना किये ही अपनी माता के तुल्य अरणियों में पुष्टयर्थ कुछ काल बालक के समान श्रम-रहित वास नहीं करता । किन्तु तुम्हारे रगड़ने से दो अरणियों में उत्पन्न होते ही युवा के तुल्य अपना दूतकर्म अर्थात् वायु आदि देवताओं को हव्य पहुँचाना रूप महत् कर्म करने लगता है ॥

महाभाष्य (३।१।८५ आ० ४ ॥) अष्टाध्यायी ३।४।६॥ ८।१।७१॥ २।२।-२४॥ ५।४।१३१॥ ४।४।१२० के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये । पं० ज्वाला-प्रसाद भार्गव ने छापे की अशुद्धि जैसी कि कलकत्ते की छपी सायणभाष्ययुक्त पुस्तक

में छपी थी त्यों की त्यों उद्धृत करदी, अष्टाध्यायी खोलकर नहीं देखी कि 'व्यत्ययो बहुलम्' सूत्र ३।४।६८ पर नहीं है किन्तु ३।१।८५ पर है। तथा 'दूत-कर्म' इस नपुंसक लिङ्ग का अपने संस्कृत में "महान्तम्" यह पुल्लिङ्ग जोड़कर समानाधिकरण कर डाला है ॥ ऋग्वेद १०।११५।१ में पाठ में बहुत अन्तर है संस्कृत में देखिये ॥

अथ तृतीयस्याः—बृहदुक्थ ऋषिः। अग्निर्देवता। त्रिष्टुप्छन्दः ॥

६५—इदं त एकं पर ऊ त एकं तृतीयेन ज्योतिषा सं विशस्व।
संवेशनस्तन्वे३चारुरेधि प्रियो देवानां परमे जनित्रे ॥३॥

भावार्थः—[प्रकरण से अग्ने !] (ते) तेरी (इदम्) यह विद्युद्रूप (एकम्) एक (ऊ) और (ते) तेरी (परः) दूसरी आदित्यरूप (एकम्) एक [ज्योति है] (तृतीयेन) तीसरी पार्थिव (ज्योतिषा) ज्योतिः से (संविशस्व) आधान किया जावे (परमे) श्रेष्ठ (जनित्रे) यज्ञ में (संवेशनः) आधान किया हुआ तू (देवानाम्) वाय्वादि देवों के (तन्वे) देह के लिये (प्रियः) प्यारा और (चारुः) सुशोभित (एधि) होवे ॥

जगत् में अग्नि की तीन ज्योतियां हैं—१ विद्युत्। २ आदित्य। ३ सामान्य पृथिवी पर का अग्नि। इनमें से तीसरी ज्योति से अग्नि का कुण्ड में आधान होता है और तब वह यज्ञ में स्थित अग्नि, वाय्वादि देवों के शरीरों का सुधार करता है। शोभा और प्रसन्नता को उत्पन्न करता है॥ सायणाचार्य ने इसके भाष्य में वाजिनामक बृहदुक्थ के मृतपुत्र की कथा लिखी है परन्तु यहां उसका लेश भी मूल में नहीं है ॥

उणादि १।८० और ४।१५९ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद १०।५६।१ में "संवेशने तन्वश्चारुः" ऐसा पाठ है॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—कुत्स ऋषिः। अग्निर्देवता। जगती छन्दः ॥

६६—इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया।
भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसद्यग्ने सख्ये मा रिषाम वयं तव ॥४॥

भावार्थः—(वयम्) हम उपासक लोग (इमम्, स्तोमम्) इस, स्तोत्र के (अर्हते) योग्य (जातवेदसे) वेद प्रकाश परमात्मा को (मनीषया) सूक्ष्म बुद्धि से (रथमिव) रथ के समान (सम्महेमा) बढ़ावें। (अस्य) इस परमात्मा की (संसदि) ध्यानशाला में (नः) हमारी (प्रमतिः) पवित्र बुद्धि (भद्रा, हि) सुखरती, ही है। (अग्ने) हे ज्योतिःस्वरूप ! (तव) आपकी (सख्ये) अनुकूलता में (मा) न

तात्पर्य यह है कि परमात्मा उक्त प्रकार की स्तुति के योग्य है और हमको उचित है कि उसका वेद की श्रुतियों से थोड़ा सा श्रवण करके फिर अपनी बुद्धि से उसे बढ़ावें अर्थात् जिस प्रकार थोड़े से चलाये हुए रथ को फिर अपनी बुद्धि से सारथि नवीन मार्गों में भी चला सकता है इसी प्रकार परमात्मविषयक ज्ञान की वृद्धि करें। क्योंकि उसके धारण में रखने से बुद्धि उज्ज्वल होती है और हिंसादि सब दुःख दोष दूर होते हैं ॥

भौतिक पक्ष में—(वयम्) हम याज्ञिक वा शिल्पी लोग (इमम्, स्तोमम्) इस, वेदोक्त गुणवर्णन के (अर्हते) योग्य (जातवेदसे) अग्नि को (मनीषया) बुद्धि से (रथमिव) रथ के समान (सम्महेमा) बढ़ावें (अस्य) इस अग्नि के (संसदि) यज्ञस्थल पर (नः) हमारी (प्रमतिः) शुद्ध बुद्धि (भद्रा, हि) सुधरती ही है। (अग्ने) अग्ने ! (तव) तेरी (सख्ये) अनुकूलता में (मा) न (रिषाम) दुःखी होवें ॥

अग्नि स्तुतियोग्य अर्थात् इस वेदोक्त रीति से वर्णन करने के योग्य है। हम को उचित है कि इसके गुणों को बुद्धि से बढ़ावें अर्थात् थोड़ा वेद से सुन कर फिर अपनी बुद्धि और अनुभव से उस विषय में ज्ञान बढ़ावें। इस अग्नि के वर्णन रूप स्तोत्र से बुद्धि तीव्र होती है तथा इसके गुणों को जान कर सुप्रयोग करने से हिंसादि दुःख निवृत्त होते हैं ॥

अष्टाध्यायी ६।३।१३७ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥४॥

अथ पंचम्या.–भरद्वाजो भारद्वाजो वा ऋषिः। अग्निर्देवता। त्रिष्टुप्छन्दः ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ २३ २

६७—मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ जातमग्निम्।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

कविं सम्राजमतिथिं जनानामासन्नः पात्रं जनयन्त देवाः ॥५॥

भावार्थः–(देवाः) विद्वान् ऋत्विज् लोग (नः ऋते) हमारे, यज्ञ में (पृथिव्याः, दिवः, मूर्धानम्, अरतिम्) पृथिवी से, द्युलोक के, ऊर्ध्व भाग को जाने वाले (वैश्वानरम्) सब मनुष्यों के हितकारी (जातम्) उत्पन्न (कविम्) दिखाने वाले (सम्राजम्) दहकते हुए (अतिथिम्) सदा चलने वाले (जनानां, पात्रम्) प्राणियों के, रक्षक (आसन्) [देवों के] मुख (अग्निम्) अग्नि को (आ, जनयन्त) सब ओर से प्रकट करें ॥

अग्नि, पृथिवी से हव्य लेकर ऊपर द्युलोक को जाता, वहाँ जाकर वायु जलादि की पवित्रता द्वारा मनुष्यों का हित करता, उत्पन्न होकर प्रकाश से दिखाने का काम करता, स्वयं प्रकाशित होता, सदा ऊपर को चलता ही रहता, प्राणियों

की रक्षा करता और वायु आदि देवों का मुख है, इसी से वे हव्य पदार्थ खाते हैं। इस प्रकार के अग्नि को अपने यज्ञ में विद्वान् ऋत्विजों से स्थापित कराके यज्ञ करना चाहिये ॥

उणादि ४।५६,६० ॥ ३।८६ ॥ ४।२ ॥ ४।१५६ ॥ निघं० ५।४ ॥ अष्टाध्यायी ६।१।६३ ॥ ७।१।३६ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद ६।७।१ में "आसन्ना पात्रम्" ऐसा पाठ है ॥५॥

अथ षष्ठ्याः–भरद्वाजो भारद्वाजो वा ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

६८—वि त्वदापो न पर्वतस्य पृष्ठादुक्थेभिरग्ने जनयन्त देवाः ।
तं त्वा गिरः सुष्टुतयो वाजयन्त्याजिं न गिर्ववाहो जिग्युरश्वाः ॥

भावार्थः – (अग्ने) अग्ने ! (देवाः) विद्वान् लोग (उक्थेभिः) वेदवाक्यों द्वारा (त्वत्) तुझ से (विः) विविध अस्त्रादि को (जनयन्त) उत्पन्न करते हैं। (न) जैसे (पर्वतस्य, पृष्ठात्) मेघ के, पृष्ठ से (आपः) [मेघस्थ] जल, (वि) अनेकविध विद्योतमान बिजुलियों को उत्पन्न करते हैं, तद्वत् । (तं, त्वा) उस, तुझ [अग्नि] को (सुष्टुतयः, गिरः) शोभन स्तुतिरूप, वेदवाणियें (वाजयन्ति) बलिष्ठ करती हैं। और तब (न) जैसे (गिर्ववाहः) कहने में ले चलने वाले (अश्वाः) घोड़े (आजिम्) संग्राम को (जिग्युः) जीतते हैं [तद्वत् तू संग्राम को जीतता है] ॥

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार मेघस्थ जल अपने में से विविध प्रकार चमकने वाली बिजुलियों को उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार विद्वान् लोग भी वेदवाक्यों से अग्नि के गुणों को जान कर तदनुसार अनुभव करके अनेकविध अस्त्रों को अग्नि से उत्पन्न करें। क्योंकि वेद के वचन उस अग्नि को बलवान् करते हैं अर्थात् ऐसी रीति बताते हैं जिसके द्वारा आग्नेय बल उत्पन्न हो जावे। और जैसे कहने में चलने वाले घोड़ों के द्वारा युद्ध में दूरस्थ शत्रुओं को शीघ्र जीत सकते हैं, इसी प्रकार यह अग्नि भी अपने बल से अस्त्रादि रूप में परिणत हुआ, दूरस्थ शत्रुओं का पराजय करके अपना जय कराता है ॥

निघं० १।१०॥ २।६॥ उणादि ३।११०॥ शतपथ ब्राह्मण ॥ अष्टाध्यायी ३।४।६ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद ६।२४।६ में "उक्थेभिरिन्द्रानयन्त यज्ञैः । तं त्वाभि सुष्टुतिभिर्वाजयन्त आजिं न जग्मुर्गिर्वाहो अश्वाः" ऐसा पाठ और अर्थ में भी भेद है तथा इन्द्र देवता है ॥६॥

अथ सप्तम्याः—वामदेव ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

६९—आ वो राजानमध्वरस्य रुद्रं होतारं सत्ययजं रोदस्योः ।
अग्निं पुरा तनयित्नोरचित्ताद्धिरण्यरूपमवसे कृणुध्वम् ॥७॥

भावार्थः - हे मनुष्यो ! (**वः**) तुम्हारे (**तनयित्नोः**) बिजुली के तुल्य (**अचित्तात्**) मृत्यु से (**पुरा**) पहिले ही (**अध्वरस्य, राजानम्**) योगयज्ञ के, राजा (**होतारम्**) कर्मफलदाता (**रुद्रम्**) पापियों को रोदन कराने वाले (**रोदस्योः**) द्यावापृथिवी के मध्य में (**सत्ययजम्**) सच्चा यज्ञ करने वाले (**हिरण्यरूपम्**) ज्योतिःस्वरूप (**अग्निम्**) प्रकाशमान परमात्मा को (**अवसे**) रक्षा के लिये (**आ-कृणुध्वम्**) बुलाओ ॥

अर्थात् बिजुली के समान मृत्यु शिर पर गर्जता है उससे पूर्व ही तुम लोग उक्तगुणयुक्त परमात्मा के शरण में प्राप्त हो जाओ, पीछे पछताओगे ॥

भौतिक पक्ष में - हे मनुष्यो ! (**वः**) तुम्हारे (**तनयित्नोः, अचित्तात्, पुरा**) विद्युत्तुल्य, मृत्यु के, पूर्व ही (**अध्वरस्य, राजानम्**) कर्मकाण्ड के, राजा (**होतारम्**) हव्य ले जाने वाले (**रोदस्योः, सत्ययजम्**) द्युलोक और पृथिवी के बीच में, यथार्थ देवयजन करने वाले (**हिरण्यरूपम्**) तेजोयुक्त (**रुद्रम्**) प्रचण्ड (**अग्निम्**) अग्नि का (**अवसे**) रोगादि शत्रुओं से बचने के लिये (**आ-कृणुध्वम्**) आधान करो ॥

अर्थात् मनुष्यो ! तुमको मृत्युपर्यन्त उक्तगुणयुक्त अग्नि का स्थापन करके यज्ञ करना चाहिये, मरने पर क्या बन पड़ेगा ! यह अग्निहोत्र रोगादि की शान्ति वाय्वादि की शुद्धि करके मृत्यु से बचाने वाला है ॥

निघण्टु ३।३० का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद ४।३।१ में भी सर्वथा ऐसा ही पाठ है ॥७॥

अथाऽष्टम्याः—वसिष्ठ ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

७०—इन्धे राजा समर्यो नमोभिर्यस्य प्रतीकमाहुतं घृतेन ।
नरो हव्येभिरीडते सबाध आग्निरग्रमुषसामशोचि ॥८॥

भावार्थः – (**यस्य**) जिस परमात्मा का (**प्रतीकम्**) स्वरूप (**घृतेन**) प्रकाश से (**आहुतम्**) सब ओर से व्याप्त है । और जिसकी (**सबाधः**) योगयज्ञ के ऋत्विज् (**नरः**) लोग (**हव्येभिः**) भक्ति रूप हव्यों के साथ (**ईळते**) स्तुति करते हैं । और जो (**नमोभिः**) नमस्कार वा प्रणामों से (**सम्-इन्धे**) हृदय में भले प्रकार प्रकाश करता है । वह (**राजा**) तेजोमय (**अर्य्यः**) चराऽचर का स्वामी (**अग्निः**) परमात्मा (**उषसाम्, अग्रम्**) उषःकाल में (**आ, अशोचि**) [उपासकों के हृदय में] सर्वतः पवित्रता करे ॥

मनुष्यों को उचित है कि प्रातःकाल उठ कर परमप्रकाश, उपासकों से ध्याये हुए, सर्वाध्यक्ष, सर्वपूज्य, परमात्मा का ध्यान करें । जिससे वह अन्तःकरण को पवित्र करे और अविद्या की निवृत्ति द्वारा सर्वदु:ख दूर हों ॥

भौतिक पक्ष में—(**यस्य**) जिस अग्नि का (**प्रतीकम्**) स्वरूप (**घृतेन**) घृतादि हव्य से (**आहुतम्**) सब ओर से होम द्वारा हुत किया गया है । और जिस को (**सबाधः**) ऋत्विज् (**नरः**) लोग (**हव्येभिः**) होमने योग्य पदार्थों के साथ (**ईळते**) मन्त्रोक्त वर्णित करते हैं । और जो (**नमोभिः**) अन्न अर्थात् स्थालीपाकादि चरु से (**सम्-इन्धे**) सम्यक् प्रदीप्त होता है । वह (**राजा**) देदीप्यमान (**अर्यः**) यज्ञ का स्वामी (**अग्निः**) प्रसिद्ध अग्नि (**उषसाम्-अग्रम्**) प्रातःकाल ही (**आ, अशोचि**) सर्वतः, पवित्र करे ॥

उक्तगुणयुक्त अग्नि में नित्य प्रातःकाल उठते ही होम करना चाहिये जिससे वायु, जल, घर, बाहर को पवित्र शुद्ध स्वच्छ करे ॥

अष्टाध्यायी ३।१।१०३ निघण्टु ३।१८॥ उणादि ३।८६ इत्यादि के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद ७।८।१ में "अग्निरग्र" पाठ है ॥८॥

अथ नवम्याः—त्रिशिरास्त्वाष्ट्र ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

२ ३ १२ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २
७१—प्र केतुना बृहता यात्यग्निरा रोदसी वृषभो रोरवीति ।
३२ ३ १ २ ३१ २र ३ २ ३१ २ ३ १ २
दिवश्चिदन्तादुपमामुदानडपामुपस्थे महिषो ववर्ध ॥९॥

भावार्थः—(**अग्निः**) अग्नि (**बृहता, केतुना**) बड़ी लपट से (**दिवः, चित्**) द्युलोक के, भी (**अन्तात्**) पर्यन्त तक (**प्र, याति**) जाता है । (**रोदसी**) द्यावाभूमियों के मध्य में (**आ**) अभिव्याप्त होकर (**वृषभः**) वृष्टि का हेतु (**रोरवीति**) गर्जता है । (**अपाम्, उपस्थे**) मेघस्थ जलों के उपस्थान अन्तरिक्ष में (**उपमाम्**) समीप (**उदानट्**) ऊपर को व्यापता है । इस प्रकार (**महिषः**) महान् (**ववर्ध**) बढ़ता है ॥

इस मन्त्र में अग्नि का माहात्म्य दिखलाया है कि यही अग्नि ऊपर जाकर अन्तरिक्ष द्युलोक और मेघ को व्याप्त करके स्थित है। मेघों में गर्जन और वर्षा का हेतु भी यही है। इत्यादि ॥

उणादि १।७४। निरुक्त ६।२२। निघण्टु २।१६॥ ३।३ के प्रमाण संस्कृत-भाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद में १०।८।१ "दिवश्चिदन्ता उपमां उदान०" ऐसा पाठ है ॥९॥

अथ दशम्याः—वसिष्ठ ऋषिः। अग्निर्देवता। विराट् छन्दः ॥

३ २उ ३ १ २ ३२ ३ १ २ ३ २
७२—अग्निं नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युतं जनयत प्रशस्तम्।
३१२ ३१२ ३ २
दूरेदृशं गृहपतिमथव्युम् ॥१०॥

इति सप्तमी दशतिः ॥७॥

भावार्थः—(नरः) हे मनुष्यो! (दूरेदृशम्) दूर से दीखने वाले (गृहपतिम्) घर के पालक (अथव्युम्) गमनशील (प्रशस्तम्) उत्तम (हस्तच्युतम्) हस्तगत (अग्निम्) अग्नि को (अरण्योः) दो अरणियों में (दीधितिभिः) अंगुलियों से [रगड़कर] (जनयत) उत्पन्न करो ॥

निघण्टु २।१४॥ निरुक्त ५।१० के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद ७।१।१ में "हस्तच्युतो जनयन्त" और "अथर्युम्" इतना भेद है ॥१०॥

यह सातवीं दशति समाप्त हुई ॥७॥

अथाऽष्टमी दशतिस्तत्र प्रथमायाः—बुधगविष्ठिरावृषी। अग्निर्देवता। त्रिष्टुप्छन्दः ॥

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३१ २ ३ २ ३ १ २
७३—अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम्।
३ १ २३ १ ३ २३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
यह्वा इव प्र वयामुज्जिहानाः प्रभानवः सस्रते नाकमच्छ ॥१॥

भावार्थः—(अग्निः) अग्नि (जनानाम्) यज्ञकर्त्ताओं की (समिधा) समिध् से (अबोधि) प्रज्वलित होता तब (धेनुमिव) दुग्ध देने वाली गौ

के समान (आयतीम्, उषासम्, प्रति) आती हुई, उषा के प्रति, अर्थात् प्रातःकाल ही (भानवः) लपटें (वयाम्, प्र, उज्जिहानाः) पक्षी के बच्चे को छोड़ते हुए (यह्वा इव) बड़े पक्षियों के समान (अच्छ) अच्छे प्रकार (नाकम्) द्युलोक की ओर (प्र, सस्रते) फैलती हैं ॥

जिस प्रकार छोटे बच्चों को छोड़ कर पक्षिगण आकाश को उड़ जाते हैं इसी प्रकार प्रातःकाल के हवन समय जब अग्न्याधान करके समिदाधान किया जाता है और अग्नि का उद्बोधन होता है तब लपटें वेदी को छोड़कर भले प्रकार से आकाश को चलती हैं और उपकार करती हैं ॥

अष्टाध्यायी ६ । ३ । १३७ निघण्टु ३ । ३ उणादि ३ । ३२ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद ५।१।१ में "सिस्रते" इतना पाठभेद है ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—वत्सप्रिऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

७४—प्र भूर्जयन्तं महां विपोधां मूरैरमूरं पुरां दर्माणम् ।
नयन्तं गीर्भिर्वना धियं धा हरिश्मश्रुं न वर्मणा धनर्चिम् ॥२॥

भावार्थः—हे मनुष्य ! तू (जयन्तम्) जीतने वाले (महाम्) बड़े (विपोधाम्) बुद्धिमानों के धारक रक्षक (अमूरम्) बन्धनरहित (पुराम्, मूरैः, दर्माणम्) दुर्गों का, मूल सहित, विदारण करने वाले (वना, नयन्तम्) चिनगारियों को, ले जाने वाले (हरिश्मश्रुं, न) सूर्य की किरण के समान तेजस्वी (धनर्चिम्) अग्नि को तथा (धियम्) पुरुषार्थ को (गीर्भिः) वेदवचनानुसार (वर्मणा) कवच के साथ (धाः) धारण कर और (प्र, भूः) समर्थ हो ॥

राजा और योद्धाओं को योग्य है कि युद्ध में कवच पहनकर, आग्नेयास्त्र का प्रयोग करें, जिससे अपना विजय, बुद्धिमान् पुरुषों की रक्षा, शत्रु दुर्गों का दलन हो और सामर्थ्य बढ़े । क्योंकि अग्नि सूर्यकिरण के समान सीधी रेखा में चिनगारियों सहित गोलों द्वारा उक्त कार्य सिद्ध कर सकता है ॥

निघण्टु ३।१५ ॥ १।५ ॥ २।१ ॥ उणादि ४।१०८ के प्रमाण तथा ऋग्वेद १०।४६।५ में जितना पाठ और अर्थ का भी भेद है वह संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

भावार्थः—हे स्तोता ! तुम, असुर सेना के जेता, षोडशकलावनार, मेधावी भक्तों के धारक, मुरुदैत्य के सेनाजनों से, पूर्ण प्रकार आदि के, विदारक, दैत्य के पाशों से निर्मुक्त षोडश सहस्र कन्याओं के स्तोत्र, और कवचों के द्वारा,

उनके निवासस्थानों को, द्वारिका में पहुँचाने वाले, और धन दान से द्वारिकावासियों के पूजक, विष्णु नाम अग्नि के, स्तुति करने को समर्थ हो और सेवा रूप कर्म को, विधान करो ॥

पं० ज्वालाप्रसाद भार्गव (आगरा) का संस्कृत और भाषाभाष्य देखिये जैसा कि अक्षरशः ऊपर छपा है । सब जानते हैं कि इस काण्ड का नाम आग्नेय काण्ड है । और इस मन्त्र में कहीं भी मूल में विष्णु १६ कलावतार दैत्य–पाश—१६००० कन्या–द्वारिका इत्यादिका नाम लेशमात्र भी नहीं है । यदि इस प्रकार के वेदार्थदूषक निर्मूल भाष्य वेदों पर न हुए होते तो क्यों वैदिक धर्म का इतना ह्रास होता और क्यों उस ह्रास के निवारणार्थ हमको भाष्य करने की आवश्यकता पड़ती ॥

अथ तृतीयाया:—भरद्वाज ऋषिः । पूषा देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

७५—शुक्रन्ते अन्यद् यजतं ते अन्यद् विपुरूपे अहनी द्यौरिवासि ।
विश्वा हि माया अवसि स्वधावन् भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु ।३।

भावार्थः—(स्वधावन्) जलयुक्त ! (पूषन्) पुष्टिकारक देव ! तू (द्यौरिव) द्युलोक-सा (असि) है । (ते, शुक्रम्, अन्यत्) तेरा वीर्य, विलक्षण है (ते, यजतम्, अन्यत्) तेरी, सङ्गति, विलक्षण है । (विषुरूपे, अहनी) विषम रूप वाले, दिन [तुझ से ही बनते हैं] (विश्वाः, मायाः, हि, अवसि) समस्त, चेतनाओं की, निश्चय, रक्षा करता है । (ते, रातिः) तेरा, दान (इह) लोक में (भद्रा, अस्तु) सुखदायक, हो [ईश्वर कृपा से] ॥

अग्निमय सूर्य के प्रकाश से पूषा देवता की उत्पत्ति है इसलिये पूषा भी आग्नेय है । अतएव आग्नेय पर्व में पूषा का वर्णन ठीक है । पृथिवी के समीप-समीप सूर्य के प्रकाश से एक देवविशेष होता है जो कि पृथिवी पर के समस्त प्राणी-अप्राणी व ओषधि-वनस्पति आदि का विशेषकर के पोषण करता है, उसी को पूषा कहते हैं । निरुक्त १२।१६ में लिखा है कि "किरणों से पुष्टि करता है इससे पूषा कहाता है । इसका उदाहरण यह ऋचा है ॥ शुक्रं ते" इति । उस आग्नेय पूषा का इस मन्त्र में वर्णन है—इसका विलक्षण वीर्य है, ओषध्यादि का सेचन करता है । इसकी संगति भी विलक्षण है, जिससे विविध प्राकृत विलक्षणता से युक्त चित्र उत्पन्न होता है । यह ही विषम (छोटे-बड़े) दिन उत्तरायण और दक्षिणायन भेद से बनाता है । क्योंकि यही द्युलोक के समान गतिभेद से दिन की छोटाई-बड़ाई के भेद का कारण है । यहां

स्वधावान् जलयुक्त किरणों के गिराने से ओषध्यादि का पोषक है। इसी से प्रज्ञा पुष्ट होती है अर्थात् चेतना का व्यवहार बढ़ता है। यदि सूर्य और उससे उत्पन्न पूषा न हो तो सम्पूर्ण लोक अन्धकार तम से आवृत हुआ चेतना से रहित-सा हो जाय। इसलिये इसका बुद्धियों का सहायक होना और पुष्टि पहुँचाना, हमको शुभ हो, परमात्मा ऐसी कृपा करें ॥

निघण्टु ३।६॥ १।१२ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद ६।५८।१ में "स्वधावः" ऐसा पाठ में अन्तर है ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—विश्वामित्र ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

१ २ ३१२ ३१ २र ३१ २र
७६—इडामग्ने पुरुदंसं सनिं गोः शश्वत्तमं हवमानाय साध ।
२ ३१ २र ३२उ ३ १ २ ३१२ ३२
स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे ॥४॥

भावार्थः—(अग्ने) भौतिकाग्ने ! वा परमात्मन् ! (ते) तेरे लिये वा तेरी आज्ञानुसार (शश्वत्तमं, हवमानाय) निरन्तर, यज्ञ करने वाले के लिये (गोः सनिम्) गवादि पशु जाति के देने वाला (पुरुदंसम्) सर्व कर्म सहायक (इडाम्) अन्न को (साध) सिद्ध करो । और (नः) हमारा (सूनुः) पुत्र (तनयः) विस्तार करने वाला (विजावा) पुत्र पौत्रादि का जनयिता (स्यात्) होवे । तथा (अग्ने) अग्ने ! (सा) वह [यज्ञ से प्रीति करने वाली] (अस्मे) हमारी (सुमतिः) शोभन मति (भूतु) रहे [यह ईश्वर से चाहते हैं] ॥

इस में यज्ञ के ३ फलों की प्रार्थना है । १—धनधान्यादि, २—सुसन्तान, ३—सुमति । इसी प्रकार के वेदमन्त्र सस्येष्टि पुत्रेष्टि आदि यज्ञों के मूल प्रतीत होते हैं ॥

निघं० २।७॥ २।१॥ अष्टाध्यायी ३।२।२७॥ ३।१।८५॥ उणादि ४।६६ आदि के प्रमाण तथा ऋग्वेद के ६ सूक्तों के पते जहां ६ वार ऐसा पाठ आया है, संस्कृतभाष्य में देखिये ॥४॥

अथ पञ्चम्याः—वत्सप्रिर्ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

१ २र ३ २ ३१ २ ३ २ ३१२ ३१ २३२
७७—प्र होता जातो महान्नभोविन्नृषद्मा सीददपां विवर्ते ।
२३२ ३ २ ३१ २र ३ २र ३१ २३२
दधद्यो धायि सुते वयांसि यन्ता वसूनि विधते तनूपाः ॥५॥

भावार्थः—(**यः**) जो अग्नि (**होता**) होमसम्पादक (**प्र, जातः**) वेदी में प्रकट हुआ (**महान्**) सुष्ठु प्रकार उपयोग के योग्य (**नभोविद्**) आकाश को प्राप्त होने वाला (**नृषद्मा**) ऋत्विजों के समीप स्थित (**तनूपाः**) देह का रक्षक (**सु, धायी**) भले प्रकार, धारण करने वाला (**वयांसि**) अन्नों और (**वसूनि**) धनों को (**दधत्**) धारता हुआ (**ते**) तुझ (**विधते**) परिचारक यज्ञकर्त्ता के लिये (**यन्ता**) अन्न का और धन पहुँचाने वाला है । वह (**अपां, विवर्त्ते**) जलों के लौट-पोट होने के स्थान अन्तरिक्ष में (**सीदत्**) स्थित होता है ॥

तात्पर्य यह है कि होमादि काम्यों के मध्य में अग्नि के गुणों को जान कर उपयोग लेने से अन्न धनादि पदार्थों की प्राप्ति होती है क्योंकि वृष्टि आदि के द्वारा अन्नादि की उत्पत्ति और अनेकविध शिल्प द्वारा अनेक धन रत्नादि की प्राप्ति होती है । इसलिये परमात्मा का उपदेश है कि अग्नि का सदुपयोग करो ॥

ईश्वर पक्ष में:—(**यः**) जो जगदीश्वर (**होता**) कर्मफलप्रद (**प्र, जातः**) भक्त के हृदय में प्रादुर्भूत (**महान्**) पूजनीय (**नभोविद्**) आकाश में व्यापक (**नृषद्मा**) मनुष्यों के हृदयों में वास करने वाला, इसी से (**तनूपाः**) देह का पालन करने वाला (**सु, धायी**) शोभन धारणकर्त्ता (**वयांसि, वसूनि**) अन्नादि तथा रत्नादि धनों को (**दधत्**) धारता हुआ (**विधते, ते**) भक्ति करने वाले, तुझ उपासक के लिये (**यन्ता**) उन अन्न धनादि का पहुँचाने वाला, वह (**अपां विवर्त्ते**) आकाश भर में (**सीदत्**) व्याप्त है ।

निघण्टु २।७॥ ३।५ के प्रमाण और ऋग्वेद १०।४६।१ में जो पाठान्तर है वह भी संस्कृतभाष्य में देखिये ॥५॥

अथ षष्ठ्याः—वसिष्ठ ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

२ ३ २ ३१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
७८—प्र सम्राजमसुरस्य प्रशस्तं पुंसः कृष्टीनामनुमाद्यस्य ।
१ २ ३ २ ३१२ ३ १ २ ३ १ २ ३१ २
इन्द्रस्येव प्र तवसस्कृतानि वन्दद्वारावन्दमाना विवष्टु ॥६॥

भावार्थः—ईश्वर उपदेश करता है कि हे मनुष्य ! भवान् [आप](**सम्राजम्**) प्रकाशमान (**असुरस्य**) प्राणप्रद (**पुंसः**) पौरुषयुक्त (**कृष्टीनाम्, अनुमाद्यस्य**) मनुष्यों के, अनुमोदनीय (**तवसः**) बलवान् (**इन्द्रस्येव**) सूर्य्य के, जैसे (**वन्दद्वारा**) प्रशंसाप्रमुख (**वन्दमाना**) प्रशंसनीय (**प्र, कृतानि**) स्वाभाविक कर्म हैं [वैसे—प्रकरण से अग्नि वा परमात्मा के] (**प्रशस्तम्**) उत्तम कर्मों को (**प्र, विवष्टु**) अधिकता से कामना करिये ॥

अर्थात् जैसे प्रत्यक्ष सूर्य्य प्रकाशमान हो रहा है, प्राण को दे रहा है, [अर्थात्

सूर्य्य द्वारा ही प्राणवायु का संचार होता है] धारणाकर्षणादि पुरुषार्थ युक्त है, मनुष्यों का मोदजनक अनुमोदन योग्य है और अत्यन्त बलवान् है और जैसे इस सूर्य्य के प्रशंसार्ह स्वाभाविक कर्म हैं, वैसे ही अग्नि के गुण कर्म भी कामना करने योग्य हैं तथा परमात्मा जो इन दोनों में इन गुणों का नियमपूर्वक रखने वाला तथा असीम भाव से उक्त गुणों का धर्त्ता है क्योंकि सूर्य्यादि धारकों का भी धारक, प्रकाशकों का प्रकाशक, प्राणप्रदों का प्राणप्रद, वीरों का वीर्यप्रद, मनुष्यों का परमानुमोदनीय, बलवानों का बलदाता है, उसके अतुल प्रशस्त गुणों की कामना करो ॥

निघण्टु २।६ आदि के प्रमाण तथा ऋग्वेद ७।६।१ में जो पाठान्तर है वह संस्कृतभाष्य में देखिये ॥६॥

अथ सप्तम्याः—विश्वामित्र ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

३२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३१ २१ ३ १ २
७९—अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इवेत्सुभृतो गर्भिणीभिः ।
३ १ २ ३ १ २ ३१ २ ३ १ २ ३१२१ ३ २
दिवेदिवे ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः ॥७॥

भावार्थः—(अग्निः, जातवेदाः) परमात्मा वा भौतिक अग्नि, वेदप्रकाशक वा ज्ञान का सहायक (अरण्योः) हृदयारणियों वा काष्ठारणियों में (निहितः) अदृश्य रूप से वर्त्तमान है । दृष्टान्त–(गर्भ, इव, इत, सुभृतो, गर्भिणीभिः) जैसे गर्भवती स्त्रियों के गर्भाशय में अदृश्य भाव से गर्भ रहता है । वह (जागृवद्भिः) सावधान (हविष्मद्भिः) भक्ति वा हव्य वाले (मनुष्येभिः) मनुष्यों से (दिवे दिवे) प्रतिदिन (ईड्यः) स्तुति योग्य है ॥

ऋग्वेद ३ । २९ । २ में "इव सुधितः" इतना अन्तर है ॥७॥

अथाऽष्टम्याः—पायुर्ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२
८०—सनादग्ने मृणासि यातुधानान् न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः ।
१ २ ३१२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अनु दह सहमूरान् क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥८॥

इत्यष्टमी दशतिः ॥

भावार्थः—(अग्ने) परमात्मन् ! वा भौतिकाग्ने ! तू (यातुधानान्) राक्षसों वा प्राणदुःखदायी प्राणी और अप्राणियों को (सनात्) शीघ्र (मृणसि) नष्ट करता है (रक्षांसि) वे राक्षस वा उक्त प्राणी अथवा अप्राणी (त्वा) तुझको

(पृतनासु) संग्रामों में (न, जिग्युः) नहीं, जीत सकते हैं इसलिये - (क्रव्यादः) मांसभक्षक उन प्राणी वा अप्राणियों को (सहमूराम्) समूल (अनुदह) भस्म कर (ते) वे (दैव्यायाः, हेत्याः) दैवी, वज्र से (मा, मुक्षत) न, बचें।

मनुष्यों को शिक्षा है कि वे सम्पूर्ण दुष्ट प्राणियों वा अप्राणियों से [जो वायु आदि में विकार होकर रोग और मृत्यु के कारण होते हैं] बचने के लिये परमेश्वर की प्रार्थना और अग्नि में होम तथा आग्नेयाऽस्त्रादि का प्रयोग करें, जिससे वे दुष्ट समूल नष्ट हों और धर्मात्माओं को सुख मिले। और यह भी जानना चाहिये कि वे दुष्ट उस दैवी वज्र से बच नहीं सकते।

निघण्टु २।१६।। २।१७।। २।२० इत्यादि के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।। ऋग्वेद १०। ८७। १६ में भी ठीक ऐसा ही पाठ है ।।८।।

यह आठवीं दशति समाप्त हुई ।।८।।

दशत्योरग्नओजीति षोडशाऽनुष्टुभो मताः।
सोमं राजानमित्येषा वैश्वदेवी ततः परा।
आङ्गिरसी ततः शिष्टा आग्नेय्यस्तु चतुर्दश ।।

श्लोकार्थ=अग्न ओजिष्ठ० इन दो दशतियों में १६ ऋचा हैं। अनुष्टुप्-छन्द है। और १० वीं दशति की पहली (सोमं रा०) के विश्वेदेवाः तथा उससे अगली (इत०) के अङ्गिरस् देवता हैं। शेष १४ का अग्नि देवता है।।

अथ नवमी दशतिस्तत्र प्रथमायाः—गय ऋषिः। अग्निर्देवताऽनुष्टुप्छन्दः ।।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
८१—अग्न ओजिष्ठमा भर द्युम्नमस्मभ्यमध्रिगो।
१ २ ३ १ २र ३ १ ३ १ २ ३ १ २
प्र नो राये पनीयसे रत्सि वाजाय पन्थाम् ।।१।।

भावार्थः—(अध्रिगो) हे रोक गतिवाले (अग्ने) परमात्मन् ! वा भौतिक ! (ओजिष्ठम्) अतिबल (द्युम्नम्) प्रकाशमान विद्यासुवर्णादि धन (अस्मभ्यम्) हमारे लिए (आ-भर) प्राप्त करा और (नः) हमको (पनीयसे, वाजाय) श्रेष्ठ अन्न और (राये) धन के लिए (पन्थाम्) मार्ग (प्र, रत्सि) जतला ।।

तात्पर्य यह है कि साक्षात् अग्नि के सुव्यवहार और आग्नेय तेज के धर्त्ता

लोगों और परमात्मा के साहाय्य से विद्या, धन, बल, अन्न आदि की प्राप्ति करनी चाहिए।

निघण्टु २।६॥ २।१० इत्यादि के प्रमाण और ऋग्वेद ५।१०।१ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥१॥

अथ द्वितीयायाः वामदेवो भरद्वाजो बार्हस्पत्यो वा ऋषिः।
अग्निर्देवताऽनुष्टुप्छन्दः॥

१ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
८२—यदि वीरो अनु ष्यादग्निमिन्धीत मर्त्यः।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २
आजुह्वद्धव्यमानुषक् शर्म भक्षीत दैव्यम् ॥२॥

भावार्थः—(यदि, मर्त्यः, अग्निम्, इन्धीत) यदि, मनुष्य, परमात्मा का ध्यान करे (अनु) और फिर (आनुषक्) निरन्तर (आजुह्वत्) आत्मसमर्पण करे [तो] (वीरः, स्यात्) वीर हो जावे और (दैव्यम्, शर्म, भक्षीत) दिव्य, मोक्षानन्द को भोगे ॥

भौतिक पक्ष में—(यदि, मर्त्यः, अग्निम्, इन्धीत) यदि, मनुष्य, अग्नि को प्रदीप्त करे (अनु) और फिर (आनुषक्) निरन्तर (आजुह्वत्) हवन किया करे [तो] (वीरः, स्यात्) वीर, हो जावे और (दैव्यं, शर्म, भक्षीत) दिव्य सुख, भोगे ॥२॥

अथ तृतीयायाः—भारद्वाज ऋषिः। अग्निर्देवताऽनुष्टुप्छन्दः॥

३१ २ ३१ २ ३२उ ३१ २र
८३—त्वेषस्ते धूम ऋण्वति दिवि सं छुक्र आ ततः।
२३ २उ ३ २उ ३१ २ ३ १ २
सूरो न हि द्युता त्वं कृपा पावक रोचसे ॥३॥

भावार्थः—(पावक) शोधकाग्ने ! (ते, त्वेषः) तुझ प्रदीप्त हुए का (शुक्रः) शुद्धिकारक (धूमः) धुआं (दिवि, आततः, सन्) आकाश में, फैला हुआ (ऋण्वति) [मेघरूप में] परिणत हो जाता है (हि) निश्चय (त्वम्) तू (सूरो, न) सूर्य, सा (कृपा, द्युता) समर्थ दीप्ति के साथ (रोचसे) प्रकाश करता है ॥

तात्पर्य यह है कि अग्नि में होम करने से उसका शुद्ध धुआं आकाश में मेघ बनता है और जगत् को शुद्ध जल वर्षा कर शुद्ध अन्नादि उत्पन्न कर शुद्ध बुद्धयादि

द्वारा उपकृत करता है। अग्नि का प्रकाश सामर्थ्ययुक्त है तथा सूर्यवत् चमकने वाला है ॥

(ध्यान रहे कि जो बातें कोटिशः वर्ष वेद के प्रकाश को व्यतीत हो जाने से सामान्य प्रतीत होती हैं वे सृष्टि और वेद के प्रारम्भ समय में विना वेद के बहुत दुर्ज्ञेय थीं ॥)

ऐसा ही पाठ ऋग्वेद ६ । २ । ६ में भी है ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः —भरद्वाज ऋषिः। अग्निर्देवताऽनुष्टुप्छन्दः ॥

१ २र३१ २र ३ १ २र
८४—त्वं हि क्षैतवद्यशोऽग्ने मित्रो न पत्यसे ।
१ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २र
त्वं विचर्षणे श्रवो वसो पुष्टिं न पुष्यसि ॥४॥

भावार्थः—(अग्ने) अग्ने ! (त्वम्) तू (क्षैतवत्, यशः) पृथिवी के हितकारी, अणुयुक्त, जल का (पत्यसे) ईशिता वर्षाने वाला है। (विचर्षणे, वसो !) दृष्टि के सहायक ! और ८ वसुओं में एक ! (त्वम्) तू (हि) ही (मित्रो, न) मित्र के समान (श्रवः) अन्न [खेती] को (पुष्टिं, न) पुष्टि सी (पुष्यसि) बढ़ाता है ॥

पूर्व मन्त्र में जो अग्नि के धूम का आकाश में जाकर मेघादि परिणाम कहा था उसी का स्पष्ट इस मन्त्र में किया है कि —अग्नि ही पृथिवी के हितकारी परमाणुयुक्त जल को वरसाकर, मित्र के तुल्य, खेती को पुष्ट करता है ॥

निघण्टु १।१२॥ २।२१॥ ३।११॥ २।७ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद (६।२।१) में भी ऐसा ही पाठ है ॥४॥

अथ पञ्चम्याः मुक्तवाहा द्वित ऋषिः । अग्निर्देवताऽनुष्टुप्छन्दः ॥

३ २ ३ १ २ ३२ ३ १ २ ३ १ २
८५—प्रातरग्निः पुरुप्रियो विशः स्तवेतातिथिः ।
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २
विश्वे यस्मिन्नमर्त्ये हव्यं मर्तास इन्धते ॥५॥

भावार्थः—(विश्वे, मर्तासः, विशः) समस्त, मरणधर्मी, मनुष्य (यस्मिन्, अमर्त्ये) जिस, अमर अग्नि में (हव्यम्, इन्धते) होम करते हैं वा करें, वह (पुरुप्रियः) बहुतों का प्यारा इष्ट साधक (अतिथिः) सदा गमनशील (अग्निः) अग्नि (स्तवेत) वर्णित किया जाये ।

परमात्मा की आज्ञा है कि पूर्व दो मन्त्रों में कहे फल की प्राप्ति के लिये समस्त मनुष्यों को प्रातः ही उठकर होम तथा मन्त्रों से अग्नि का वर्णन करना चाहिए। यह अग्नि अमर देव है और सब मनुष्य उसकी अपेक्षा मरणधर्मी हैं ॥

निघण्टु २। ३ तथा ऋग्वेद (५।१८।१) के उत्तरार्ध में जो अन्तर है वह संस्कृतभाष्य में देखिये ॥५॥

अथ षष्ठ्याः—वसूयव आत्रेया ऋषयः। अग्निर्देवताऽनुष्टुप्छन्दः ॥

१ २९ ३ २३ १२ ३१२
८६—यद्वाहिष्ठं तदग्नये बृहदर्च विभावसो।
१ २ ३ २३ २३ ३ १ २
महिषीव त्वद्रयिस्त्वद्वाजा उदीरते ॥६॥

भावार्थः—हे मनुष्य ! तू (यत्, बृहत्, वाहिष्ठम्) जो, बड़ा, वाही से वाही द्रव्य है (तत्) उसे (विभावसो, अग्नये, अर्च) प्रकाश से बसे हुए, अग्नि में, होम कर। [ऐसा करने से] (महिषीव, त्वत्, रयिः) बहुत सा, तेरा, धन और (त्वत् वाजाः, उदीरते) तेरे, अनाज, उपजते हैं ॥

निघण्टु ३। ३ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद (५।२५।७) में भी ऐसा ही पाठ है ॥६॥

अथ सप्तम्याः—गोपवनः सप्तवध्रिर्वा ऋषिः। अग्निर्देवताऽनुष्टुप्छन्दः ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
८७—विशोविशो वो अतिथिं वाजयन्तः पुरुप्रियम्।
३ २ ३ २३ १२ ३२ ३२ ३ १ २
अग्निं वो दुर्यं वचः स्तुषे शूषस्य मन्मभिः ॥७॥

भावार्थः—(वाजयन्तः) हे अन्नाभिलाषी पुरुषो ! (वः) तुम्हारे (विशोविशः) मनुष्यमात्र के (पुरुप्रियम्) अति हितकारी (अतिथिम्) निरन्तर गति वाले (शूषस्य, दुर्यम्) सुख के, धाम (अग्निम्) अग्नि की (मन्मभिः) मन्त्रात्मक (वचः) वचनों से (वः) तुम्हारे लिये (स्तुषे) प्रशंसा करता हूँ ॥

अर्थात् परमात्मा का उपदेश है कि हे मनुष्यो ! यदि अन्न धन धान्यादि चाहते हो तो मनुष्यमात्र के हितकर, निरन्तर गतिशील, सुख के घर, अग्नि अर्थात् आहवनीयादि भौतिक वा मुझ परमात्मा के गुण जानो। मैं तुम्हें वेदमन्त्रों से बताता हूँ ॥

निघण्टु ३।४॥ ३।६ ॥ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद (८।७४।१) में भी ऐसा ही पाठ है ॥७॥

अथाष्टम्याः—पुरुरात्रेय ऋषिः । अग्निर्देवताऽनुष्टुप्छन्दः ॥

३ २३ ३ २ ३ १ २र ३२ ३ १२
८८—बृहद् वयो हि भानवेऽर्चा देवायाग्नये ।
२ ३ १ २र ३ १ २ ३ २ ३२
यं मित्रन्न प्रशस्तये मर्त्तासो दधिरे पुरः ॥८॥

भावार्थः – परमात्मा उपदेश करता है कि हे मनुष्य तू (यम्, मित्रं, न) जिसका, मित्र के, समान (प्रशस्तये) स्तुति के लिये (मर्त्तासः) मनुष्य लोग (पुरः, दधिरे) मुख्यतः ध्यान करते हैं । उस (भानवे, देवाय, अग्नये) प्रकाशमान, देव, परमात्मा के लिये (हि) निश्चय (बृहत्, वयः, अर्च) बड़ी, आयु, अर्पित कर ॥

भौतिक पक्ष में हे मनुष्य ! तू (यम्, मित्रं न) जिसे, मित्र के, समान (मर्त्तासः) मनुष्य लोग (प्रशस्तये) वेदोक्त वर्णन के लिये (पुरः, दधिरे) आगे स्थापित करते हैं । उस (भानवे, देवाय, अग्नये) प्रकाशयुक्त, देव, अग्नि के लिये (हि) निश्चय (बृहत्) बड़े-बड़े (वयः) स्थालीपाकादि अन्न (अर्च) चढ़ावें ॥

सुगन्ध मिष्ट पुष्ट इत्यादि उत्तम अन्नों को घृतादि से पाक करके बड़े भारी हवन करो और साथ में वेदोक्त वर्णन करते जाओ । जिससे पूर्व प्रतिपादित वृष्ट्यादि द्वारा उपकार हो ॥

निघण्टु २ । ७ । का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ (ऋग्वेद ५।१६।१) में भी ऐसा ही पाठ है ॥८॥

अथ नवम्याः गोपवन ऋषिः । अग्निर्देवताऽनुष्टुप्छन्दः ॥

१२ ३१ २३ १ २३ १ २र
८९—अगन्म वृत्रहन्तमं ज्येष्ठमग्निमानवम् ।
१ २ ३१ २ ३ २ ३१२ ३ १२
यः स्म श्रुतर्वन्नार्क्ष्ये बृहदनीक इध्यते ॥९॥

भावार्थः – (यः) जो परमात्मा (आर्क्षे) नक्षत्र सम्बन्धी (बृहदनीके) बड़े समूह में और (श्रुतर्वन्) विख्यात किरण वाले सूर्य में (इध्यते स्म) प्रकाश कर रहा है । उस (वृत्रहन्तमम्) दुष्टविनाशक (आनवम्) मनुष्य हितकारी (ज्येष्ठम्) महान् (अग्निम्) ज्योतिःप्रद को (अगन्म) जानो ॥

भौतिक पक्ष में—(यः) जो अग्नि (श्रुतर्वन्) सूर्य तथा (आर्क्षे, बृहदनीके) नक्षत्र सम्बन्धी, बड़े समूह में (इध्यते स्म) प्रकाश कर रहा है । उस (वृत्रहन्तमम्) मेघविदारक शत्रुविध्वंसक (ज्येष्ठम्) बड़े (आनवम्) मनुष्यों के हितकर (अग्निम्) अग्नि को (अगन्म) जानो ॥

परमात्मा का उपदेश है कि अग्नि ही सूर्य्यादि नक्षत्रमण्डलों को प्रकाशित कर रहा है। और सूर्य्य रूप से मेघ वर्षाता तथा वायु आदि की शुद्धि द्वारा मनुष्यों का हित करता है सो जानिये। सायणाचार्य ने गोपवनादि का इतिहास व्याख्यात किया है सो मूल से विरुद्ध है।

निघण्टु २। ३ आदि के प्रमाण तथा ऋ० ८। ७४। ४ में जो पाठभेद है, वह संस्कृतभाष्य में देखिये ॥९॥

अथ दशम्याः—वामदेवः कश्यपो वा मारीचो मनुर्वा वैवस्वत उभौ वा ऋषयः। अग्निर्देवताऽनुष्टुप्छन्दः ॥

३ १ २१ ३ १ २ ३ २ ३१ २ ३ १ २
९०—जातः परेण धर्मणा यत्सवृद्भिः सहाभुवः।
३ २' ३ १२ ३ २ ३ २ ३ १ २१ ३ २
पिता यत्कश्यपस्याग्निः श्रद्धा माता मनुः कविः ॥१०॥

भावार्थः—(यत्) जो (अग्निः) अग्नि (कश्यपस्य) सूर्य का (पिता) कारण वा जनक है वही (यत्) जब [कार्यावस्था में] (सवृद्भिः) सहवर्ति ऋत्विजों के (सह) साथ (परेण) श्रेष्ठ (धर्मणा) धर्म यज्ञ से (जातः, अभुवः) उत्पन्न, होता है तब (श्रद्धा) सत्य का धर्त्ता (मनुः) मननशील (कविः) मेधावी पुरुष [उस अग्नि की] (माता) माता के तुल्य जन्मदाता होता है ॥

यह एक विचित्र बात है कि जिस कारणरूप अग्नि से महान् तेजस्वी सूर्य पुत्र जन्मता है, और जो अग्नि इस कारण सूर्य का पिता कहा जा सकता है वही अग्नि, कार्यरूप में परिणत होने से यज्ञ में ऋत्विजों के साथ होकर उत्पन्न होता है, तब अग्न्याधान करने वाले मेधावी मननशील पुरुष का पुत्र हो जाता है, और वह पुरुष उस अग्नि को जन्म देने वाला होने से माता के तुल्य हो जाता है ॥

निघं० १।१२॥ ३।१०॥ ३।१५॥ महाभाष्य अ० २ ॥ उणादि १।१० के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

पं० ज्वालाप्रसाद भार्गव ने अपने भाष्य में "घर्मशब्द यज्ञनाम है निघं० ३। १७" ऐसा लिखा है। परन्तु निघण्टु के तृतीय पाद सत्रहवें खण्ड में धर्म शब्द है, घर्म नहीं। वास्तव में इन्होंने निघण्टु तो देखा नहीं केवल सत्यव्रत सामश्रमी जी की टिप्पणी में देखकर ज्यों का त्यों उद्धृत कर दिया है। सामश्रमी जी ने लेखभ्रम से ध का घ समझा होगा। भला इस प्रकार के पुरुष भाष्यकार बनें तब वेद वा धर्म रसातल को न पहुंचे तो क्या हो ॥१०॥

यह नवमी दशति पूर्ण हुई ॥९॥

अथ दशमी दशतिस्तत्र प्रथमायाः—अग्निस्तापस ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । अनुष्टुप्छन्दः ॥

२ ३ १ २ ३ १२ ३ २३ १ २
९१—सोमं राजानं वरुणमग्निमन्वारभामहे ।
३ २६ ३ १२ ३ १ २ ३ २३ १२
आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणञ्च बृहस्पतिम् ॥१॥

भावार्थः— हम (**आदित्यम्**) प्रकृति से उत्पन्न (**अग्निम्**) अग्नि (**वरुणम्**) जल और (**राजानम्**) प्रकाशमान (**सूर्यम्**) सूर्य को तथा (**विष्णुम्**) व्यापक (**ब्रह्माणम्**) जगत्कर्त्ता (**बृहस्पतिम्**) परमात्मा को (**च**) भी (**अनु-आ-रभामहे**) सत्कृत करते हैं ॥१॥

जब हम होम करते हैं तो अग्नि जल सूर्यादि आदित्यमण्डल को अपने अनुकूल करते हैं तथा परमात्मा की आज्ञा के पालने से उसे भी प्रसन्न करते हैं ॥१॥

अथ द्वितीयायाः--वामदेव ऋषिः । अङ्गिरसो देवताः । अनुष्टुप्छन्दः ॥

३२ ३२ ३ १ २ ३२ ३ १ २८
९२—इत एत उदारुहन् दिवः पृष्ठान्या रुहन् ।
१ ३२३ १२ ३१ २८
प्र भूर्जयो यथा पथो द्यामङ्गिरसो ययुः ॥२॥

भावार्थः पूर्व मन्त्र में जो होम से समस्त देवों की अनुकूलता कही है उस की रीति इस मन्त्र में वर्णित की गई है कि —(**यथा**) जिस प्रकार (**भूः**) पृथिवी के (**जयः**) जीतने वाले (**पथः**) मार्गों को (**उदारुहन्**) उभर कर चलते हैं, तद्वत् (**एते**) ये (**अंगिरसः**) अग्निकुण्ड से उठे अङ्गारे वा लपटें (**इतः**) इस पृथिवी लोक से (**दिवः**) आकाश के (**पृष्ठानि**) पीठों को (**आरुहन्**) चढ़ते और (**द्याम्**) द्युलोक को (**प्र, ययुः**) जाते हैं ॥

अर्थात् जिस प्रकार भूमण्डल के विजयी लोग उन्नत होकर चलते हैं, इसी प्रकार अग्नि में होम किये हुए उत्तम सुगन्ध मिष्ट पुष्ट रोगनाशकादि द्रव्यों सहित अंगारे वा लपटें जब आकाश तल के ऊपर चढ़ते और द्युलोक में पहुंचते हैं तो सूर्य्यादि द्युलोकस्थ देवों की अनुकूलता कराते और उससे परमात्मा की आज्ञा का पालन होता है इससे परमात्मा की सत्कृति भी होती है । जैसा कि पूर्व मन्त्र में कहा था ॥

पं० ज्वालाप्रसाद भार्गव [आगरा] ने इस मन्त्र के व्याख्यान में इतनी भूल की हैं—१—'एते' इस प्रथमान्त पद को पदपाठ के विरुद्ध 'एत' ऐसा क्रियापाद लिखा ॥ २—'भू, जयः' इन दो पदों को भी पदपाठ के विरुद्ध 'भूर्जया, उ' इस प्रकार विश्लिष्ट

करके 'उ' का अर्थ 'समष्टिमूर्त्ति की पूजा प्रतिष्ठारूप मार्ग' से किया है। जो प्रमाणरहित और निर्मूल है। तथा (धाम्) का अर्थ 'महानारायणलोकम्' किया है। यह इनका महानारायण शब्द निज का है जो किसी अन्य संस्कृतसाहित्यकारादि ने प्रयुक्त नहीं किया ॥

सायणाचार्य ने भी इसमें कई भूलें की हैं। 'भूः, जयः' इन दो पदों को 'भूर्जयः' ऐसा भृज्जति धातु का एक प्रयोग माना है। जो पदपाठ के विरुद्ध है। इसकी विरुद्धता को श्री सत्यव्रतसामश्रमी जी ने भी अपनी टिप्पणी में लिखा है कि "यह व्याख्यान ठीक नहीं क्योंकि पदकार ने भूः, जयः ऐसा दो पदों का विश्लेष किया है। जो कि भृज्जति धातु से भूर्जयः बनाने पर सम्भव नहीं और न फिर दो पदों के अधीन स्वर ही सम्भव है। विवरणकार तो—'भू पृथिवी को जो महावीरानुष्ठान से जीतते हैं, वे ऐसा कहते हैं" सामश्रमी जी ने भी विवरणकार और सायण के दोष बताकर निर्दोष क्या अर्थ है, यह नहीं लिखा। अस्तु यहाँ भूः यह षष्ठ्यर्थ में प्रथमा तथा जि धातु को छान्दस तुक् आगम के अभाव से जयः यह प्रथमा का बहुवचन समझना चाहिए। 'पथो' में सायणाचार्य और ज्वालाप्रसाद जी ने 'पथा, उ' ऐसा विश्लेष भी पदपाठ के विरुद्ध ही किया हैं ॥२॥

अथ तृतीयायाः—कश्यपोमितो देवलो वा विवरणमते च वामदेव ऋषिः। अग्निर्देवताऽनुष्टुप्छन्दः ॥

३ १ २ ३२ ३ १२ ३ १ २
६३—राये अग्ने महे त्वा दानाय समिधीमहि।
१ २ ३ २ ३१ २३ १२ ३ १ २ ३ २
ईडिष्वा हि महे वृषन् द्यावा होत्राय पृथिवी ॥३॥

भावार्थः—(अग्ने) अग्ने ! (महे, राये) महाधन धान्यादि के लाभार्थ (त्वा) तुझको (दानाय) हव्य देने के लिए (समिधीमहि) हम प्रदीप्त करते हैं। (वृषन्) वृष्टि के हेतो ! (द्यावा) आकाश (हि) और (पृथिवी) भूमि पर (महे, होत्राय) भारी, होम के लिए (ईडिष्व) हम वर्णन करते हैं ॥

अर्थात् धनधान्यादि महालाभों के लिये मनुष्यों को हव्य होमना चाहिये और होम के लिये समिधों में अग्नि को प्रदीप्त करते हुए उसका वर्णन करना चाहिए ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—भार्गहुतिः सोमो वा ऋषिः। अग्निर्देवताऽनुष्टुप्छन्दः ॥

२ २ ३ २३ १ ३ २ ३ २उ ३ २३ २
६४—दधन्वे वा यदीमनु वोचद् ब्रह्मेति वेरु तत्।
२३ १ २ ३ १ २ ३२ ३१ २
परि विश्वानि काव्या नेमिश्चक्रमिवाभुवत् ॥४॥

भावार्थः—(ब्रह्म) वेद को (वोचत्) बोलना [होता] (वा) निश्चय करके (यत्) जिस [हव्यादि] को (ईम्, अनु) इस अग्नि को, लक्ष्य करके (दधन्वे) धारण करता है [अध्वर्यु] । (तद्) उस [हव्य] को (इति) ऐसी रीति से धारण करना चाहिये [जिससे वह अग्नि] (वेः, उ) व्याप्त हो जावे । तथा (विश्वानि) समस्त (काव्या) ऋत्विजों के दिये हव्यों को (परि, अभुवत्) सब ओर से घेर लेवे । दृष्टान्त —(नेमिः) रथ के पहिये की पुट्ठी [परिधि] (चक्रमिव) पहिये को जैसे ॥

अर्थात् जब होता वेदमन्त्र पढ़ता और अध्वर्यु अग्नि में हव्य चढ़ाता है तब इस प्रकार चढ़ाना चाहिये कि चारों ओर काष्ठों में प्रज्वलित अग्नि रहे जैसे कि रथ के पहिये की पुट्ठी रहती है और बीच में हव्य छोड़ा जावे जिससे तत्काल अग्नि उस में व्याप्त सके और द्युलोक को ले जा सके ॥

यहाँ आग्नेय पर्व के प्रकरण से अग्नि पद की अनुवृत्ति है।

निघं० ४।२ इत्यादि के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद २।५।३ में "ब्रह्मोति" के स्थान में "ब्रह्म" और "अभुवत्" के स्थान में "अभवत्" इतना पाठभेद है ॥४॥

अथ पञ्चम्याः —पायुर्ऋषिः । अग्निर्देवताऽनुष्टुप्छन्दः ॥

१ २ ३ १२३ १२ ३ २ ३ २३ १२
९५—प्रत्यग्ने हरसा हरः शृणाहि विश्वतस्परि ।
३ १२ ३२३ ३३क २र ३क २र
यातुधानस्य रक्षसो बलं न्युब्जवीर्यम् ॥५॥

भावार्थः –(अग्ने) अग्ने ! वा परमात्मन् ! (यातुधानस्य) दुष्ट दस्यु वा रोगादि के (हरः) हरने वाले (बलम्) बल को (हरसा) अपने तेज से (विश्वतः) चारों ओर (परि) फैले हुए को (प्रति, शृणाहि) नष्ट कर और (रक्षसः) दस्यु वा रोगादि के(वीर्यम्)पराक्रम को (न्युब्ज) निःशेष करके भग्न कर ॥

अर्थात् परमात्मा की कृपा और अग्नि के होम और अस्त्रादि प्रयोग से सर्व दुष्ट दोष रोग दस्यु आदि का नाश हो सकता है । इसलिये मनुष्यों को मन्त्रोक्त अनुष्ठान करना चाहिये ॥

निघण्टु १।१७॥ २।१२ के प्रमाण और ऋग्वेद १०।८७।२५ में जो पाठान्तर है वह संस्कृतभाष्य में देखिये ॥५॥

अथ षष्ठ्याः—प्रस्कण्व ऋषिः । अग्निर्देवताऽनुष्टुप्छन्दः ॥

१२ ३ १२ ३२ ३१ २ ३ २ ३२
९६—त्वमग्ने वसूंरिह रुद्राँ आदित्याँ उत ।
१ २ ३२उ ३ १२ ३१२
यजा स्वध्वरञ्जनं मनुजातं घृतप्रुषम् ॥६॥

भावार्थः—(अग्ने) अग्ने ! (त्वम्) तू (वसून्) ८ वसुओं (रुद्रान्) ११ रुद्रों (उत) और (आदित्यान्) १२ आदित्यों तथा (घृतप्रुषम्) पवन और (स्वध्वरम्) प्रजापति इन ३३ देवों और (मनुजातम्) ईश्वरसृष्टिगत (जगम्) प्राणिमात्र को (इह) इस यज्ञ में (यज) अनुकूल और संगत [ठीक] कर ।।

अर्थात् अग्नि में होम करने से ३३ देवगणों की अनुकूलता होती है इसलिये नित्य होम करना चाहिये ।।

ईश्वर पक्ष में—(अग्ने) हे परमात्मन् ! (त्वम्) आप (इह) इस संसार में (वसून्) २४ वर्षावधि ब्रह्मचर्य के अनुष्ठानी, (रुद्रान्) ४४ वर्षावधि ब्रह्मचर्य्यानुष्ठानी (उत) और (आदित्यान्) ४८ वर्षावधि ब्रह्मचर्य्यानुष्ठानी पुरुषों तथा (स्वध्वरम्) भले प्रकार यज्ञानुष्ठानी (घृतप्रुषम्) घृतसेचक (मनुजातम्) मनुष्य और (जनम्) प्राणिमात्र को (यज) संगत कीजिये ।।

निघण्टु १।१२ इत्यादि के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।। ऋग्वेद १।४५।१ में भी ऐसा ही पाठ है ।।

ऊपर लिखे शतपथ में इस प्रकार ३३ देवताओं के नाम बताये हैं कि ८-वसु-अग्नि-पृथ्वी वायु अन्तरिक्ष आदित्य द्यौ चन्द्र और नक्षत्र, ११ रुद्र–प्राण अपान उदान समान व्यान नाग कूर्म कृकल देवदत्त और धनञ्जय और ११वां आत्मा,१२ आदित्य वर्ष के १२ नाम, यह सब पदार्थ देवता हैं । पूर्वोक्त ८ पदार्थ वसु इसलिये हैं कि (एतेषु हीदं सर्वं वसु हितम्) इनमें ही यह सब सुवर्णादि धन रखा है (एते हीदं सर्वं वासयन्ते) ये ही सब [जगत्] को वसाते हैं [इससे यह भी सूचित है कि सूर्यादि लोकों में भी वसतियां हैं] पूर्वोक्त ११ पदार्थ रुद्र इसलिये हैं कि –(यदास्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्रुद्रा०) जब मनुष्यदेह से ये प्राणादि ११ रुद्र निकलते हैं तब इष्ट मित्र सम्बन्धियों को रोदन कराते हैं, बस रोदन कराने से रुद्र का नाम पड़ा । पूर्वोक्त संवत्सर के १२ मास आदित्य इसलिये हैं कि (एते हीदं-सर्वमाददाना यन्ति०) ये चैत्रादि द्वादश मास ही सब जगत् को लिये हुए जाते हैं इससे आदित्य नाम पड़ा । यह जो शतपथ ब्राह्मण के वचन का अर्थ है । विशेष यह है कि क्या सप्ताह के ७ वार;वा अहोरात्र के दो भाग दिन और रात्रि, वा शुक्लपक्ष कृष्णपक्ष ये सब भी तो जगत् को लिये हुए जाते हैं ये भी आदित्य हो सकते हैं ? नहीं,इसमें सूक्ष्म विचार है । कल्पना करो कि आज रविवार है और ७ दिन पश्चात् यही रविवार फिर आवेगा परन्तु यह ठीक आगामी रविवार के तुल्य नहीं हो सकता क्योंकि इस रविवार में ४ तिथि है आगामी में ११ तिथि होगी जैसी और जितनी चन्द्र वा सूर्यादि की ठण्ड और उष्णतादि आज है आगामी की ११ तिथि रविवार को

न होगी क्योंकि चन्द्रकला न्यून हो जायगी, दक्षिणायन के कारण सूर्य की उष्णता घट जायेगी, इत्यादि अनेक कारणों से आज का रविवार आगामी रविवारों की अपेक्षा बहुत ही भेद रखता है। इसी प्रकार आज के दिन और रात्रि के सदृश आगामी दिन रात्रि भी सूर्यादि की उष्णता आदि के भेद से कभी नहीं हो सकते हैं। तथा यही भेद वर्त्तमान शुक्ल कृष्ण पक्ष के सदृश आगामी शुक्लपक्ष कृष्णपक्ष की तुल्यता में भी बाधक है। इस लिये चैत्रादि १२ मास ही पुनः-पुनः लौटकर अधिकांश में तुल्यावस्था से आते हैं। जैसे—सास्मिन्पौर्णमासीति। अष्टाध्यायी ४।२।२० इस सूत्र के अनुसार चित्रा नक्षत्रयुक्त पौर्णमासी जिस मास की वह चैत्र, विशाखानक्षत्रयुक्त पौर्णमासी जिस मास की वह वैशाख, इसी प्रकार ज्येष्ठ न०—ज्येष्ठ, आषाढा नक्ष० आषाढ, श्रवण न० - श्रावण, भाद्रपदा, न० भाद्रपद, अश्विनी०—आश्विन, कृत्तिका०—कात्तिक, मृगशिर० मार्गशिर, पुष्य न० पौष, मघा० माघ और फल्गुनी०—फाल्गुन ॥

बस, जिस नक्षत्र से युक्त जिस मास की पौर्णमासी इस वर्ष है प्रायः उसी नक्षत्र के लगभग सहस्रों वर्ष से उस-उस मास की पौर्णमासी होती रही है। और सौर मास की रीति से संक्रान्तिमास १२—मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनुः, मकर, कुम्भ और मीन ये १२ संक्रान्ति भी इस वर्ष के समान सब वर्षों में हुई और होंगी। इस कारण १ वर्ष के १२ सौर वा चान्द्र मास ही आवित्य हो सकते हैं, अन्य कालविभाग नहीं॥

इस प्रकार शाकल्य ऋषि से याज्ञवल्क्य जो कहते हैं कि ३३ देवता कौन-से है। ८ वसु ११ रुद्र १२ आदित्य ये ३१ हुए। इन्द्र और प्रजापति ये मिलकर ३३ हुए। इन्द्र किसे कहते हैं ? स्तनयित्नु अर्थात् बिजुली को। प्रजापति कौन-सा है ? यज्ञ प्रजापति है। प्रजापति क्या है ? पशु ही प्रजापति हैं क्योंकि प्रजा का पालन इन्हीं से होता है॥

इति दशमी दशति ॥ १० ॥

एकादशदशत्यां पु--रुत्वेति दश चोर्ध्वगाहः।
ततो दशत्यां ककुभः प्रमहीत्यष्ट कीर्त्तिताः ॥१॥
जज्ञानः पावमानी स्यादुतस्येत्यदितेः स्तुतिः।
शिष्टाः षोडश चाग्नेय्यः समाख्या छन्दिणो यथा॥२॥

अथैकादशी दशतिस्तत्र प्रथमाया: —दीर्घतमा ऋषि: । अग्निर्देवता । उष्णिक्छन्द: ॥

३१ २ ३ १ २ ३ १२ ३ १२ ३२
९७—पुरु त्वा दाशिवां वोचेऽरिरग्ने तव स्विदा ।
३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २
तोदस्येव शरण आ महस्य ॥१॥

श्लोकार्थ:—पुरु त्वा० इत्यादि १० ऋचा की ११ वीं दशति है। इसका उष्णिक् छन्द है। फिर १२ वीं दशति में ८ ऋचा ककुम् छन्द की हैं॥१॥ जिनमें "अज्ञान:०" इत्यादि ११ वीं दशति की ५ वीं ऋचा का पवमान देवता तथा उससे अगली "उतस्या०" इत्यादि ६ ठी का अदिति देवता है। शेष दोनों दशतियों की १६ ऋचाओं का अग्नि देवता है। आग्नेय काण्ड में अन्य देवता वाली ऋचा हैं तो इस पर्व का नाम आग्नेय पर्व कैसे ठीक रहा ? इस शंका का समाधान यह है कि जिस प्रकार "छत्रवाले जाते हैं" ऐसा कहने से उन छत्रवालों के सहचरी विना छत्र-वाले भी कोई जाते हों, तब भी मुख्य ही को ध्यान में रखकर "छत्रवाले कहे जाते हैं" ऐसा कहने से विना छत्रवालों का भी ग्रहण हो जाता है। इसी प्रकार यहां मुख्य करके अग्नि का वर्णन है उसके साथ में प्रकरण में आवश्यकता पड़ने से अन्यदेवता का वर्णन आ जाना भी इस पर्व के आग्नेयता का बाधक समझना चाहिये।

भावार्थ:—(अग्ने) परमात्मन् ! (दाशिवान्) भक्तिरूप भेंट देने वाला (अरि:) सेवक मैं (तव, स्विद् आ) तुम्हारे, ही (शरणे) आश्रय में (त्वा) आपकी (पुरु) बहुत (वोचे) स्तुति करता हूं। दृष्टान्त—(महस्य) बड़े (तोदस्येव) शिक्षक के आश्रय में जैसे [शिष्य] (आ) पादपूर्त्यर्थ है।

जिस प्रकार शिष्य वा भृत्य लोग लोक में अपने शिक्षक गुरु वा स्वामी की आज्ञा में रहते हैं इसी प्रकार परमात्माकी आज्ञा आश्या और स्तुति में लगना चाहिये।

भौतिक पक्ष में—(अग्ने) अग्ने ! (दाशिवान्) हव्य देने वाला (अरि:) अग्निहोत्र सेवन करने वाला मैं (तव, स्वित्-आ) तेरे ही (शरणे) गृह अर्थात् अग्न्यागार नामक शाला (रूम) में (त्वा) तुझे (पुरु, वोचे) बहुत वर्णित करूं। जिस प्रकार (महस्य) बड़े (तोदस्येव) शिक्षक के [आश्रय में शिष्य] ॥

जिस प्रकार शिक्षक के सेवन में शिष्यादि प्रवृत्त रहते हैं तभी विद्यादि प्राप्त कर सकते हैं, इसी प्रकार अग्न्यागार नामक भवन में हवन तथा मन्त्र द्वारा अग्नि का वर्णन करने वाले ही लोग सर्व रोगादि शत्रुओं से बचते और सुख-समृद्धि को पा सकते हैं ॥

अष्टाध्यायी ६।१।१२।। निघण्टु ३।५।।३।४।। निरुक्त ५।७ इत्यादि के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।। पं० ज्वालाप्रसाद भार्गव (आगरा) ने "स्विदा" के "स्वित्, आ" इन दो पदों को "स्विदा" यह एक पद किया और परिचरणार्थक स्वद धातु से बनाया है। सो स्वद से स्विदा नहीं बनता और पदपाठ के विरुद्ध होने से भी अमान्य है ।।

अथ द्वितीयायाः—विश्वामित्र ऋषिः । अग्निर्देवता । विराडुष्णिक् छन्दः ।।

१ २र ३ २उ ३ १२ ३२
८८—प्र होत्रे पूर्व्यं वचोऽग्नये भरता बृहत् ।
३ १ २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २
विपां ज्योतींषि बिभ्रते न वेधसे ।।२।।

भावार्थः—(वेधसे, न) जगत्कर्त्ता के, समान (विपां, ज्योतींषि, बिभ्रते) मेधावी लोगों में, ज्योतियों को, धारण करते हुए (होत्रे) हवनकर्त्ता (अग्नये) अग्नि के लिये (पूर्व्यम्) सनातन [वैदिक] (बृहत्) बड़ा (वचः) सूक्त (प्र, भरत) उच्चारित करो ।

जिस प्रकार जगत्स्रष्टा परमात्मा तेजों का धारण करता है इसी प्रकार किसी अंश में अग्नि भी तेज का धारण करता है। और जिस प्रकार परमात्मा कर्म-फल पहुँचाता है, इस प्रकार अग्नि भी हुत द्रव्यों को मेघ-मण्डलादि में पहुँचाता है। और जिस प्रकार उपासकों में [तेजोऽसि तेजो मयि धेहि० यजुः १६।६ के अनुसार] विशेष करके परमात्मा तेज का धारण करता है, इसी प्रकार अग्नि भी मेधावी होत्रादि ऋत्विजों में विशेष तेज का धारण करता है। और साधारणतया जिस प्रकार परमात्मा चराऽचर में तेज का धारण करा रहा है, इसी प्रकार घट पटादि परमात्मा के वर्णन और अग्नि के वर्णन को करो। जिससे दोनों के गुणकीर्तन से दोनों लोक का सुख प्राप्त करने में सुगमता हो ।।

निघण्टु ३।१५ आदि के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये। ऋग्वेद ३।१०।५ में भी ऐसा पाठ है ।।२।।

अथ तृतीयस्याः—गोतम ऋषिः । अग्निर्देवता । उष्णिक्छन्दः ।।

२ ३ १ २ ३ १ २३ १२
८९—अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यहो ।
३ १ २ ३ २ ३ १२
अस्मे देहि जातवेदो महि श्रवः ।।३।।

भावार्थः—(जातवेदः) प्रकाश से बुद्धितत्त्व के फैलाने वाले ! (अग्ने) प्रसिद्ध (गोमतः, वाजस्य) गवादिधनयुक्त, अन्न का (ईशानः) स्वामी [तू है] । (महसः, यह्वो) बल की, सन्तान ! (अस्मे) हमारे लिये (महि) बड़ा (श्रवः) धन वा अन्न (हिः) दे ॥

अग्नि से ही प्रकाश होता और प्रकाश से घट पटादि द्रव्यों पर बुद्धि तत्त्व फैलता है । इसलिए अग्नि जातवेदा है । और अग्नि में होम द्वारा जलवायु की शुद्धि, वृष्टि, धन-धान्य तृणादि की वृद्धि होकर पशु भी बढ़ते है । इसलिये अग्नि, पशुओं तथा धन धान्यादि का स्वामी है । और इसी कारणवश इन पदार्थों का दाता भी है । वह अग्नि बल की सन्तान इसलिये कहा गया है कि बल से क्रिया और क्रिया से अग्नि की उत्पत्ति है ॥

निघण्टु २ । ६ ॥ २ । २ ॥ २ । ७ ॥ २ । १० के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० १ । ७९ । ४ में "धेहि" इतना अन्तर है ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः —विश्वामित्र ऋषिः । अग्निर्देवता । उष्णिक् छन्दः ॥

२ ३ १ २ ३२ ३१ २ ३१ २
१००—अग्ने यजिष्ठो अध्वरे देवान् देवयते यज ।
१ २ ३ १ २र३ २ ३ १ २
होता मन्द्रो वि राजस्यति स्रिधः ॥४॥

भावार्थः—(अग्ने) प्रकाशस्वरूप ! (यजिष्ठः) अत्यन्त यज्ञ करने वाले (होता) फलदाता (मन्द्रः) आनन्ददायक [आप] (देवयते) देव की कामना वाले के लिये (देवान्) इन्द्रियों को (यज) संगत कराइये और (स्रिधः) कामादि शत्रुओं को (अति) उल्लंघित करके (अध्वरे) उपासना में (वि-राजसि) विशेष प्रकाश कीजिये ॥

भौतिक पक्ष में—(अग्ने) अग्ने ! (यजिष्ठः) अत्यन्त यज्ञकारक (होता) हव्य पहुँचाने वाला (मन्द्रः) सुखदायक [तू] (देवयते) वाय्वादि देवों की कामना वाले के लिए (देवान्) वायु आदि को (यज) संगत करता और (अध्वरे) यज्ञ में (स्रिधः) रोगादि शत्रुओं को (अति) उल्लंघित करके (विराजसि) विशेष प्रकाश करता है ॥

अर्थात् गतिशील होने से अग्नि उस-उस पदार्थ का उस-उस स्थान में पहुँचाने वाला, वाय्वादि को ठीक करने वाला, उसकी विद्या रखने वालों को सुखदायक और विरोधी दुष्ट रोग वा दस्यु आदि को नष्ट करके प्रकाशित होने वाला है ॥ ऋग्वेद ३।१०।७ में भी ऐसा ही पाठ है ॥४॥

अथ पञ्चम्याः त्रित ऋषिः । पवमानो देवता । उष्णिक्छन्दः ॥

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ २
१०१—जज्ञाना सप्त मातृभिर्मेधामाशासत श्रिये ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
अयं ध्रुवो रयीणाञ्चिकेतदा ॥

भावार्थः—(अयम्) यह पवन (सप्त) सात (मातृभिः) माताओं से (जज्ञानः) जन्मा हुआ (श्रिये) लक्ष्मी के लिए (मेधाम्) स्थिर बुद्धि को (आशासत) सर्वथा चाहता है और तब (ध्रुवः) स्थिरात्मा [यजमान] (रयीणाम्) धनों के (आ, चिकेतत्) विचार को, सब ओर से कर सकता है ।

अर्थात् मुण्डकोपनिषद् के लेखानुसार जो अग्नि में सात प्रकार की लपटें उठती हैं, उनसे एक ऐसा वायु [पवमान]शोधने वाला उत्पन्न होता है जो कि हवन-जन्य गुणों को लिये हुए मनुष्यों के बुद्धितत्त्व की शुद्धि चाहता है। अर्थात् उससे बुद्धितत्त्व में भी पवित्रता उत्पन्न होती है, जिसकी सहायता से व्यवसायात्मक मनुष्य विद्या सुवर्णादि धन लक्ष्मी के लिए उसके विषय में स्थिर विचार कर सकता है। जड़ पवन में इच्छा का व्यवहार इसी प्रकार जानो जिस प्रकार "दीवार गिरना चाहती है" इत्यादि में होता है ॥

मुण्डकोपनिषद् १।२।४॥ अष्टाध्यायी ३।४।७३॥ १।४।७६ के प्रमाण तथा ऋग्वेद ६।१०२।४ में जितना पाठ में अन्तर है वह संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद के पाठ में "मेधाम्" की जगह वेधाम् पाठ है और सायणाचार्य ने "मेधां" का भी वही अर्थ किया जो कि वह ऋग्वेद में "वेधां" का कर चुके थे, यह विचारणीय है। तथा उन्होंने"आशासत"इस पद की जगह"अनुशासत"का अर्थ किया है। और उनकी देखा-देखी पं० ज्वालाप्रसाद भार्गव ने भी "मक्षिका स्थाने मक्षिका" ही घसीटा है ॥

यद्यपि इस मन्त्र का अग्नि देवता मानकर भी व्याख्या ठीक हो सकती थी, परन्तु परम्परा के अनुरोध से हमने भी पवनपरक व्याख्या की है ॥५॥

अथ षष्ठ्याः - इरिमिठिर्ऋषिः । अदितिर्देवता । उष्णिक्छन्दः ॥

३ २ उ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २
१०२—उत स्या नो दिवा मतिरदितिरूत्यागमत् ।
१ २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २
सा शान्ताता मयस्करदपस्रिधः ॥६॥

भावार्थः—(उत) और (स्या) वह (मतिः) पूर्वोक्त मेधा (अदितिः)

[अखण्डिता स्थिर अदिति नाम देवता] बुद्धि (नः) हमको (ऊत्या) रक्षा के साथ (दिवा) जागरणकाल में (आगमत्) प्राप्त होवे और (सा) वह (शन्ताता) सुखकरी (मयः) सुख को (करद्) करे और (स्रिधः) शत्रुओं को (अप) दूर करे ॥

यह स्पष्ट है कि सर्व सुखों का मूल शुद्धमति ही है। बुद्धि के अभाव में सब दुःख घेरते हैं तथा शत्रु दबाते हैं। इसलिये पूर्वोक्त मन्त्र में कहे प्रकार से अग्नि की ७ प्रकार की लपटों से शुद्ध हुआ पवन हमारी बुद्धियों को पवित्र करे जिससे वह बुद्धि सुख दे और शत्रुओं को दूर करे, रक्षा हो। इससे और गायत्री मन्त्र द्वारा जो सब आर्य लोग बुद्धि ही को वेदानुसार सर्व बलों और सर्व धनों से अधिक मानकर मांगते हैं, यह वैदिकधर्म के उच्चभाव का कारण समझना चाहिए॥ ऋ० ८।१८।७ शन्तातिः ॥६॥

अथ सप्तम्याःविश्वमना वैयश्व ऋषिः। अग्निर्देवता। उष्णिक्छन्दः ॥

१०३—ईडिष्वाहि प्रतीव्यां३ यजस्व जातवेदसम्।
चरिष्णुधूममगृभीतशोचिषम् ॥७॥

भावार्थः—हे मनुष्य ! तू (चरिष्णुधूमम्) धुवां उठने वाले (अगृभीतशोचिषम्) जिसकी लपटें पकड़ी नहीं जा सकतीं (प्रतीव्याम्) सामने ही आने वाले (जातवेदसम्) अग्नि को (हि) निश्चय (ईडिष्व) वर्णित कर और (यजस्व) यज्ञ वा शिल्प में प्रयुक्त कर ॥ ऋग्वेद ८।२३।१ में भी ॥७॥

अथाऽष्टम्याः पूर्ववदृषिः देवता छन्दांसि ॥

१०४—न तस्य मायया च न रिपुरीशीत मर्त्यः।
यो अग्नये ददाश हव्यदातये ॥८॥

भावार्थः—(यः, मर्त्यः) जो, मनुष्य (हव्यदातये) देवों को हव्य देने के लिए (अग्नये, ददाश) अग्नि को, देता है (तस्य, रिपुः) उसका, शत्रु (मायया, चन) छल बुद्धि से, भी (न, ईशीत) नहीं, कुछ कर सकता ॥

प्रायः निर्बुद्धि मनुष्यों को शत्रु लोग छल से जीत लेते हैं, परन्तु जो मनुष्य पूर्वोक्त प्रकार से अग्नि में होम करके उससे उत्पन्न हुए शुद्ध पवन के सेवन से शुद्ध-

बुद्धियुक्त हो जाता है, वह दुष्ट शत्रुओं के वश में नहीं आता। यह उपदेश है। ऋ० ८। २३। १५ में "हव्यदातिभिः" इतना पाठभेद है ॥८॥

अथ नवम्याः—भरद्वाज ऋषिः। अग्निर्देवता। उष्णिक् छन्दः ॥

२३ १ २ ३२ ३२ ३१२ ३क २र
१०५—अप त्यं वृजिनं रिपुं स्तेनमग्ने दुराध्यम्।
१ २ ३ २ ३ २
दविष्ठमस्य सत्पते कृधी सुगम् ॥९॥

भावार्थः—(सत्पते) सज्जनों के पालयितः! (अग्ने) परमात्मन्! (त्यम्) उस (वृजिनम्) पापी (रिपुम्) शत्रु (स्तेनम्) और चोर (दुराध्यम्) दुःखदायी को (दविष्ठम्) अत्यन्त दूर (अप, अस्य) फेंकिये अथवा (सुगम्) सीधा (कृधि) कर दीजिए ॥

भौतिक पक्ष में—(सत्पते) याज्ञिकों के रक्षक! (अग्ने) अग्ने! (त्यम्, वृजिनम्, रिपुं, स्तेनं, दुराध्यम्) उस, पापी, शत्रु चोर और दुःखदायी को (दविष्ठम्) अत्यन्त दूर (अप, अस्य) फेंक अथवा (सुगं, कृधि) सीधा, कर ॥

आग्नेय प्रयोग से मन्त्रोक्त दुष्ट हो सकते हैं। अथवा भय से सुपथगामी हो जाते हैं ॥ ऋ० (६।५१।१३) ॥९॥

अथ दशम्याः विश्वमना ऋषिः। अग्निर्देवता। उष्णिक्छन्दः ॥

३क २र ३ १२ ३ १ २
१०६—श्रुष्ट्यग्ने नवस्य मे स्तोमस्य वीर विश्पते।
२ ३ २ ३ १२ ३ १ २
नि मायिनस्तपसा रक्षसो दह ॥१०॥

इत्येकादशी दशतिः ॥११॥

भावार्थः—(वीर) हे अनन्त पराक्रम! (विश्पते) हे प्रजानाथ! (अग्ने) परमात्मन् (मे) मेरे (नवस्य) अभी अनुष्ठान किये हुए (स्तोमस्य) सूक्त पाठ के (मायिनः) छलिया शत्रु (रक्षसः) राक्षसों को (तपसा) अपने तेज से (नि) नितराम् (दह) भस्म कीजिये ॥

भौतिक पक्ष में—(वीर) तीव्रता युक्त! (विश्पते) प्रजा के रक्षक! (अग्ने) अग्ने! (मे, नवस्य, स्तोमस्य) मेरे, सम्प्रति के, स्तोत्र के (मायिनः) छलिया शत्रु (रक्षसः) राक्षसों को (तपसा, नि, दह) तेज से, निरा, भस्म कर ॥

अर्थात् वेदपाठ तथा वैदिकधर्म प्रचार के रोकने वाले विघ्नरूप शत्रु अग्नि का भले प्रकार उपयोग लेने से निरे भस्म अर्थात् निवृत्त हो जाते हैं ॥

निरुक्त ६।१२ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ८।२३।१४ में "तपसा" के स्थान में "तपुषा" पाठ है ॥१०॥

यह ग्यारहवीं दशति पूर्ण हुई ॥११॥

अथ द्वादशी दशतिस्तत्र प्रथमायाः—प्रयोगो भार्गव ऋषिः । अग्निर्देवता । ककुप्छन्दः ॥

१०७—प्र मंहिष्ठाय गायत ऋताव्ने बृहते शुक्रशोचिषे ।
उपस्तुतासो अग्नये ॥१॥

भावार्थः—(उपस्तुतासः) हे वर्णनीय अग्नि के समीपवर्त्तियो ! तुम (मंहिष्ठाय) अत्यन्त बड़े और बढ़ाने वाले (ऋताव्ने) यज्ञ वाले (बृहते, शुक्रशोचिषे) बड़े शुक्र तेज वाले (अग्नये) अग्नि वा परमेश्वर के लिये (प्र, गायत) [उसके गुण] वर्णन करो ॥

अष्टाध्यायी ५।३।५६॥ ६।४।५८ ॥ निघं० ५।४ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ८।१३।८ में भी ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—सोभरिर्ऋषिः । अग्निर्देवता । ककुप्छन्दः ॥

१०८—प्र सो अग्ने तवोतिभिः सुवीराभिस्तरति वाजकर्मभिः ।
यस्य त्वं सख्यमाविथ ॥२॥

भावार्थः—(अग्ने) हे परमात्मन् ! वा भौतिक ! (त्वं, यस्य, सख्यम्, आविथ) तू, जिसकी, अनुकूलता को प्राप्त होता है (सः) वह (तव) तेरी (वाजकर्मभिः) बलकारिणी (सुवीराभिः) सुन्दर वीर्यवती (ऊतिभिः) रक्षाओं से (प्र तरति) पार हो जाता है ॥

जो पुरुष परमात्मा के मित्र हैं वे उसकी ओर से हुई बलवती पराक्रम और पुरुषार्थवती रक्षाओं से सब दुःखों से पार हो जाते हैं, उन्हें आत्मिक बल की सहायता मिलती है । और जो लोग अग्नि के मित्र हैं अर्थात् अनुकूलसेवी हैं वे भी ॥

निघं० २।६ का प्रमाण और ऋग्वेद ८।१६।३० का अन्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ तृतीयस्याः—पूर्ववदृष्यादयः ॥

१०९ —तं गूर्धया स्वर्णरं देवासो देवमरतिं दधन्विरे ।
देवत्रा हव्यमूहिषे ॥३॥

भावार्थः—(**देवत्रा**) वाय्वादि देवों के समीप (**हव्यम्**) हव्य पदार्थ (**ऊहिषे**) पहुँचाने के लिये [जिस] (**स्वः, नरम्**) सुख के नेता (**अरतिम्**) गतिशील (**देवम्**) [अग्नि] देव को (**देवासः**) ऋत्विज् लोग (**दधन्विरे**) धरते, प्राप्त होते हैं (**तम्**) उसको [तू भी] (**गूर्धय**) वर्णित कर ॥

ईश्वर पक्ष में—(**देवत्रा**) दिव्य शरीरों में (**हव्यम्**) भोक्तव्य कर्म फल (**ऊहिषे**) पहुँचाने के लिये, जिस (**स्वः, नरम्**) सुख के, नेता (**अरतिम्**) व्यापक (**देवम्**) परमात्मा देव को (**देवासः**) विद्वान् योगीजन (**दधन्विरे**) प्राप्त होते हैं (**तम्**) उसको तू भी (**गूर्धय**) वर्णित कर ।

अष्टाध्यायी ६।३।१३७॥ ५।४।५६॥ ३।४।६॥ निघं० २।१४ के प्रमाण तथा सायणाचार्य और ज्वालाप्रसाद जी की भूल संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ८।१९।१ में "ओहिरे" पाठ है ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—प्रयोगो भार्गव ऋषिः सौभरिः कण्वो वा । अग्निर्देवता । ककुप्छन्दः ॥

११०—मा नो हृणीथा अतिथिं वसुरग्निः पुरुप्रशस्त एषः ।
यः सुहोता स्वध्वरः ॥४॥

भावार्थः—(**यः, एषः, अग्निः**) जो, उक्त दोनों प्रकार का, अग्नि (**नः**) हमारा (**स्वध्वरः**) यज्ञ सुधारने वाला (**पुरुप्रशस्तः**) बहुतों से प्रशंसित (**सुहोता**) शोभन होता (**वसुः**) बसाने वाला है, उस (**अतिथिम्**) व्याप्तिशील को कोई (**मा, हृणीथाः**) न, हरे ॥

अर्थात् कर्मयज्ञ वा ज्ञानयज्ञ में कोई विघ्नकारक न हो । यह प्रार्थना है ॥ ऋ० ८।१०३।१२ में हृणीतामतिथिः ऐसा पाठ है ॥४॥

अथ पञ्चम्याः—सौभरिर्ऋषिः । अग्निर्देवता । ककुप्छन्दः ॥

१११—भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रा रातिः भद्रो अध्वरः ।
भद्रा उत प्रशस्तयः ॥५॥

भावार्थः—किन्तु (**सुभग**) हे शोभनैश्वर्य ! परमेश्वर ! आपकी कृपा से (**नः**) हमारा (**आहुतः**) सब प्रकार ध्यान किया वा हवन किया (**अग्निः**) परमात्मा वा भौतिक (**भद्रः**) कल्याणकृत् हो । हमारा (**रातिः**) दान (**भद्रा**)

उत्तम हो। हमारा (**अध्वरः, भद्रः**) यज्ञ, सुफल हो। (**उत**) और हमारी (**प्रशस्तयः**) स्तुतियें (**भद्राः**) उत्तम हों॥ ऋ० ८।१६।१६।५॥

अथ षष्ठ्याः—पूर्ववदृष्यादयः॥

११२—यजिष्ठं त्वा ववृमहे देवं देवत्रा होतारममर्त्यम्॥
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्॥६॥

भावार्थः—हम लोग (**देवत्रा**) देवताओं में (**यजिष्ठम्**) अत्यन्त यज्ञकर्त्ता (**होतारम्**) होता (**अमर्त्यम्**) अमर (**अस्य, यज्ञस्य, सुक्तुम्**) इस, कर्मयज्ञ और ज्ञानयज्ञ के, सुधारने वाले (**त्वा**) तुझ (**देवम्**) अग्नि वा परमात्मा को (**ववृमहे**) वरते हैं॥

अग्नि में दी हुई आहुति वायु आदि सब देवों को प्राप्त हो जाती है इसलिये देवतों में से अग्नि का वरण करना मानो सबका वरण हो गया। तथा परमात्मा के वरण में भी सबका वरण आ जाने से उसी का वरण उत्तम है॥ ऋग्वेद ८।१६।३।६॥

अथ सप्तम्याः—ऋष्याद्याः पूर्ववत्॥

११३—तदग्ने द्युम्नमाभर यत्सासाहासदने कञ्चिदत्रिणम्।
मन्युं जनस्य दूढ्यम्॥७॥

भावार्थ।—(**अग्ने**) हे परमात्मन्! वा भौतिक! (**तत्**) ऐसा (**द्युम्नम्**) अन्न (**आभर**) प्राप्त करावे (**यत्**) जो (**आसदने**) योगाभ्यासादि में (**कञ्चित्**) अवर्णनीय (**दूढ्यम्**) बुद्धि को बिगाड़ने वाले (**जनस्य, अत्रिणम्**) अभ्यासी जन के, भक्षक शत्रु (**मन्युम्**) क्रोध को (**सासाहू**) दबावे॥

अग्नि में होम कर शुद्ध जल पवन के योग से उत्पन्न हुए वा परमेश्वर की कृपा से पवित्र हुए आहार करने से मनुष्यों का क्रोध रूप दुर्जेय शत्रु दबता है। आहार की शुद्धि से सात्त्विक बल बढ़ता और तामस बल घटता है॥

निघण्टु ४।२॥ निरुक्त ५।५॥ उणादि ४।६८ के प्रमाण तथा ऋ० ६।१६।१५ का अन्तर संस्कृतभाष्य में देखिये॥७॥

अथाऽष्टम्याः—विश्वमना ऋषिः। अग्निर्देवता। ककुप्छन्दः॥

११४—यद्वा उ विश्पतिः शितः सुप्रीतो मनुषो विशे।
विश्वेदग्निः प्रति रक्षांसि सेधति॥८॥

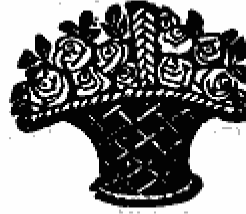
इति द्वादशी दशतिः॥१२॥

भावार्थः—(यद्, वै, उ) जब कि (विश्पतिः) प्रजा का पालक (शितः) तीव्र सूक्ष्म (अग्निः) परमेश्वर वा भौतिक (मनुषः) मनुष्य के (विशे) घर में (सुप्रीतः) भक्ति वा हवन से अनुकूलता को प्राप्त होता है (इत्) तभी (विश्वा) सब (रक्षांसि) विघ्नकारक दुष्ट रोग दस्यु आदि राक्षसों को (प्रति, सेधति) निवृत्त करता है ॥

परमात्मा को प्रसन्नता और अग्नि में भले प्रकार होमकरणादि से ही मनुष्य के घर की पवित्रता होती है और समस्त दुष्ट रोग दस्यु आदि राक्षसों का निवारण होता है। पं० ज्वालाप्रसाद भार्गव ने मूल में शुद्ध "सेधति" पाठ होते हुए भी सायणभाष्य के अशुद्ध मुद्रित "सिसेधति" को देखकर यह वैसा ही व्याख्यान कर दिया। तथा "प्रकट होता है" यह निर्मूल अर्थ किया है। ऋ० ८। २३। १३ में "विधि" इतना अन्तर है ॥८॥

यह बारहवीं दशति और आग्नेय पर्व वा काण्ड समाप्त हुआ।

कण्ववंशावतंस श्रीमान् स्वामी हजारीलाल के पुत्र, परीक्षितगढ़
(जिला मेरठ) निवासी तुलसीराम स्वामी के निर्मित
सामवेदभाष्य में प्रथमाध्याय समाप्त हुआ ॥१॥



ओ३म्

अथ द्वितीयाध्यायः ॥

अब इन्द्र का पर्व वा काण्ड है। यह ३ अध्यायों का दूसरा पर्व है। इस ३५२ ऋचाओं वाले पर्व में विशेष करके इन्द्र का वर्णन है। इसीलिये इन्द्र शब्द के अर्थ का विचार किया जाता है। जिससे पर्वमात्र का प्रकरणानुकूल अर्थ ठीक समझा जावे। वेदों के शब्दों का मुख्य करके यौगिक अर्थ होता है। इदि परमैश्वर्ये धातु को उणादि २।२८ सूत्र (संस्कृत में देखिये) लग कर इन्द्र पद बना है। सबसे अधिक ऐश्वर्य परमेश्वर का है, इसलिए इन्द्र शब्द का मुख्यार्थ परमेश्वर है। और अग्नि वायु इन्द्रादि पद जो वेद में सम्बोधनयुक्त आते हैं उसका कारण यह भी है कि इन शब्दों का मुख्यार्थ परमात्मा है। तब गौणार्थ देवताविषयक में भी वे अग्न्यादि पद उसी स्वरूप से रहते हैं। तत्पश्चात् इन्द्र पद का अर्थ निरुक्त के मतानुसार देवताविशेष भी है। और वह हमारी समझ में अन्तरिक्षस्थ विद्युद्विशेष है। यह बात प्रसिद्ध है कि इन्द्र नामक मेघशत्रु और वर्षा का कर्त्ता कोई देवता है। सो यदि इन्द्र पद से केवल सूर्य ही अर्थ लिया जाए तो प्रायः सूर्य छिपने पर रात्रि में भी वर्षा हुआ करती है इस लिये दोष आता है। और निरुक्तकार ने १० अध्याय के आरम्भ में अधिकार किया है कि "अब मध्यस्थान देवताओं का वर्णन है"। और "उनमें वायु प्रथम आनेवाला है" ऐसा आरम्भ करके उसी अध्याय के ८वें खण्ड में इन्द्र पद का व्याख्यान किया है। इससे जाना जाता है कि इन्द्र मध्यस्थान अर्थात् अन्तरिक्ष स्थान देवता है। और निरुक्तकार ने १२वें अध्याय के आरम्भ में "अब द्युस्थान देवताओं का वर्णन है" ऐसा अधिकार करके उसी अध्याय के १४।१५ खण्डों में द्युस्थान सूर्य की व्याख्या की है। इससे सूर्य को द्युस्थान देवता माना है। यद्यपि सब लोकों में सूर्यलोक का ऐश्वर्य परम होने से परमैश्वर्य्यार्थ को लेकर सूर्य्य भी इन्द्र कहाता है, परन्तु इन्द्र पदवाच्य कोई अन्य भी देवता इस निरुक्त से पाया जाता है जो कि अन्तरिक्ष स्थान देवता है। आकाशमण्डल में पृथिवी से ऊपर और द्युलोक (जिसका वर्णन अध्याय १ मन्त्र ५१ पर किया है) के नीचे वायु है। वही वायु सूर्य्य की किरणों की गरमी से संयुक्त होकर एक प्रकार के विद्युत् को उत्पन्न करता है, वही इन्द्र कहाता है। इसी अभिप्राय से निघण्टु ५।२ में वायु से चतुर्थ इन्द्र पद है। यद्यपि वायु और सूर्य

का ही विकार इन्द्र भी है परन्तु उसे वायु ही वा सूर्य ही नहीं कह सकते । जिस प्रकार दुग्ध का विकार दधि है, परन्तु दधि को ही दुग्ध वा दुग्ध को ही दधि भी नहीं कह सकते । अब निरुक्तकार की लिखी हुई इन्द्र पद की निरुक्तियाँ सुनिये—"इरा को विदीर्ण करने, वा देने, वा दारण करने वा धारण करने से, अथवा इन्दु के लिये दौड़ने, वा इन्दु में रमने से अथवा भूतों को प्रकाशित करने से इन्द्र कहाता है । जो इसे प्राणों से प्रकाशित करते हैं इससे इन्द्र (जीवात्मा) है, ऐसा जाना जाता है । आग्रयण कहते हैं कि इदं करण से अर्थात् उसकी चमक पर अंगुली उठाने से इन्द्र कहाता है । औपमन्यव कहते हैं कि इदं दर्शन अर्थात् 'यह दीखता है' कहने से इन्द्र है । अथवा परमैश्वर्यार्थ इदि धातु से है । अथवा इत् शत्रुओं का फाड़ने वा भगाने वाला वा याज्ञिकों का आदर कराने वाला होने से इन्द्र है ।" इत्यादि निरुक्त १०।८। इस पर निरुक्त के टीकाकार देवराज यज्वा कहते हैं कि "इरा अन्न को कहते हैं उसके सम्बन्ध से वा हेतुहेतुकत्व से बल लक्षित होता है । और बल की लक्षणा से उसका आधारभूत मेघ समझना चाहिये" । इससे यह तात्पर्य निकला कि मेघ का धारण वा दारण करने से ऊपर कहा विद्युद्विशेष इन्द्र कहाता है । तथा इन्द्र शब्द के राजा आदि भी अर्थ हैं । किसी अंग में माण्डलिक राजों की अपेक्षा चक्रवर्ती राजा परमैश्वर्यवान् होते हैं । इन्द्रियमिन्द्र० (अष्टाध्यायी ५।२।९३) के अनुसार शब्द की निरुक्ति ५ हैं । इन्द्र जीवात्मा का चिह्न होने वा उससे सेवित होने से इन्द्रिय शब्द बना है । अथवा इन्द्र परमात्मा से दृष्ट वा सृष्ट वा दत्त होने से भी इन्द्रिय कहाता है । इस प्रकार जीवात्मा और परमात्मा भी इन्द्र पद के अर्थ हैं । निरुक्त के प्रमाणों का मूल पाठ संस्कृतभाष्य में देखिये ।

इस प्रकार इन्द्र पद का जो-जो अर्थ इस ऐन्द्र पर्व के जिस-जिस मन्त्र में सम्भव हो वह-वह वहाँ-वहाँ ग्रहण करना चाहिए । किन्तु वहाँ-वहाँ फिर से यह व्याख्या न लिखी जायेगी ॥

द्वितीयाऽध्याये प्रथमा दशतिः

दशत्यां तद्व इत्यैन्द्र्यो गायत्र्यो दश कीर्तिताः ॥१॥

तत्र

प्रथमायाः—शंयुर्बार्हस्पत्य ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१ २ ३१ २र ३ २ ३ १ २
११५—तद्वो गाय सुते सचा पुरुहूताय सत्वने ।
२उ ३ २ ३ १ २
शं यद्गवे न शाकिने ॥१॥

भावार्थ—हे स्तोता ! तू (**यत्**) जो (**गवे**) पृथ्वी के (**न**) समान (**वः**) तुझ (**सुते**) स्तोता के लिये (**शम्**) सुखदायक हो (**तत्**) उसको (**सत्वने**) शत्रुगण को बिठा देने वाले (**शाकिने**) शक्तिमान् (**पुरुहूताय**) इन्द्र के लिये (**सचा**) साथ मिल कर (**गाय**) गा ॥

मनुष्यों को योग्य है कि शत्रुविनाशक इन्द्र अर्थात् परमेश्वर वा राजा, अथवा मेघविदारक इन्द्र अथवा अन्धकारनाशक सूर्य्य के लिये उसके गुणों का बखान मिल जुल कर करें। इन्द्र को "पुरुहूत" इसलिये कहते हैं कि वेदों के मध्य "बहुतायत से वर्णित" है, जैसा कि केवल ऋग्वेद मात्र में ही इन्द्र का सबसे अधिक वर्णन है। ऋग्वेद के मन्त्रों के आदि में अन्य सब देवतों की अपेक्षा "अग्नि" पद अधिक अर्थात् २०८ वार आया है परन्तु इन्द्र पद उससे भी अधिक २५५ वार आया है। क्योंकि इन्द्र परमैश्वर्यवान् है उसकी ईश्वरता का वर्णन अधिक आवश्यक भी है। और यह पद परमेश्वर की परमेश्वरता का वाचक भी है इसलिये वेदों में परमेश्वर का ज्ञान वर्णन आदि सबसे अधिक है। यह भी कारण है कि वेदों के द्वारा ईश्वर का ज्ञान अधिक सम्भव है ॥

अष्टाध्यायी १।२।५८॥ निघं० ३।१६॥१।१॥ निरुक्त ५।५ आदि के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ६।४५।२२॥१॥

अथ द्वितीयायाः सुभकक्ष ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्री छन्दः॥

१ २ ३१ २ ३ १ २ ३ १२ ३ १२
११६—यस्ते नूनं शतक्रतविन्द्र द्यु म्नितमो मदः।

१ २ ३१ २र
तेन नूनं मदे मदेः ॥२॥

भावार्थः—(**शतक्रतो**) हे बहुकर्मन् ! (**इन्द्र**) परमैश्वर्यवान् ! (**यः**) जो (**ते**) तेरा (**नूनम्**) निश्चय (**द्युम्नितमः**) अत्यन्त यशस्वी (**मदः**) आनन्द है (**तेन**) उस (**मदे**) आनन्द से (**नूनम्**) निश्चय [हम को भी] (**मदेः**) आनन्दित कर ॥

इन्द्र अर्थात् परमात्मा वा राजा वा सूर्य में जो अतिशयित आनन्द वा प्रकाश है उससे वह हमको भी आनन्दित वा प्रकाशित करे यह चाहते हैं ॥

निघण्टु ३।१॥ २।१॥ निरुक्त ५।५॥ अष्टाध्यायी ३।१।८५ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ८।९२।१६।२ ॥

अथ तृतीयस्याः हर्यतः प्रागाथ ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्री छन्दः॥

२ ३ १२ ३२ ३ २ ३१ २ ३ १ २
११७—गाव उप वदावटे मही यज्ञस्य रप्सुदा।

३ १ २र ३ १ २
उभा कर्णा हिरण्यया ॥३॥

भावार्थः—(गावः) हे वाचः ! (अवटे) यज्ञकुण्ड के समीप (उप-बद) [प्रकरणगत इन्द्र का] वर्णन करो जिससे (यज्ञस्य, मही, रप्सुदा) यज्ञ की, भूमि, वेदपाठ के प्रवाह वाली हो, तथा (उभा, कर्णा, हिरण्यया) [श्रोतृवर्ग के] दोनों कान, प्रकाशमय हो जावें ॥

निघण्टु १।११॥ अष्टाध्यायी ६।४।१७५ इत्यादि के प्रमाण तथा ऋग्वेद ८।७२।१२ का अन्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः श्रुतकक्ष ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

२३ १ २   ३ १ २ ३ २ ३ १२
११८—अरमश्वाय गायत श्रुतकक्षारं गवे ।
२३ १ २ ३ १ २
अरमिन्द्रस्य धाम्ने ॥४॥

भावार्थः—(श्रुतकक्ष) हे वेद को बगल में रखने वाले ! तुम (इन्द्रस्य) इन्द्र के (अश्वाय) किरण के लिए (अरम्) पर्य्याप्त (गायत) वर्णन करो और उसके (गवे) वाण वा ज्या के लिए (अरम्) पर्य्याप्त, वर्णन करो तथा उसके (धाम्ने) स्वरूप के लिए (अरम्) पर्य्याप्त वर्णन करो ॥

परमात्मा का उपदेश है कि वेद को कक्ष=बगल में रखने वालो ! तुम शिष्य पुत्रादि मिलकर इन्द्र के किरण, वाण वा ज्या और स्वरूप का पूरा वर्णन करो । इन्द्र जो कि एक प्रकार का विद्युत् है, उसके स्वरूप और उसकी ज्या जो धनुष का एक अंग है जिससे वाण छूटने पर टंकार शब्द होता है अर्थात् बिजुली की कड़क, तथा उसके वाण वा किरण अर्थात् उसकी प्रकाशधाराओं का वर्णन (बखान)करो । उसके विज्ञान से फल प्राप्त करो । वेद को बाहुमूल (बगल) में दबाने वाले से वेदानुगामी समझना चाहिये । लोक में भी प्रसिद्ध है कि जो पुस्तक का अनुगामी होता है उसको पुस्तक बगल में रखने वाला कहते हैं ॥

उणादि १।१५१ निरुक्त २।५॥ २।६ इत्यादि के प्रमाण तथा ऋग्वेद ८।९२। २५ में जो अन्तर है वह संस्कृतभाष्य में देखिये ॥४॥

अथ पञ्चम्याः ऋष्याद्याः पूर्ववत् ॥

१ २र   ३२ ३ २ ३ १ २
११९—तमिन्द्रं वाजयामसि महे वृत्राय हन्तवे ।
१ २र ३ १ २
स वृषा वृषभो भुवत् ॥५॥

भावार्थः—(महे) बड़े (वृत्राय, हन्तवे) मेघ को, गिराने के लिए, हम (तम्, इन्द्रम्) उस, इन्द्र को (वाजयामसि) बलिष्ठ करें, जिससे (सः, वृषा) वह, वर्षाने वाला (वृषभः भुवत्) वर्षाने लगे ॥

मनुष्यों को वर्षा के निमित्त इन्द्रयाग करना चाहिए। इन्द्र नामक विद्युद्विशेष को यज्ञभाग द्वारा बलिष्ठ करने से वह मेघ को वर्षाता है। वा राजा को बलिष्ठ करने से वह वृत्र दुष्ट असुरों को हनन करे ॥

अष्टाध्यायी (गणसूत्र ३।१।२५) ६।४।१५५॥ ५।३।६५॥ ७।१।३६॥ ७।१।४६॥ ३।४।६॥ निघण्टु २।६ इत्यादि के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ८।३।७।५॥

अथ षष्ठ्याः—देवजामय ऋषिकाः। इन्द्रो देवता। गायत्री छन्दः ॥

१२०—त्वमिन्द्र बलादधि सहसो जात ओजसः।
त्वं सन् वृषन् वृषेदसि ॥६॥

भावार्थः—(इन्द्र) ! हे इन्द्र (त्वम्) तू (बलात्) बल से (सहसः) दबाव से (ओजसः) धैर्य से (अधि) अधिक (जातः) प्रसिद्ध (सन्) होता हुआ (वृषन्) सेचन करने वाले ! (त्वम्) तू (वृषा, इत्, असि) सेचन करने वाला, ही है। अर्थात् तेरे समान अन्य सींचने वाला नहीं ॥

बल ओजः और सहः ये बल ही के तीन भेद हैं। राजा वा इन्द्र देव विशेष वा परमेश्वर का बल सहः और ओजः सबसे अधिक हैं और वह जल वा कामनाओं का सींचने वाला सर्वोत्तम है ॥

ऋ० १०।१५३।२ में "सन्" इतना नहीं है, शेष समान है ॥६॥

अथ सप्तम्याः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ ऋषी। इन्द्रो देवता। गायत्री छन्दः ॥

१२१—यज्ञ इन्द्रमवर्धयद्यद्भूमिं व्यवर्तयत्।
चक्राण ओपशं दिवि ॥७॥

भावार्थः—(दिवि) आकाश में (ओपशम्) फैलाव (चक्राणः) करता हुआ (यज्ञः) यज्ञ (यत्) जो (इन्द्रम्) वृष्टिकर्त्ता को (अवर्धयत्) बढ़ाता है सो (भूमिम्) पृथिवी को (व्यवर्त्तयत्) सुवृत्त करता है ॥ ऋ० ८।१४।५।७॥

अथाऽष्टम्याः —ऋष्याद्या उक्ता एव ।।

१२२—यदिन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत् ।
स्तोता मे गोसखा स्यात् ॥८॥

भावार्थः—(इन्द्र) राजन् ! वा वृष्टिकर्त्तः ! (यथा) [पूर्वमन्त्रोक्त यज्ञ से] जैसे (त्वम्) तू (एक, इत्) अकेला, ही [बढ़ता है] ऐसे (यत्) जब कि (अहम्) मैं (वस्वः) गवादि का धन का (ईशीय) स्वामी हो जाऊं [तेरी अनुकूलता से] तब (मे) मेरा (स्तोता) यज्ञानुष्ठान का ऋत्विज् विशेष (गोसखा) गवादि धनों वा पृथिवी का मित्र (स्यात्) हो ।।

इन दोनों मन्त्रों का तात्पर्य यह है कि यज्ञ से इन्द्र नामक विद्युद्विशेष का ऐश्वर्य आकाश में बढ़ता है और उससे पृथिवी का ऐश्वर्य बढ़ता है और यज्ञकर्त्ता लोग उससे गवादि धन और पृथिवी के मित्र बनते हैं तथा राजा की वृद्धि करने वाले भी गवादि तथा पृथिवी के मित्र होते हैं ।। ७।३।१०९ के वार्तिकादि का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।। ऋ० ८।१४।१।८।।

अथ नवम्याः—मेधातिथिराङ्गिरस ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ।।

१२३—पन्यं पन्यमित्सोतार आधावत मद्याय ।
सोमं वीराय शूराय ॥९॥

भावार्थः—(सोतारः) सोम के सम्पादको ! तुम (मद्याय) हर्षयोग्य (शूराय) विक्रमशील (वीराय) शौर्यवान् [इन्द्र वा राजा] के लिये (पन्यं, पन्यं, सोमम्, इत्) उत्तम, उत्तम, सोम, ही (आधावत) प्राप्त कराओ ।।

सोम एक राजा ओषधि है जिसके भले प्रकार सम्पादन करके होम करने से वृष्टिहेतु और राजादि क्षत्रियवर्ग को प्राप्त कराने से रक्षा भी भले प्रकार प्राप्त करनी चाहिये । निरुक्त ११।२ में लिखा है कि "सोम एक ओषधि का नाम है जो सुनोति धातु से बना है क्योंकि उसे निचोड़ते हैं । इसका निघण्टुसम्बन्धी व्याख्यान बहुत प्रकार का और आश्चर्य-सा है ।" इससे जाना जाता है कि सोम इस समय में ही आश्चर्य की बात नहीं प्रतीत होता किन्तु निरुक्तकार के समय में भी ।। ऋ० ८। २।२५ ।।९।।

अथ दशम्याः—काण्वः प्रियमेध ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

३१ २ ३२उ ३ २ ३ १२ ३१२
१२४—इदं वसो सुतमन्धः पिबा सुपूर्णमुदरम् ।
१ २ ३ १ २
अनाभयिन् ररिमा ते ॥१०॥

इति प्रथमा दशतिः ॥१॥

भावार्थः—(**वसो**) बसाने वाले ! (**अनाभयिन्**) भयरहित ! इन्द्र ! (**इदम्**) यह (**सुतम्**) सम्पादित (**अन्धः**) सोमाख्य अन्न (**ते**) तेरे लिये (**ररिम्**) देते हैं [उसे तुम] (**सुपूर्णम्, उदरम्**) भर पेट (**पिब**) छको ॥

पूर्वमन्त्र में कह आये हैं कि शूर वीर इन्द्र के लिये सोम पहुँचाओ । इस मन्त्र में उसके देने का वचन बताया गया है कि ऐसा कहकर देना चाहिये । इन्द्र के राजार्थ में तो स्पष्ट ही है, परन्तु देवविशेष अर्थ में उदरस्थानी अन्तरिक्ष समझना चाहिए । पं० ज्वालाप्रसाद भार्गव ने दीर्घ विधायक सूत्रों को न जानकर "पिब, आ, ररिम, आ" यह पदपाठ के विरुद्ध पदच्छेद करके व्याख्या की है । तथा "अनुदरम्" यह मूल के भी विरुद्ध व्याख्यात किया है ।

निघण्टु २।७ अष्टाध्यायी ३।४।६।। ६।३।१३७।। ऋ० ८।२।१।। १०।।

यह द्वितीयाऽध्याय में प्रथम दशति पूर्ण हुई ॥१॥

दशत्यामुद्ध इत्यैन्द्र्यो गायत्र्यो दश पूर्ववत् ॥१॥

अथ द्वितीया दशतिस्तत्र प्रथमायाः—सूतकक्षः श्रुतकक्षो वा ऋषिः ।
इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

२उ ३ २ ३ १ २ ३ १ २र
१२५—उद्घेदभिः श्रुतामघं वृषभं नर्य्यापसम् ।
१ २
अस्तारमेषि सूर्य ॥१॥

भावार्थः—(**सूर्य**) लोक विशेष ! वा परमेश्वर ! (**इत्**) ही (**श्रुतामघम्**) विख्यात ऐश्वर्य धन वाले (**वृषभम्**) वर्षा के कर्त्ता वा कामपूरक राजा (**अस्तारम्**) मेघ वा शत्रुओं के फेंकने वाले [इन्द्र वा राजा को] (**अभि, उत्, एषि**) अभ्युदययुक्त करता है ॥

इन्द्र अर्थात् देवविशेष को सूर्य, और राजा को परमात्मा ही प्रकाशित और अभ्युदित करता है ॥ ऋ० में भी ८।९३।१।१॥

अथ द्वितीयायाः—ऋष्याद्याः पूर्ववत् ॥

२३१ २१ ३१ २ ३ १ २
१२६—यदद्य कच्च वृत्रहन्नुदगा अभि सूर्य ।
२३ १२ ३ १२
सर्वं तदिन्द्र ते वशे ॥२॥

भावार्थः—(वृत्रहन्) वृत्र अर्थात् जलों को रोकने वाले मेघ वा पाप के हन्ता ! (सूर्य) लोक विशेष ! वा परमेश्वर ! (अद्य) आज [ब्राह्मदिन में] (यद् कच्च) जो कुछ है (तद्) उसको (अभि, उदगाः) अभ्युदययुक्त करता है [इस से] (सर्वं, ते, वशे) सब, तेरे, वशवर्ती हैं ॥

परमात्मा और सूर्य के प्रकाश से समस्त ब्रह्माण्डवर्ती पदार्थ प्रकाशित हैं, इस लिये वे सब उसके धारण और आकर्षण से तदधीन हैं ॥ ऋग्वेद में भी ८।९३।४२॥

अथ तृतीयायाः—भरद्वाज ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१ २र ३ २३ १ २ ३ २ ३ १ २
१२७—य आनयत् परावतः सुनीती तुर्वशं यदुम् ।
२ ३ २ ३ २३ १ २
इन्द्रः स नो युवा सखा ॥३॥

भावार्थः—(यः इन्द्रः) जो इन्द्र (परावतः) दूरवर्त्तियों को भी (यदुम्) मनुष्यों को (सुनीती) सुन्दर नीति से (तुर्वशम्) समीप (आनयत्) ले आता है (सः युवा) वह, बली (नः, सखा) हमारा, मित्र हो ॥

मनुष्यों को योग्य है कि जो बली इन्द्र अर्थात् देवविशेष वा राजा वा सूर्य वा परमेश्वर, उन मनुष्यादि को भी जो दूरवर्ती हैं वा अज्ञान में डूबे होने से दूर से हैं, वश में ले आता है वा कृपा करके उपासक बना लेता है, उसको अपना मित्र अर्थात् अनुकूल बनावें ॥

अष्टाध्यायी ७।१।३९॥ निघण्टु २।१६॥ ३।२६॥ २।३ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

सायणाचार्य ने निघण्टु की उपेक्षा करके न जाने क्यों तुर्वश और यदु नामक राजा लिख दिये, जिससे कि वेद की अपौरुषेयता के व्याघात के अतिरिक्त यह भी दोष आता है कि इतिहास ग्रन्थों में भी कहीं इन्द्र के साथ यदु और तुर्वश राजा की इस प्रकार की कथा कहीं नहीं सुनी जाती ॥ पं० ज्वालाप्रसाद जी ने प्रमाण-रहित यदु का अर्थ नररूपाऽवतार किया है ॥ ऋग्वेद में भी (६।४५।१) ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—श्रुतकक्ष ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१२८—मा न इन्द्राभ्याऽऽदिशः सूरो अक्तुष्वा यमत् ।
त्वा युजा वनेम तत् ॥४॥

भावार्थः—(इन्द्र) परमात्मन् ! वा राजन् ! वा सूर्य ! (अक्तुषु) अज्ञानकालों में वा रात्रियों में (आ-दिशः) चारों तरफ किसी दिशा की ओर से (सूरः) काम क्रोधादि शत्रु वा चौरादि वा अन्धकार (नः) हम लोगों को (मा, अभि, आयमत्) न, सामने, आवे [यदि आवे तो] (त्वा, युजा) तेरे, योग से (तत्) उस दुष्ट को (वनेम) हनन करें ॥

परमेश्वर की कृपा से काम क्रोधादि शत्रुगण प्रथम तो हम पर आक्रमण ही नहीं कर सकते । यदि करें भी तो परमात्मा की सहायता से ध्वस्त कर सकते हैं ॥ इसी प्रकार प्रथम तो राजा के प्रताप से दस्युप्रभृति दुष्ट प्रबलता ही नहीं कर सकते, यदि करें भी तो राजा की सहायता से प्रजा उनको नष्ट करें ॥ तथा सूर्य के प्रकाश में प्रथम तो अन्धकार का प्रभाव ही नहीं हो सकता, यदि कदाचित् रात्रि आदि अन्धकारकाल में कुछ प्रभाव हो भी तो सूर्य की सहायता अर्थात् उससे उत्पन्न हुए प्राण वायुजन्य दीपकादि के प्रकाश से उस अन्धकार का नाश हो सकता है ॥

निघण्टु १।७ इत्यादि के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।

ऋ० ८।९२।३१ में भी ॥४॥

अथ पञ्चम्याः मधुच्छन्दा ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१२९—एन्द्र सानसिं रयिं सजित्वानं सदासहम् ।
वर्षिष्ठमूतये भरा ॥५॥

भावार्थः (इन्द्र) परमेश्वर ! वा राजन् ! (वर्षिष्ठम्) बहुत और (सानसिम्) संभजनीय (रयिम्) धन को तथा (सदासहम्) सदा प्रहार सह सकने वाले (सजित्वानम्) साथ में विजयी [सेनासमूह] को (ऊतये) रक्षा के लिए (आ, भर) भरती करो ॥

परमेश्वर की कृपा और सहायता की अपेक्षा करते हुए राजा को प्रजा की रक्षा के लिए पुष्कल धन तथा सेना भरती करनी चाहिए ॥

उणादि ४।१०७ अष्टाध्यायी ३।२।७५ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० १।८।१ में भी ॥५॥

अथ षष्ठ्याः—ऋष्याद्याः पूर्ववत् ॥

१ २ ३१ २ ३२उ ३१२
१३०—इन्द्रं वयं महाधन इन्द्रमर्भे हवामहे ।
१२ ३१२ ३१२
युजं वृत्रेषु वज्रिणम् ॥६॥

भावार्थः—(वयम्) हम प्रजायें (महाधने) बड़ी लड़ाई में (इन्द्रम्) परमेश्वर वा राजा को (हवामहे) पुकारें तथा (अर्भे) छोटी [लड़ाई] में भी (वृत्रेषु, वज्रिणम्) रोकने वालों में, दण्डधारी (युजम्) सावधान (इन्द्रम्) ईश्वर वा राजा को [पुकारें] ॥

जहाँ अल्प वा महान् संग्राम हो वहां प्रजा को योग्य है कि दुष्ट शत्रुओं के निवारक परमात्मा वा राजा की पुकार करें ॥

"महाधन शब्द यद्यपि सङ्ग्रामवाची है तथापि यहाँ भारी धन से अभिप्राय है" इस प्रकार के सायणाचार्य के लेख पर सामश्रमी सत्यव्रत जी टिप्पणी में बूझते हैं कि "इसमें ज्ञापक क्या है ?" निघं० २।१७॥३।२॥ अष्टाध्यायी ६।१।३२॥६।१।३४॥ शतपथ ८।२।४।१० के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० १।७।५ में भी ॥६॥

अथ सप्तम्याः—त्रिशोक ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१ २ ३१२ ३१ २र ३१२
१३१—अपिबत् कद्रुवः सुतमिन्द्रः सहस्रबाह्वे ।
१२ ३ १ २
तत्राददिष्ट पौंस्यम् ॥७॥

भावार्थः—(इन्द्रः) वृष्टिकर्त्ता देव वा राजा (सहस्रबाह्वे) बहुत बाधने वाले मेघ वा शत्रु के लिए (कद्रुवः) पीतवर्ण सोमौषधि से (सुतम्) निचोड़े हुए सोमरस को (अपिबत्) पीता है (तत्र) उसमें (पौंस्यम्) पौरुष को (आददिष्ट) प्रकाशित करता है ॥

जब कि सोम के पत्ते पीले हो जावें अर्थात् पक जावें तब सोमरस निचोड़ना चाहिये । फिर उसके होम द्वारा अन्तरिक्ष स्थान इन्द्र देवविशेष को पहुँचाने से मेघ

जो असंख्य बाहु फैलाये गगनमण्डल को घेर रहा है, उसे इन्द्र गिराकर वर्षाता है, अथवा सोमादि वृक्ष वनस्पति जब तक कच्चे रहते हैं तब तक तो इन्द्र उनका रस बढ़ाता है और जब पक कर पीले [कद्रु] हो जाते हैं तब उनका रस खींच लेता है वा पी लेता है। उसी से वर्षा होती है। राजा भी पक्का सोमरस पान करके उसके बल से पुरुषार्थ करे और 'सहस्र' असंख्यात शत्रु-बाधाओं का दलन करे ॥

सायणाचार्य "कद्रु" पद से ऋषिविशेष का और विवरणकार कश्यप की स्त्री का ग्रहण करते हैं। हम कहते हैं कि निघण्टु में कद्रु पद का कुछ भी अर्थ न लिखा हो, यदि ये दोनों भाष्यकार अमरकोष धीवर्ग श्लोक १६ को भी देख लिये होते तो "पीतवर्ण=कद्रु" कहाता है, यह जान लेते। और परस्पर विवाद न होता। प्रथम तो इतिहास के प्रतिपादक समस्त अर्थाभास वेदों का अपौरुषेयत्व नष्ट करते हैं, फिर ज्वालाप्रसाद भार्गव जी की विचित्रता देखने योग्य है। वह कहते हैं कि "(इन्द्रः) परशुराम रूप परमेश्वर ने (सहस्रबाहुं) सहस्रबाहु नामक राजा के लिये (कद्रवः) कामवृक्ष देह के (सुतम्) अभिषुत क्रोध को (अपिबत्) मन में धारण किया" इत्यादि। अब विचारना चाहिये कि इनके मत में सायणाचार्य का विरोध १। और विवरणकार जो कहते हैं कि "सहस्र बहुत का नाम है [निघं० ३।१] बाहुशब्द से भी अवयव से समुदाय का सम्बन्ध होने से कर्त्ता का ग्रहण है। अर्थात् बहुत हैं कर्त्ता जिसमें उस सत्र=यज्ञविशेष का नाम सहस्रबाहु है" इत्यादि। इससे विरोध २। वेद की अपौरुषेयता का भंग ३। इन्द्र पद से परशुराम अर्थ में प्रमाण न होना ४। कद्रु पद से देह अर्थ लेने में प्रमाणरहितता ५। सुतम् का प्रकरणानुकूल निचोड़ सोम अर्थ का त्याग और निष्प्रमाण क्रोध में अर्थ लेना ६। तथा प्रकरणागत राजाद्यर्थ का त्याग ७वां दोष है॥ ऋग्वेद ८।४५।२६ में "अत्रादेदिष्ट" इतना पाठ में अन्तर है ॥७॥

अथाष्टम्याः—वसिष्ठ ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्री छन्दः॥

३ १ २ ३ २ ३ १ २र
१३२—वयमिन्द्र त्वायवोऽभि प्र नोनुमो वृषन्।
३ १ १ २
विद्धी त्वा३स्य नो वसो ॥८॥

भावार्थः—(इन्द्र) परमैश्वर्य वाले इन्द्र! वा राजन्! (वयम्) हम (त्वायवः) तेरा यजन चाहते हुए (त्वा) तेरा (अभि-प्र-नोनुमः) सब ओर से प्रशस्त वर्णन करते हैं। (वृषन्) जलों वा कामनाओं के वर्षक! (वसो) बसाने वाले! (अस्य) इसको (विद्धि) प्राप्त हो वा जान॥

अष्टाध्यायी ७।४।३५॥ ३।२।१७० के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये॥

सायणाचार्य ने "नु" पद व्याख्यात किया है परन्तु मूल में नहीं पाया जाता ॥ ऋ० १०।१३३।६ में "वयमिन्द्र त्वायवः" केवल इतनी समानता है ॥८॥

अथ नवम्याः—त्रिलोक ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१३३—आ घा ये अग्निमिन्धते स्तृणन्ति बर्हिरानुषक् ।
येषामिन्द्रो युवा सखा ॥९॥

भावार्थः—(ये) जो लोग (आ, घ) अभिमुखता से (अग्निम्, इन्धते) अग्नि को, प्रदीप्त करते हैं (येषाम्) जिनका (इन्द्रः) वृष्टिकर्त्ता (युवा) बलवान् (सखा) अनुकूल है वे (आनुषक्) क्रमपूर्वक (बर्हिः) कुशादि के आसन (स्तृणन्ति) बिछाते हैं ॥

जो लोग याज्ञिक हैं वे बीच में अग्नि सिलगाकर चारों ओर आसन बिछाय इन्द्रयाग करते हैं जिससे बलवान् वृष्टिकर्त्ता उसके अनुकूल होकर वर्षा करता है। पं० ज्वालाप्रसाद जी ने (आ, घ) इन दो अव्ययों को एक करके (आघाः) निष्पापाः, यह हंसी-योग्य व्याख्या की है ॥

निरुक्त ६·१४ में लिखा है कि "आनुषक्,यह क्रमपूर्वक का नाम है जैसा कि "स्तृणन्ति बर्हिरानुषक्, यह वेदवाक्य है" देखिये ठीक ऐसे ही मन्त्र के ऋग्वेदस्थ (८।४५।१) पाठ का निरुक्तकार ने उदाहरण दिया है ॥९॥

अथ दशम्याः—ऋष्याद्याः पूर्ववत् ॥

१३४—भिन्धि विश्वा अप द्विषः परि बाधो जही मृधः ।
वसु स्पार्हं तदाभर ॥१०॥

इति द्वितीया दशतिः ॥२॥

भावार्थः—[प्रकरणगत इन्द्र ! परमात्मन् ! राजन् ! वा देवविशेष !] (विश्वाः) सब (द्विषः) द्वेषकर्त्री और (बाधः) बाधती हुइयों को (अप, भिन्धि) छिन्न-भिन्न करो (मृधः) संग्रामों को (परि, जहि) सब ओर से, मारिये (तद्) उनका वह (स्पार्हम्) कामनायोग्य (वसु) धन (आभर) प्राप्त कराइये ॥

राजा का धर्म है कि सज्जनों की रक्षा के लिये दुष्टों की सेनाओं का छेदन-भेदन, शत्रुओं का नाश और धन को लेकर न्याय कार्य में व्यय करे ॥ इन्द्र= वृष्टिकर्त्ता का काम है कि घुमण्ड-घुमण्ड कर सामने आते मेघों की सेनाओं का छेदन-भेदन करके प्रजा के चाहे हुए उनके जल रूप धन को प्रजा को पहुँचाना ॥ सर्व दुष्टों अधार्मिकों के दमन और श्रेष्ठों की रक्षार्थ परमेश्वर से भी प्रार्थना करनी चाहिये ॥ ऋ० ८।४५।४० में भी ॥१०॥

यह द्वितीयाऽध्याय में द्वितीय दशति पूर्ण हुई ॥२॥

इहेव इत्यपीन्द्रस्य गायत्र्यो दशतौ दश ॥१॥

अथ तृतीया दशतिस्तत्र प्रथमायाः—कण्वो घौर ऋषिः । इन्द्रस्य सखायो मरुतो देवताः । गायत्री छन्दः ॥

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २र
१३५—इहेव शृण्व एषां कशा हस्तेषु यद्वदान् ।
१ २र ३ १ २
नि यामं चित्रमृञ्जते ॥१॥

भावार्थः – (**यत्**) जब कि हम दोनों (**वदान्**) बात करते हैं तब (**इहेव**) समीप ही के समान (**शृण्वः**) सुनते हैं [इससे जाना जाता है कि] (**एषाम्**) इनके (**हस्तेषु**) हाथों में (**कशाः**) वाणी हैं (**चित्रम्**) आश्चर्यकारक (**यामम्**) मार्ग को (**नि-ऋञ्जते**) नितरां सुधारता है ॥

जब हम दो आपस में वार्त्तालाप करते हैं तो अपने से भिन्न देशवर्त्ती दूसरे का शब्द हमको ऐसे सुनाई देता है जैसे कोई कान से कान लगाकर कहे । इस से जाना जाता है कि इस बोलने और सुनने के आश्चर्यजनक मार्ग की डोर वायु के हाथों में है अर्थात् वायु के अधीन बोलना, सुनना है । इन इन्द्र के सहचारी वायुओं में मैक्समूलर साहिब ने जो इस ऋचा में बलिदानादि की चर्चा की है, वह निर्मूल प्रतीत होती है क्योंकि मूलमन्त्र में इस अर्थ का वाचक कोई पद नहीं दीखता ॥

निरुक्त ६।२१ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद १।३७।३ में 'यामन्' ऐसा पाठ है ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—त्रिशोक ऋषिः । छन्दोदेवते उक्ते ॥

१३६—इम उ त्वा वि चक्षते सखाय इन्द्र सोमिनः ।
पुष्टावन्तो यथा पशुम् ॥२॥

भावार्थः—(इन्द्र) देवविशेष ! (इमे) ये पूर्व मन्त्र में कहे वायु (सोमिनः) सोम लिये हुए (सखायः) तेरे मित्र (उ) भी (त्वा) तुझे (विचक्षते) देखते हैं अर्थात् तेरा उपस्थान करते हैं। दृष्टान्त—(यथा) जैसे (पुष्टावन्तः) पोषण वाले (पशुम्) पशु को ॥

तात्पर्य यह है कि वायु इन्द्र के मित्र हैं, वे सोम की लताओं में से शोष कर तथा हवन किए हुए सोमों को लेकर इन्द्र को ऐसे उपस्थित होते हैं, जैसे पशु के पोषण करने वाले घास आदि उत्तम चारा लेकर गवादि पशुओं को उपस्थित होते हैं पशु की उपमा अपमान के योग्य नहीं है, पशु भी इन्द्र के समान जगत् के उपकारक हैं ॥

निघण्टु ३।११ आदि के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ८।४५।१६ में भी ॥२॥

अथ तृतीयस्याः—वत्सः कण्व ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१३७—समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टयः ।
समुद्रायेव सिन्धवः ॥३॥

भावार्थः (विश्वाः) सब (कृष्टयः) मनुष्यरूप (विशः) प्रजाएं (अस्य) इस [इन्द्र वा राजा वा परमेश्वर] के (मन्यवे) तेज के लिये (सम्, नमन्त) भले प्रकार झुकते हैं (समुद्रायेव, सिन्धवः) जैसे समुद्र के लिये, नदियां ॥

अर्थात् बिजुली वा राजा वा परमेश्वर का तेज सब तेजों का दबाने वाला सर्वोपरि है, इसलिये सब उसके सामने नम्र हो जाते हैं। मन्यु शब्द का अर्थ क्रोध है और क्रोध भी तेज की पराकाष्ठा है इसलिये यहां प्रकरण में मन्यु पद से तेज का ग्रहण करना चाहिये ॥ ऋ० ८।६।४ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—कुसीदो काण्व ऋषिः । इन्द्राद्या देवताः । गायत्री छन्दः ॥

१३८—देवानामिद्वो महत् तदा वृणीमहे वयम् ।
वृष्णामस्मभ्यमूतये ॥४॥

भावार्थः—(**अस्मभ्यम्**) हमारे लिये (**वृष्णाम्**) जलादि वर्षाने वाले (**देवानाम्**) इन्द्र वायु आदि देवतों की (**इत्**) जो (**महत्**) बड़ी (**अवः**) रक्षा है (**तत्**) उसको (**वयम्**) हम लोग (**ऊतये**) बचने के लिये (**आ-वृणीमहे**) स्वीकार करते हैं ॥ स्पष्ट है ॥ ऋग्वेद ८।८३।१ में भी ॥४॥

अथ पञ्चम्याः—मेधातिथिर्ऋषिः [इन्द्राऽपरनामा] ब्रह्मणस्पतिर्देवता । गायत्री छन्दः ॥

१३९—सोमानां स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते ।
कक्षीवन्तं य औशिजः ॥५॥

भावार्थः—(**ब्रह्मणस्पते**) परमेश्वर ! (**यः**) जो मैं (**औशिजः**) मेधावी विद्वान् का पुत्र हूँ [उस मुझ को] (**सोमानाम्**) सब प्रकार की सोमौषधियों का (**स्वरणम्**) सुन्दर बनाने वाला (**कक्षीवन्तम्**) शिल्पी के समान (**कृणुहि**) कीजिये ॥

अर्थात् हे परमात्मन् ! पूर्वमन्त्रोक्त इन्द्र के अनुकूल होने और वृष्टि आदि सुख के लिये कृपया जो हम लोगों में विद्वान् लोगों के शिष्य पुत्र हैं उनको शिल्पियों के समान सोमों का सुन्दर रीति से बनाने वाला कीजिये ॥

कक्षीवन्तं के आगे 'इव' और 'माम्' ये पद निरुक्तकार के मत में अध्याहृत समझने चाहियें जैसा कि यास्क मुनि कहते हैं कि "सोम का सम्पादक प्रकाशन वाला करो हे परमेश्वर ! जैसा कि शिल्पी को । जो मेधावी की सन्तान हूं । कक्षीवान् कक्ष्यवान् को और औशिज उशिज् के पुत्र को समझो, उशिज् कान्तिकर्मा से बना है और कक्ष से मनुष्यकक्ष अभिप्राय है । उस मुझको हे ब्रह्मणस्पते! सोम का सम्पादक प्रकाश वाला कीजिये ॥" ऋग्वेद १।१८।१ में 'सोमानम्' पाठ है इसलिये निरुक्त में उसी की व्याख्या है, सोमानाम् की नहीं । कक्षीवन्तम् पद की सिद्धि में व्याकरणानुसार सामान्य संज्ञा समझनी चाहिये, न कि किसी विशेष की । सायणाचार्य्य ने इसमें कक्षीवान् और औशिज का इतिहासपरक अर्थ किया है और तैत्तिरीय का पाठ उद्धृत किया है परन्तु उस पाठ में ऋषियों के कक्षीवान् आदि नामों के आने से यह किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होता कि इस वेदमन्त्र में भी कक्षीवान् वही ऋषि समझा जावे । और निरुक्तकार की व्याख्या से भी ऐसा ही अर्थ निकालना आवश्यक नहीं है । क्योंकि सामान्यवाचक कक्षीवान् से शिल्पिमात्र और उशिज् से सब किसी मेधावी सामान्य का अर्थ लिया जा सकता है ॥ ज्वालाप्रसाद जी भार्गव ने तो व्याकरण और निरुक्त दोनों से विरुद्ध अर्थ किया है । यथा—"कक्षं पापम्" इत्यादि और "सोमानम् अम्" इत्यादि ॥

निघण्टु ३ । १४ ॥ २ । ५ ॥ ३ । १५ । निरुक्त ६।१०॥ अष्टाध्यायी ४ । ४।११०॥ ५।२।६४॥ ६।१।३७॥ ८।२।१२॥ ८।३।५३ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥५॥

अथ षष्ठ्याः—श्रुतकक्ष ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१४०—बोधन्मना इदस्तु नो वृत्रहा भूर्यासुतिः ।
शृणोतु शक्र आशिषम् ॥६॥

भावार्थः—(वृत्रहा) अविद्याविनाशक (भूर्य्यासुतिः) अखण्डाऽऽनन्दस्वरूप (शक्रः) शक्तिमान् परमात्मा (नः) हमारी (आशिषम्) प्रार्थना को (शृणोतु) सुने (इत्) और (बोधन्मनाः) मन को बोध कराने वाला (अस्तु) हो ॥

अर्थात् परमात्मा हमारी पूर्व मन्त्रोक्त प्रार्थना को सुनकर हमारे मन में ज्ञान दे जिससे हम सोमों के अच्छे बनाने वाले हो जावें ॥ ऋ० ८।९३।१८ में "बोधिन्मनाः" पाठ है ॥६॥

अथ सप्तम्याः—श्यावाश्व ऋषिः । छन्दोदेवते उक्ते ॥

१४१—अद्या नो देव सवितः प्रजावत्सावीः सौभगम् ।
परा दुःष्वप्न्यं सुव ॥७॥

भावार्थः—(सवितः) सर्वोत्पादक ! (देव) परमेश्वर ! (अद्य) अब कृपया (नः) हमारे लिये (प्रजावत्) सुसन्तानयुक्त (सौभगम्) शोभन धन (सावीः) प्रेरिये दीजिये और (दुःष्वप्न्यम्) दारिद्रय को (परा, सुव) दूर कीजिये ॥

ऋ० ५ । ८२ । ४ में "अद्या" ऐसा दीर्घपाठ है ॥

अथाऽष्टम्याः—प्रगाथः काण्व ऋषिः । छन्दोदेवते उक्ते ॥

१४२—क्वा३स्य वृषभो युवा तुवीग्रीवो अनानतः ।
ब्रह्मा कस्तं सपर्यति ॥८॥

भावार्थः—(स्यः) वह (वृषभः) वर्षाने वाला (युवा) बलवान् (तुविग्रीवः) बहुत ग्रीवाओं वाला (अनानतः) नम्रता रहित [तेजस्वी इन्द्र] (क्व) कहां है ? और (कः) कौनसा (ब्रह्मा) वेदज्ञ (तम्) उसको (सपर्यति) आहुति देता है ?

इस मन्त्र में ये दो प्रश्न हैं कि इन्द्र का स्थान कहां है ? और किस प्रकार का विद्वान् यज्ञ करे ? अगले मन्त्र में दोनों प्रश्नों का उत्तर कहेंगे ।।

ज्वालाप्रसाद भार्गव जी ने (क्वा३स्य) इस प्लुत को बिना समझे (क्व, अस्य) ऐसा विश्लेष कर डाला और सायण, सत्यव्रत, पदपाठ और मूल के विरुद्ध व्याख्या कर डाली, भला जिन्हें शुद्ध पाठ का भी निश्चय नहीं वे भाष्य करने की इच्छा करते हैं ? निघण्टु ३।१। अष्टाध्यायी ६।१।१३३।। ८।२।१०० के प्रमाण तथा ऋ० ६।४।२७ में जो पाठ में भेद है वह संस्कृतभाष्य में देखिये ।।८।।

अथ नवम्याः—वत्सऋषिः । छन्दोदेवते उक्ते ।।

३ १ २३ १ २३ १ २ ३ १ २
१४३—उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम् ।
३ १ २र
धिया विप्रो अजायत ।।९।।

भावार्थः—(गिरीणाम्) मेघों के (उपह्वरे) प्रान्त में (च) और (नदीनां, संगमे) समुद्र पर [इन्द्र का स्थान है, यह प्रथम प्रश्न का उत्तर है] (धिया) जो बुद्धि से (अजायत) प्रसिद्ध होता है वह (विप्रः) विद्वान् [उस इन्द्र का यजन करता है, यह द्वितीय प्रश्न का उत्तर है] ।।

इसमें सायणाचार्य ने प्रश्नोत्तर की संगति नहीं लगाई ।। ऋ० ८।६।२८ में "संगथे" पाठ है ।।९।।

अथ दशम्याः—इरिमिठ ऋषिः । छन्दोदेवते उक्ते ।।

२ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ २
१४४—प्र सम्राजं चर्षणीनामिन्द्रं स्तोता नव्यं गीर्भिः ।
१२ ३२३ १२
नरं नृषाहं मंहिष्ठम् ।।१०।।

इति तृतीया दशतिः

इति द्वितीयप्रपाठके प्रथमाऽर्धः ।।

भावार्थः—(**चर्षणीनाम्, सम्राजम्**) मनुष्यादि के, राजा (**सव्यम्**) स्तुति योग्य (**नरम्**) नायक (**नृषाहम्**) मनुष्यों को न्याय व्यवस्था के अधीन रखने वाले (**मंहिष्ठम्**) भारी दाता (**इन्द्रम्**) परमेश्वर को (**गीर्भिः**) वेदवाणियों से (**प्र, स्तोत**) वर्णित करो ॥

निघण्टु २।३॥ ३।२० अष्टाध्यायी ३।३।६३॥ ८।३।१०६॥ ५।३।५६ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ८।१६।१ में भी ॥१०॥

यह द्वितीयाऽध्याय में तीसरी दशति और द्वितीय प्रपाठक का प्रथमार्ध समाप्त हुआ।

अपादितिदशैन्द्रिप्राया गायत्र्यः प्रकीर्त्तिताः ॥

अथ चतुर्थी दशतिस्तत्र प्रथमायाः—श्रुतकक्ष ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्री छन्दः ॥

१ २ ३ १ २ ३१२ ३१ २
१४५—अपादु शिप्रयन्धसः सुदक्षस्य प्रहोषिणः।
२ ३ २ ३ १ २
इन्दोरिन्द्रो यवाशिरः ॥१॥

भावार्थः—(**शिप्री**) शीघ्रगामी (**इन्द्रः**) इन्द्र (**सुदक्षस्य**) चतुर (**प्रहोषिणः**) होता के (**यवाशिरः**) यव के साथ पकाये (**अन्धसः**) भोज्य (**इन्दोः**) गीले सोम का (**अपात्**) पान करता है ॥

अर्थात् यज्ञकर्त्ता के दिये हुए यवमिश्रित भोज्य सोम ओषधि को त्वरायुक्त इन्द्र पान करता है ॥

ज्वालाप्रसाद भार्गव जी ने अद्भुत मनमुखी अर्थ किया है कि (शिप्री-श महानारायण। इ शक्ति। प ब्रह्माजर रुद्र। अ विष्णु) इत्यादि। निघं० ४।१॥ २।७॥ १।१२॥ उणादि २।१३॥ अष्टाध्यायी ६।१।३६ इत्यादि के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये। ऋग्वेद ८।६।२।४ में भी ॥१॥

अथ द्वितीयस्याः—मेधातिथिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ।।

३ १ २ ३ १ २र ३ १ २
१४६—इमा उ त्वा पुरूवसोऽभि प्र नोनुवुर्गिरः ।
१ २ ३ २र ३ १ २
गावो वत्सं न धेनवः ॥२॥

भावार्थः—(पुरुवसो) बहुयज्ञ ! वा बहुधन ! ईश्वर ! वा राजन् ! (इमाः) ये (गिरः) वाणियें (अभि) चारों ओर से (त्वा उ) तुझ को ही (प्रनोनुवुः) प्राप्त होती हैं । दृष्टान्त—(धेनवः) दूधाली (गावः) गौवें (वत्सं न) जैसे बछड़े को ।।

जिसमें गुण अधिक होते हैं सब ओर से उसी की प्रशंसा में वाणी ऐसे पहुँच जाती हैं जैसे दुधाल गायें चारों ओर जंगल में विचरती हुई सायंकाल प्यारे बछड़े ही के पास दौड़ती हैं ।। ऋ० ६।४५।२५ में जो पाठ का भेद है वह संस्कृतभाष्य में देखिये ।।२।।

अथ तृतीयस्याः—गोतम ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ।।

२उ ३ १ २ ३२ ३ १ २ ३क२र
१४७—अत्रा ह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम् ।
३ २ ३ १ २ ३ २
इत्था चन्द्रमसो गृहे ॥३॥

भावार्थः—(अत्र) इस (चन्द्रमसः, गृहे) चन्द्रमा के मण्डल में (त्वष्टुः) सूर्य की (गोः) किरण का (नाम ह) स्वरूप ही है (इत्था) इस प्रकार (अमन्वत) मानो ।।

अर्थात् परमेश्वर का उपदेश है कि हे मनुष्यो ! सूर्य की किरण चन्द्रमा को प्रकाशित करती है । यह जानो तथा मानो ।।

इस मन्त्र में 'त्वष्टा' पद का अर्थ सूर्य है और परमैश्वर्य वाला होने से सूर्य भी इन्द्रपदवाच्य है । त्वष्टुः का अर्थ सूर्य्य करने में निरुक्तकार ने ऋग्वेद की ऋचा का प्रमाण देकर कहा है कि "त्वष्टा पुत्री का ले जाना करता है और इस सब जगत् में व्यापता है और ये सब भूतमात्र का समागम करते हैं ।(यम)दिन की माता (उषा) ले जायी जाती है बड़े विवस्वान् की जाया अदृष्ट होती है अर्थात् आदित्य की जाया रात्रि आदित्य के उदय पर छिप जाती है" यह निरुक्त के पाठ का भावार्थ है जो निरुक्तकार ने "त्वष्टा दुहित्रे" इत्यादि ऋग्वेद १०।१७।१ की ऋचा का व्याख्यान किया है ।।

गोशब्द से सूर्य की किरण अर्थ लेने में निरुक्तकार कहते हैं कि "और इसकी एक किरणें चन्द्रमा की ओर प्रकाश करती हैं और इससे उपेक्षा करनी चाहिये ।

आदित्य से इस [चन्द्रमा] का प्रकाश होता है जैसा कि सुषुम्णःसूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः, यह वेदवाक्य है। इसलिये किरण भी गौ कही जाती है। अत्रा ह गोरमन्वत इस मन्त्र पर आगे (४।२५ में) व्याख्या करेंगे। सब ही किरणें गौ कही जाती हैं" यह निरुक्तस्थ पाठ का भावार्थ है ॥

ऋग्वेद १।८४।१५ में भी ऐसा ही पाठ है जिस पर निरुक्तकार ने सूर्य की छिपी हुई वा प्रतिगत किरण चन्द्रमण्डल पर पड़ती हैं, यह लिखा है ॥

प्रायः इस प्रकार के व्याख्यानों पर लोगों को भ्रम हुआ करता है कि व्याख्याता ने वेद के विज्ञान की प्रशंसार्थ पक्षपात से खेंचतान करके वर्त्तमान काल में प्रसिद्ध हुए विज्ञान की बातें वेद में घुसेड़ दी हैं। परन्तु उन संशयात्माओं को इससे शान्ति मिलेगी कि आजकल के वैज्ञानिकों के जन्म से बहुत वर्ष पूर्व यास्कमुनि ने ऊपर लिखा सिद्धान्त कहाँ से निकाला ? वेद से। क्योंकि निरुक्तकार अपने मत में "सुषुम्णः सूर्य्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः" इस वेदवचन का प्रमाण देते हैं ॥

इसमें तो सायणाचार्य्य ने भी स्पष्ट स्वीकार किया है कि "चन्द्रबिम्ब में सूर्य की किरणें प्रतिफलित होती हैं" इत्यादि ॥

तथा एसियाटिकसोसाइटी के सुयोग्य सभ्य पं० सत्यव्रत सामश्रमी जी अपनी टिप्पणी में विवरणकार का मत लिखते हैं कि—"गो शब्द से यहाँ सुषुम्ना नाम सूर्य्य की किरण लेनी चाहिये जो चन्द्रमण्डल के छोटा होने चन्द्रमण्डल पर जाकर लौट कर पृथिवी पर चान्दनी के रूप से प्रकाश करती हैं, यही यहाँ गो शब्द से अभिप्राय है"।

अष्टाध्यायी ६।३।१३६ ॥ ५।३।१११ निरुक्त १२।११ ॥ २।६ ॥ ४।२५ ऋग्वेद १०।१७।१ सायणभाष्य और श्री सत्यव्रत सामश्रमी जी की टिप्पणी इन सब का याथातथ्य पाठ संस्कृतभाष्य में देखिये ॥६॥

अथ चतुर्थ्याः—भरद्वाज ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्री छन्दः ॥

२उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३१ २१
१४८—यदिन्द्रो अनयद्रितो महीरपो वृषन्तमः ।
१ २ ३१ २३ १ २
तत्र पूषा भुवत्सचा ॥४॥

भावार्थः—(यत्) जबकि (इन्द्रः) बिजुलीरूप अग्नि (वृषन्तमः) अत्यन्त वर्षाने वाला (रितः) धारों से बहते हुए (महीः) भारी (अपः) जलों को (अनयत्) पृथिवी पर पहुँचाता है (तत्र) तब (पूषा) सूर्य की पोषक किरण (सचा) सहकारी (भुवत्) होती हैं ॥

जबकि अत्यन्त वर्षा का कर्त्ता इन्द्र भारी मूसलाधार जल वर्षाता है तो सूर्य की पुष्टिकारक किरण वृक्ष वनस्पत्यादि का पोषण करने में सहकारी होती हैं, वही किरणें शुष्क होने पर नाश करती हैं और वर्षा में मिलकर पुष्टि करने से पूषा देवता कहाती हैं ।। ऋ० ६।५७।४ में भी ।।४।।

अथ पञ्चम्याः—बिन्दुः पूतदक्षो वा ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ।

१४९—गौर्धयति मरुतां श्रवस्युर्माता मघोनाम् ।
युक्ता वह्नी रथानाम् ।।५।।

भावार्थः—(**मघोनाम्**) धन धान्यादि वालों की (**माता**) मातृतुल्य (**श्रवस्युः**) अन्न उत्पन्न करना चाहने वाली (**रथानां मरुताम्**) गमनशील वायुओं की (**वह्नी**) साथ घुमाने वाली (**गौः**) पृथिवी (**युक्ता**) वायु से जुड़ी हुई (**धयति**) पीती है ।।

पूर्वमन्त्रानुसार जब इन्द्र और पूषा वर्षा और पुष्टि करते हैं तब पृथिवी वायुओं को साथ घुमाती हुई उस वृष्टि पुष्टि को धारती है और उससे अन्न उत्पन्न करना चाहती है ।

निघण्टु १।१।। २।७।। २।१० अष्टाध्यायी ३।१।८।। २।३।१७०।। के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।। ।। ऋ० ८।९४।१ में भी ।। ।।

अथ षष्ठ्याः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ।।

१५०—उप नो हरिभिः सुतं याहि मदानां पते ।
उप नो हरिभिः सुतम् ।।६।।

भावार्थः—(**मदानां पते**) आनन्दों के पति ! [इन्द्र ! परमात्मन्] (**नः**) हम में से (**सुतम्**) आपके स्तोता को (**हरिभिः**) व्यापक गुणों से (**उप, याहि**) प्राप्त हूजिये (**नः, सुतं, हरिभिः, उपयाहि**) हम में से, स्तुति करने वाले को, प्राप्त हूजिये । यह पुनरुक्ति अधिक इच्छा को प्रकाशित करती है ।।

देव पक्ष में—(**मदानां पते**) सोमों के पति ! [इन्द्र !] (**नः**) हमारे (**सुतम्**) सम्पादित सोम को (**हरिभिः**) व्यापक किरणरूप अश्वों से (**उप, याहि**) प्राप्त हो ।।

अर्थात् मनुष्यों को ऐसा करना चाहिये जिससे यज्ञ में इन्द्र नामक विद्युत् को सोमरस पहुँचे ॥

निघण्टु १।१५ ॥ २।७॥ ३।१६ इत्यादि के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये । ऋ० ८।९३।३१ में भी ॥६॥

अथ सप्तम्याः—श्रुतकक्ष ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१५१—इष्टा होत्रा असृक्षतेन्द्रं वृधन्तो अध्वरे ।
अच्छावभृथमोजसा ॥७॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! (**अध्वरे**) यज्ञ में (**ओजसा**) बल से (**इन्द्रम्**) वृष्टिदेव को (**वृधन्तः**) बढ़ाते हुए तुम (**इष्टाः**) मनचाही (**होत्राः**) आहुतियाँ (**असृक्षत**) छोड़ो और तब (**अवभृथम्**) यज्ञान्त स्नान की (**अच्छ**) ओर प्राप्त हो ॥

अष्टाध्यायी ६।१।११५ उणादि २।३ इत्यादि के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ८।९३।२३ में वृधासः ऐसा पाठान्तर है ॥७॥

अथाऽष्टम्याः—वत्सः काण्व ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१५१—अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रह ।
अहं सूर्य इवाजनि ॥८॥

भावार्थः—(**अहम्**) मैंने (**इद् हि**) ही (**पितुः**) पालन करने वाले [इन्द्र परमेश्वर] से (**ऋतस्य**) सत्य वेद की (**मेधाम्**) धारणावती बुद्धि (**परि,जग्रह**) ग्रहण की है । (**अहम्**) मैं (**सूर्य्य इव**) सूर्य्य-सा प्रकाशमान (**अजनि**) प्रसिद्ध हुआ हूँ ॥

अर्थात् जो मनुष्य पिता परमात्मा से सत्य वेदविद्या का ग्रहण करते हैं वे ही सूर्यवत् संसार भर को ज्ञान से प्रकाशित करते हैं । ऋ० ८।६।१० में 'जग्रह' के स्थान में 'जग्रभ' पाठ है ॥८॥

अथ नवम्याः—शुनःशेप ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१५३—रेवतीर्नः सधमाद इन्द्रे सन्तु तुविवाजाः ।
क्षुमन्तो याभिर्मदेम ॥९॥

भावार्थः (**इन्द्रे**) परमेश्वर वा राजा वा देवविशेष के (**सधमादे**) सहित वा अनुकूल होने पर (**नः**) हमारी (**रेवतीः**) धन धान्यादि वाली (**तुविवाजाः**) बहुत बलयुक्त [प्रजा] (**सन्तु**) होवें (**याभिः**) जिनके साथ (**क्षुमन्तः**) बहुत भोजनादि सामग्रीयुक्त हम (**मदेम**) हर्ष को प्राप्त हों ॥

परमेश्वर और राजा के प्रसन्न रहने तथा वृष्टिदेव के अनुकूल रहने पर सब प्रजा को उत्तम धन धान्य शारीरिक आत्मिक और सामाजिक बल की प्राप्ति हो, जिससे हम सब उन प्रजाओं सहित आनन्द में रहें ॥

अष्टाध्यायी ६।१।३७ ॥ ८।२।१५ ॥ ७।१।३९ ॥ ६।३।९६॥ निघण्टु १।७॥ २।९॥ ३।१ इत्यादि के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० १ । २९ । १३ में भी ॥९॥

अथ दशम्याः—शुनःशेपो वामदेवो वर्षिः ।
इन्द्रासोमौ देवते । गायत्री छन्दः ॥

१५४—सोमः पूषा च चेततुर्विश्वासां सुक्षितीनाम् ।
देवत्रा रथ्योर्हिता ॥१०॥

इति चतुर्थी दशतिः

भावार्थः—(**देवत्राः**) सब देवतों में (**पूषा**) पुष्टिकर्त्ता इन्द्र सूर्य (**च**) और (**सोमः**) चन्द्रमा (**चेततु**) चेताते हैं (**विश्वासाम्ः**) और समस्त (**सुक्षितीनाम्**) पृथिव्यादि लोकों के (**रथ्योः**) समविषम मार्गों में (**हिता**) हितकारक हैं ॥

अष्टाध्यायी ६।३।१३७ ॥ ७।१।३९ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये । सायणाचार्य ने "रथ्यः, अहिता" ऐसा पदच्छेद पदपाठ और विवरण के विरुद्ध किया है, यह सामश्रमी सत्यव्रत जी भी स्वीकार करते हैं ॥१०॥

यह द्वितीयाध्याय में चतुर्थी दशति समाप्त हुई ॥४॥

पान्तमेति दशत्यामाऽद्याऽनुष्टुप् परिकीर्तिता ।
अवशिष्टा दशत्यामि—न्द्रयो गायत्र्यो नव स्मृताः ॥१॥

अथ पञ्चमी दशतिस्तत्र प्रथमायाः—श्रुतकक्ष ऋषिः ।
इन्द्रो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

२ ३२ ३ १२३ १२३१ २९
१५५—पान्तमा वो अन्धस इन्द्रमभि प्र गायत ।
३ १२ ३१२३ १२ ३२
विश्वासाहं शतक्रतुं मंहिष्ठञ्चर्षणीनाम् ॥१॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! (वः) तुम्हारे (अन्धसः) भोजनादि की (आपान्तम्) रक्षा करते हुए (विश्वासाहम्) सर्वोपरि विराजमान (शतक्रतुम्) अनन्तकर्मा वा अनन्तज्ञानी (चर्षणीनाम्) ज्ञानी पुरुषों के (मंहिष्ठम्) पूजनीय वा दाता (इन्द्रम्) परमेश्वर को (अभि, प्र, गायत) गाओ ॥ ऋ० ८।९२।१ में भी ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—वसिष्ठ ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

२ ३ १२ ३ १२३ १२
१५६—प्र व इन्द्राय मादनं हर्यश्वाय गायत ।
१२ ३१२
सखायः सोमपाव्ने ॥२॥

भावार्थः—(सखायः) मित्रो ! तुम (वः) अपने को (मादनम्) आनन्द जैसे हो वैसे (हर्यश्वाय) हरण शील और व्यापक गुणों वाले (सोमपाव्ने) सौम्य भक्तों के रक्षक (इन्द्राय)परमेश्वर के लिये (प्र, गायत) श्रेष्ठगान करो ॥

अष्टाध्यायी ३।२।७४ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ऋ० ७।३१।१ में भी ॥२॥

अथ तृतीयस्याः—मेधातिथिप्रियमेधावृषी । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

३१२ ३१२३ १२ ३२३ १२
१५७—वयमु त्वा तदिदर्था इन्द्र त्वायन्तः सखायः ।
१ २३ १२
कण्वा उक्थेभिर्जरन्ते ॥३॥

भावार्थः—(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (सखायः) मित्र (कण्वाः) मेधावी लोग (त्वा) तेरा (उक्थेभिः) वेदमन्त्रों से (जरन्ते) पूजन करते हैं और

(**त्वायन्तः**) तुझे चाहते हुए (**तविदर्थाः**) अनन्य भक्त (**वयम्**) हम (**उ**) भी [तुझे ही पूजते हैं] ॥

निघण्टु ३।१४॥ ३।१५ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ८ । २ । १६ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः —श्रुतकक्ष ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१५८—इन्द्राय मद्वने सुतं परिष्टोभन्तु नो गिरः ।
अर्कमर्चन्तु कारवः ॥४॥

भावार्थः—(**कारवः**) स्तुतिकर्त्ता लोग (**अर्कम्**) पूजनीय परमेश्वर की (**अर्चन्तु**) स्तुति करें और (**नः गिरः**) हमारी वाणियें (**मद्वने इन्द्राय**) हर्ष-शील इन्द्र के लिये (**सुतम्**) सम्पादित सोम को (**परिष्टोभन्तु**) सर्वतः वर्णित करें ॥

निघण्टु ३।१६॥ ३।१४॥ अष्टाध्यायी ३।२।७५॥ उणादि ३।४० के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ८।९२।१९ में भी ॥४॥

अथ पञ्चम्याः - इरिम्बिठ ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१५९—अयन्त इन्द्र सोमो निपूतो अधि बर्हिषि ।
एहीमस्य द्रवा पिब ॥५॥

भावार्थः—पूर्वमन्त्र में इन्द्र के लिये सोम का वर्णन करो, यह कहा था । सो वर्णन करते हैं कि—(**इन्द्र**) वृष्टिकर्त्ता ! (**अयम्**) यह (**निपूतः**) नितरां संस्कार किया हुआ (**सोमः**) सोम (**ते**) तेरे लिये (**बर्हिषि, अधि**) यज्ञ में [हवन किया है] (**अस्य**) इस का (**पिब**) पान कर (**एहि**) आ (**द्रव**) दौड़ ॥

जब कि मनुष्य वृष्टि के हेतु इन्द्रयाग के लिये सोम को तैयार करें तब प्रथम परमेश्वर की स्तुति [देखो पूर्वमन्त्र] करके फिर अग्नि में सोम का हवन करें जिससे इन्द्र नामक अग्नि दौड़ जावे और उसे शोषण कर वर्षा का हेतु हो ॥ ऋ० ८ । १७ । ११ में भी ॥५॥

अथ षष्ठ्याः—मधुच्छन्दा ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

३ २३१२ ३१२ ३१२
१६०—सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे ।
३ १३ १२
जुहूमसि द्यविद्यवि ॥६॥

भाषार्थः—हम लोग (ऊतये) अनावृष्ट्यादि से रक्षा के निमित्त (सुरूपकृत्नुम्) शोभन रूप करने वाले [सोम का इन्द्र के लिये] (द्यविद्यवि) प्रतिदिन (जुहूमसि) हवन करें । दृष्टान्त—(गोदुहे सुदुघामिव) जैसे गाय दुहने वाले के लिये दुधार गाय को ॥

भाव यह है कि जैसे गाय दुहने वाले के लिये प्रतिदिन दुधार गौ को उपस्थित करते हैं जिससे वह दुग्ध दुहकर हमें देवे इसी प्रकार अकाल अवर्षणादि से रक्षित रहने के लिये इन्द्र के निमित्त सोम उपस्थित करना चाहिये जिससे वह जल वर्षा कर सुवर्ष करे । ऋ० १। ४ । १ में भी ॥६॥

अथ सप्तम्याः—त्रिशोक ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्द ॥

३ १ २ ३२ ३१ २ ३१२
१६१—अभि त्वा वृषभा सुते सुतं सृजामि पीतये ।
३ १ २ ३ १२
तृम्पा व्यश्नुही मदम् ॥७॥

भाषार्थः—(वृषभ) वृष्टिकर्तः इन्द्र ! (सुते) तैयार होने पर (सुतम्) सोम को (पीतये) पीने के लिये (त्वा) तुझको (अभिसृजामि) हवन करता हूँ । (तृम्प) तृप्त हो (मदं, व्यश्नुहि) हर्ष को, प्राप्त हो ॥

भाव यह है कि इन्द्र वर्षा करता है इसलिये उसकी तृप्ति अर्थात् वृद्धि पुष्टि के लिये सम्पन्न तैयार होने पर सोम का हवन करना चाहिये । इन्द्र का मेघ वर्षाने के लिये उपयुक्त होना ही हर्ष है ॥

अष्टाध्यायी ६ । ३ । १३५ ॥ ६ । ३ । १३७ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ज्वालाप्रसाद जी भार्गव ने (अ [-इ) इत्यादि पदपाठ के विरुद्ध निर्मूल व्याख्या की है । ऋ० । ८ । ४५ । २२ । ७ ॥

अथाऽष्टम्याः—कुसीद ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१ २ ३१ २र ३१२ ३२
१६२—य इन्द्र चमसेष्वा सोमश्चमूषु ते सुतः ।
१ २र ३ १ २
पिबेदस्य त्वमीशिषे ॥८॥

भावार्थः—फिर सोम को वर्णित करते हैं। (**इन्द्र**) इन्द्र ! वा राजन् ! (**यः सोमः**) जो सोम (**चमूषु**) पात्रों में (**ते**) तेरे लिये (**सुतः**) सिद्ध किया है (**अस्य**) इस सोम का (**त्वम्**) तू (**आ, ईशिषे**) सब प्रकार, अधिष्ठाता है (**इत्**) इस कारण (**चमसेषु**) चमस् नाम के फलकों में (**पिब**) पी ॥

यज्ञकर्ताओं को योग्य है कि चमू नामक पात्रों में प्रथम सोम का अभिषव करें फिर चमस् नामक पात्रों द्वारा इन्द्रादि देवों वा राजादि के लिये दें और वे उसे शीघ्र पान करते हैं वा करें, क्योंकि वे ही ओषधि वर्ग के अधिष्ठाता हैं, उनके आनुकूल्य से उनकी उत्पत्ति आदि का व्यवहार अच्छा बनता है। इससे यह भी सूचित होता है कि सोम राजकीय ओषधि है उसका स्वाम्य राजा के हाथ में होना चाहिए ॥ ऋ० ८।८२।७ में भी ॥८॥

अथ नवम्याः—शुनःशेप ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्री छन्दः ॥

१६३—योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे।
सखाय इन्द्रमूतये ॥९॥

भावार्थः—(**वाजे वाजे**) प्रत्येक लड़ाई में (**योगे, योगे**) प्रत्येक ऐसे अवसर में वा योग में (**सखायः**) हम मित्र (**तवस्तरम्**) अतिबल (**इन्द्रम्**) राजा वा परमात्मा की (**ऊतये**) रक्षा के लिये (**हवामहे**) पुकार करें ॥

मनुष्यों को परस्पर मित्र होना चाहिये तथा योगानुष्ठान के शत्रु काम क्रोधादि से बचने को परमात्मा और लौकिक कार्यों के शत्रु दस्यु आदि से लड़ाई के समय राजा की सहायता ग्रहण करनी चाहिये ॥ ऋ० १।३।७ ॥९॥

अथ दशम्याः—मधुच्छन्दा ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्री छन्दः ॥

१६४—आ त्वेता नि षीदतेन्द्रमभि प्र गायत।
सखायः स्तोमवाहसः ॥१०॥

भावार्थः—(**सखायः**) हे मित्रो ! (**स्तोमवाहसः**) स्तुति का प्रवाह चलाते हुए (**आ तु आ इत**) आओ आओ (**निषीदत**) बैठो और (**इन्द्रम्**) परमेश्वर का (**प्रगायत**) कीर्त्तन करो ॥

यद्यपि स्तोम का सामान्य अर्थ स्तुति मात्र है परन्तु ताण्ड्य महाब्राह्मण में स्तोमा के भेद वर्णन किये हैं। लोकों के प्रमोदार्थ हम थोड़े से यहाँ उद्धृत करते हैं।

ताण्ड्य महाब्राह्मण के द्वितीय और तृतीय अध्यायों में १ त्रिवृत् २ पञ्चदश ३ सप्तदश ४ एकविंश ५ त्रिणव ६ त्रयस्त्रिंश ये पृष्ठषडह यज्ञ में छः स्तोत्र होते हैं। अनन्तर छन्दोमों के ३ स्तोम कहे हैं। उनमें से बहिष्पवमान के साधन त्रिवृत् नामक स्तोम की ३ विष्टुति हैं, उद्यती परिवर्त्तिनी और कुलायिनी। प्रथम ३ अनुवाकों से कही गई हैं। प्रथम उद्यती का स्वरूप यह है:—

तिसृभ्यो० २। २। १।

एक एक सोम की ५ विभक्ति होती हैं, हिंकार प्रस्ताव उद्गीथ प्रतिहार उपद्रवनिधन। उनमें से हिङ्कार ३ उद्गाताओं को करना चाहिये। अष्टाध्यायी २। ३। १४ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये। पहला उद्गाता पहली ऋचा को तीन वार, दूसरा दूसरी और तीसरा तीसरी को। इस प्रकार त्रिवृत् नामक स्तोम की पहली उद्यती नाम विष्टुति कहाती है॥ अब दूसरी परिवर्त्तिनी नाम विष्टुति का वर्णन करते हैं:—

तिसृभ्यो० २। २। १। इत्यादि

प्रथमा उद्यती में तो ३ ऋचाओं में एक-एक ऋचा को एक-एक उद्गाता तीन-तीन वार पढ़े, यह कहा। इस दूसरी परिवर्त्तिनी नामक विष्टुति में १ उद्गाता १, २, ३, ऋचाओं को पढ़े, फिर दूसरा उद्गाता तीनों को पढ़े। फिर तीसरा भी। इस प्रकार दूसरी परिवर्त्तिनी नाम विष्टुति कहाती है॥ अब तीसरी कुलायिनी को सुनिये:—

तिसृभ्यो हिं० २। ३। १॥

पहिला उद्गाता इस क्रम से पढ़े कि पहली दूसरी तीसरी॥ दूसरा उद्गाता दूसरी तीसरी पहली। तीसरा उद्गाता तीसरी पहिली दूसरी। इस प्रकार तीन पर्याय मिल कर तीसरी कुलायिनी नाम त्रिवृत् स्तोम की विष्टुति कहाती है। ३ विष्टुति से ही इसे त्रिवृत् स्तोम कहते हैं॥

इसी प्रकार पञ्चदशादि स्तोमों की पृथक्-पृथक् विष्टुतियां कही गई हैं जो वहीं ताण्ड्य महाब्राह्मण में देखनी चाहियें॥ ऋ० १।५।१ में भी॥१०॥

यह द्वितीयाध्याय में पांचवीं दशति समाप्त हुई॥५॥

इदं ह्यीतीन्द्रदेवत्या गायत्र्यो दशतौ दश ॥१॥

अथ षष्ठी दशतिस्तत्र प्रथमायाः—विश्वामित्र ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

३१ २र ३ १ २
१६५—इदं ह्यन्वोजसा सुतं राधानां पते ।
३ २ १ २
पिबा त्वा३स्य गिर्वणः ॥१॥

भाषार्थः—(राधानाम्) धनों के (पते) स्वामिन् ! राजन् ! (गिर्वणः) वाणी से प्रशंसा योग्य ! (ओजसा) परिश्रम से (सुतम्) सिद्ध किये हुए (अस्य) इस सोम के (इदम्) इस भाग को (पिब) पीजिये । (अनु, हि, तु) पादपूरणार्थ हैं ॥

मनुष्यों को उचित है कि राजा के लिये सोमरस सिद्ध करके अर्पित करें और राजा उसका पान करे । और प्रजा की जीविका तथा रक्षा का दान करे, वह प्रशंसा के योग्य है ॥

ज्वालाप्रसाद भार्गव जी ने अनुक्रमणिका के विरुद्ध महानारायण देवता, (अ, अस्य) यह पदपाठ के विरुद्ध पदच्छेद, राधः पद निघण्टु २ । १० में धन का वाचक होने से निघण्टु और सायण के विरुद्ध राधानाम् का अर्थ राधांश देवी, किया है ।। ऋ० ३ । ५१ । १० में भी ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—मधुच्छन्दा ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

३ १ २र ३१ २ ३ १२ ३ १ २
१६६—महां इन्द्रः पुरश्च नो महित्वमस्तु वज्रिणे ।
१ २र ३ १ २र
द्यौर्न प्रथिना शवः ॥२॥

भाषार्थः—(इन्द्रः) परमैश्वर्ययुक्त राजा (महान्) प्रौढ़ (अस्तु) होवे (च) और (वज्रिणे) शस्त्रास्त्रधारी के लिये (नः) हमारे (पुरः) आगे (महित्वम्) बड़प्पन हो और (शवः) सेनाबल (प्रथिना) विस्तार से (द्यौर्न) द्युलोक के समान हो ॥

राजा को उचित है कि महान् बलवान् शस्त्रास्त्र वाला और न्यायप्रकाश वाला हो ॥

सायणाचार्य ने "परश्च नु" ऐसा पदच्छेद करके व्याख्या की है जो पदग्रन्थ और समस्त मूल ग्रन्थों के विरुद्ध है । यथार्थ पाठ "पुरश्च नः" है । इस पर सत्यव्रत

सामश्रमी जी कहते हैं कि "आश्चर्य है ! मूल में 'नु' पद कहाँ है ?" परन्तु हमारी सम्मति में आश्चर्य नहीं किन्तु ऋग्वेद (१।८।५) में "परश्च नु" यही पाठ है। इस लिये ऋग्वेदभाष्यकार सायणाचार्य ने वहीं की भ्रान्ति से सामवेद के पाठभेद को भूलकर वही ऋग्वेदतुल्य व्याख्या कर दी है ॥ निघं० २।९ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ तृतीयस्याः—कुसीदी काण्व ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१६७—आ तू न इन्द्र क्षुमन्तं चित्रं ग्राभं संगृभाय ।
महाहस्ती दक्षिणेन ॥३॥

भावार्थः —(**इन्द्र**) हे राजन् ! तू (**महाहस्ती**) आजानुबाहु अर्थात् बड़े हाथों वाला (**दक्षिणेन**) अपने दाहिने वा चतुर हाथ से (**नः**) हमारे (**क्षुमन्तम्**) भोजनीय अन्न से युक्त (**चित्रम्**) विचित्र (**ग्राभम्**) न्यायोपार्जित धन का (**आ, संगृभाय**) सब ओर से संग्रह कर ॥

लोक में भी क्षत्रिय की भुजा लम्बी घुटनों को स्पर्श करने वाली प्रसिद्ध हैं। उस बड़े हाथ वाले राजा को प्रजा के भोग के लिये धान्यादि सामग्री सहित विविध न्याय से कमाये धन का संग्रह करना चाहिये ॥

अष्टाध्यायी ६।३।१३३ निघण्टु २।७ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद ८।८१।१ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—प्रियमेध ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१६८—अभि प्र गोपतिङ्गिरेन्द्रमर्च यथा विदे ।
सूनुं सत्यस्य सत्पतिम् ॥४॥

भावार्थः—हे मनुष्य ! (**सत्पतिम्**) सज्जनों के रक्षक और (**गोपतिम्**) पृथिवी के स्वामी (**सत्यस्य, सूनुम्**) सत्य के पुत्र (**इन्द्रम्**) राजा को (**यथाविदे**) जैसा जानता हो वैसा (**गिरा**) वाणी से (**अभि, प्र, अर्च**) सब प्रकार सत्कृत कर ॥

अर्थात् हे मनुष्यो ! राजा सज्जनों का तथा पृथिवीस्थ अन्य प्राणियों का रक्षक है और सत्य न्याय का पुत्र अर्थात् सन्तान के तुल्य सेवक है। तुम वाणी से

उसकी प्रशंसा करो परन्तु जैसा जानते हो वैसी ही। किन्तु चाटु (खुशामद) नहीं ।। पं० ज्वालाप्रसाद जी ने गां शब्द निघण्टु १।१ में पृथिवी का नाम होते हुए और 'सत्य का पुत्र' होते हुए भी वसुदेव के पुत्र कृष्णगोपाल के अवतार का वर्णन करके अपने अर्थ की निर्मूलता दर्शायी है। परमात्मा को अजन्मा कहने वाली श्रुतियों से भी विरोध किया है। सायणाचार्य को भी यह अर्थ सम्मत नहीं है। न निरुक्त ने कहीं इन्द्र पद का अर्थ 'कृष्ण' किया और मन्त्र का देवता इन्द्र है ।। ऋ० ८।९६।४ में भी ।।४।।

अथ पञ्चम्याः—वामदेव ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ।।

१ २ ३१ २४ ३२ ३ १२३ १ २
१६९—कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा ।
२ ३ १ २ ३ २
कया शचिष्ठया वृता ।।५।।

भावार्थः—प्रकरण से इन्द्र ! राजन् ! (**कया**) किस रीति से तू (**नः**) हमारा (**सखा**) मित्र (**आभुवत्**) होवे ? उत्तर—(**ऊती**) रक्षा से ।। (**कया**) किस (**वृता**) कर्म से वा वृत्ति से (**चित्रः**) विचित्र गुण कर्म स्वभाव होवे ? उत्तर—(**शचिष्ठया**) प्रज्ञायुक्त से ।। इस प्रकार (**सदावृधः**) सर्वदा वृद्धि-युक्त होवे ।।

अष्टाध्यायी (३ । १ । ३६) निघण्टु ३ । ९ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।। ऋग्वेद ४ । ३१ में भी ।।५।।

अथ षष्ठ्याः—श्रुतकक्ष ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ।।

१ २ ३ २ ३ १२ ३ १ २
१७०—त्यमु वः सत्रासाहं विश्वासु गीर्ष्वायतम् ।
१ २ ३१२
आ च्यावयस्यूतये ।।६।।

भावार्थः—(**वः**) तुम्हारे (**सत्रासाहम्**) सत्य से सत्र के विजयी (**विश्वासु**) जहाँ-जहाँ इन्द्र का वर्णन है उन समस्त (**गीर्षु**) वाणियों में (**आयतम्**) विस्तारपूर्वक वर्णित (**त्यम्, उ**) उस, ही राजा को (**ऊतये**) रक्षा के लिये (**आच्यावयसि**) बुलाओ ।।

निघण्टु ३ । १० का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।। ऋ० ८।९२।७ में भी ।।६।।

अथ सप्तम्याः—मेधातिथिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१२३ २३१ २ ३१ २१ ३ १२
१७१—सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् ।
३ २ ३१२
सनिं मेधामयासिषम् ॥७॥

भावार्थः—(इन्द्रस्य) जीवात्मा के (काम्यम्) उपास्य (अद्भुतम्) आश्चर्यस्वरूप (सदसस्पतिम्) सभापति के समान (प्रियम्) हितकारी (सनिम्) कर्मफलप्रदाता [ईश्वर की उपासना से] (मेधाम्) प्रज्ञा को (अयासिषम्) प्राप्त होऊँ ॥

जो मनुष्य परमात्मा की उपासना करते हैं वे, तथा जो सभापति राजा का निर्वाचन करते हैं वे, उत्तम बुद्धि बल आरोग्यादि द्वारा सुख को प्राप्त होते हैं ॥ ऋ० १ । १८ । ६ ॥ ७ ॥

अथाऽष्टम्याः—वामदेव ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

२ ३ १ २ ३ २ ३ २उ ३क २र ३ १२
१७२—ये ते पन्था अधो दिवो येभिर्व्यश्वमैरयः ।
३१ २ ३ १२
उत श्रोषन्तु नो भुवः ॥८॥

भावार्थः—हे इन्द्र ! परमात्मन् ! (ये) जो (पन्थाः) मार्ग (ते) तुम्हारे निर्दिष्ट हैं (उत) और (येभिः) जिनसे (अश्वम्) वायु को (वि, ऐरयः) प्रेरित करते हो उनसे (दिवः) द्युलोक के (अधः) अधोभाग में (नः) हमारी (भुवः) भूमियें अर्थात् भूमिस्थ लोग (श्रोषन्तु) सुनते हैं ।

अर्थात् परमात्मा वा सूर्य्यकृत प्रेरणा से वायु बहता है, जिससे भूमण्डल के निवासी एक-दूसरे का शब्द सुनते हैं । सायणाचार्य ने यहाँ भी मूल के विरुद्ध "विश्वम्" पद की व्याख्या की है ॥८॥

अथ नवम्याः—श्रुतकक्ष ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

२१ २ ३ २ ३२३१२
१७३—भद्रंभद्रं न आ भरेषमूर्जं शतक्रतो ।
१ २ ३ १ २
यदिन्द्र मृडयासि नः ॥९॥

भावार्थः –(**इन्द्र**) परमेश्वर ! (**नः**) हमारे लिये (**भद्रंभद्रम्**) अच्छे-अच्छे (**इषम्**) अन्न और (**ऊर्जम्**) रस को (**आभर**) प्राप्त कराइये (**शतक्रतो**) बहुकर्मन् ! (**यत्**) जिससे (**नः**) हम को (**मृडयासि**) सुखी कर ॥ ऋ० ८।९३।२८ में भी ॥९॥

अथ दशम्याः—बिन्दुर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २१ ३ १ २
१७४—अस्ति सोमो अयं सुतः पिबन्त्यस्य मरुतः ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
उत स्वराजो अश्विना ॥१०॥

भावार्थः—हे परमात्मन् ! इन्द्र ! (**अयम्**) यह (**सोमः**) सोम (**सुतः**) सिद्ध (**अस्ति**) है (**स्वराजः**) स्वयं प्रकाश (**मरुतः**) वायु वा प्राण (**अस्य**) इस सोम का (**पिबन्ति**) पान करें (**उत**) और (**अश्विना**) दिन रात्रि वा द्यौ और पृथिवी वा सूर्य और चन्द्रमा [पान करें] ॥

निरुक्त १२।१ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ८ । ९४ । ४ में भी ॥१० ।

यह द्वितीयाध्याय में छठी दशति पूर्ण हुई ।

ईङ्खयन्तीति चेन्द्रस्य गायत्र्यो दशतौ दश ॥१॥

अथ सप्तमी दशतिस्तत्र प्रथमायाः—इन्द्रमातरो देवजामय ऋषिकाः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

३ १ २ ३ २३ १ २ ३ १ २१
१७५—ईङ्खयन्तीरपस्युव इन्द्रं जातमुपासते ।
३ १ २ ३ १२
वन्वानासः सुवीर्यम् ॥१॥

भावार्थः—(**ईङ्खयन्तीः**) समझने वाली (**अपस्युवः**) कर्म चाहने वाली बुद्धि और (**सुवीर्यम्**) सुन्दर पुरुषार्थ का (**वन्वानासः**) सेवन करते हुए पुरुष (**जातम्**) हृदय में साक्षात् हुए (**इन्द्रम्**) परमेश्वर को (**उपासते**) उपासित करते हैं ॥

निघण्टु२।१॥ २।१४ के प्रमाण और ऋ० १० । १५३ । १ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—गोषा ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१७९—नकि देवा इनीमसि नक्यायोपयामसि ।
मन्त्रश्रुत्यञ्चरामसि ॥२॥

भावार्थः—(देवाः) हम उपासक लोग (नकि, इनीमसि) हिंसा न करें (आ) सब ओर से (नकि योपयामसि) किसी को अज्ञानयुक्त, न करें और (मन्त्र-श्रुत्यम्) वेदोक्त कर्मों का (चरामसि) अनुष्ठान करें ॥

अष्टाध्यायी ७।३।८१॥ ७ । १ । ४६ इत्यादि के प्रमाण तथा ऋ० १० । १३४ । ७ का अन्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ तृतीयस्याः—दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१७७—दोषो आगाद् बृहद्गाय द्युमद्गामन्नाथर्वण ।
स्तुहि देवं सवितारम् ॥३॥

भावार्थः—(बृहद्गाय) बृहत् साम के गाने वाले ! (द्युमद्गामन्) प्रकाशयुक्त ज्ञान वाले ! (आथर्वण) अथर्ववेद के ज्ञातः ! ब्रह्मन् ! तू जब कि (दोषा) रात्रि, (उ, आगात्) आवे, तब (सवितारम्) सर्वोत्पादक (देवम्) परमात्मा की (स्तुहि) स्तुति कर ॥

ब्रह्मा का काम है कि यज्ञ में रात्रि का आरम्भ होते ही अर्थात् सायं सन्ध्या समय परमात्मा का धन्यवाद करके समाप्ति करें ॥ यहाँ आथर्वण पद से ब्रह्मा सूचित होता है । क्योंकि—"ऋचां त्वः पोषमास्ते०" ऋ० १० । ७१ । १के प्रमाण से यज्ञ के होता अध्वर्यु उद्गाता और ब्रह्मा ये चार ऋत्विज् होते हैं । जिनमें से आपस्तम्ब के सूत्र "ऋग्वेदेन होता०" इत्यादि १९ । २० । २१ । के पश्चात् २२ के अनुसार ब्रह्मा का काम चारों वेदों से पड़ता है और अथर्ववेद से चार वेद पूरे होते है । इस लिये ब्रह्मा को अथर्ववेद जानना भी आवश्यक है । और इसी से ब्रह्मा को आथर्वण कहा गया है । १ ऋग्वेद जानने वाला होता । २ ऋग्यजुः जानने वाला अध्वर्यु । ३ ऋग्यजुः साम का ज्ञाता उद्गाता और ४ ऋग्यजुः साम अथर्व का ज्ञाता ब्रह्मा होता है ॥ ऋ० १० । ७१ । १ । आपस्तम्ब १९ । २० । २१ । २२ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

सत्यव्रत सामश्रमी कहते हैं कि "पदकार ने 'दोषा, उ' ऐसा पदच्छेद किया है।" इस लिये सायणाचार्य के भाष्य में "दोष:" यह एक पद करके जो अर्थ किया है वह पदकार के विरुद्ध है ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—प्रस्कण्व ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

३२ ३१ २र ३क २र ३ २ ३ २
१७८—एषो उषा अपूर्व्या व्युच्छति प्रिया दिवः ।
३ १ २ ३ २
स्तुषे वामश्विना बृहत् ॥४॥

भावार्थः—पूर्व मन्त्र में सायं सन्ध्या पर परमात्मा का धन्यवाद सिखाया गया। इसमें प्रातः काल का धन्यवाद कहते हैं (**एषा उ**) यही (**अपूर्व्या**) नवीना (**प्रिया**) प्यारी (**उषाः**) पीली [अरुणोदय की वेला] निरु० २। १८ (**दिवः**) द्युलोक से (**व्युच्छति**) फैलती है अर्थात् प्रातः हो गया इस लिये (**अश्विना**) हे पढ़ने-पढ़ाने वालो ! (**वाम्**) तुम (**बृहत्**) बहुतायत से इन्द्र परमात्मा की (**स्तुषे**) स्तुति करो ॥

जिस प्रकार सूर्य प्रकाश करता और चन्द्रमा प्रकाश लेता है इसी प्रकार पढ़ाने वाला विद्या का प्रकाश देता और पढ़ने वाला लेता है। इसलिये निरुक्त के मतानुसारी "अश्विनौ" के अर्थ सूर्य और चन्द्रमा से यहाँ पढ़ने-पढ़ाने वाले का ग्रहण है॥ ऋ० १। ४६। १ में भी ॥४॥

अथ पञ्चम्याः—गोतम ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २र
१७६—इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः ।
३ १ २ ३ १ २र
जघाय नवतीर्नव ॥५॥

भावार्थः—(**अप्रतिष्कुतः**) जिसके सामने कोई न ठहर सके ऐसा (**इन्द्रः**) परमैश्वर्यवान् सूर्य के तुल्य राजा (**दधीचः**) लक्ष्य पर ध्यान पड़ने योग्य पदार्थ के रचित (**अस्थभिः**) किरणतुल्य वाणों से (**नव, नवतीः**) नौ नव्वे ८१० (**वृत्राणि**) रोकने वाले अन्धकार वा मेघ तुल्य शत्रुसेना को (**जघान**) मारता है वा मारे ॥

संख्या के अङ्कों में ६ अङ्क ऐसा है जो किसी संख्या के साथ गुणो, योग से ६ ही रहता है। जैसे ६ को २ से गुणो तो १८ हुए, १८ में १ और ८ मिलाने से फिर ६ ही हुए। ६ को ३ से गुणो तो २७ हुए, २+७=६ हुए। ६ को ४ से गुणो

तो ३६ हुए। ३+६=९ ही आये। फिर ९ को ५ से गुणिये तो भी ४५ हुए ४+५=९ ही आये, ऐसा ही आगे जानो। जिस कारण ९ की संख्या दूसरी किसी संख्या से हनन करने पर भी पुनः पुनः उसी अपने स्वरूप में हो जाती है इस कारण नव नव्वे के अंक से शत्रुसेना को गिना है॥ अर्थात् बार-बार जुड़-जुड़ कर उसी स्वरूप से, सामने आए॥

सत्त्व रजः तमः इन तीन गुणों के भेद से तीन प्रकार की सेना होती है। फिर भूत भविष्यत् वर्त्तमान इन ३ कालकृत भेद से ९ प्रकार की हुई, फिर प्रभाव उत्साह और मन्त्र इन ३ शक्तियों के भेद से २७ गुणी हुई। फिर उत्तम मध्यम और अधम भेद से ८१ प्रकार की हुई। और दश दिशा के भेद से ८१० प्रकार हुए॥

सायणाचार्य इसमें इतिहास लिखते हैं कि—"शाकटायनी लोग इसमें इतिहास कहते हैं कि जीवते हुए आथर्वण दधीचि के दर्शनमात्र से असुर हार जाते थे। फिर जब दधीचि स्वर्ग सिधारा तो समस्त पृथिवी असुरों से भर गई। तब इन्द्र ने उन असुरों से युद्ध करने में असमर्थ हो, इस ऋषि (दधीचि) को ढूंढते हुए सुना कि वह तो स्वर्ग को सिधार गया। तब इन्द्र ने वहाँ वालों से पूछा कि यहाँ उसका कुछ शेष अंग कोई है ? उस [इन्द्र] से कहा कि उसका शिर शेष है जिस शिर से उसने अश्विनों को मधुविद्या कही थी। परन्तु हम नहीं जानते कि वह कहां है ? फिर इन्द्र ने कहा कि उसे ढूंढिये। उन्होंने ढूंढा। उसे शर्यणावती में पाय कर ले आये (शर्यणावत् कुरुक्षेत्र का नाम है) उसके शिर की हड्डियों से इन्द्र ने असुरों को मारा॥"

ऋग्वेद १। ८४। १ में भी ऐसी ही ऋचा है और उस पर स्वामी दयानन्द सरस्वती जी इस प्रकार भाष्य करते हैं कि—

"पदार्थः—हे सेनापते जैसे (**अप्रतिष्कुतः**) सब ओर से स्थिर (**इन्द्रः**) सूर्य लोक (**अस्थभिः**) अस्थिर किरणों से (**नव नवतीः**) निन्यानवे प्रकार के दिशाओं के अवयवों को प्राप्त हुए (**दधीचः**) जो धारण करने हारे वायु आदि प्राप्त होते हैं उन (**वृत्राणि**) मेघ के सूक्ष्म अवयवरूप जलों का (**जघान**) हनन करता है वैसे तू अनेक अधर्मी शत्रुओं का हनन कर॥

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—वही सेनापति होने के योग्य होता है जो सूर्य के समान दुष्ट शत्रुओं का हन्ता, और अपनी सेना का रक्षक है॥"

सायणाचार्योक्त इतिहास से विरुद्ध विवरणकार का मत सत्यव्रत सामश्रमी जी बताते हैं कि—

"कालखञ्ज नाम असुर थे। उन असुरों से सताये हुए देवताओं ने ब्रह्मा के समीप जाकर कहा। भगवन् ! कालखञ्ज असुर सताते हैं। उनके मारने का उपाय

कीजिये । यह सुन वह (ब्रह्मा) उनसे बोला कि दधीचि नाम ऋषि है उससे जाकर कहो, वह मारने का उपाय करेगा । वे (देवता) यह सुन, बहुत अच्छा कहकर उस दधीचि के समीप गये और कहा कि भगवन् ! उन (असुरों) का पुरोहित शुक्राचार्य हमारे अस्त्रों का अपहरण कर लेता है । उन (अस्त्रों) की रक्षा कीजिये । तब उस ऋषि ने उन (देवताओं) से कहा कि मेरे मुख में फेंक दो । तब मरुद्गणों सहित इन्द्रादि देवताओं ने (अस्त्र) उसके मुख में फेंक दिये । फिर समय पाय देवाऽसुर संग्राम हुआ तो देवताओं ने आकर कहा कि भगवन् ! वे हमारे अस्त्र दीजिये । तब उसने कहा कि वे तो मुझे पच गये अब वे फिर नहीं मिल सकते । तब ब्रह्मादि देवताओं ने कहा कि भगवन् ! प्राण त्याग कीजिये । यह सुन उसने प्राण त्याग दिये । उस दधीचि की अस्थि=हड्डियों से इन्द्र ने वृत्रों को मारा" ॥

वेदों का ऐतिहासिक अर्थ उनकी अपौरुषेयता का बाधक,और परस्पर सायण और विवरण का विरोध होने तथा मूल में इस प्रकार की कथा न होने से यह अनर्थ हमारे मन को नहीं भावता ॥

निरुक्त १२ । ३३ उणादि ३ । १५४ वा ७ । १ । ७६ तथा सायणाचार्यादि की सम्मतियाँ संस्कृतभाष्य में ज्यों की त्यों उद्धृत हैं ॥५॥

अथ षष्ठ्याः—मधुच्छन्दा ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१८०—इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः ।
महाँ अभिष्टिरोजसा ॥६॥

भावार्थः—(इन्द्र) राजन् ! तुम (ओजसा) बल से (महान्) बड़े और (अभिष्टिः) शत्रुओं का दमन करने वाले (विश्वेभिः) समस्त (सोम पर्वभिः) सोम की गाँठों सहित (अन्धसः) अन्नों को (एहि) प्राप्त हूजिये और (मत्सि) हृष्ट हूजिये ॥

राजा को सोम [illegible] पगे अन्न खाकर बलवान् हृष्ट पुष्ट शत्रु[illegible]नकर्ता होना चाहिये ॥

अष्टाध्यायी ३ । ३ । ९६ ॥ ६ । १ । ९४ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० १ । ९ । १ में भी ॥६॥

अथ सप्तम्याः—वामदेव ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१८१—आ तू न इन्द्र वृत्रहन्नस्माकमर्धमा गहि ।
महान्महीभिरूतिभिः ॥७॥

भावार्थः—(**वृत्रहन्**) रोकने वालों के हन्त ! (**इन्द्र**) राजन् ! वा परमेश्वर ! (**महीभिः**) बड़ी (**ऊतिभिः**) रक्षादिकों सहित (**महान्**) बड़े आप (**अस्माकम्**) हमारी (**अर्धम्**) ऋद्धि को (**आगहि**) प्राप्त कराइये (**तु**) और (**नः**) हमको (**आ**) प्राप्त हूजिये ॥ ऋ० ४ । ३२ । १ में भी ॥७॥

अथाऽष्टम्याः—वत्स ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१८२—ओजस्तदस्य तित्विष उभे उत्समवर्तयत् ।
इन्द्रश्चर्मेव रोदसी ॥८॥

भावार्थः—(**यत्**) जब कि (**अस्य**) इस राजा वा परमात्मा का (**ओजः**) बल (**तित्विषे**) प्रकाश करता है (**तत्**) तब (**इन्द्रः**) राजा वा परमेश्वर (**उभे**) दोनों (**रोदसी**) पृथिवी और द्युलोकों को (**चर्मेव**) ढाल के समान (**समवर्तयत्**) चारों ओर से वर्त्तमान कराता है ॥

अर्थात् जब परमात्मा और पूर्ण बलिष्ठ राजा न्यायपरायणता से प्रजा की रक्षा के लिये अपने बल का प्रकाश करते हैं तब द्युलोक और पृथिवी लोक चर्म=ढाल के समान बचाने वाले बन जाते हैं । अर्थात् दैवी वा पार्थिवी कोई बाधा नहीं होती ॥ ऋ० ८ । ६ । ५ में भी ॥

अथ नवम्याः—शुनःशेप ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१८३—अयमु ते समतसि कपोत इव गर्भधिम् ।
वचस्तच्चिन्न ओहसे ॥९॥

भावार्थः—हे इन्द्र ! राजन् ! (**ते**) आपका (**अयम्**) यह प्रजाजन (**उ**) भी (**गर्भधिम्**) गर्भधारिणी कबूतरी को (**कपोत इव**) कबूतर के समान कामना करता हुआ (**समतसि**) प्राप्त होता है । (**तत्**) इस कारण (**नः**) हम प्रजाजनों के (**वचः**) प्रार्थना को (**चित्**) भी (**ओहसे**) प्राप्त हूजिये, सुनिये ॥

कबूतर स्वाभाविक अत्यन्त कामी होता है । जैसा कबूतर को कबूतरी में अत्यन्त अनुराग होता है, वैसे ही न्यायपरायण राजा में प्रजा को अत्यन्त अनुराग होता है, होना चाहिये । ऐसा होता है तब राजा अवश्य प्रजा की पुकार सुनता है ॥

अथवा—इन्द्र ! हे परमात्मन् ! (ते) आपका (अयम् उ) यह प्राणी भी (गर्भधिम्) गर्भवास रूप समुद्र को (कपोत इव) जल की नौका के समान (समतसि) निरन्तर प्राप्त होता है (तत्) इससे (चित्) भी (नः) हम प्राणियों की (वचः) पुकार को (ओहसे) प्राप्त हूजिये वा सुनिये ॥ ऋग्वेद १। ३०।४॥ ॥९॥

अथ दशम्याः—वातायन उल ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ।

२ ३ १ २ ३२ ३१ २३१ २ ३२
१८४—वात आ वातु भेषजं शंभु मयोभु नो हृदे ।
२ ३ १ २
प्र न आयूंषि तारिषत् ॥१०॥

इति सप्तमी दशतिः ॥७॥

भावार्थः—हे इन्द्र ! राजन् ! वा परमात्मन् ! (नः) हमारे (हृदे) हृदय के लिये (शम्भु) रोगशमनकारक (मयोभु) सुखदायक (भेषजम्) औषध को (वातः) वायु (आवातु) बहावे और (नः) हमारी (आयूंषि) आयुओं को (प्र, तारिषत्) बढ़ावे ॥

राजा के सुप्रबन्ध और परमात्मा की कृपा से वायु की शुद्धि द्वारा मनुष्यों को औषध तुल्य वायु सेवन करने से बल नीरोगता दीर्घायुष्कता और सुख प्राप्त होता है ॥ ऋ० १० । १८६ । १ ॥ १० ॥

यह दूसरे अध्याय में सातवीं दशति पूर्ण हुई ॥७॥

यं रक्षन्तीति चेन्द्रस्य गायत्र्यो दशतौ नव ॥१॥

अथाऽष्टमी दशतिस्तत्र प्रथमायाः—कण्व ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१ २९ ३ १ २ ३ १२ ३ १ २३२
१८५—यं रक्षन्ति प्रचेतसो वरुणो मित्रो अर्यमा ।
२ ३ १ २ ३ १ २
न किः स दभ्यते जनः ॥१॥

भावार्थः—हे इन्द्र ! परमात्मन् ! वा राजन् ! (**यम्**) जिस जन की (**प्रचेतसः**) महाज्ञानी (**वरुणः**) वरणीय (**मित्रः**) सुहृद् (**अर्यमा**) न्यायकारी (**रक्षन्ति**) रक्षा करते हैं (**सः**) वह (**जनः**) जन (**नकिः**) नहीं (**दभ्यते**) मारा जाता ॥

ऋग्वेद १ । ४१।१ में "नूचित्स दभ्यते" पाठ है ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—वत्स ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

३ २उ ३ १ २ ३ २ २ १ २१२२
१८६—गव्यो षु णो यथा पुराश्वयोत रथया ।
३ २ ३ १ २
वरिवस्या महोनाम् ॥२॥

भावार्थः—हे मनुष्य ! तू (**यथा पुरा**) पूर्व के समान (**नः**) हमारी (**गव्या**) गौ की इच्छा (**उ**) और (**अश्वया**) घोड़े की इच्छा (**उत**) और (**रथया**) रथ की इच्छा और (**महोनाम्**) सत्काराहं धनों की इच्छा से इन्द्र परमेश्वर को (**सु, वरिवस्य**) सेवित कर ॥

मनुष्यों को परमात्मा की सेवा भक्ति से गौ घोड़े रथ धन धान्यादि सर्व सुख-भोग की इच्छा करनी चाहिये ॥

अष्टाध्यायी [वा] ३ । १ । ८ ॥ ७ । ४ । ३५ ॥ ७ । १ । ३४ इत्यादि के प्रमाण तथा ऋ० ८ । ४६ । ९ के पाठ का अन्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ तृतीयस्याः—वत्स ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१८७—इमास्त इन्द्र पृश्नयो घृतं दुहत आशिरम् ।
३ २३१ २ ३ १ २
एनामृतस्य पिप्युषीः ॥३॥

भावार्थः—(**इन्द्र**) परमेश्वर ! वा सूर्य (**ते**) तेरी रची हुई वा तेरी ही (**इमाः**) ये (**ऋतस्य**) जल की (**पिप्युषीः**) बढ़ाने वाली (**पृश्नयः**) किरणें (**एनाम्**) इस (**आशिरम्**) टपकने वाले (**घृतम्**) जल को (**दुहते**) पूरती वा वर्षाती हैं ॥

निरुक्त २ । १४ निघण्टु १ । १२ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ८।६।१८ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—श्रुतकक्ष ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ।।

३ २ ३ १ २ ३ १ २र
१८८—अया धिया च गव्यया पुरुणामन् पुरुष्टुत ।
१ २र ३ १ २
यत्सोमेसोम आभुवः ।।४।।

भावार्थः—(पुरुणामन्) बहुकीर्ते ! (पुरुष्टुत) वेदों में सबसे अधिक स्तुत ! इन्द्र ! परमात्मन् ! (यत्) जबकि आप (सोमे सोमे) प्रत्येक सौम्य पुरुष पर (आभुवः) कृपा करते हुए साक्षात् हों तब हम (अया) इस (धिया) बुद्धि (च) और (गव्यया) गवादि धन की इच्छा से भरपूर हों ।।

इन्द्र ही के वेदों में सबसे अधिक नाम और स्तुति हैं । यह पूर्व सिद्ध कर आये हैं ।। ऋ० ८।९३।१७ ।।४।।

अथ पञ्चम्याः—मधुच्छन्दा ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ।।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१८९—पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती ।
३ १ २ ३ १ २
यज्ञं वष्टु धियावसुः ।।५।।

भावार्थः—प्रकरण से हे इन्द्र ! परमात्मन् ! (नः) हमारी (सरस्वती) ज्ञानयुक्त वाणी (पावका) पवित्र उपदेशिका और (वाजेभिः) अन्नादि से (वाजिनीवती) अन्नादि युक्त हो तथा (धियावसुः) शुद्ध कर्म वा प्रज्ञा के साथ बसाने वाली (यज्ञम्) अग्निहोत्रादि शिल्पान्त यज्ञ को (वष्टु) चाहने वाली हो ।।

अष्टाध्यायी ३।२।३।। ६ । ३ । १४।। २ । २ । १९।। उणादि । ४।१८९।। शतपथ ६ । २ । ३ । १८ ।। १ । १ । २ । १ ।। निघण्टु १।११ ।। निरुक्त ११।२६ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।। ऋ० १ । ३ । १० में भी ।।५।।

अथ षष्ठ्याः—वामदेव ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ।।

२ ३१ २र ३ २उ ३ १ २
१९०—क इमं नाहुषीष्वा इन्द्रं सोमस्य तर्पयात् ।
२ ३ २ ३ १ २
स नो वसून्या भरात् ।।६।।

भावार्थः -- (कः) परमेश्वर (नाहुषीषु) मानुषी प्रजाओं के निमित्त (इमम्) इस (इन्द्रम्) वर्णन वाले को (सोमस्य) सोम से (तर्पयात्) तृप्त

करे (**सः**) वह इन्द्र (**नः**) हमारे लिये (**वसूनि**) धन धान्यादि (**आभरात्**) प्राप्त कराये ॥

परमात्मा ऐसी कृपा करे कि वृष्टिकारक विद्युत् सोम से तृप्त अर्थात् पूर्ण आप्यायित हो, जिससे वह वृष्टि द्वारा धान्यादि का वर्धक हो ॥

निघण्टु २ । ३ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥६॥

अथ सप्तम्याः—हरिमिढ ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१६१—आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम् ।
एदं बर्हिः सदो मम ॥७॥

भावार्थ—(**इन्द्र**) परमेश्वर ! (**आयाहि**) हमें प्राप्त हूजिये हम (**ते**) आपके लिये (**सोमम्**) सौम्य गुणविशिष्ट हृदय के शुद्ध भाव को (**सुषुम**) उत्पन्न करते हैं (**इमम्**) इस भाव का (**पिब**) ग्रहण कीजिये । (**मम**) मुझ उपासक के (**इदम्**) इस (**बर्हिः**) ज्ञानयज्ञस्थल को (**आ-सदः**) अपनी प्राप्ति से पवित्र कीजिये ॥

भौतिक पक्ष में—(**इन्द्र**) इन्द्र नामक विद्युत् ! (**आ याहि**) प्राप्त हो, हमने (**ते**) तेरे लिये (**सोमम्**) सोम रस (**सुषुम**) तैयार किया है (**इमम्**) इस को (**पिब**) पी (**मम**) मेरे (**इमम्**) इस (**बर्हिः**) यज्ञस्थल को (**आ-सदः**) प्राप्त हो ॥

तात्पर्य यह है कि यज्ञकर्ता जब सोमरस को तैयार करके यज्ञ में होम करते हैं तो इन्द्र नामक विद्युत् उसे सब ओर से आकर शोषण करता है तब उत्तम वर्षा होती है ॥ ऋ० ८।१७।१ में भी ॥७॥

अथाऽष्टम्याः—वारुणिः सत्यधृतिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१६२—महि त्रीणामवरस्तु द्युक्षं मित्रस्यार्यम्णः ।
दुराधर्षं वरुणस्य ॥८॥

भावार्थः—हे इन्द्र ! परमात्मन् ! (**मित्रस्य**) मित्र (**वरुणस्य**) वरणीय और (**अर्यम्णः**) न्यायकारी (**त्रीणाम्**) इन तीनों विशेषणों वाले तुझ ईश्वर की की हुई (**महि**) बड़ी (**द्युक्षम्**) प्रदीप्त (**दुराधर्षम्**) जिसे कोई दबा न सके ऐसी (**अवः**) रक्षा (**अस्तु**) हो ॥

यहाँ मित्र वरणीय और न्यायकारी ये तीनों विशेषण परमात्मा के हैं इस लिये 'त्रीणाम्' पद से तीनों विशेषणों वाले एक ही परमात्मा का ग्रहण है। किन्तु स्वरूपत: उसमें त्रित्व नहीं क्योंकि अथर्व १३।४।१६ में "न द्वितीय:" इत्यादि मन्त्र द्वारा एकत्व से आगे द्वित्वादि धर्म परमात्मा में भी वर्जित है ।। ऋ० १०।१८५।१ में "त्रीणामवोस्तु" यह पाठ में भेद है ।।८।।

अथ नवम्या:—वत्स ऋषि: । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्द: ।।

१६३—त्वावतः पुरूवसो वयमिन्द्र प्रणेतः ।
स्मसि स्थातर्हरीणाम् ॥६॥
इत्यऽष्टमी दशतिः ॥ ८ ॥

(इति द्वितीयः प्रपाठकः) ॥ २ ॥

भावार्थ:—(**हरीणाम्**) मनुष्यादि के (**स्थातः**) अधिष्ठातः ! (**पुरूवसो**) पुष्कल वास देने वाले ! (**प्रणेतः**) उत्तम नेता ! मार्गदर्शक ! (**इन्द्र**) परमात्मन् ! (**वयम्**) हम लोग (**त्वावतः**) आप सदृश ही के (**स्मसि**) हैं ।।

नत्वावां अन्य इत्यादि (ऋ० ७ । ३२ । २३) श्रुतिप्रमाण से परमात्मा के सदृश कोई नहीं, इससे वह अपने सदृश आप ही है ।। अष्टाध्यायी ।। ७ । २ । ९८।। ६ । ३ । ९१ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।। ऋ० ८ । ४७ । १ ।। ६ ।।

यह द्वितीयाध्याय में आठवीं दशति ॥८॥
और
द्वितीय प्रपाठक समाप्त हुआ ॥२॥

उत्वामदन्त्वितीन्द्रस्य गायत्र्यो दशतौ दश ॥१॥

अथ नवमी दशतिस्तत्र प्रथमाया:—प्रगाथ ऋषि: ।
इन्द्रो देवता । गायत्री छन्द: ।।

१६४—उत्वा मदन्तु सोमाः कृणुष्व राधो अद्रिवः ।
अव ब्रह्मद्विषो जहि ॥१॥

भावार्थः—(**अद्रिवः**) चराचर के ग्रहीता सूर्यादि वाले ! (**सोमाः**) सौम्य उपासक लोग (**त्वा उ**) आपको ही (**मदन्तु**) प्रसन्न करें । (**राधः**) विद्यादि धन (**कृणुष्व**) कीजिये । (**ब्रह्मद्विषः**) वेद शास्त्रादि के शत्रुओं को (**अवजहि**) दूर कीजिये ॥

अष्टाध्यायी ८।३।१॥ ८।२। १५ ॥ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ८ । ६४ । १ में मन्दन्तु स्तोमाः पाठ है ॥

अथ द्वितीयायाः--विश्वामित्र ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१२ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २
१६५—गिर्वणः पाहि नः सुतं मधोर्धाराभिरज्यसे ।
२ ३ १ २ ३ १ २र
इन्द्र त्वादातमिद्यशः ॥२॥

भावार्थः—(**गिर्वणः**) वाणी से भजनीय ! (**इन्द्र**) परमात्मन् ! वा राजन् ! (**नः**) हमारे मध्य में (**सुतम्**) स्तोता की (**पाहि**) रक्षा कीजिये । (**मधोः**) मधुर आनन्द की (**धाराभिः**) धारों से आप (**अज्यसे**) सराबोर हैं (**यशः**) जल अन्न वा धन (**त्वादातम्**) आप का शोधित (**इत्**) ही है ॥

निघण्टु १ । १२ ॥ २ । ७ ॥ २ । १० के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ३ । ४० । ६ में भी ॥२॥

अथ तृतीयायाः—वामदेव ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१ २ ३ २ ३ १ २३ २र ३ १ २र २
१६६—सदा व इन्द्रश्चकृषदा उपो नु स सपर्यन् ।
२ ३ १ ३२उ ३ १ २
न देवो वृतः शूर इन्द्रः ॥३॥

भावार्थः—हे मित्रो ! (**सः**) वह (**इन्द्रः**) परमात्मा (**वः**) तुम्हें (**सदा**) सर्वदा (**उप, उ,**) समीप ही वर्तमान (**आ, चकृषत्**) आकर्षित करता है । (**न**) जैसे (**सपर्यन्**) सत्कार करता हुआ । (**नु**) परन्तु (**इन्द्रः**) परमेश्वर (**शूरः**) निर्भय (**देवः**) प्रकाशक है ऐसा (**वृतः**) भक्तिपूर्वक स्वीकार किया हो तब ॥

जो लोग परमेश्वर को निर्भय प्रकाशक जान कर भक्ति से उनका वरण करते हैं, उनके हृदय में सदा समीपता से वर्तमान परमेश्वर उन को अपने समीप आकर्षित करता है, मोक्ष देता है ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—श्रुतकक्ष ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१६७—आ त्वा विशन्त्विन्दवः समुद्रमिव सिन्धवः ।
न त्वामिन्द्रातिरिच्यते ॥४॥

भावार्थः—(**इन्द्र**) परमात्मन् ! (**इन्दवः**) मन की वृत्तियां (**त्वा**) आप में (**आ, विशन्तु**) लगें । (**सिन्धवः**) जैसे नदियां (**समुद्रमिव**) समुद्र को । (**त्वाम्**) आप से [कोई] (**न, अतिरिच्यते**) बढ़कर नहीं है ॥ ऋ० ८ । ६३ । २२ में भी ॥४॥

अथ पञ्चम्याः—मधुच्छन्दा ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१६८—इन्द्रमिद्गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः ।
इन्द्रं वाणीरनूषत ॥५॥

भावार्थः—(**गाथिनः**) गीयमान साम के गाने वाले उद्गाता लोग (**इन्द्रम्**) परमेश्वर को (**इत्**) ही (**बृहत्**) बहुत (**अनूषत**) स्तुत करते हैं (**अर्किणः**) मन्त्रवाले होता लोग (**इन्द्रम्**) परमेश्वर को (**अर्केभिः**) ऋग्वेद के मन्त्रों से स्तुत करते हैं । शेष अध्वर्यु लोग (**इन्द्रम्**) परमेश्वर को (**वाणीः**) यजुर्वेद की वाणियों से स्तुत करते हैं ॥

निरुक्त ५ । ४ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० १ । ७ । १ में भी ॥५॥

अथ षष्ठ्याः—श्रुतकक्ष ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१६९—इन्द्र इषे ददातु न ऋभुक्षणमृभुं रयिम् ।
वाजी ददातु वाजिनम् ॥६॥

भावार्थः—(**इन्द्रः**) परमेश्वर (**इषे**) अन्नादिक (**नः**) हमारे लिये (**ददातु**) देवे । और (**वाजी**) बलिष्ठ परमात्मा (**ऋभुक्षणम्**) महान् (**रयिम्**) धनरूप (**ऋभुम्**) मेधावी (**वाजिनम्**) बलिष्ठ [अपने स्वरूप को हमें] (**ददातु**) देवे ॥

दयालु परमात्मा शरीर के पोषणार्थ अन्नादि और आत्मा के पोषणार्थ अपना ज्ञान देवे, यह प्रार्थना है।

निघण्टु २। ३॥ ३। १५॥ २। ६ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये। ऋ० ८। ६३। ३४ में भी ॥६॥

अथ सप्तम्याः—गृत्समद ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्री छन्दः॥

१ २ ३ २ १२ ३ २ ३ १२
२००—इन्द्रो अङ्ग महद्भयमभीषदपचुच्यवत्।
२३ ३ १२ २१
स हि स्थिरो विचर्षणिः ॥७॥

भावार्थः—(अंग) हे प्रिय जिज्ञासो (इन्द्रः) परमेश्वर और सूर्यलोक (अभीषत्) सब ओर से प्राप्त हुए (महद्भयम्) बड़े भय को (अपचुच्यवत्) भगाता है। (हि) क्योंकि (सः) वह (स्थिरः) कूटस्थ वा अपनी परिधि में स्थित (विचर्षणिः) ज्ञानदृष्टि वा भौतिक दृष्टि का दाता है। निघण्टु ३। ११॥

परमात्मा कृपा करके मुमुक्षु के संसरण भय को दूर करता और ज्ञान से मुक्ति देता है। सूर्य भी अन्धकार भय को हटाकर सबको दिखाता है और अपनी परिधि में स्थिर है॥ ऋग्वेद २। ४१। १०॥७॥

अथाऽष्टम्याः—भरद्वाज ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्री छन्दः॥

२ १ २ ३१ २३ १ २ ३ १ २
२०१—इमा उ त्वा सुते सुते नक्षन्ते गिर्वणो गिरः।
१ ३ ३ २३ ३ १२
गावो वत्सं न धेनवः ॥८॥

भावार्थः—(गिर्वणः) वाणी से भजनीय! परमेश्वर! (इमाः) ये (गिरः) हमारी वाणियें (सुते सुते) जब-जब सौम्यभाव उत्पन्न होता है तब-तब (त्वा उ) आपको ही (नक्षन्ते) प्राप्त होती हैं। स्नेह में दृष्टान्त—(न) जैसे (धेनवः) दुधार (गावः) गौवें (वत्सम्) प्यारे बछड़े को ही प्राप्त हो जाती हैं॥

जैसे गौवें प्यार के वशीभूत हुई जंगल में जहाँ-तहाँ घूम कर जब दूध देने का समय आता है तब-तब प्यारे बछड़े के ही समीप पहुँचती है। इसी प्रकार अनन्त आनन्द का सागर होने से प्रीतिपात्र परमात्मा को प्रत्येक मनुष्य की वाणी पुकारने लगती है, जब जब कि वह एकान्त में बैठ, राग द्वेषादि छोड़, हृदय में सौम्य शांत-भाव उत्पन्न करता है॥

निघं० २ । १८ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ६।४५।२८ ॥८॥

अथ नवम्याः—ऋष्याद्याः पूर्ववत् ॥

२ ३ १ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
२०२—इन्द्रा नु पूषणा वयं सख्याय स्वस्तये ।
३ २ ३ १ २
हुवेम वाजसातये ॥९॥

भावार्थः—(वयम्) हम (वाजसातये) धन अन्न और बल के दान के लिये (स्वस्तये) कल्याण के लिये (सख्याय) और मित्रता के लिये (इन्द्रा) ऐश्वर्यवान् (नु) और (पूषणा) पुष्टिकर्त्ता को (हुवेम) सत्कृत करें ॥

अष्टाध्यायी ७।१।३९॥ ६।१।३२-३४॥ ३।३।९७॥ निघण्टु ३। १४॥ २।६ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ६ । ५७ । १ में भी ॥९॥

अथ दशम्याः—वामदेव ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१ २ ३ २ २र ३ १ २र
२०३—न कि इन्द्र त्वदुत्तरं न ज्यायो अस्ति वृत्रहन् ।
२ ३ २र ३ २
न क्येवं यथा त्वम् ॥१०॥

इति नवमी दशतिः ॥९॥

भावार्थः—(इन्द्र) परमैश्वर्यवाले ! (त्वत्) तुझ से (उत्तरम्) श्रेष्ठ (नकि) कुछ नहीं । (न) न तुझ से (ज्यायः) बड़ा (अस्ति) है (वृत्रहन्) मेघविनाशक के समान अविद्यादिनाशक ! (यथा) जैसे कि (त्वम्) तू [उपकार करता है वैसे] (नकि, एव) अन्य कोई नहीं ॥

निरुक्त ३ । १५ का प्रमाण और ऋग्वेद ४ । ३० । १ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥१०॥

यह द्वितीयाध्याय में नवमी दशति समाप्त हुई ॥

तरणिं व इतीन्द्रस्य गायत्र्यो दशतौ दश ॥१॥

अथ दशमी दशतिस्तत्र प्रथमायाः—त्रिशोक ऋषिः । इन्द्रो देवता ॥ गायत्री छन्दः ॥

३१२ ३ १२ ३१ २र ३ १ २
२०४—तरणिं वो जनानां त्रदं वाजस्य गोमतः ।
३ २३ १ २
समानमु प्र शंसिषम् ॥१॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! (**वः**) तुम्हारे (**जनानाम्**) मनुष्यों के (**तरणिम्**) तारने वाले (**गोमतः**) गवादि पशुयुक्त (**वाजस्य**) अन्न व धन बल के (**त्रदम्**) प्रेरक (**समानम्**) एक रस को (**उ**) ही (**प्रशंसिषम्**) स्तुत करूँ वा करो ॥

ऋ० ८।४५।२८ में भी ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—मधुच्छन्दा ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २र
२०५—असृग्रमिन्द्र ते गिरः प्रति त्वामुदहासत ।
३ १ ३ ३ १ २र
सजोषा वृषभं पतिम् ॥२॥

भावार्थः—(**इन्द्र**) परमेश्वर ! (**ते**) आप की (**गिरः**) वेदवाणी को (**अहम्**) मैं (**सजोषाः**) साथ सेवित करता हुआ (**असृग्रम्**) वर्णन करता हूँ वे वेदवाणियें (**त्वा प्रति**) आप को (**उदऽहासत**) उच्च भाव से प्राप्त कराती हैं । जो कि आप (**वृषभम्**) धर्मार्थ काम मोक्ष के वर्षाने वाले और (**पतिम्**) पालनकर्त्ता हैं, उनको ॥

अष्टाध्यायी ७ । १ । ८ निरुक्त १ । ३ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋ० १ । ६ । ४ में "अजोषा" पाठ है ॥२॥

अथ तृतीयस्याः—वत्स ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

३ २ ३ २उ ३ २ ३२३ १२३ १
२०६—सुनीथो घा स मर्त्यो यं मरुतो यमर्यमा ।
३ २उ ३१ २
मित्रास्पान्त्यद्रुहः ॥३॥

भावार्थः—(**घ**) निश्चय (**यम्**) जिसकी (**अद्रुहः**) द्रोहरहित (**मरुतः**) वायु वा ऋत्विज् लोग (**पान्ति**) रक्षा करते हैं (**यम्**) जिस मनुष्य

को (अर्यमा) परमात्मा वा न्यायकारी (मित्रः) सुहृद् रक्षा करता है (सः) वह (मर्त्यः) मनुष्य (सुनीथः) प्रशंसित है ॥

निघण्टु ३ । ८ ऋ० ८ । ४६ । ४ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—त्रिशोक ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

२०७—यद्वीडाविन्द्र यत्स्थिरे यत्पर्शाने पराभृतम् ।
वसु स्पार्हं तदा भर ॥४॥

भावार्थः— (इन्द्र) परमेश्वर ! (यत्) जो (वसु) धन (वीडौ) बल पुरुषार्थ में है और (यत्) जो धन (स्थिरे) स्थिर वस्तुओं में है और (यत्) जो (पर्शाने) मेघादि में (स्पार्हम्) स्पृहणीय धन है वह (आभर) प्राप्त कराइये ॥

निघण्टु २ । ६ ॥ १ । १० इत्यादि के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋ० ८ । ४५ । ४१ में भी ॥४॥

अथ पञ्चम्याः—सुकक्ष ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

२०८—श्रुतं वो वृत्रहन्तमं प्र शर्द्धं चर्षणीनाम् ।
आशिषे राधसे महे ॥५॥

भावार्थः—(वः) तुम (चर्षणीनाम्) मनुष्यों के (महे) बड़े (राधसे) धन के लिये (वृत्रहन्तमम्) दुष्टदमन (श्रुतम्) विख्यात (शर्धम्) बल को (प्र, आशिषे) उच्च भाव से आशिष देता हूँ ॥

निघण्टु २ । १० का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋ० ८ । ९३ । १६ में भी ॥५॥

अथ षष्ठ्याः—वामदेव ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

२०९—अरं त इन्द्र श्रवसे गमेम शूर त्वावतः ।
अरं शक्र परेमणि ॥६॥

भावार्थः—(**शक**) हे सर्वशक्तिमन् ! (**शूर**) हे परमसामर्थ्ययुक्त ! (**इन्द्र**) परमेश्वर ! (**त्वावतः**) अपने से तुल्य (**ते**) आप के (**श्रवसे**) यश के लिये (**अरं, गमेम**) सदा सर्वथा प्राप्त होवें और (**परेमणि**) मोक्षदायक समाधि में (**अरम्**) हम सर्वथा प्राप्त होवें ॥

हे परमेश्वर ! आप सर्वशक्तिमान् और अनन्त सामर्थ्ययुक्त हैं। आप ही अपने तुल्य हैं। हमको ऐसा सामर्थ्य दीजिये जिससे आपके यश और ध्यान में तत्पर होकर मोक्ष को प्राप्त हों ॥६॥

अथ सप्तम्याः—विश्वामित्र ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्री छन्दः ॥

३ १२ ३१ २ ३१२ १२
२१०—धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम् ।
१ २ ३ १ २
इन्द्र प्रातर्जुषस्व नः ॥७॥

भावार्थः—(**इन्द्र**) हे परमात्मन् ! (**नः**) हमारे (**धानावन्तम्**) खीलों वाले (**करम्भिणम्**) दही सत्तू वाले और (**प्रातः**) प्रातः सवन में (**अपूपवन्तम्**) सवनीय पुरोडाश [वा पूड़े] वाले और (**उक्थिनम्**) स्तोत्र वाले को (**जुषस्व**) प्रीतिपात्र कीजिये ॥

जो मनुष्य प्रातःकाल उठकर खील दधि सक्तु पुरोडाश (यज्ञार्थ पाकविशेष) पूड़े आदि उत्तम सात्त्विक पदार्थों से यज्ञ करते हैं उनसे परमेश्वर प्रसन्न होता है ॥ ऋ० ३। ५२। १ में भी ॥७॥

अथाऽष्टम्याः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनावृषी। इन्द्रो देवता। गायत्री छन्दः ॥

३ १ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
२११—अपां फेनेन नमुचेः शिरः इन्द्रोदवर्त्तयः ।
२ ३ १ २र ३ १ २
विश्वा यदजयः स्पृधः ॥८॥

भावार्थ—(**इन्द्र**) परमेश्वर ! वा वृष्टिकारक इन्द्र ! (**अपाम्**) जलों की (**फेनेन**) वृद्धि के सहित वर्त्तमान (**नमुचेः**) जल को न छोड़ने वाले मेघ के (**शिरः**) उन्नताङ्ग को (**उदवर्त्तयः**) छिन्न करता है (**यत्**) जबकि (**विश्वाः**) समस्त (**स्पृधः**) स्पर्धा करने वाली सेना के समान मेघ की पंक्तियों को (**अजयः**) जीतता है ॥

पक्षान्तर में—शतपथ १२। ७। ३। ४ के अनुसार नमुचि पाप का नाम है। पूर्व मन्त्र में लिखे यज्ञ का फल इस मन्त्र में वर्षा होना कहा गया है ॥

अष्टाध्यायी १ । १ । ३७ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥
ऋ० ८ । १४ । १३ में भी ॥८॥

अथ नवम्याः—वामदेव ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
२१२—इमे त इन्द्र सोमाः सुतासो ये च सोत्वाः ।

१ २
तेषां मत्स्व प्रभूवसो ॥९॥

भावार्थः—(इन्द्र) परमेश्वर ! **(ये)** जो **(ते)** आपके लिए **(सोमाः)** मन **(सुतासः)** शुद्ध किये हैं **(च)** और जो **(सोत्वाः)** शुद्ध किये जायेंगे, वे हैं। **(प्रभूवसो)** हे बहुधन ! **(तेषाम्)** उनसे **(मत्स्व)** प्रसन्न हूजिये ॥

हे परमात्मन् ! हम मुमुक्षु और आपके जिज्ञासुओं ने यथाशक्ति अपने-अपने मन अन्तःकरण शुद्ध किये हैं और करेंगे । इसलिए हम पर प्रसन्न हूजिये ॥

भौतिक पक्ष में—(इन्द्र) मेघवर्षक ! **(प्रभूवसो)** पुष्कल वास के हेतुभूत ! **(ते)** तेरे लिए **(सोमाः)** औषधियां **(सुतासः)** सम्पादन की हैं **(च)** और **(ये)** जो **(सोत्वाः)** सम्पादित की जायेंगी **(तेषाम्)** उनसे **(मत्स्व)** वृद्धि को प्राप्त हो ॥

अर्थात् कुछ औषधियां ठीक सम्पन्न करके शेष सम्पन्न होती रहें और इन्द्र के उद्देश्य से होम की जावें तो वह हृष्ट अर्थात् वृष्ट्यादि का हेतु होता है ॥

ऋ० ८ । २ । १० में केवल "इमे त इन्द्र सोमाः" इतना आरम्भ का पाठ मिलता है, आगे नहीं ॥९॥

अथ दशम्याः—श्रुतकक्ष ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१ २ ३ २३ १ २ ३ २ ३ १ २
२१३—तुभ्यं सुतासः सोमाः स्तीर्णं बर्हिर्विभावसो ।

३ १ २
स्तोतृभ्य इन्द्र मृडय ॥१०॥

इति दशमी दशतिः ॥१०॥

भावार्थः—(विभावसो) प्रकाशधन परमेश्वर ! **(तुभ्यम्)** आपके लिए **(सोमाः)** मन **(सुतासः)** शुद्ध किये हैं और **(बर्हिः)** हृदयभूमि रूप आसन **(स्तीर्णम्)** बिछाया है । **(इन्द्र)** परमैश्वर्यवन् ! **(स्तोतृभ्यः)** उपासकों के लिए **(मृडय)** सुख दीजिये ॥

भौतिक पक्ष में—(**विभावसो**) चमकीले (इन्द्र) विद्युत् विशेष ! (**तुभ्यम्**) तेरे लिये (**सोमाः**) औषधियाँ (**सुतासः**) सम्पन्न की हैं और (**बर्हिः**) यज्ञ के आसनादि (**स्तीर्णम्**) बिछाये हैं। अतः (**स्तोतृभ्यः**) यज्ञकर्ताओं के लिए (**मृडय**) सुख दे ॥

जब मनुष्य सोमादि औषधियों को तैयार करके यज्ञस्थल में आसनादि बिछाय यज्ञ करते हैं, तब उन्हें सुख प्राप्त होता है।

ऋ० ८। ६३। २५ में जो अन्तर है वह संस्कृतभाष्य में देखिये ॥१०॥

यह द्वितीयाध्याय में दशवीं दशति समाप्त हुई ॥

अथैकादशी दशतिस्तत्र प्रथमायाः—शुनःशेप ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्री छन्दः ॥

आ व इन्द्रमितीन्द्रस्य गायत्र्यो दशतौ नव ॥१॥

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२ ३ १ २
२१४—आ व इन्द्रं क्रिविं यथा वाजयंतः शतक्रतुम्।
१ २ ३ १ २
मंहिष्ठं सिञ्च इन्दुभिः ॥१॥

भाषार्थः—हे मनुष्यो ! मैं परमेश्वर (**वः**) तुम में (**शतक्रतुम्**) बहुत अनन्त कर्मवाले (**मंहिष्ठम्**) अत्यन्त पूजनीय (**इन्द्रम्**) अपने आत्मा को (**आ-सिञ्चे**) सींचता हूँ। दृष्टान्त—(**यथा**) जैसे (**वाजयन्तः**) अन्न की उत्पत्ति चाहने वाले लोग (**इन्दुभिः**) जलों से (**क्रिविम्**) खेती को सींचते हैं तद्वत् ॥

जैसे अन्न रस आदि देहपुष्टि के लिये कृषक लोग खेत को जल से सींचते हैं इसी प्रकार आत्मा की पुष्टि के लिये पूजनीय अनन्त ज्ञान वा कर्म वाले परमात्मा से हमको हृदय सींचने चाहियें। इसलिये परमात्मा ने मनुष्यों के हृदय को आत्मज्ञान का खेत बनाया है ॥

निघण्टु १। १२ ॥ ३। १७ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋग्वेद १। ३०। १ में "क्रिविम्" पाठ है ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—श्रुतकक्ष ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्री छन्दः ॥

१ २ २ १ २र ३ १ २
२१५—अर्तश्चिदिन्द्र न उपा याहि शतवाजया।
३ २ ३ १ २
इषा सहस्रवाजया ॥२॥

भावार्थः—(**अतः चित्**) इस लिये ही (**इन्द्र**) हे परमेश्वर ! आप (**शतवाजया**) अनन्त बलयुक्त और (**सहस्रवाजया**) अनन्त आत्मिक अन्नयुक्त (**इषा**) आनन्दरूपी रस के साथ (**नः**) हमको (**उपायाहि**) प्राप्त हूजिये ॥

निघण्टु २ । ७ ॥ २ । ६ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋग्वेद ८ । ९२ । १० में भी ॥२॥

अथ तृतीयायाः—त्रिशोक ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
२१६—आ बुन्दं वृत्रहा ददे जातः पृच्छाद्विमातरम् ।
२ ३ १ २र
क उग्राः के ह शृण्विरे ॥३॥

भावार्थः—(**वृत्रहा**) शत्रुहा क्षत्रिय (**जातः**) धनुर्वेद के ज्ञान से प्रसिद्ध हुआ (**बुन्दम्**) बाण को (**आ-ददे**) ले और (**मातरम्**) जननी वा मान्यकर्त्री प्रजा से (**वि, पृच्छात्**) विविध प्रकार से पूछे कि (**के**) कौन (**उग्राः**) उपद्रवी हैं और (**ह**) प्रसिद्ध (**के**) कौन (**शृण्विरे**) विख्यात हैं ॥

क्षत्रिय को योग्य है कि धनुर्वेद में निष्णात हो कर, धनुष बाण ले, प्रजा से विविध प्रकार से पूछे कि तुम्हें कौन उपद्रवी और विख्यात दस्यु जान पड़ते हैं ॥ निरुक्त ६ । ३२ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ८ ।४५।४ में "पृच्छत्" पाठान्तर है ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—मेधातिथिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
२१७—वृत्रदुक्थं हवामहे सृप्रकरस्नमूतये ।
१ २ ३ २ ३ १ २
साधः कृण्वन्तमवसे ॥४॥

भावार्थः—तब प्रजा कहें कि हे राजन् ! हम तो (**वृत्रदुक्थम्**) बड़ी प्रशंसायोग्य (**सृप्रकरस्नम्**) प्रलम्बबाहु (**अवसे**) रक्षा के लिये (**साधः**) साधनरूप धन को (**कृण्वन्तम्**) कर रूप से कमाने वाले आप की ही (**हवामहे**) पुकार करती हैं ॥

निघण्टु ४।३॥ २।४ ॥ निरुक्त ६ । १७ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥
ऋ० ८ । ३२ । १० में "साधु कृण्वन्तम्" पाठ है ॥४॥

अथ पञ्चम्याः—गोतम ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्री छन्दः ॥

२१८—ऋजुनीती नो वरुणो मित्रो नयति विद्वान्।
अर्यमा देवैः सजोषाः ॥५॥

भावार्थ – फिर प्रजा इस प्रकार प्रार्थना करें कि—(वरुणः) सहर्ष वरने योग्य (मित्रः) मित्रता से वर्त्तने वाले (विद्वान्) हमारी अवस्था के जानने वाले (अर्यमा) न्याय करने वाले और (देवैः, सजोषाः) विद्वान् मन्त्रियों से, प्रीति रखने वाले आप (नः) हमको (ऋजुनीती) सरल नीति से (नयति) शासित कीजिये ॥

ऋ० १। ६०। १ में तो "नयतु" ही पाठ है ॥५॥

अथ षष्ठ्याः—ब्रह्मातिथिर्ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्री छन्दः ॥

२१९—दूरादिहेव यत्सतोऽरुणप्सुरशिश्वितत्।
वि भानुं विश्वथा तनत् ॥६॥

भावार्थः –(अरुणप्सु) सूर्य (यत्) जैसे (सतः) पदार्थों को (दूरात्) दूर से ही (इह, इव) समीप के तुल्य (अशिश्वितत्) श्वेत करता है, प्रकाशित करता है। ऐसे ही हे राजन्! आप (भानुम्) न्याय के प्रकाश को (वि, अतनत्) विस्तृत करें ॥

निघण्टु ३। ७ अष्टाध्यायी ८। १। ६६ ॥ ५। १। १११ ॥ ३। १।८५ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ८।५। १ में "सत्यरुणप्सुः" पाठ है ॥६॥

अथ सप्तम्याः–विश्वामित्रो जमदग्निर्वा ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्री छन्दः ॥

२२०—आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम्।
मध्वा रजांसि सुक्रतू ॥७॥

भावार्थः—प्रकरण से हे इन्द्र! राजन्! (नः) हमारे लिये (सुक्रतू) शोभन कर्म वाले (मित्रावरुणा) सूर्यान्तर्गत वृष्टिहेतु देव (घृतैः) जलों से (गव्यूतिम्) गव्यूति उपलक्षित भूभाग पर्यन्त (मध्वा) मधुर रस से (रजांसि) धरातलों को (आ, उक्षतम्) सींचें ॥

अर्थात् हे राजन् ! मानुष प्रबन्ध से सुख देने के अतिरिक्त वरुण और मित्र का यज्ञप्रबन्ध कीजिये जिससे पृथ्वी तल पर भले प्रकार वर्षा हो ॥

निरुक्त १० । ३ ॥ १० । २१ निघण्टु १ । १२ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ३ । ६२ । १६ में भी ॥७॥

अथाऽष्टम्याः—प्रस्कण्व ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

२२१—उदु त्ये सूनवो गिरः काष्ठा यज्ञेष्वत्नत ।
वाश्रा अभिज्ञु यातवे ॥८॥

भावार्थः—फिर प्रजा यज्ञ के लिए प्रार्थना करे कि हे राजन् ! (उ) और (त्ये) वे (वाश्राः) ध्वनि करने वाले (गिरः सूनवः) वेदवाणी के उत्पादक बालक से वायु (काष्ठाः) दिशाओं को (यातवे) जाने के लिये (यज्ञेषु) यज्ञों में (अभिज्ञु) घुटनों के बल (उद् अत्नत) फैलें ॥

अर्थात् यज्ञों का ऐसा प्रचार हो कि स्वाहान्त मन्त्रों की ध्वनि दिशाओं में व्याप जावे । जैसे बालक घुटनों के बल सरकते हैं ॥

उणादि २ । १३ ॥ ३ । ३५ ॥ अष्टाध्यायी ३।१।६॥ ५।४।१२६ ॥ ३ । ४ । ६ निघण्टु १ । ६ और शिक्षा के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋ० १ । ३७ । १० में "अज्मेष्वत्नत" यह पाठ में भेद है ॥८॥

अथ नवम्याः—मेधातिथिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

२२२—इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम् ।
समूढमस्य पांसुले ॥९॥

इत्येकादशी दशतिः ॥११॥

भावार्थः—(विष्णुः) यज्ञ का परमेश्वर (इदम्) इस जगत् को (त्रेधा) पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौः इन ३ प्रकार (विचक्रमे) पुरुषार्थयुक्त करे वा करता है । और (अस्य) इस जगत् के (पांसुले) प्रत्येक रज वा परमाणु में (समूढम्) अदृश्य (पदम्) स्वरूप को (निदधे) निरन्तर धारण करे वा करता है ॥

भले प्रकार अनुष्ठान किया हुआ यज्ञ पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में फैले

और अपने अदृश्य स्वरूप को जगत् के रज-रज में पहुँचावे। अथवा व्यापक परमात्मा ने पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक को तीन प्रकार से विक्रम पुरुषार्थयुक्त किया है। और जगत् के प्रत्येक परमाणु तक में अपने अदृश्य स्वरूप को अन्तर्यामी रूप से वर्त्तमान कर रक्खा है ।।

इस मन्त्र को सायणाचार्य ने त्रिविक्रमावतार पर लगाया है। सो निर्मूल है। क्योंकि परमेश्वर अकाय होने से निराकार और क्लेश कर्म विपाकाशयों से छुआ हुआ नहीं है। और निरुक्तकार ने भी इसमें वामनावतार का ग्रहण नहीं किया। जैसा कि निरुक्त १२।१६ "व्यापक विष्णु ने इस सब जगत् को तीन प्रकार के होने को विक्रान्त किया है १ पृथिवी, २ अन्तरिक्ष, ३ द्युलोक, यह शाकपूणि आचार्य का मत है। १ समारोहण, २ विष्णुपद, ३ गयशिर, ये और्णवाभ का मत है। उसका पद अदृश्य हो वा उपमा है कि जैसे रेत में पांव नहीं दीखता। पांसु रेणु का नाम है क्योंकि वे पांवों से उत्पन्न होती वा पड़ी सोती हैं" इत्यादि ।। गयशिरसि में गय सन्तान का नाम निघण्टु २। १० के अनुसार और शतपथ १४। ८। १। ७ के अनुसार प्राण का नाम भी गय है ।। ऋ० १। २२। १७ और यजुः ५। १५ में "पांसुरे" पाठ है ।।६।।

यह द्वितीयाध्याय में ११वीं दशति समाप्त हुई ।।

अतीहीतीन्द्रदैवत्या गायत्र्यो दशर्ता दश ।।१।।

अथ द्वादशी दशतिस्तत्र प्रथमायाः—मेधातिथिर्ऋषिः।
इन्द्रो देवता। गायत्री छन्दः ।।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३१ २र
२२३—अतीहि मन्युषाविणं सुषुवांसमुपेरय।
३ २ ३ २ ३ १ २
अस्य रातौ सुतं पिब ।।१।।

भावार्थः—प्रकरण में हे इन्द्र! जीवात्मन्! वा राजन्! तू (**मन्युषाविणम्**) वैमनस्य से सोम खींचने वाले को (**अतीहि**) त्याग दे। किन्तु (**सुषुवांसम्**) अच्छा सोम खींचने वाले को (**उपेरय**) पास रख और (**अस्य**) इस अच्छे के (**सुतम्**) सम्पादित सोम को (**रातौ**) देने पर (**पिब**) पी ।।

ऋ० ८। ३२। २१ में "उपारणे इमम् एनम्" पाठान्तर है ।।१।।

अथ द्वितीयायाः—वामदेव ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

२३ १२ ३१ २ ३१२
२२४—कदु प्रचेतसे महे वचो देवाय शस्यते ।
१ २ ३ १२
तदिद्ध्यस्य वर्धनम् ॥२॥

भावार्थः—(महे) बड़े (प्रचेतसे) ज्ञानी (देवाय) इन्द्र अर्थात् राजा के लिए (वचः) पूर्वमन्त्रोक्त चितौनी का वचन (कत् उ) क्यों (शस्यते) कहा जाता है ? उत्तर—(हि) क्योंकि (तत्) वह वचन [सावधानी] (अस्य) इस राजा की (वर्धनम् इत्) वृद्धिकारक ही है ॥२॥

अथ तृतीयस्याः—मेधातिथिप्रियमेधावृषी । इन्द्रो देवता ।
गायत्री छन्दः ॥

३ २ ३ २ ३ १२ ३ १ २ ३ १ २
२२५—उक्थं च न शस्यमानं नागो रयिरा चिकेत ।
१ २ ३ २ ३ १ २
न गायत्रं गीयमानम् ॥३॥

भावार्थ।—(अयिः) ज्ञानी इन्द्र अर्थात् राजा (नागोः) स्पष्टवक्ता के (शस्यमानम्) कहे हुए (उक्थम्) स्तोत्र को (च) और (गीयमानम् गायत्रम्) गाये हुए गायत्र नाम साम को (न आचिकेत) न समझे सो (न) नहीं, किन्तु समझे ही ॥

व्याकरण के धातु आदि संस्कृतभाष्य में देखिये ॥
ऋ० ८ । २ । १४ में "शस्यमानमगोरयिराचिकेत" पाठ है ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—विश्वामित्र ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१ २ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २
२२६—इन्द्र उक्थेभिर्मन्दिष्ठो वाजानां च वाजपतिः ।
१ २ ३ २ ३ १ २
हरिवांत्सुतानां सखा ॥४॥

भावार्थः—(इन्द्रः) राजा (मन्दिष्ठः) अत्यन्त हृष्ट (च) और (वाजानाम्) बल अर्थात् सेनाओं का (वाजपतिः) सेनापति (हरिवान्) घोड़े आदि का रखने वाला और (सुतानाम्) पुत्रतुल्य प्रजाजनों का (सखा) मित्रतुल्य सहायक (उक्थेभिः) प्रशंसावचनों के साथ होवे ॥४॥

अथ पञ्चम्याः—मेधातिथिप्रियमेधावृषी । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

२२७—आ याह्युप नः सुतं वाजेभिर्मा हृणीयथाः ।
मह्यां इव युवजानिः ॥५॥

भावार्थः—हे राजन् (**युवजानिः**) युवती स्त्री वाले आप (**वाजेभिः**) सेनाबल के सहित वर्त्तमान (**नः**) हमको (**उप, आयाहि**) प्राप्त हूजिये, हमारी पुकार सुनिये । किसको कौन जैसे ? (**सुतम्**) पुत्र को (**मह्यां इव**) पिता आदि बड़े के समान । (**मा हृणीयथाः**) क्रोध न करिये ॥

निघण्टु २ । १२ अष्टाध्यायी ५ । ४ । १३४ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥५॥

अथ षष्ठ्याः— कौत्सो दुर्मित्र ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

२२८—कदा वसो स्तोत्रं हर्यत आ अव श्मशा रुधद्वाः ।
दीर्घं सुतं वाताप्याय ॥६॥

भावार्थः—(**वसो**) निवास कराने वाले ! राजन् ! (**कदा**) यदि कभी (**वाः**) वर्षा का जल (**अरुधत्**) रुक जावे अर्थात् अनावृष्टि हो जावे तो (**वाताप्याय**) जल के लिये (**श्मशा**) नहर से (**स्तोत्रम्**) वेद के (**हर्यते**) चाहने वाले (**दीर्घम्**) बड़े (**सुतम्**) पुत्रतुल्य प्रजाजन को (**आ, अव**) सर्वतः, रक्षित करो ॥

निघण्टु १ । ६ ॥ निरुक्त ५ । १२ और ६ । २८ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखियें ॥ ऋ० १० । १०५ । १ में "अव श्मशा" पाठ है ॥६॥

अथ सप्तम्याः—मेधातिथिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

२२९—ब्राह्मणादिन्द्र राधसः पिबा सोममृतूँरनु ।
तवेदं सख्यमस्तृतम् ॥७॥

भावार्थः—(**इन्द्र**) राजन् ! आप (**राधसः**) संसिद्ध ज्ञानी (**ब्राह्मणात्**) ब्रह्मवेत्ता के द्वारा (**ऋतून्, अनु**) ऋतुओं के अनुसार (**सोमम्**) ओषधि विशेष का (**पिब**) पीजिये । (**तव**) आपकी (**इदम्**) यह (**सख्यम्**) मित्रता (**अस्तृतम्**)

अविच्छिन्न हो ॥ जो लोग "राधसः" पद से राधा का ग्रहण करते हैं वे निर्मूल भ्रान्ति में हैं ॥

ऋ० १ । १५ । ५ में "तवेद्धि" पाठ है ॥७॥

अथाऽष्टम्याः—मेधातिथिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

२३०—वयं घा ते अपि स्मसि स्तोतार इन्द्र गिर्वणः ।
त्वं नो जिन्व सोमपाः ॥८॥

भावार्थः—(**गिर्वणः**) वाणी से प्रशंसनीय ! (**इन्द्र**) राजन् ! आप (**सोमपाः**) सोम के पीने वा रक्षा करने वाले हैं । और (**वयम्**) हम प्रजाजन (**ते**) आपके (**स्तोतारः**) सत्कार करने वाले हैं । इस लिये (**त्वम्, अपि**) आप, भी (**नः**) हमको (**जिन्व**) प्रसन्न रखिये ॥

निघण्टु ३ । १४ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋ० ८ । ३२ । ७ में भी ॥८॥

अथ नवम्याः—विश्वामित्रो गाथिनोभीपाद उदलो वा ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

२३१—एन्द्र पृक्षु कासु चिन्नृम्णं तनूषु धेहि नः ।
सत्राजिदुग्र पौंस्यम् ॥९॥

भावार्थः—(**इन्द्र**) राजन् ! वा परमेश्वर ! (**कासुचित्**) किन्हीं (**पृक्षु**) सेनासंग्रामों वा योगक्रियाओं में (**नः**) हमारे (**तनूषु**) देहों में (**पौंस्यम्**) पुरुषार्थ-युक्त (**नृम्णम्**) बल वा योगबल को (**आ, धेहि**) आधान कीजिये क्योंकि (**उग्र**) हे उद्गीर्णबलवन् ! आप (**सत्राजित्**) सर्वदा बल से विजयी हैं ॥

निघण्टु २ । १७ ॥ २ । ९ ॥ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ९ ॥

अथ दशम्याः—श्रुतकक्ष ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

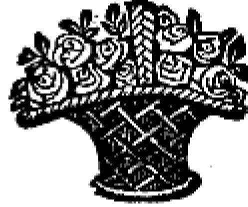
२३२—एवा ह्यसि वीरयुरेवा शूर उत स्थिरः ।
एवा ते राध्यं मनः ॥१०॥

भावार्थः—प्रकरण से हे इन्द्र ! राजन् ! आप (वीरयुः) वीरों को चाहने वाले (एव) निश्चय (असि) हैं। आप (शूरः) शूरवीर (एव) निश्चय हैं (उत) और आप (स्थिरः) दृढ़ (एव) भी हैं। अतः (ते) आपका (मनः) हृदय (राध्यम्) प्रशंसायोग्य है ॥

ऋ० ८। ६२। २८ में भी ॥१०॥

यह द्वितीयाऽध्याय में १२वीं दशति समाप्त हुई

कण्ववंशावतंस श्रीमान् स्वामी हजारीलाल के पुत्र,परीक्षितगढ़ (जिला मेरठ) निवासी, तुलसीराम स्वामी के निर्मित्त सामवेदभाष्य में यह द्वितीयाऽध्याय समाप्त हुआ ॥२॥



ओ३म्

अथ तृतीयाध्यायः ॥

अभित्वेति बृहत्यो वै दशतौ दश कीर्त्तिताः ।
आद्या अष्टान्तिमा चैन्द्रयो नवमी मारुती मता ॥१॥

तत्र

प्रथमायाः—वसिष्ठ ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

२३३—अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः ।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥१॥

भावार्थः—(शूर) विक्रमी ! (इन्द्र) परमेश्वर ! (अस्य) इस (जगतः) जंगम के (ईशानम्) प्रभु और (तस्थुषः) स्थावर के भी (ईशानम्) प्रभु (स्वर्दृशम्) सूर्य को भी प्रकाशित करने वाले (त्वा) आप को (अदुग्धा इव धेनवः) विना दुही गौवों के समान अर्थात् जैसे विना दुही गौवें बाख में दुग्ध भरा होने से नौहड़ी रहती हैं ऐसे ही भक्ति से नम्र हुए हम (अभिनोनुमः) सर्वतः अत्यन्त नमस्कार करते हैं ॥

निरुक्त २ । १४ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋ० ७ । ३२ । २२ में भी ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—भरद्वाज ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

२३४—त्वामिद्धि हवामहे सातौ वाजस्य कारवः ।
त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वां काष्ठास्वर्वतः ॥२॥

भावार्थः—(इन्द्र) हे परमात्मन् ! (अर्वतः) अश्वादि के चढ़ने वाले वीर (नरः) पुरुष (वृत्रेषु) शत्रुओं से घेरे जाने पर (त्वाम्) आप का [सहारा लेते

हैं] (काष्ठासु) सब दिशाओं में (सत्पतिम्) सज्जनों के रक्षक (त्वाम्) आप को [भजते हैं अतः] (कारवः) हम स्तोता भक्तजन भी (वाजस्य) बल के (सातौ) दान निमित्त (त्वाम्, इत्, हि) आपको ही (हवामहे) पुकारते हैं ॥

जिस प्रकार सब दिशाओं में सज्जनों के रक्षक आप परमात्मा को, शत्रुओं की भीड़ पड़ने पर, बल प्राप्त करने के लिए, वीर पुरुष पुकारते हैं; इसी प्रकार हे भगवन् ! हम भक्तजन भी कामादि शत्रुगण की भीड़ में उनके परास्त करने को बल का दान आप से मांगते हैं ॥

निघण्टु ३ । १६ ॥ १ । १४ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋ० ६ । ४६ । १ में "साता" यह पाठभेद है ॥२॥

अथ तृतीयस्याः—बालखिल्या ऋषयः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

३ १ २र ३१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
२३५—अभि प्र वः सुराधसमिन्द्रमर्च यथा विदे ।
१ २३ २ ३ १ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
यो जरितृभ्यो मघवा पुरूवसुः सहस्रेणेव शिक्षति ॥३॥

भाषार्थः—(यः) जो (पुरुवसुः) विद्यादि बहुत धन वाला (मघवा) इन्द्र परमेश्वर (वः) तुम (जरितृभ्यः) स्तोताओं के लिए (सहस्रेणेव) अनेक प्रकार से (शिक्षति) देता है । उस (सुराधसम्) सुन्दर विद्यादि धन वाले (इन्द्रम्) परमात्मा को (यथा) जिस प्रकार (विदे) जानता हूँ उस प्रकार (अभि, प्र, अर्च) सर्वतः, अत्यन्त पूजता हूँ ॥

निघण्टु २ । १० ॥ ३ । १६ ॥ ३ । २० के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।

ऋ० ८ । ४९ । १ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—नोधा ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

१ २ ३ १ २३ २३ १ २ ३ १ २र
२३६—तं वो दस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः ।
३ २ ३ १ २र ३२३ १ २ ३ १ २
अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे ॥४॥

भाषार्थः—हे उपासको ! (वः) तुम्हारे (ऋतीषहम्) कामादि शत्रुओं के तिरस्कार करने वाले (दस्मम्) उनका क्षय करने वाले (तम्) उस (इन्द्रम्) परमेश्वर को (गीर्भिः) वेदमन्त्रों से (अभि, नवामहे) हम सर्वथा स्तुत करते हैं–

पुकारते हैं । दृष्टान्त—(न) जैसे (धेनवः) गौवें (स्वसरेषु) गोगृहों में (वसोः) वासहेतु (अन्धसः) अन्न से (मन्दानम्) मोदमान हृष्ट पुष्ट (वत्सम्) बछड़े को (अभि) देखकर [हृदय की प्रीति से पुकारती हैं । तद्वत्] ॥

जो लोग "अन्न से मोदमान हृष्ट पुष्ट" पदों को परमात्मा का विशेषण करते हैं, वे भ्रान्त हैं । क्योंकि"अनश्नन्न०"ऋ० १ । १६४ । २० में परमात्मा को भोग-रहित कहा है तथा अन्य अनेक वाक्यों में भी ॥ उणादि १ । १४५ निघण्टु ३ । ४ इत्यादि के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ८ । ८८ । १ । में भी ॥४॥

अथ पञ्चम्याः—कलिःप्रगाथ ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

१२ ३१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
२३७—तरोभिर्वो विदद्वसुमिन्द्रं सबाध ऊतये ।
३१ २१ ३ १ २ ३ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २
बृहद्गायन्तः सुतसोमे अध्वरे हुवे भरं न कारिणम् ॥५॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! मैं (वः) तुमको (हुवे) पुकार कर कहता हूँ कि (सबाधः) ऋत्विक् लोग (सुतसोमे) जिसमें सोम खींचा जावे उस (अध्वरे) सोमयज्ञ में (ऊतये) यज्ञरक्षार्थ (बृहत्) बृहत् नामक साम को (तरोभिः) बलों से अर्थात् उच्चैः स्वर से (गायन्तः) गाते हुए (विदद्वसुम्) धन को लाभ कराने वाले (इन्द्रम्) परमेश्वर की [स्तुति करें] दृष्टान्त—(न) जैसे (कारिणम्) हितकारी (भरम्) कुटुम्ब के पोषक पित्रादि को [पुत्रादि पुकारते हैं । तद्वत्] ॥

निघण्टु २ । ६ ॥ ३ । १८ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋ० ८ । ६६ । १ में भी ॥५॥

अथ षष्ठ्याः—वसिष्ठ ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
२३८—तरणिरित्सिषासति वाजं पुरन्ध्या युजा ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २र ३ १ २
आ व इन्द्रं पुरुहूतं नमे गिरा नेमिं तष्टेव सुद्र्वम् ॥

भावार्थः—(युजा) सहवर्त्तिनी (पुरन्ध्या) बड़ी चितौनी के साथ (तरणिः) सूर्य्य (वाजम्) पूर्वमन्त्रोक्त सोम अन्न को (इत्) शीघ्र (सिषासति) सेवन करता है ॥ मैं उपदेष्टा (वः) तुम याज्ञिकों को (पुरुहूतम्) बहुस्तुत (इन्द्रम्) परमेश्वर के प्रति (गिरा) वाणी से (आ, नमे) नम्र कराता हूँ नमस्कार कराता हूँ । दृष्टान्त—(सुद्र्वम्) अच्छे ढुलने वाली (नेमिम्) पहिये की पुट्ठी को (तष्टेव) जैसे बढ़ई नम्र करता है, तद्वत् ॥

सायणादि के लेख संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ७ । ३२ । २० में तो "सुद्र्वम्" पाठ है ॥

अथ सप्तम्याः—मेधातिथिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

२३६—पिबा सुतस्य रसिनो मत्स्वा न इन्द्र गोमतः ।
आपिर्नो बोधि सधमाद्ये वृधे३स्मां अवन्तु ते धियः ॥७॥

भावार्थः—(इन्द्र) परमेश्वर ! आप (गोमतः) गवादि पशु वाले यज्ञकर्त्ता के (रसिनः) रसीले (सुतस्य) आपकी भक्तियोग्य सम्पादित मन का (पिब) ग्रहण कीजिये और (नः) हमारे लिये (मत्स्व) प्रसन्न अनुकूल हूजिये । (आपिः) आप व्यापक हैं (नः) हमको अन्तर्यामितया (बोधि) ज्ञान दीजिये (सधमाद्ये) योगयज्ञ में (वृधे) उन्नति के लिये (ते) आपकी (धियः) प्रज्ञा के प्रसाद (अस्मान्) हमारी (अवन्तु) रक्षा करें ।

हे परमेश्वर ! जो लोग गवादि पशु वाले हैं और घृतादि से कर्मयज्ञ करते हैं जिनका मन रसिक है, ऐसी कृपा कीजिये कि उनका मन शुद्ध होके श्रद्धा भक्ति-पूर्वक आपका शरण ग्रहण करे । आप हम पर प्रसन्न हों । आप अन्तर्यामिरूप से हमारी बुद्धि को सुधारिये, ज्ञान दीजिये । आपका दिया बुद्धि का प्रसाद हमारी रक्षा करे ॥

ऋ० ८ । ३ । १ में भी ॥७॥

अथाऽष्टम्याः—भर्ग ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

२४०—त्वं ह्ये३हि चेरवे विदा भगं वसुत्तये ।
उद्वावृषस्व मघवन् गविष्टय उदिन्द्राश्वमिष्टये ॥८॥

भावार्थः—(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (चेरवे) ज्ञानी भक्तजन के लिये (वसुत्तये) विद्यादि धनदानार्थ (त्वम्) आप (हि) ही (एहि) प्राप्त हूजिये और (मघवन्) हे अनन्त विद्यादि धनयुक्त ! (गविष्टये) इन्द्रियवृत्तिनिरोध रूप यज्ञ के लिये (उद्वावृषस्व) सींचिये—तर कीजिये (अश्वम्) प्राण को (इष्टये) योगयज्ञ के लिये (उत्) सींचिये (भगम्) योगैश्वर्य का (विदाः) लाभ कराइये ॥

उत् उपसर्ग का दो वार पाठ ही वावृषस्व क्रिया के दो वार होने का ज्ञापक है ॥ ऋ० ८ । ६० । ७ में भी ॥८॥

अथ नवम्याः—वसिष्ठ ऋषिः । मरुतो देवताः । बृहती छन्दः ॥

१ २र ३२ ३ १ २र ३ १२
२४१—न हि वश्चरमं च न वसिष्ठः परिमंसते ।
३ १२३ २ ३१२ ३२उ ३ १ २ ३ १ २
अस्माकमद्य मरुतः सुते सचा विश्वे पिबन्तु कामिनः ॥९॥

भावार्थः—(मरुतः) ऋत्विजो ! (वसिष्ठः) यजमान (वः) तुम में से (चरमं चन) अन्त के को भी (परि) छोड़ कर (नहि) नहीं (मंसते) सत्कार करता अर्थात् सभी को सत्कृत करता है । अतः (अस्माकम्) हमारे (सुते) सोम सम्पन्न होने पर (अद्य) आज (विश्वे) सब (कामिनः) चाहने वाले (सचा) एक साथ ही (पिबन्तु) पी लेवें ॥

अध्यात्मपक्षे—(मरुतः) प्राणो ! (वसिष्ठः) आत्मा (वः चरमं, चन, न हि, परि, मंसते) तुम में से, अन्तिम को, भी, नहीं छोड़कर, सत्कार करता है (विश्वे कामिनः) सब, चाहने वाले (अस्माकम्) हमारे (सुते) सम्पन्न मन में (अद्य) आज (सचा) एक साथ (पिबन्तु) तृप्त होवें ॥

योगैश्वर्य को प्राप्त हुआ आत्मा कहता है कि हे प्राणो ! आज हमारे कुछ कमी नहीं, जब कि हमने मन को जीत कर खेंच लिया, आज सब काम पूर्ण हैं, अब तुम जितनी इच्छा हो, उतना आनन्दाऽमृत पान करो ॥

उणादि २ । १० ॥ निरुक्त ५ । ५ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋ० ७ । ५९ । ३ में "पिबत" पाठ है ॥९॥

अथ दशम्याः—प्रगाथः काण्व ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

१ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २
२४२—मा चिदन्यद्वि शंसत सखायो मा रिषण्यत ।
२ ३ १ २ ३ १२३ १ २ ३१ २र३ १ २
इन्द्रमित्स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत ॥१०॥

इति तृतीयाऽध्याये प्रथमा दशतिः ॥१॥

तृतीय प्रपाठकस्य प्रथमार्धश्च समाप्तः ।

भावार्थः—(सखायः) हे मित्रो ! (अन्यत्) और किसी को (मा चित्) मत (विशंसत) स्तुत करो किन्तु (सुते) मन शुद्ध करने पर (वृषणम्) धर्मार्थ काम के पूरा करने वाले (इन्द्रम्, इत्) परमात्मा की, ही (सचा) सब

मिलकर (**स्तोत**) स्तुति करो (**च**) और (**उक्था**) स्तोत्रों को (**मुहुः**) वारम्वार (**शंसत**) पढ़ो। तथा (**मा रिषण्यत**) हिंसा मत करो ॥

अर्थात् मनुष्य मात्र को परमात्मा के स्थान में अन्य की स्तुति न करनी चाहिये किन्तु परमात्मा की ही करनी चाहिए और उसी के स्तोत्रों का पाठ करना चाहिये। तथा प्राणिमात्र की हिंसा न करनी चाहिये ॥ ऋ० ८। १। १ में भी ॥१०॥

यह तृतीयाऽध्याय में प्रथम दशति पूर्ण हुई ॥

नकिष्टं कर्मणेत्यैन्द्रयो बृहत्यो दशतौ दश ॥

तत्र प्रथमायाः—आङ्गिरसः पुरुहन्मा ऋषिः। इन्द्रो देवता। बृहती छन्दः ॥

२ ३ १ २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
२४३—न किष्टं कर्मणा नशद्यश्चकार सदावृधम्।
२ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र
इन्द्रं न यज्ञैर्विश्वगूर्तमृभ्वसमधृष्टं धृष्णुमोजसा ॥१॥

भावार्थः—(**यः**) जो पुरुष (**सदावृधम्**) सर्वदा भक्तों की वृद्धि करने वाले (**विश्वगूर्त्तम्**) समस्त संसार के स्तुति योग्य (**ऋभ्वसम्**) महान् (**अधृष्टम्**) अधृष्य अर्थात् जिसके ऊपर किसी का अधिकार (**न**) नहीं और (**ओजसा**) अपने अनन्तबल से (**धृष्णुम्**) सब पर अधिकार रखने वाले (**इन्द्रम्**) परमेश्वर को (**यज्ञैः**) योगादि यज्ञों से (**चकार**) उपासित करता है (**तम्**) उस पुरुष को कोई कामादि शत्रु (**कर्मणा**) प्रहारादि से (**नकिः**) नहीं (**नशत्**) व्यापता अथवा उसे कर्मबन्धन नहीं होता, निष्काम होने से ॥

निघण्टु २। १८ ॥ ऋ० ८। ७०। ३ में "धृष्ण्वोजसम्" पाठ है ॥१॥

अथ द्वितीयायाः— मेधातिथिमेध्यातिथी ऋषी। इन्द्रो देवता। बृहती छन्दः ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
२४४—य ऋते चिदभिश्रिषः पुरा जत्रुभ्य आतृदः।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सन्धाता सन्धिं मघवा पुरुवसुर्निष्कर्ता विह्रुतं पुनः ॥२॥

भावार्थः—पूर्वोक्त इन्द्र का ही वर्णन करते हैं—(यः) जो (मघवा) इन्द्र अर्थात् परमेश्वर (पुरुवसुः) बहु वास हेतु (अनुम्यः) ग्रीवादि जोड़ों से (आतृदः) रुधिरोत्पत्ति से (पुरा) पहले ही (अभिश्रिषः) चिपकाने के वा जोड़ने के साधन रस्सी आदि के (ऋते चित्) विना ही (सन्धिम्) जोड़ को (सन्धाता) जोड़ देता है (पुनः) और (विह्रुतम्) शीघ्र ही जब चाहे तब (निष्कर्त्ता) बिछोड़ा कर देता है ॥

परमात्मा के कैसे आश्चर्य के काम हैं कि गर्भगत प्राणियों के ग्रीवादि अवयवों को चिपकाने के लिये जब तक रुधिर भी नहीं उत्पन्न होता है, तभी समस्त संधियों को विना रस्सी आदि साधनों के जोड़ देता और जब चाहे, तत्काल पुष्ट से पुष्ट बंधनों को तोड़-बिछोड़ देता है ॥ ऋ० ८।१।१२ में 'इष्कर्त्ता विह्रुतम्' पाठ है ॥२॥

अथ तृतीयस्याः—पूर्वोक्ता ऋष्यादयः ॥

२४५—आ त्वा सहस्रमा शतं युक्ता रथे हिरण्यये ।
ब्रह्मयुजो हरय इन्द्र केशिनो वहन्तु सोमपीतये ॥३॥

भावार्थः—(इन्द्र) सूर्य ! (हिरण्यये) तेजोमय (रथे) रथवत् रमणीय पिण्ड में (युक्ताः) जुड़े हुए और (ब्रह्मयुजः) ब्रह्म के जोड़े हुए (केशिनः) केश के तुल्य प्रकाश की धारों वाले (आ सहस्रम्) असंख्य (हरयः) घोड़े के समान किरणें (त्वा) तुझ को (आ शतम्) बहुविध (सोमपीतये) सोमपान के लिये (वहन्तु) प्राप्त करते हैं ॥

अर्थात् जब मनुष्य सोमादि औषधियों से यज्ञ करते हैं तो सूर्य के तेजोमय गोले में ब्रह्म की जोड़ी हुई उसकी किरणें औषधियों के हवन किये रस को खींचने के लिये सूर्य को प्राप्त करती हैं। सूर्य को रथी,गोले को रथ, और किरणों को घोड़ों की उपमा जानिये। तृतीयाध्याय के आरम्भ में (ब्रह्मवट्०) सायणाचार्य ने भी इस ऋचा का सूर्य देवता कहा है। निघण्टु ३।१॥ २।१५॥ शतपथ और अष्टाध्यायी ६।४।१७५ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ८ । १ । २४ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—विश्वामित्र ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

२४६—आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः ।
मा त्वा केचिन्नि येमुरिन्न पाशिनोऽति धन्वेव ताँ इहि ॥४॥

भावार्थः—(इन्द्र) सूर्य ! (मयूररोमभिः) जैसे मयूर के पंखों में अनेक रंग हैं ऐसे (मन्द्रैः) आनन्ददायक (हरिभिः) किरणों से (आ, याहि) आता है (त्वा) तुझे (के चित्) कोई भी (मा) नहीं (नियेमुः) बांध सकते (इद्) प्रत्युत तू ही (तान्) उन रोकने वाले अन्धकारादिकों को (अति इहि) उल्लंघन करके आता है। दृष्टान्त-(पाशिनः न) जैसे पाशहस्त व्याधलोग पक्षी को निग्रह करते हैं और (धन्वेव) धनुषधारी धनुष से शत्रु का निग्रह करता है तद्वत् अन्धकारादि का निग्रह करता है ॥

इसमें सूर्य के दृष्टान्त से राजधर्म भी उपदिष्ट समझना चाहिये ॥

ऋ० ३। ४५। १ में जो पाठान्तर है वह संस्कृतभाष्य में देखिये ॥४॥

अथ पञ्चम्याः—गोतम ऋषिः। इन्द्रो देवता। बृहती छन्दः ॥

२४७—त्वमंग प्र शंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम् ।
न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः ॥५॥

भावार्थः—(अंग) प्यारे पुरुष ! (त्वम्) तू (प्रशंसिषः) इस प्रकार प्रशंसा स्तुति कर कि (मघवन्) हे अनन्त धन (इन्द्र) परमेश्वर ! (त्वद्) आपसे (अन्यः) भिन्न कोई (मर्त्यम्) मनुष्य का (मर्डिता) सुखदायी (न) नहीं (अस्ति) है। (शविष्ठ) हे अनन्त बलवान् ! (ते) आपके लिये (वचः) स्तुति वचन (ब्रवीमि) उच्चारण करता हूँ ॥

ऋ० १। ८४। १९ में भी ॥५॥

अथ षष्ठ्याः—नृमेधपुरुमेधावृषी। इन्द्रो देवता। बृहती छन्दः ॥

२४८—त्वमिन्द्र यशा अस्यृजीषी शवसस्पतिः ।
त्वं वृत्राणि हंस्यप्रतीन्येक इत्पुर्वनुत्तश्चर्षणीधृतिः ॥६॥

भावार्थः—(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (त्वम्) आप (यशाः) यशस्वी (ऋजीषी) समृद्ध (शवसस्पतिः) बल के पति (चर्षणीधृतिः) मनुष्यों के धारक (असि) हैं और (पुरु) बहुत से (अप्रतीनि) जिनका सामना करना कठिन है उन (वृत्राणि) रोकने वाले कामादि शत्रुओं को (अनुत्तः) अप्रेरित स्वयमेव (एक इद्) बिना किसी की सहायता के (त्वम्) आप (हंसि) नष्ट करते हैं ॥

उणादि ४ । २८ निघण्टु १ । २ ॥ २ । ३ के प्रमाण और ऋ० ८ । ६० । ५ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥६॥

अथ सप्तम्याः—मेध्यातिथिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

२४९—इन्द्रमिद्देवतातय इन्द्रं प्रयत्यध्वरे ।
इन्द्रं समीके वनिनो हवामह इन्द्रं धनस्य सातये ॥७॥

भावार्थः—हम (**देवतातये**) यज्ञ के लिये (**इन्द्रम् इत्**) परमेश्वर की ही (**हवामहे**) पुकार करें । (**अध्वरे**) यज्ञ (**प्रयति**) आरम्भ होने पर (**इन्द्रम्**) परमेश्वर की पुकार करें । (**समीके**) यज्ञ समाप्ति वा युद्ध में भी (**इन्द्रम्**) परमात्मा की सहायता मांगें । (**वनिनः**) संविभाग करते हुए हम (**धनस्य**) धन के (**सातये**) दान मिलने के लिये (**इन्द्रम्**) परमेश्वर की सहायता मांगें ॥

प्रत्येक शुभ कार्य के आरम्भ और समाप्ति में, युद्धादि विपत्ति के समयों में, व्यापारादि धन लाभ के अवसरों में सदा परमेश्वर की ही सहायता मांगनी चाहिये ॥

निघण्टु २ । १७ ॥ ३ । १७ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋग्वेद ८ । ३ । ५ में भी ॥७॥

अथाष्टम्याः—ऋष्यादयः पूर्ववत् ॥

२५०—इमा उ त्वा पुरूवसो गिरो वर्धन्तु या मम ।
पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोऽभिस्तोमैरनूषत ॥८॥

भावार्थः—(**पुरूवसो**) हे बहुधन ! परमेश्वर ! (**याः**) जो (**मम**) मेरी (**गिरः**) वाणियें (**त्वा उ**) आपके प्रति हों (**इमाः**) वे (**वर्धन्तु**) वृद्धि को प्राप्त हों और जो (**पावकवर्णाः**) अग्निसम तेजस्वी (**शुचयः**) पवित्र (**विपश्चितः**) विद्वान् स्तोता (**स्तोमैः**) गीयमान स्तोत्रों से (**अभि अनूषत**) सब प्रकार स्तुति करते हैं वे भी वृद्धि को प्राप्त हों ।

उपास्मै गायता नरः । इत्यादि ऋचाओं में ताण्ड्य महाब्राह्मणानुसार गाये जाने वाले [स्तोमों से—यह श्रीसत्यव्रत लिखते हैं] तथा बहिष्पवमान आर्यस्तोत्र और माध्यन्दिनपवमान इत्यादि भी स्तोम शब्द से ग्रहण किये जाते हैं ॥

ऋग्वेद ८ । ३ । ३ में भी ॥८॥

अथ नवम्याः ऋष्याद्या उक्ताः ॥

२५१—उदु त्ये मधुमत्तमा गिरः स्तोमास ईरते ।
सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथा इव ॥९॥

भावार्थः—(त्ये) वे (स्तोमासः) स्तोत्र (मधुमत्तमाः) अति मधुर (गिरः) वाणी (उद् ईरते) उच्चभाव से चलती हैं । दृष्टान्त—जैसे (सत्राजितः) सदाविजयी (धनसाः) धन के संविभाग कराने वाले (अक्षितोतयः) अक्षय रक्षा वाले (रथा इव) रथ (वाजयन्तः) बल वा वेग चाहते हैं तद्वत् (उ) पादपूरणार्थ है ॥

जिस प्रकार संग्राम में विजय और धन के प्राप्त कराने वाले वेगवान् रथ उमंग से चलते हैं इसी प्रकार काम क्रोधादि शत्रुगण का विजय कराने और अमूल्य ईश्वर धन का लाभ कराने वाले मधुर भजन और स्तोत्र उच्च भाव से उच्चारित होते हैं ।

अष्टाध्यायी ३ । २ । ६७॥ ६ । ४ । ४१॥ ६ । ४ । ५६॥ ६ । ४ । ६०॥ ८ । २ । ४६॥ ३ । २ । १७०॥ ७ । ४ । ३५ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋग्वेद ८ । ३ । १५ में भी ॥९॥

अथ दशम्याः—मेधातिथिः काण्व ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

२५२—यथा गौरो अपा कृतं तृष्यन्नेत्यवेरिणम् ।
आपित्वे नः प्रपित्वे तूयमा गहि कण्वेषु सु सचा पिब॥१०॥

इति द्वितीया दशतिः ॥२॥

भावार्थः—तब परमात्मा का स्तोत्र पढ़ता हुआ स्तोता यह भी कहे कि हे इन्द्र ! इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीवात्मन् ! (यथा) जिस प्रकार (तृष्यन्) प्यासा (गौरः) मृगादि जन्तु (अपा कृतम्) जल भरे (ईरिणम्) जलाशय को (एति) प्राप्त होता है । इसी प्रकार तू भी (कण्वेषु) ईश्वरभक्तों में (नः) हमारी (आपित्वे) मित्रता (प्रपित्वे) प्राप्त होने पर (तूयम्) शीघ्र (अव, आगहि) जाग और उनके (सचा) साथ (पिब) आनन्दामृत का पान कर ॥

सायणाचार्य और निघण्टु ३ । १५ अष्टाध्यायी ६ । १ । १७१ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ८ । ४ । ३ में भी ॥१०॥

यह तृतीयाऽध्याय में दूसरी दशति समाप्त हुई ॥२॥

शग्धीति दशतौ चापि बृहत्यो दश कीर्त्तिताः ।
आदितेयी तृतीयावशिष्टा ऐन्द्र्यो नव स्मृताः ॥१॥

अथ तृतीया दशतिस्तत्र प्रथमायाः—भर्ग ऋषिः । इन्द्रो देवता ।
बृहती छन्दः ॥

३ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
२५३—शग्ध्यू३षु शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः ।
२३ १ २८ ३ १२ ३ २ ३१२ ३ १२
भगं न हि त्वा यशसं वसुविदमनु शूर चरामसि ॥१॥

भावार्थः · (**शूर**) हे अनन्त पराक्रमी ! (**शचीपते**) कर्मों और बुद्धियों के अध्यक्ष ! कर्मफलदाता ! (**इन्द्र**) परमेश्वर ! (**विश्वाभिः**) समस्त (**ऊतिभिः**) रक्षाओं सहित (**भगं, न**) ऐश्वर्य के समान (**यशसम्**) कीर्त्ति (**सु**) भले प्रकार (**शग्धि**) दीजिये, यह याचना है । (**उ**) और (**हि**) निश्चय (**वसुविदम्**) विद्यादि धन के [कर्मानुसार] दाता (**त्वा**) आपके (**अनु, चरामसि**) अनुकूल चलें । यह भी कृपा कीजिये ॥

निघण्टु २ । १६ ॥ २ । १ ॥ ३ । ६ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋ० ८ । ६६ । ५ में भी ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—रेभः काण्व ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

१ २ ३ २३ १ २३क २८३ १२
२५४—या इन्द्र भुज आभरः स्वर्वाँ असुरेभ्यः ।
३ २३१ २ ३ २ ३ २ ३१२
स्तोतारमिन्मघवन्नस्य वर्धय ये च त्वे वृक्तबर्हिषः ॥२॥

भावार्थः— (**मघवन्**) हे धनवन् ! (**इन्द्र**) परमेश्वर ! वा राजन् ! वा वृष्टिकारक ! (**स्वर्वान्**) आनन्द वा प्रकाशयुक्त तू (**याः**) जिन (**भुजः**) अन्नादि भोगों को (**असुरेभ्यः**) मेघों से वा दुष्ट पुरुषों से (**आभरः**) लाता है उनसे (**इत्**) ही (**अस्य**) इस तेरे (**स्तोतारम्**) आज्ञा पालने वाले वा यज्ञकर्त्ता को (**वर्धय**) बढ़ा (**च**) और (**ये**) जो लोग (**त्वे**) तेरे लिये (**वृक्तबर्हिषः**) यज्ञ का विस्तार करते हैं । उन्हें भी बढ़ा ॥

निघण्टु १ । १० ॥ ऋ० ८ । ९७ । १ में भी ॥२॥

अथ तृतीयायाः—जमदग्निर्ऋषिः । आदित्या देवताः । बृहती छन्दः ॥

२५५—प्र मित्राय प्रार्यम्णे सचथ्यमृतावसो ।
वरूथ्ये३ वरुणे छन्द्यं वचः स्तोत्रं राजसु गायत ॥३॥

भाषार्थः—(**ऋतावसो**) हे यज्ञधन ! यजमान ! (**मित्राय**) मित्रनाम वायुभेद के लिये (**सचथ्यम्**) सेवन योग्य (**स्तोत्रम्**) गुण कीर्त्तन रूप (**छन्द्यम्**) वैदिक (**वचः**) वचन को (**प्र, गाय**) गावो और (**अर्यम्णे**) यम नामक वायु के लिये (**प्र**) गावो तथा (**वरूथ्ये**) गृहहितकारी (**वरुणे**) वरुण के लिये गावो । (**राजसु**) इस प्रकार मित्र अर्यमा और वरुण इन ३ राजों अर्थात् प्रकाशमानों के लिये कीर्त्तन करो ॥

अर्थात् हे यज्ञकर्त्ता ! यदि तू पूर्व मन्त्रानुसार अन्नादि की समृद्धि को मांगता है तो मित्र अर्यमा वरुणादि वर्षा के सहायक वायुभेद रूप देवतों के गुण कर्म स्वभाव को वेद मन्त्रों द्वारा जानकर तदनुकूल सेवन योग्य अनुष्ठान कर । इससे अन्नादि की समृद्धि होगी । यह पूर्वमन्त्र की याचना का उत्तर जानो ॥ मित्र अर्यमा वरुण पदों से निघण्टु ५ । ४ और निरुक्त अध्याय ११ के अनुसार अन्तरिक्षस्थानी वायुभेदों का ग्रहण जानिये ॥ "प्र" इस उपसर्ग का दो बार पाठ ही "गायत" क्रिया के पुनर्वार अन्वय का सूचक है ॥

निघं० ३ । ४ में वरूथ गृह का नाम है । ऋ० ८ । १०१ । ५ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—मेधातिथिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

२५६—अभि त्वा पूर्वपीतय इन्द्र स्तोमेभिरायवः ।
समीचीनास ऋभवः समस्वरन्रुद्रा गृणन्त पूर्व्यम् ॥४॥

भाषार्थः—(**इन्द्र**) हे परमेश्वर ! (**ऋभवः**) मेधावी (**रुद्राः**) स्तोता (**समीचीनासः**) भले (**आयवः**) मनुष्य (**पूर्वपीतये**) अपनी पूर्वतृप्ति के लिये (**स्तोमेभिः**) स्तोत्रों से (**पूर्व्यम्**) सनातन (**त्वा**) आपको (**अभि गृणन्त**) सर्वथा वर्णन करते और (**समस्वरन्**) गान करते हैं [इसी प्रकार हम भी अन्य मित्र वरुणादि से पूर्व आपका स्मरण कीर्त्तन और गान करते हैं] यह भाव है ॥

निघण्टु २ । ३ ॥ ३ । १५ ॥ ३ । १६ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋ० ८ । ३ । ७ में भी ॥४॥

अथ पञ्चम्याः—नृमेधपुरुमेधावृषी । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ।।

२५७—प्र व इन्द्राय बृहते मरुतो ब्रह्मार्चत ।
वृत्रं हनति वृत्रहा शतक्रतुर्वज्रेण शतपर्वणा ।।५।।

भावार्थः—(मरुतः) हे स्तोताओ ! (वः) तुम अपने (बृहते) महान् (इन्द्राय) ईश्वर के लिये (ब्रह्म) सामवेद के वचन (प्र, अर्चत) अर्पित करो । (वृत्रहा) पापनाशक (शतक्रतुः) बहुविध कर्म वाला वह (शतपर्वणा) बहुत धारों वाले (वज्रेण) वज्र से (वृत्रम्) पाप को (हनति) मारता है ।।

जो लोग परमात्मा की स्तुति प्रार्थना उपासना में लगे रहते हैं, उनको सर्वव्यापक परमात्मा सर्वत्र पापियों के नाश के लिये अनन्तधार वाले वज्र लिए प्रतीत होता है ! अर्थात् वे छुपकर भी पाप नहीं करते । क्योंकि अन्य राजा आदि के एकदेशीय वज्र से तो कोई किसी प्रकार बच भी सकता है परन्तु परमात्मा की सृष्टि का प्रत्येक परमाणु भी उसके वज्र का काम दे सकता है और मनुष्य को नष्ट कर सकता है । इसलिए उसका वज्र अनन्तधार है ।

निघण्टु ३ । १८ निरुक्त ११ । १३ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।।

ऋ० ८ । ८६ । ३ में भी ।।५।।

अथ षष्ठ्याः—ऋष्याद्याः पूर्ववत् ।।

२५८—बृहदिन्द्राय गायत मरुतो वृत्रहन्तमम् ।
येन ज्योतिरजनयन्नृतावृधो देवं देवाय जागृवि ।।६।।

भावार्थः—(मरुतः) हे मितभाषी ऋत्विज् लोगो ! तुम (इन्द्राय) परमेश्वर (देवाय) देव के लिए (बृहत्) बृहत्साम (गायत) गावो । (येन) जिस सामगान से (ऋतावृधः) यज्ञ के विस्तार करने वाले उपासक लोग (देवम्) दिव्य (वृत्रहन्तमम्) अत्यन्त पापनाशक (जागृवि) जागती (ज्योतिः) ज्योति को (अजनयम्) [निज हृदयों में] उत्पन्न करते हैं ।।

ऋ० ८ । ८६ । १ में भी ।।६।।

अथ सप्तम्याः—वसिष्ठ ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ।।

२५९—इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा ।
शिक्षा णो अस्मिन्पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ।।७।।

भावार्थः—इन्द्र अर्थात् परमेश्वर से पूर्व मन्त्रोक्त ज्योति का दान मांगते हैं—(इन्द्र) हे परमेश्वर ! आप (नः) हमारे लिए (क्रतुम्) सुकर्म वा अपना [ब्रह्म] ज्ञान (आभर) दीजिए। इसमें दृष्टान्त—(यथा) जैसे (पिता) पिता (पुत्रेभ्यः) पुत्रों के लिए धन और ज्ञान देता है तद्वत्। (नः) हमको (शिक्ष) शिक्षा दीजिए (पुरुहूत) हे बहुस्तुत ! (यामनि) सबको प्राप्त करने योग्य (अस्मिन्) इस प्रकरणगत शुभ ब्रह्म में (जीवाः) हम जीववर्ग (ज्योतिः) आप की ज्योति को (अशीमहि) सेवित करें ॥

क्रतु कर्म वा प्रज्ञा का नाम है ॥

निघण्टु २। १ और ३। ६ में देखिये, जो एतद्देशीय वा परदेशीय विद्वान् कहते हैं कि "इन्द्रादि पदों से परमेश्वर का ग्रहण प्राचीन लोग नहीं करते थे और यह नई खेंचातानी हैं" उन्हें इस मन्त्र का सायणभाष्य देखना चाहिए क्योंकि इसमें सायणाचार्य ने भी परमात्मा अर्थ किया है ॥

ऋ० ७। ३२। २६ में भी ॥७॥

अथाष्टम्याः—रेभ ऋषिः। इन्द्रो देवता। बृहती छन्दः ॥

१ २ ३ १२ ३ १ २ ३ १ २
२६०—मा न इन्द्र परा वृणग्भवा नः सधमाद्ये ।
१ २ ३ २ उ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
त्वं न ऊती त्वमिन्न आप्यं मा न इन्द्र परा वृणक् ॥८॥

भावार्थः—(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (नः) हम को (मा परावृणक्) मत छोड़िये (नः) हमारे (सधमाद्ये) साथ हर्षदायक यज्ञ में (त्वम्) आप (नः) हमारे (ऊती) रक्षक (भव) हूजिये। (त्वम् इत्) आप ही (नः) हमारे (आप्यम्) बन्धु हैं। अतः (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (नः) हम को (मा परावृणक्) मत त्यागिये।

प्रश्न—परमात्मा सर्वगत है फिर किसी को कैसे त्याग सकता है ?

उत्तर—जैसे जाति से त्याग देते हैं। अर्थात् उसे अपनी जाति का नहीं मानते ऐसे ही परमात्मा की अकृपा वा अपनी भक्ति से पृथक् जानना ही परित्याग जानिए ॥ "ऊती" यह "व्यत्यय से कर्त्ता में क्तिच् से निपात है" यह सायणाचार्य भी लिखते हैं ॥ "हमको मत छोड़िये" इस वाक्य का दो बार पाठ इसलिए है कि जिससे अत्यन्त ईप्सा (इच्छा) समझी जावे।

ऋ० ८। ९७। ७ में भी ॥८॥

अथ नवम्याः—मेधातिथि ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

२६१—वयं घ त्वा सुतावन्त आपो न वृक्तबर्हिषः ।
पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृत्रहन्परि स्तोतार आसते ॥९॥

भावार्थः—(वृत्रहन्) दुर्गुणनाशक परमात्मन् ! (सुतावन्तः) जिन्होंने सोम तैयार कर लिया वा मन शुद्ध कर लिया है (वृक्तबर्हिषः) जिन्होंने यज्ञ विस्तीर्ण किया हुआ है ऐसे (स्तोतारः) स्तुतिकर्त्ता (वयम्) हम लोग (घ) निश्चय (न) जैसे (पवित्रस्य) शुद्ध देश के (प्रस्रवणेषु) झरनों में (आपः) जल (परि आसते) सब ओर से शान्त स्थित होते हैं तद्वत् शान्तचित्त हो उपासना कर रहे हैं ॥

जिस प्रकार शुद्ध देश के झरनों में शुद्ध शान्त जल नम्रतापूर्वक नीचे को फैलते हैं तद्वत् हम भी सोम को सम्पन्न किए हुए वा मन को शुद्ध किए हुए, यज्ञ का विस्तार करते हुए, स्तुतिपाठ करते हुए, शान्तचित्त आपकी उपासना करते हैं ॥

ऋ० ८ । ३३ । १ में भी ॥९॥

अथ दशम्याः—भरद्वाज ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

२६२—यदिन्द्र नाहुषीष्वा ओजो नृम्णं च कृष्टिषु ।
यद्वा पञ्च क्षितीनां द्युम्नमा भर सत्रा विश्वानि पौंस्या॥१०॥

भावार्थः—(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (नाहुषीषु) मानुषी (कृष्टिषु) प्रजाओं में (यत्) जो (ओजः) आत्मिक बल (च) और (नृम्णम्) शारीरिक बल (आ) है (वा) अथवा (यत्) जो उभयविध बल (पञ्च) विस्तृत (क्षितीनाम्) योगभूमियों में है, वह, (नृम्णम्) बल और (विश्वानि) सब (पौंस्या) पुरुषार्थ (आभर) दीजिए ॥

निघण्टु २ । ३ में नहुषः और कृष्टयः ये मनुष्य के नाम हैं । तथा २।९ में नृम्णम् यह बल का नाम है ॥ ऋ० ६।४६।७ में "नाहुषीष्वा" यह पाठ है ॥१०॥

यह तृतीयाध्याय में तीसरी दशति समाप्त हुई ॥३॥

सत्यमित्थेति चेन्द्रस्य बृहत्यो दशतौ दश ॥१॥

अथ चतुर्थीः दशतिस्तत्र प्रथमायाः—मेधातिथिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

२६३—सत्यमित्था वृषेदसि वृषजूतिर्नोऽविता ।
वृषा ह्युग्र शृण्विषे परावति वृषो अर्वावति श्रुतः ॥१॥

भावार्थः—(**उग्र**) हे तेजस्विन्निन्द्र ! परमेश्वर ! (**इत्था**) यह (**सत्यम्**) सत्य है कि आप (**वृषा इत्**) [धर्मार्थ काम मोक्षों के] वर्षाने वाले ही (**असि**) हैं। (**वृषजूतिः**) आपकी व्याप्ति उक्त पदार्थों को वर्षाती है। (**नः अविता**) आप हमारे रक्षक हैं। (**हि**) इसी हेतु (**वृषा**) वृषा नाम से (**शृण्विषे**) आप वेदों में सुने जाते हैं (**परावति**) दूर देश (**उ**) और (**अर्वावति**) समीप देश में (**वृषा**) वर्षाने वाले (**श्रुतः**) आप विख्यात हैं ॥

भौतिक पक्ष में:—इन्द्र वर्षा करने वाला होने से ठीक सब संगति जानिये ॥ ऋ० ८ । ३३ । १० में "नोवृतः" पाठ है ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—रेभ ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

२६४—यच्छक्रासि परावति यदर्वावति वृत्रहन् ।
अतस्त्वा गीर्भिर्द्युगदिन्द्र केशिभिः सुतावाँ आ विवासति ॥२॥

भावार्थः—(**शक्र**) हे शक्तिमन् ! (**वृत्रहन्**) पापप्रणाशक ! (**इन्द्र**) परमेश्वर ! (**यत्**) जो कि आप (**परावती**) दूर देश और (**यत्**) जो कि (**अर्वावति**) समीप देश में भी (**असि**) हैं (**अतः**) इससे (**सुतावान्**) सोम का अभिषव करने वाला यजमान (**केशिभिः**) जटाजूट वाले ऋत्विजों सहित(**द्युगत्**) शीघ्र (**त्वा**) आपकी (**गीर्भिः**) वेदमन्त्रों से (**आविवासति**) स्तुति उपासना करता है ॥

भौतिक पक्ष में:—(**शक्र**) शक्तिमन् ! (**वृत्रहन्**) मेघविदारक ! (**इन्द्र**) वृष्टिकर्त्ता ! (**यत्**) जो कि (**परावति**) दूर द्युलोक में और (**यत्**) जो कि (**अर्वावति**) समीप मेघमण्डल में (**असि**) है (**अतः**) इसलिये (**सुतावान्**) सोम का अभिषव करने वाला यजमान (**केशिभिः**) ऋत्विजों सहित (**द्युगत्**)

शीघ्र (त्वा) तेरा (गीर्भिः) वेदमन्त्रों के साथ (आविवासति) हवन रूप परिचर्य्या करता है ॥

निघण्टु २ । १५ ॥ ३ । ५ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋग्वेद ८ । ६७ । ४ में भी ॥२॥

अथ तृतीयायाः—वत्स ऋषिः । इन्द्रो देवता । पिपीलिकमध्या बृहती छन्दः ॥

२६५—अभि वो वीरमन्धसो मदेषु गाय गिरा महा विचेतसम् ।
इन्द्रं नाम श्रुत्यं शाकिनं वचो यथा ॥३॥

भावार्थः—(अन्धसः) शारीरिक और आत्मिक भोजन के (मदेषु) आनन्दों के निमित्त (वः) तुम अपने (वीरम्) पुरुषार्थ युक्त करने वाले (नाम) शत्रुओं को नम्र करने वाले (महा) महान् (विचेतसम्) विशेष ज्ञानयुक्त (शाकिनम्) शक्तिमान् (इन्द्रम्) परमेश्वर वा राजा को (यथा श्रुत्यं वचः) जैसे वेद का वचन है वैसे (गिरा) वाणी से (अभि गाय) सर्वतः गाओ ॥

निरुक्त ७ । १३ ॥ ५ । १ निघण्टु ३ । ३ अष्टाध्यायी ७।१।३६ के प्रमाण और संकेत संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ८ । ४६ । १४ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—भरद्वाज ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

२६६—इन्द्र त्रिधातु शरणं त्रिवरूथं स्वस्तये ॥
छर्दिर्यच्छ मघवद्भ्यश्च मह्यं च यावया दिद्युमेभ्यः ॥४॥

भावार्थः—(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (त्रिधातु) वात, पित्त, कफ नामक ३ धातु वाले (छर्दिः) देह नामी घर को [बन्धन को] (यावय) पृथक् कीजिए (च) और (मह्यम्) मुझ भगवद्भक्त (च) तथा (एभ्यः) इन (मघवद्भ्यः) तुम्हारा पूजन करने वालों के लिये (त्रिवरूथम्) आध्यात्मिकादि तीनों दुःखों के रोकने वाला (दिद्युम्) प्रकाशमय (शरणम्) आश्रय (स्वस्तये) कल्याणार्थ (यच्छ) दीजिये ॥

निघण्टु ३ । ४ का प्रमाण और ऋ० ६ । ४६ । ६ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥४॥

अथ पञ्चम्याः - नृमेध ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

२६७—आयन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत ।
वसूनि जातो जनिमान्योजसा प्रति भागं न दीधिम ॥५॥

भावार्थः—मित्रो ! (**विश्वा**) समस्त (**जाता**) जो उत्पन्न हो चुके (**उ**) और (**जनिमानि**) जो उत्पन्न होवेंगे (**ओजसा**) बल सहित वे सब (**वसूनि**) धन (**इन्द्रस्य**) परमेश्वर के (**इत्**) ही हैं । (**प्रति, भागम्**) अपने भाग के अनुसार (**न**) जैसे [पिता के धन को पुत्र] (**भक्षत**) भोगो (**दीधिमः**) उन्हीं को हम धारण करते हैं । दृष्टान्त—(**आयन्त इव सूर्यम्**) जैसे सूर्य से उत्पन्न हुई किरणें सूर्य से ही प्रकाश लेती हैं ॥

सायणाचार्य ने और टिप्पणी में विवरणकार के मत से सामश्रमी जी ने 'जाते' इस पद की व्याख्या की है । परन्तु मूल और सामगान दोनों में "जातो" पाठ देखा जाता है, जिसके "जाता, उ" ये दो पद होते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद ८ । ९९ । ३ के "जाते जनमान ओजसा प्रति भागं न दीधिम" इस पाठ में "जाते" पाठ देखकर यह भ्रान्ति हुई है । और सायणभाष्य में उसी का निरुक्त भी उद्धृत किया है । परन्तु ऐसा करने पर यह भाष्य मूल से अनुकूल नहीं रहता ॥५॥

अथ षष्ठ्याः—पुरुहन्मा ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

२६८—न सीमदेव आपतदिषं दीर्घायो मर्त्यः ।
एतग्वाचिद्य एतशो युयोजत इन्द्रो हरी युयोजते ॥६॥

भावार्थः—(**दीर्घायो**) हे नित्य ! जीवात्मन् ! (**अदेवः**) विना ईश्वर के मनुष्य (**इषम्**) शारीरिक और आत्मिक भोजन (**न सीम्**) नहीं ही (**आपतत्**) पा सकता (**चित्**) क्योंकि (**यः**) जो (**एतग्वा**) घोड़े वाला है [वही](**एतशः**) घोड़े को (**युयोजते**) जोतता है । और (**इन्द्रः**) सूर्य ही (**हरी**) किरणों को (**युयोजते**) संयुक्त करता है ॥

परमात्मा ही के समस्त पदार्थ हैं इस लिए वही सबको यथाभाग देता है वह न हो तो कोई मनुष्य संचित कर्मों का फल न पा सके । क्योंकि स्वतन्त्रता से कोई पुरुष किसी पदार्थ का स्वामी नहीं है । फिर स्वतन्त्रता से किसी पदार्थ का भोग

किसी को कैसे मिल सकता है? रथ के स्वामी ही के घोड़े जुतते हैं, स्वामी के बिना स्वतन्त्र घोड़े नहीं जुत सकते, और न सूर्य के बिना स्वतन्त्र किसी पदार्थ में किरणें जुड़ सकती हैं। जैसे दरिद्र पुरुष अपने घोड़े ही नहीं रखता फिर जोते किसे ? और जैसे बिना प्रकाश के घटादि पदार्थ प्रकाश की पूंजी ही नहीं रखते फिर चमकें कैसे? ऐसे ही यह जगत् किसी पदार्थ पर स्वत्व ही नहीं रखता तब भोग कहां से कर सके? अतः परमात्मा ही भोग का प्रदाता है ॥

निघण्टु १। १४ ॥ १। १५ के प्रमाण और ऋ० ८। ७०। ७ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥६॥

अथ सप्तम्याः—नृमेधपुरुमेधावृषी। इन्द्रो देवता। बृहती छन्दः ॥

२६९—आ नो विश्वासु हव्यमिन्द्रं समत्सु भूषत।
उप ब्रह्माणि सवनानि वृत्रहन्परमज्या ऋचीषम ॥७॥

भावार्थः—(ऋचीषम) हे स्तुत्य ! (परमज्याः) उत्कृष्ट शत्रुओं का दमन करने वाले (वृत्रहन्) रुकावटों को मार भगाने वाले ! परमेश्वर ! (विश्वासु) समस्त (समत्सु) युद्धादि बाधाओं में (नः) हमारे (ब्रह्माणि) वेदोक्त स्तोत्र और (सवनानि) प्रातः सवनादि तीनों सवन (हव्यम्) पुकारने योग्य (इन्द्रम्) आप परमेश्वर को (आ उप भूषत) रक्षार्थ सुशोभित करो ॥

अर्थात् हे जगदीश ! हमारी समस्त बाधाओं में सहायतार्थ हमारे स्तोत्र और यज्ञ हमें आपको प्राप्त करावें।

निघण्टु २। १७ निरुक्त ६। २३ के प्रमाण और ऋग्वेद ८। ९०। १ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥७॥

अथाऽष्टम्याः—वसिष्ठ ऋषिः। इन्द्रो देवता। बृहती छन्दः ॥

२७०—तवेदिन्द्रावमं वसु त्वं पुष्यसि मध्यमम्।
सत्रा विश्वस्य परमस्य राजसि न किष्ट्वा गोषु वृण्वते ॥८॥

भावार्थः—(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (अवमम्) नीचे का पृथिवी लोक (तव इत्) आपका ही (वसु) धन है। और (मध्यमम्) मध्यस्थ अन्तरिक्ष लोक को (त्वम्) आप ही (पुष्यसि) पालते हैं तथा (परमस्य) परम द्युलोक के भी

आप ही (राजसि) राजा हैं। इस प्रकार (विश्वस्य) सारे जगत् के (सत्रा) एक साथ ही राजा हैं। (त्वा) आपको (गोषु) पृथिवी आदि लोकों में (नकिः) कोई नहीं। (वृण्वते) रोक सकते [क्योंकि आप व्यापक हैं ॥]

ऋ० ७। ३२। १६ में भी ॥८॥

अथ नवम्याः—मेधातिथिमेध्यातिथी ऋषी। इन्द्रो देवता। बृहती छन्दः ॥

२७१—क्वेयथ क्वेदसि पुरुत्रा चिद्धि ते मनः।
अलर्षि युध्म खजकृत्पुरन्दर प्र गायत्रा अगासिषुः ॥९॥

भावार्थः—प्रश्न—(युध्म) हे सबग ! (खजकृत्) हे आकाशज ब्रह्माण्डों के कर्त्ता ! (पुरन्दर) हे देवबन्धनों के छुड़ाने हारे ! [इन्द्र] परमेश्वर ! आप (क्व) कहां (इयथ) व्याप्त हैं (इत्) और (क्व) कहां (असि) हैं। उत्तर—(ते) आपका (मनः) ज्ञानस्वरूप (पुरुत्रा, चित्, हि) सर्वत्र ही है। (अलर्षि) आप व्याप रहे हैं। (गायत्राः) गाने वाले (प्रागासिषुः) [आप का] गान करते हैं ॥

निघण्टु २। १४॥ ३। १॥ उणादि १। १४५॥ १। २३। १८६॥ अष्टाध्यायी ७। ४। ६४ इत्यादि के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋ० ८। १। ७ में भी ॥९॥

अथ दशम्याः—कलिर्ऋषिः। इन्द्रो देवता। बृहती छन्दः ॥

२७२—वयमेनमिदा ह्योऽपीपेमेह वज्रिणम्।
तस्मा उ अद्य सवने सुतं भरा नूनं भूषत श्रुते ॥१०॥

इति चतुर्थी दशतिः

भावार्थः - हे मित्रो ! (वयम्) हम ब्रह्मज्ञानी लोग (एनम्) इन (वज्रिणम्) दुष्टों पर दण्डधारी परमेश्वर को (इत्) ही (ह्यः) भूतकाल में (आ अपीपेम) सर्वतोभाव से प्रसन्न करते रहे हैं। और (नूनम्) निश्चय [आप लोग भी] (अद्य) अब (श्रुते) विख्यात (सवने) यज्ञ में (सुतम्) स्तुति करने वाला (भर) भरण कीजिये (उ) और (तस्मै) उस परमेश्वर के लिये (भूषत) [हृदय को रागद्वेषादि मल दूर करके] सुन्दर भूषित करो ॥

अर्थात् ज्ञानियों की यह परम्परा है कि सर्व काल में यज्ञादि उत्तम अवसरों पर

विशेषकर अपने स्वामी परमात्मा की प्रीति के लिए अपने हृदय से पापादि कुसंस्कारों को दूर करके भूषित करते हैं ॥

निघण्टु ३ । १७ ॥ ३ । १६ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋ० ८ । ५५ । ७ में "समना सुतम्" पाठ है ॥

यह तृतीयाऽध्याय में ४ चौथी दशति समाप्त हुई ॥४॥

यो राजा चर्षणीत्यस्यां बृहत्यो दशतौ दश ।
वयमद्यां असि सूर्येति तुर्या सूर्यस्य कीर्तिता ॥१॥
इन्द्राग्नीति नवम्याश्च इन्द्राग्नी देवते स्मृते ।
शेषा अष्टेन्द्रदैवत्या एवं दश ऋचः स्मृताः ॥२॥

अथ पञ्चमी दशतिः

तत्र प्रथमायाः पुरुहन्मा ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ।

१ २र ३ २उ ३ १२ ३१२
२७३—यो राजा चर्षणीनां याता रथेभिरध्रिगुः ।
१ २ ३१ २र ३ २३ १ २३ २ ३२
विश्वासां तरुता पृतनानां ज्येष्ठं यो वृत्रहा गृणे ॥१॥

भावार्थः—इसमें श्लेषालंकार से राजा और परमेश्वर की प्रशंसा है । (यः) जो (चर्षणीनाम्) मनुष्यों का (राजा) राजा है । (रथेभिः) जो रथों वा रमणीय योगमार्गों से (याता) प्राप्त होता है । (अध्रिगुः) जो अपने स्थान में वा अपने स्वरूप में ही स्थिर अचल (वृत्रहा) दुष्ट दस्युओं का नाशक है (विश्वासां पृतनानाम् तरुता) जो सम्पूर्ण सेनाओं के पार करने वाला है (ज्येष्ठम्) उस बड़े [राजा वा परमेश्वर] की (गृणे) प्रशंसा करता हूँ ॥

अष्टाध्यायी ७ । २ । ३४ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।

ऋ० ८ । ७० । १ में "ज्येष्ठो" पाठ है ॥

अथ द्वितीयायाः—भर्ग ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२
२७४—यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयङ्कृधि ।
१२ ३ २उ ३ १ २ ३२३ २उ ३ १ २र
मघवञ्छग्धि तव तन्न ऊतये वि द्विषो वि मृधो जहि ॥२॥

भावार्थः—(इन्द्र) हे राजन् ! वा परमेश्वर ! हम (यतः) जिस से (भयामहे) भय को प्राप्त हों (ततः) उससे (नः) हम को (अभयम्) निर्भय (कृधि) कीजिये (मघवन्) हे धनवन् ! वा यज्ञवन् ! (तव) आपके भक्त (नः) हम लोगों की (ऊतये) रक्षा के लिये (तत्) उस अभय को (शग्धि) आप समर्थ हैं, याचना को पूर्ण कीजिये । (द्विषः) शत्रुओं को (वि. जहि) नष्ट कीजिये और (मृधः) संग्रामों को (वि) जीतिये ॥

ऋग्वेद ८ । ५० । १३ में "ऊतिभिः" पाठ है ॥२॥

अथ तृतीयायाः—इरिमिठ ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

१ २ ३ १ २१ ३ १ २
२७५—वास्तोष्पते ध्रुवा स्थूणांसत्रं सोम्यानाम् ।
३ २ ३२ ३१ २१ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
द्रप्सः पुरांभेत्ता शश्वतीनामिन्द्रो मुनीनां सखा ॥३॥

भावार्थः—(वास्तोष्पते) हे गृहों के पालक ! राजन् ! वा परमेश्वर आप (सोम्यानाम्) सौम्य स्वभाव प्रजाजनों के (ध्रुवा) अचल (स्थूणा) गृहस्तम्भ के तुल्य आधार हैं (अंसत्रम्) कवच के तुल्य रक्षक हैं (द्रप्सः) शीघ्र गति वाले वा ज्ञानी हैं (शश्वतीनाम्) बहुत (पुराम्) शत्रुदुर्गों वा देह बन्धनों के (भेत्ता) नाशक हैं (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् और (मुनीनाम्) मुनियों के (सखा) मित्र हैं ॥ निघण्टु ३ । १ और ऋग्वेद ८ । १७ । १४ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः जमदग्निर्ऋषिः । सूर्यो देवता । बृहती छन्दः ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
२७६—बण्महाँ असि सूर्य्य बडादित्य महां असि ।
३१ २ ३१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
महस्ते सतो महिमा पनिष्टम मह्ना देव महां असि ॥४॥

भावार्थः—सूर्य के दृष्टान्त से राजा की प्रशंसा है कि—(सूर्य) कामों में प्रेरणा करने वाले ! (बट्) ठीक (महान्) तू बड़ा (असि) है । (आदित्य) रसों के खींचने वाले ! (बट्) सत्य तू (महां असि) महान् है (ते) तुझ (सतः) उत्तम की (महिमा) बड़ाई (महः) बड़ी है । (पनिष्टम) प्रशंसा के योग्य ! (देव) दिव्यगुण ! (मह्ना) बड़प्पन से (महां असि) तू महान् है ॥

अर्थात् जैसे सूर्य और परमेश्वर प्रजा को चेताते हैं, रसों का आकर्षणादि करते हैं, प्रशंसनीय, दिव्य गुणों से युक्त हैं, और परमेश्वर सर्व की अपेक्षा से तथा

सूर्य अन्य लोकों की अपेक्षा से बड़ा है। वैसे ही राजा भी व्यापारादि में प्रजा का प्रवर्तक, कर ग्रहण करने वाला, प्रशंसनीय, दिव्य गुणयुक्त और साधारण मनुष्यों की अपेक्षा महान् होवे ॥ ऋ० ८ । १०१ । ११ में "महस्ते सतो महिमा पनस्यतेऽद्धा देव महां असि" यह पाठ है ॥४॥

अथ पञ्चम्याः - मेधातिथिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

२७७—अश्वी रथी सुरूप इद् गोमां यदिन्द्र ते सखा।
श्वात्रभाजा वयसा सचते सदा चन्द्रैर्याति सभामुप ॥५॥

भावार्थः—(इन्द्र) हे परमेश्वर ! वा राजन् ! (यद्) जब [मनुष्य] (ते) आप के (सखा) अनुकूल होता है (इत्) तभी (अश्वी) अश्वों वाला (रथी) रथों वाला (गोमान्) गौओं वाला और (सुरूपः) सुन्दर स्वरूप वाला होता है। तथा (श्वात्रभाजा) धन सहित (वयसा) अन्न से (सचते) संगति करता है। और (सदा) सर्वदा (चन्द्रैः) आह्लादकारक सहचरों के साथ (सभाम्) सभा को (उप-याति) प्राप्त होता है ॥

न्यायकारी राजा और परमेश्वर के कृपाभाजन पुरुष ही रथ, गौ, धन, धान्य से सुखी और सभा के रत्न बनते हैं ॥

सूर्यपक्ष में (इन्द्र) हे राजन् ! (ते) आपका (सखा) समानख्याति सूर्य (यत्) जिस कारण (अश्वी) शीघ्र गमन की हेतु उष्णता वाला (रथी) रमणीय स्वरूप वाला (सुरूपः) भले प्रकार रूप का संचारक है (इत्) इस कारण (श्वात्रभाजा) धनभागी (वयसा) धान्य से (सचते) संगति करता और (सदा) सर्वदा (चन्द्रैः) अनेक चन्द्रमाओं के सहित (सभाम्) गगनमण्डल रूप सभा में (उप-याति) प्राप्त रहता है ॥

इससे चन्द्रमाओं का दो से अधिक होना भी पाया जाता है। निघण्टु २ । ७ ॥ २ । १० निरुक्त ११।५ के प्रमाण और ऋ० ८ । ४ । ९ का पाठभेद संस्कृत-भाष्य में देखिये ॥५॥

अथ षष्ठ्याः - पुरुहन्मा ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

२७८—यद्द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमिरुत स्युः ।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी ॥६॥

भावार्थः—(**इन्द्र**) हे परमेश्वर ! (**यत्**) यदि (**द्यावः**) द्युलोक (**शतम्**) सैंकड़ों (**स्युः**) हों । [तो भी] (**ते**) आप को (**न**) नहीं (**अनु**) साथ (**अष्ट**) व्याप सकते (**उत**) और (**भूमीः**) पृथिवीलोक (**शतम्**) सैंकड़ों हों, तब भी नहीं व्याप सकते । (**वज्रिन्**) हे दुष्टों को दण्डदाता ! (**सहस्रम्**) असंख्यात (**सूर्याः**) सूर्य लोक भी (**त्वा**) आप को [नहीं व्याप सकते] (**रोदसी**) द्यावा पृथिवी [आपको नहीं व्याप सकते] (**जातम्**) उत्पन्न जगत् मात्र (**न**) आपको नहीं व्याप सकता क्योंकि आप अनन्त और सबसे बड़े हैं । "पृथिवी से बड़ा, अन्तरिक्ष से बड़ा, द्युलोक से बड़ा और इन सब लोकों से भी बड़ा है" ऐसा कहा सुनते हैं ॥

निघण्टु ३ । १ ॥ २ । १८ ॥ ३ । ३० के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद ८ । ७० । ५ में भी ॥६॥

अथ सप्तम्याः—देवातिथिऋर्षिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

२७९—यदिन्द्र प्रागपागु दङ्न्यग्वा हूयसे नृभिः ।
सिमा पुरु नृषूतो अस्यानवेऽसि प्रशर्द्ध तुर्वशे ॥७॥

भावार्थः—(**इन्द्र**) हे परमेश्वर ! (**यत्**) जब (**नृभिः**) मनुष्यों से (**प्राक्**) पूर्व (**अपाक्**) पश्चिम (**उदक्**) उत्तर (**वा**) और (**न्यक्**) नीचे की दिशाओं में (**हूयसे**) तुम पुकारे जाते हो तब (**सिमा**) सर्वत्र एक साथ ही (**तुर्वशे**) सब के समीप (**असि**) होते हो । (**प्रशर्ध**) हे सब से अधिक तेजस्विन् ! (**पुरु**) बहुशः (**नृषूतः**) मनुष्यों के पुकारे हुए आप (**आनवे**) मनुष्य मात्र में (**असि**) हैं ॥

अष्टाध्यायी ५ । ३ । २७ ॥ ५ । ३ । ३० ॥ ३ । २ । ५३ ॥ ८ । २ । ४ निघण्टु २ । ३ ॥ २ । १६ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ८ । ४ । १ में भी ॥७॥

अथाऽष्टम्याः—वसिष्ठ ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

२८०—कस्तमिन्द्र त्वा वसवा मर्त्यो दधर्षति ।
श्रद्धा हि ते मघवन् पार्ये दिवि वाजी वाजं सिषासति ॥८॥

भावार्थः—(**वसो**) वासहेतो ! (**मघवन्**) यज्ञ वाले ! (**इन्द्र**) परमेश्वर!

(**तम्**) उन सर्वव्यापक (**त्वा**) आपको (**कः**) कौन (**मर्त्यः**) मनुष्य (**आदधर्षति**) धर्षणा कर सकता है ? कोई नहीं । किन्तु— (**वाजी**) योगबल या सोमरूप अन्न वाला (**ते**) आपका यजमान (**पार्ये**) सोम की पारी के (**दिवि**) दिन (**श्रद्धा**) श्रद्धापूर्वक (**हि**) निश्चय (**वाजम्**) सोम को (**सिषासति**) विभाग-पूर्वक [यज्ञ में] देना चाहता है ।।

ऋ० ७ । ३२ । १४ में जो पाठभेद है वह संस्कृतभाष्य में देखिये ।।८।।

अथ नवम्याः—भरद्वाज ऋषिः । इन्द्राग्नी देवते । बृहती छन्दः ।

१ २ ३ २ ३१ २र ३१ २
२८१—इन्द्राग्नी अपादियं पूर्वागात्पद्वतीभ्यः ।
३ १ २र ३ २ ३ १२ ३१२३ २ ३१ २
हित्वा शिरो जिह्वयारारपच्चरत्त्रिंशत् पदा न्यक्रमीत् ।।९।।

भावार्थः—पूर्वोक्त सोम का विभाग कौन करता है ? इसका उत्तर कहते हैं—(**इयम्**) यह बिजुली (**अपात्**) पांव के बिना भी (**पद्वतीभ्यः**) पांव वाली प्रजाओं से (**पूर्वा**) प्रथम (**आ-अगात्**) आ जाती है (**चरत्**) और चलती है । तथा (**शिरः**) मुखस्थान को (**हित्वा**) त्याग कर भी (**जिह्वया**) वाणी से (**रारपत्**) अत्यन्त बोलती है (**त्रिंशत्**) दिन रात ३० मुहूर्तों में (**पदा**) पद (**न्यक्रमीत्**) रखती है । (**इन्द्राग्नी**) सूर्य और अग्नि भी ऐसा करते हैं ।।

सूर्य अग्नि और बिजुली के आश्चर्य प्रभाव से सोम का विभाग हो जाता है ।।९।।

अथ दशम्याः—बालखिल्या ऋषयः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ।।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३१ २ ३ १ २
२८२—इन्द्र नेदीय एदिहि मितमेधाभिरूतिभिः ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २
आ शन्तम शंतमाभिरभिष्टिभिरा स्वापे स्वापिभिः ।।१०।।

इति पञ्चमी दशतिः ।।

भावार्थः—(**इन्द्र**) हे परमेश्वर ! (**नेदीयः**) हे अतिसमीप ! व्यापक ! आप (**मितमेधाभिः**) परिमित बुद्धियों सहित और (**ऊतिभिः**) रक्षाओं सहित (**आ-इहि, इत्**) हमें प्राप्त ही हूजिए (**शन्तम**) हे सुखद ! (**शन्तमाभिः**) अतिसुखदायिका (**अभिष्टिभिः**) प्राप्तियों से (**आ**) प्राप्त हूजिए (**स्वापे**) हे अपने स्वरूप के प्राप्त कराने वाले ! (**स्वापिभिः**) अपने पदार्थों की प्राप्तियों से (**आ**) प्राप्त हूजिए ।।

अष्टाध्यायी ५ । ३ । ६३ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ८ । ५३ । ५ में भी ॥१०॥

यह तृतीयाऽध्याय में पांचवीं दशति समाप्त हुई ॥५॥

इत ऊतीव इत्याद्या बृहती दशती दश ।
शचीभिरिति पञ्चम्या अश्विनौ देवते मते ॥१॥
यदेति वारुणी षष्ठी शिष्टा ऐन्द्र्यः प्रकीर्तिताः ।

अथ षष्ठी दशतिस्तत्र प्रथमायाः—नृमेध ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः॥

२८३—इत ऊती वो अजरं प्रहेतारमप्रहितम् ।
आशुं जेतारं हेतारं रथीतममतूर्तं तुग्रियावृधम् ॥१॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! तुम (वः) अपनी (ऊती) रक्षा के लिए (अजरम्) अकाय होने से बुढ़ापे से रहित (प्रहेतारम्) अन्तर्यामितया सब के प्रेरक (अप्रहितम्) कूटस्थ होने से अचल (आशुम्) व्यापक (जेतारम्) सर्वोत्कृष्ट (हेतारम्) सर्वग (रथीतमम्) अति रमणीय पदार्थों वाले (अतूर्तम्) निराकार होने से अहिंसनीय अमर (तुग्रियावृधम्) जल के वर्षाने वाले [उपलक्षण से आंधी आदि के भी प्रवर्त्तक, प्रकरणागत इन्द्र परमेश्वर को] (इत) प्राप्त होओ ॥

निघण्टु १।१२ निरुक्त ६।११ इत्यादि के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ८ । ६६ । ७ में "तुग्र्यावृधम्" ही पाठ है ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—वसिष्ठ ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

२८४—मो षु त्वा वाघतश्च नारे अस्मन्नि रीरमन् ।
आराताद्वा सधमादं न आ गहीह वा सन्नुप श्रुधि ॥२॥

भावार्थः—प्रकरण से हे परमेश्वर ! (वाघतः) विद्वान् ऋत्विज् लोग (चन) भी (अस्मत्) हम से (आरे) दूर देश में (त्वा) आपको (मा, उ, सु, नि—रीरमन्) न स्तुत करें किन्तु समीप ही बैठे हुए स्तुत करें और आप (वा) निश्चय (आरातात्) स्वर्ग होने से समीप ही (नः) हमारे (सधमादम्) यज्ञ को

(**आगहि**) प्राप्त हों (**वा**) अथवा (**इह**) इस हमारे अन्तःकरण में (**सन्**) वर्त्तमान आप (**उप-श्रुधि**) प्रार्थना का श्रवण करें ।।

निघण्टु ३।१५।। ३।१८ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।। ऋग्वेद ७ । ३२ । १ में "आरानाच्चित्" पाठ है ।।२।।

अथ तृतीयायाः—वसिष्ठ ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ।।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
२८५—सुनोत सोमपाव्ने सोममिन्द्राय वज्रिणे ।
१ २ ३ १ २र ३ २उ ३ २र ३ १ २र
पचता पक्तीरवसे कृणुध्वमित्पृणन्नित्पृणते मयः ।।३।।

भावार्थः—रक्षा और सुख के लिये प्रार्थना किया हुआ परमेश्वर, यह जान कर कि मनुष्यों का समस्त सुख और रक्षा, शुद्ध वायु जल वृष्टि और ओषधि आदि पर निर्भर है, उपदेश करता है कि हे मनुष्यो ! तुम (**सोमपाव्ने**) सोम पीने वाले (**वज्रिणे**) कड़क रूप वज्र के वर्त्ता (**इन्द्राय**) अन्तरिक्षस्थान देवविशेष के लिये (**सोमम्**) सोमादि ओषधियों का (**सुनोत**) अभिषव करो—सम्पादन करो । (**अवसे**) रक्षा के निमित्त (**पक्तीः**) पकाने योग्य पुरोडाशादि (**पचत**) पकाओ । (**इत्**) ऐसे सब काम (**कृणुध्वम्**) करो (**इत्**) ही (**पृणत्**) देने वाला (**मयः**) सुख (**पृणते**) देता है ।।

निघण्टु ३ । २० ।। ३ । ६ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।। ऋग्वेद ७ । ३२ । ८ में "सुनोता" ऐसा दीर्घान्त पाठ है ।।३।।

अथ चतुर्थ्याः—भरद्वाज ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ।।

१ २ ३ १ २र ३ २ ३ १ २ ३ २
२८६—यः सत्राहा विचर्षणिरिन्द्रं तं हूमहे वयम् ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
सहस्रमन्यो तुविनृम्ण सत्पते भवा समत्सु नो वृधे ।।४।।

भावार्थः—मनुष्य पूर्व मन्त्रोपदेश के उत्तर में निवेदन करते हैं कि—(**सहस्र-मन्यो**) हे अनन्त वाण ! (**तुविनृम्ण**) हे बहुबल ! (**सत्पते**) हे सत्पुरुषों के रक्षक ! जो आप (**सत्राहा**) एक साथ समस्त का नाश करने में समर्थ हैं और (**विच-र्षणिः**) अच्छे बुरे को देखने वाले हैं, सो आप (**समत्सु**) कामादि शत्रुओं के संग्रामों में (**नः**) हमारी (**वृधे**) वृद्धि और विजय के लिये (**भव**) हूजिये । आपकी आज्ञानुसार (**तम्**) उस अन्तरिक्ष स्थान (**इन्द्रम्**) इन्द्र का (**वयम्**) हम (**हूमहे**) हवनादि करते हैं ।।

निघण्टु ३ । ११ ॥ ३ । १ ॥ २।६॥ २ । १७ निरुक्त ६ । २६ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ६ । ४६ । ३ में "सहस्रमुष्क" यह पाठभेद है ॥४॥

अथ पञ्चम्याः—परुच्छेप ऋषिः । अश्विनौ देवते । बृहती छन्दः ॥

२८७—शचीभिर्नः शचीवसू दिवा नक्तं दिंशस्यतम् ।
मा वां रातिरुपदसत् कदाचनास्मद्रातिः कदाचन ॥५॥

भावार्थः—फिर मनुष्य लोग सूर्य और चन्द्रमा को सम्बोधन करके कहते हैं कि—अश्विनौ ! तुम (शचीवसू) बुद्धि और धन (नः) हमारे लिये (दिवा नक्तम्) रात्रि दिन (दिशस्यतम्) दो । (शचीभिः) कर्मों सहित (वाम्) तुम्हारा (रातिः) दान (कदा चन) कभी (मा, उप-दसत्) उपक्षीण न हो और (अस्मत् रातिः) हमारा हव्य दान भी (कदा चन) कभी उपक्षीण न हो ॥

यहाँ सूर्य चन्द्रमा के दृष्टान्त से उपदेशक और उपदेश्य का धर्म भी उपदेश किया जानो ॥ सूर्य चन्द्र भी अपने प्रकाश से वुद्ध्यादि बढ़ाते हैं ॥

निघण्टु २ । १ ॥ ३ । ६ अष्टाध्यायी ३ । १ । ५५ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० १ । १३६ । ५ में "दशस्यतम्" पाठ है ॥५॥

अथ षष्ठयाः—वामदेव ऋषिः । वरुणो देवता । बृहती छन्दः ॥

२८८—यदा कदा च मीढुषे स्तोता जरेत मर्त्यः ।
आदिद्वन्देत वरुणं विपा गिरा धर्त्तारं विव्रतानाम् ॥६॥

भावार्थः—परमात्मा की स्तुति के साथ वन्दना भी आवश्यक है । इसका विधिवाक्य कहते हैं कि—(स्तोता) स्तुति करने वाला (मर्त्यः) मनुष्य (मीढुषे) धर्मार्थ काम मोक्ष के वर्धक परमेश्वर के लिये (यदाकदा च) जब कभी (जरेत) स्तुति करे (आत् इत्) तब ही (विव्रतानाम्) विविध कर्मों के (धर्त्तारम्) धर्त्ता (वरुणम्) वरण करने योग्य परमात्मा को (गिरा) जो बोलती है उस (विपा) वाणी से (वन्देत) वन्दना भी करे । अर्थात् वन्दनारहित स्तुति न करे किन्तु वन्दना और स्तुति दोनों करे ॥

निघण्टु ३ । १४ ॥ १ । ११ ॥ २ । १ इत्यादि के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥६॥

अथ सप्तम्याः—मेध्यातिथिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

३ १ २र ३ २३ १ २
२८६—पाहि गा अन्धसो मद इन्द्राय मेध्यातिथे ।
१ २र ३ २३ १ ४३ २३ १ २ ३ १ २३ १२
यः संमिश्लो हर्योर्यो हिरण्यय इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ॥७॥

भावार्थः—(मेध्यातिथे) हे परमेश्वर से संगतियोग्य ! निरन्तर देहान्तर को जाने वाले ! जीवात्मन् ! तू (इन्द्राय) परमेश्वर प्राप्ति के लिये (अन्धसः) उत्तम उत्तम भोजनादि के (मदे) मद में (गाः) इन्द्रियों को [विषयों से] (पाहि) रक्षा कर [क्योंकि] (यः) जो (इन्द्रः) परमेश्वर (हिरण्ययः) ज्योतिर्मय है और जो (हर्योः) हरणशील आत्मा और मन में (संमिश्लः) मिल रहा है व्यापक है और जो (वज्री) दुष्ट विषयलोलुओं को दण्ड धारण किये हैं (हिरण्ययः) ज्योतिःस्वरूप है । वह अजितेन्द्रियों को नहीं मिल सकता । यह भाव है ॥

हिरण्यय पद के दो बार पाठ से परमात्मा की ज्योति की अतिशयता और मदान्धों को नहीं पा सकता, यह सूचित किया है । निघण्टु १ । ४॥ २ । ७ इत्यादि प्रमाण और ऋ० ८ । ३३ । ४ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥७॥

अथाऽष्टम्याः—भर्ग ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

३१ २ ३ १२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २र
२९०—उभयं शृणवच्च न इन्द्रो अर्वागिदं वचः ।
३ १ २ ३ २३ २ १ ३ १ २र ३ १ २
सत्राच्या मघवान्त्सोमपीतये धिया शविष्ठ आ गमत् ॥८॥

भावार्थः—(इन्द्रः) परमेश्वर (नः) हमारे (उभयम्) स्तुति और वन्दना दोनों प्रकार के वचनों को (अर्वाक्) समक्ष उच्चार्यमाण (शृणवत्) सुने (च) और (शविष्ठः) अतिबल (मघवान्) यज्ञ वाला (सोमपीतये) हृदय के सौम्य भाव को ग्रहण करने के लिये (सत्राच्या) सत्यानुगामिनी (धिया) बुद्धि सहित (आ-गमत्) प्राप्त होवे ॥

निघण्टु ३ । १० ॥ २ । ६ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये । सायणाचार्य ने (च नः) ये दो पद नहीं व्याख्यात किये दीखते ॥ ऋ० ८ । ६१ । १ में तो "मघवा" पाठ है ॥८॥

अथ नवम्याः—मेधातिथिमेध्यातिथी ऋषी । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

३२ ३ १ २ ३ १२ ३ १ २
२९१—महे च न त्वाद्रिवः परा शुल्काय दीयसे ।
२ ३१ २ ३ १ २र ३ २ ३१ ३
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ ॥९॥

भावार्थः—(**अद्रिवः**) हे मेघों के धारक ! (**वज्रिवः**) दुष्टों के ताडन-कर्त्ता ! (**शतामघ**) बहुत धन वाले ! इन्द्र ! परमेश्वर ! (**त्वा**) आप[हम से] (**महे**) बड़े (**शुल्काय**) मूल्य के लिये (**च**) भी (**न**) नहीं (**परा दीयसे**) त्यागे जाते हैं। (**न सहस्राय**) न सहस्र के लिये (**न अयुताय**) न १० सहस्र के लिये (**न शताय**) और न इससे भी बहुत के लिये ॥

अर्थात् मनुष्यों को चाहिये कि सहस्रों के धन के लिये भी कभी परमेश्वर को न हारें। किन्तु सहस्रादि अनन्त धन जाए सो जाए परन्तु परमेश्वर की आज्ञा के विपरीत कुछ न करें ॥

निघण्टु १ । १० ॥ ३ । १ ॥ २ । १० इत्यादि के प्रमाण और ऋ० ८।१।५ का अन्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥९॥

अथ दशम्याः—ऋष्यादयः पूर्ववत् ॥

२९२—वस्याँ इन्द्रासि मे पितुरुत भ्रातुरभुञ्जतः ।

माता च मे छदयथः समा वसो वसुत्वनाय राधसे ॥१०॥

इति षष्ठी दशतिः ॥६॥

इति तृतीयः प्रपाठकः ॥३॥

भावार्थः—(**वसो**) हे वासहेतु ! (**इन्द्र**) परमेश्वर ! (**अभुञ्जतः**) न पालने वाले (**मे**) मेरे (**पितुः**) पिता (**उत**) और (**भ्रातुः**) भ्राता से अधिक आप (**वस्यान्**) बसाने वाले (**असि**) हैं (**च**) और (**मे**) मेरी (**माता**) जननी (**समा**) सब काल में समान प्रीति रखती है। (**वसुत्वनाय**) निवास और (**राधसे**) धन के लिये (**छदयथः**)[माता और आप मेरा] पोषण करते हैं ॥

अर्थात् जब मनुष्य माता की सेवा पालन शुश्रूषा नहीं करता तब भी माता उस पर समान ही स्नेह रखती है। तथा परमेश्वर भी सब काल में इसका पोषण करता है। अन्य पिता माता आदि इतने नहीं। इस में माता शारीरिक और परमात्मा आत्मिक पुष्टि विशेषतः करते हैं ॥

निघण्टु ३ । १४ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ८ । १ । ६ में भी ॥१०॥

यह तृतीयाऽध्याय में छठी दशति और तीसरा प्रपाठक समाप्त हुआ ॥

अथ चतुर्थप्रपाठके प्रथमाऽर्धः ॥
इम इन्द्राय इत्याद्या बृहत्यो दशतौ दश ॥
त्वष्टेति बहुदैवत्या शिष्टा ऐन्द्र्यौ नव स्मृताः ॥१॥

अथ सप्तमी दशतिस्तत्र प्रथमायाः—वशिष्ठ ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

३१ २र ३ १ २ ३ १ २
२६३—इम इन्द्राय सुन्विरे सोमासो दध्याशिरः ।
१ २र ३ २ ३ १२ ३ २ ३ २
ताँ आ मदाय वज्रहस्त पीतये हरिभ्यां याह्योक आ ॥१॥

भावार्थः—(वज्रहस्त) हे वैद्युततेजोधर ! (इमे) ये (दध्याशिरः) दधिमिश्रित (सोमासः) सोमादि ओषधियाँ (इन्द्राय) तुझ इन्द्र के लिये (सुन्विरे) सुसम्पन्न की हैं । (मदाय) हर्ष के लिये (तान्) उन सोमों के (आ, पीतये) ग्रहण करने को (हरिभ्याम्) तिरछी सीधी दोनों गतियों से (ओकः) यज्ञस्थल को (आ-याहि) आ ॥

अर्थात् जब मनुष्य यज्ञ के लिये दधिमिश्रित सोम आदि ओषधि सम्पन्न करके यज्ञ आरम्भ करते हैं तो इन्द्र जो अन्तरिक्ष में जल वर्षाने वाला एक अचेतन देवता है, और अन्य उसके उपलक्षण से ग्रहण किये हुए वायु आदि देवगण अपना-अपना भाग ग्रहण कर लेते हैं । उनका वृद्धि और अच्छेपन को प्राप्त होना ही हर्ष है । अपने-अपने ग्राह्यरस को चूसना वा खेंचना ही पीना है ॥ ऋ० ७।३२।४ में भी ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—वामदेव ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

३१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
२६४—इम इन्द्र मदाय ते सोमाश्चिकित्र उक्थिनः ।
१ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३
मधोः पपान उप नो गिरः शृणु रास्व स्तोत्राय गिर्वणः ॥२॥

भावार्थः—(गिर्वणः) हे वाणी से संभजनीय ! (इन्द्र) परमेश्वर ! (मधोः) मधुरभाषी (उक्थिनः) स्तुतिकर्त्ता के (इमे) ये (सोमाः) सोमादिक (मदाय) [पूर्व मन्त्रोक्त इन्द्र और उसके उपलक्षण से ग्रहण किये अन्य देवताओं के] हर्षार्थ (चिकित्रे) रोग दूर करते हैं । (ते) आपके (स्तोत्राय) स्तोत्र के लिये (नः) हमारी (गिरः) वाणियों को (उप-शृणु) स्वीकृत कीजिये (पपानः) रक्षा करते हुए आप (रास्व) [अभीष्ट पदार्थ] दीजिये ॥

निघण्टु ३ । २० इत्यादि के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ तृतीयायाः—मेधातिथिमेध्यातिथी ऋषी । एके विश्वामित्र इत्याहुः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

१ २ १ २३१ २३१ २३१२
२९५—आ त्वा३द्य सबर्दुघांहुवे गायत्रवेपसम् ।
१ २ ३ २ ३२ ३ २ ३ १२३१२ ३ १२
इन्द्रं धेनुं सुदुघामन्यामिषमुरुधारामरंकृतम् ॥३॥

भावार्थः—इस मन्त्र में श्लेषालंकार से इन्द्र अन्तरिक्षस्थान देव और परमेश्वर का वर्णन धेनु के तुल्य करते हैं । मैं (**अद्य**) अब (**त्वा**) तुझ (**इन्द्रम्**) परम ऐश्वर्य वाले (**अरंकृतम्**) कामना पूर्ण कर्त्ता को (**सबर्दुघाम्**) पय आदि की दुहने वाली (**गायत्रवेपसम्**) प्रशंसित गति वाली वा उत्तम चेष्टा वाली (**सुदुघाम्**) सुलभ रूप से दुहने योग्य (**अन्याम्**) और ही [विलक्षण] (**इषम्**) चाहने योग्य (**उरुधाराम्**) बहुत धार वाली (**धेनुम्**) गौ के समान (**आ-हुवे**) वर्णित करता हूँ ॥

जिस प्रकार गौ सर्वोपकारिका है, इसी प्रकार इन्द्र भी, वर्षा आदि द्वारा सर्वोपकारक है और परमेश्वर तो अत्यन्त उपकारक है ॥

निघण्टु २।६ इत्यादि का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ८।१।१० में "आ त्व १ द्य" इतना अन्तर है ॥

यह अन्धपरम्परा की बात भी द्रष्टव्य है कि कलकत्ते के सायणभाष्ययुक्त पुस्तक में "अद्य" के स्थान में "अघ" और "सुदुघाम्" के स्थान में "सुदुग्धाम्" छप गया है । तो ठीक ज्यों का त्यों ही अशुद्ध पं० ज्वालाप्रसाद भार्गव जी ने भी छाप धरा है । भाष्य में अद्य और सुदुघाम् की ही व्याख्या है । क्योंकि सायणभाष्य में भी वैसा ही है ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—नोधा ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

१ २ ३२ ३ १२ ३ १२ ३ १२
२९६—न त्वा बृहन्तो अद्रयो वरन्त इन्द्र वीडवः ।
१ २र ३१ २र३ २३ २ ३१ २र
यच्छिक्षसि स्तुवते मावते वसु न किष्टदा मिनाति ते ॥४॥

भावार्थः—(**इन्द्र**) परमैश्वर्ययुक्त ! (**बृहन्तः**) बड़े (**वीडवः**) बलिष्ठ दृढ़ (**अद्रयः**) पर्वत भी (**त्वा**) आप को (**न**) नहीं (**वरन्ते**) रोक सकते । (**स्तुवते**) स्तुति करने वाले (**मावते**) मुझ सदृश के लिये (**यत्**) जो (**वसु**) धन वा धान्य (**शिक्षसि**) देते हो (ते) आपके (**तत्**) उसको (**नकिः**) कोई भी नहीं (**आमिनाति**) रोक सकता ॥

निघण्टु २।९।। अष्टाध्यायी ७।३।८१ वार्तिक ५।१।९१ के प्रमाण संस्कृत-भाष्य में देखिये । ऋ० ८ । ८८ । ३ में "यद्दित्ससि" पाठ है ।।४।।

अथ पञ्चम्याः—मेधातिथिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ।।

२९७—क ईं सुते सचा पिबन्तं कद्वयो दधे ।
अयं यः पुरो विभिनत्योजसा मन्दानः शिप्र्यन्धसः ।।५।।

भावार्थः—(सुते) सोमरस सम्पन्न होने पर (सचा) वायु आदि देवों के साथ (पिबन्तम्) रस लेते हुए (ईम्) इस इन्द्र को (कः) कौन (वेद) देख सकता है, कोई नहीं । (कत्) कितनी (वयः) आयु (दधे) धारण करता है । यह भी कौन जानता है, कोई नहीं । (यः) जो कि (अयम्) यह (अन्धसः) सोमादि के रस से (मन्दानः) तृप्त हुआ (शिप्री) वेग वाला (ओजसा) बल से (पुरः) मेघों के दुर्गों [किलों] को (विभिनत्ति) तोड़ता है । इन्द्र जो एक प्रकार का विद्युत्तत्त्व है वह वायु आदि सहित अदृश्य रूप से सोमादि ओषधियों के रस को पीता और उससे पुष्ट हुआ बलपूर्वक मेघ वर्षाता है और बड़ा वेगवान् है ।।

निरुक्त ६ । १७ इत्यादि के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।। ऋग्वेद ८ । ३३ । ७ में भी ।।५।।

अथ षष्ठ्याः—वामदेव ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ।।

२९८—यदिन्द्र शासो अव्रतं च्यावया सदसस्परि ।
अस्माकमंशुं मघवन् पुरुस्पृहं वसव्ये अधि बर्हय ।।६।।

भावार्थः—पूर्वमन्त्र में कहे यज्ञ की निर्विघ्न समाप्ति के लिये परमेश्वर से प्रार्थना है कि (इन्द्र) हे परमेश्वर ! आप (अव्रतम्) कर्म अर्थात् यज्ञ के विरोधी को (शासः) शासित करते हैं । अतः (अस्माकम्) हम याज्ञिकों के (सदसः) यज्ञगृह के (परि) चारों ओर से (च्यावय) विरोधियों को दूर कीजिये । तथा (मघवन्) हे यज्ञ वाले ! (पुरुस्पृहम्) बहुधा चाहे हुए (अंशुम्) सोमरस को (वसव्ये) वसने योग्य यज्ञस्थान में (आ-अधि बर्हय) सब ओर से अधिक बढ़ाइये ।।

अर्थात् यज्ञ में विघ्नकारकों को दूर कीजिये और सोमादि यज्ञ सामग्री को वृद्धि कीजिये ।।६।।

अथ सप्तम्याः वामदेव ऋषिः । बहवो लिङ्गोक्ता देवा:देवता: । बृहती छन्दः ।।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३२ ३ १ २ ३ १ २
२६६—त्वष्टा नो दैव्यं वचः पर्जन्यो ब्रह्मणस्पतिः ।
२१ २९ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
पुत्रैर्भ्रातृभिरदितिर्नु पातु नो दुष्टरं त्रामणं वचः ॥७॥

भावार्थः—(**त्वष्टा**) अग्नि, (**दैव्यं वचः**) वेदमन्त्र, (**पर्जन्यः**) मेघ, (**ब्रह्मणस्पतिः**) सूर्य, (**अदितिः**) द्युलोक [ये सब दिव्य पदार्थ हे इन्द्र ! परमात्मन् आपकी कृपा से] (**नः**) हमारे (**पुत्रैः**) पुत्रों और (**भ्रातृभिः**) भ्राताओं सहित (**नु**) शीघ्र (**नः**) हमारे (**पातु**) प्रत्येक रक्षा करे (**नः**) हमारा (**त्रामणम्**) रक्षक (**वचः**) वचन (**दुष्टरम्**) दुस्तर सफल होवे ॥

अर्थात् परमेश्वर ऐसी कृपा करें कि अग्नि, वेद, सूर्य आदि पदार्थों द्वारा हमारी रक्षा हो, हमारे पुत्रादि की रक्षा हो, हमारे वचन सफल हों ।

निरुक्त ८ । १३-१४ ॥ १० । १२-१३ ऋग्वेद २।२४।४ और १ । ८६ । १० के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥७॥

अथाऽष्टम्याः—बालखिल्या ऋषयः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

३ २ ३२ ३१ २ ३ १ २ ३ १२
३००—कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे ।
२ ३ १ २९ २ ३ २उ ३ १ २ ३१ २
उपोपेन्नु मघवन् भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते ॥८॥

भावार्थः—(**इन्द्र**) हे परमेश्वर ! (**मघवन्**) हे परमधनवन् ! आप (**कदाचन**) कभी (**स्तरीः**) हिंसक (**न असि**) नहीं हैं । किन्तु (**दाशुषे**) विद्यादि दान करने वाले के लिये (**उप उप इत् नु**) समीप-समीप ही शीघ्र (**सश्चसि**) [कर्म फल] पहुँचाते हैं । (**देवस्य**) प्रकाशयुक्त (**ते**) आपका (**दानम्**) कर्मानुसारी दान (**भूयः इत्**) पुनर्जन्म में भी (**नु**) निश्चय (**पृच्यते**) सम्बद्ध होता है ॥

अर्थात् परमेश्वर कभी किसी के किसी कर्म को निष्फल नहीं करता, न किसी निरपराध को दण्ड देता है । किन्तु इस जन्म और पुनर्जन्म में प्रत्येक प्राणि-वर्ग उसकी व्यवस्था से कर्मानुसारी फल का सम्बन्धी (भागी) बनता है ॥

उणादि ३ । ५८ निघंटु २।१४ इत्यादि के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये । ऋग्वेद के बालखिल्य परिशिष्ट ३ । ७ यजुर्वेद ३ । ३४ तथा ८ । २ में भी । ८॥

अथ नवम्याः—मेधातिथिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

३ १र २र ३ १२ ३ १२
३०१—युङ्क्ष्वा हि वृत्रहन्तम हरी इन्द्र परावतः ।
३ १ २ ३ १२ ३२ ३ २ ३ १ २
अर्वाचीनो मघवन्त्सोमपीतय उग्र ऋष्वेभिरा गहि ॥९॥

भावार्थः—(मघवन्) परमधनवन् ! (उग्र) बलिष्ठ ! (वृत्रहन्तम) अत्यन्त पापनाशक ! (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (हि) कृपया अवश्य (हरी) हरण-शील जीवात्मा और मन को (परावतः) अज्ञानवश जो आप से दूर हैं उन्हें (युङ्क्ष्व) अपने में युक्त कीजिये (अर्वाचीनः) पहिले न जाने हुए आप (सोम-पीतये) सौम्यभाव के ग्रहण के लिए (ऋष्वेभिः) महान् गुणों से (आ-गहि) प्राप्त हूजिए ॥

जो लोग परमात्मा को नहीं जानते वे उससे दूर के समान हैं । और उन्हें जब परमात्मा का ज्ञान प्राप्त होता है तो उनके लिये वह (अर्वाचीन) नवीन-सा होता है ॥ ऋ० ८ । ३ । १७ में भी ॥९॥

अथ दशम्याः—नृमेध ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

२ ३ १ २र ३ १ २
३०२—त्वामिदा ह्यो नरोऽपीप्यन्वज्रिन् भूर्णयः ।
१ २ ३ १ २ ३२ ३ ३ ३ १ २ ३ १ २
स इन्द्र स्तोमवाहसः इह श्रुध्युप स्वसरमा गहि ॥१०॥

इति सप्तमी दशतिः ॥७॥

भावार्थः—(वज्रिन्) हे दुष्टदमन ! (इन्द्र) परमेश्वर ! (स्तोमवाहसः) स्तोत्र वहने वाले (भूर्णयः) भक्तिरूप हवि का धारण किये हुए (नरः) मनुष्य (ह्यः) भूतकाल में और (इदा) वर्त्तमान काल में (त्वा) आप को (अपीप्यन्) प्रसन्न करते थे और करते हैं (सः) वह आप (इह स्वसरम्) इस दिन (उप-श्रुधि) सुनिये और (आ-गहि) हमें प्राप्त हूजिए ॥

निघण्टु १।९ का प्रमाण तथा ऋ० ८ । ९९ । १ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥१०॥

यह तृतीयाध्याय में सातवीं दशति समाप्त हुई ॥

प्रतीति दशतावाद्योपस्या चाऽथ ततः परम् ।
द्वितीयातश्चतुर्थ्यन्तमश्विनौ देवते मते ॥१॥
अवशिष्टाः षडैन्द्र्योबृहतीछन्दस्सु कीर्त्तिताः ॥

अथाऽष्टमी दशतिस्तत्र प्रथमायाः—वसिष्ठ ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

१ २ ३ २ १ २ ३ २ ३२
३०३—प्रत्यु अदर्श्यायत्यू३च्छन्ती दुहिता दिवः ।
१२ ३ १ २ ३ १२३ २३ १ २ ३१२
अहो मही वृणुते चक्षुषा तमो ज्योतिष्कृणोति सूनरी ॥१॥

भावार्थः—प्रकरण से हे इन्द्र ! परमेश्वर! (आयती) आती हुई (ऊ३च्छन्ती) अन्धकारों को हटाने वाली (दिवः) द्युलोक वा सूर्य की (दुहिता) पुत्री के तुल्य बुद्धि वा उषा (चक्षुषा) ज्ञान वा दर्शन से (तमः) अज्ञान वा अन्धकार को (अप-उ-वृणुते) निवृत्ति करती है ।(सूनरी) मनुष्यों को सुमार्ग में ले जाने वाली (मही) बड़ी [बुद्धि वा उषा] (ज्योतिः) प्रकाश को (कृणोति) करती है (उ) निश्चय (प्रति-अदर्शि) [वह प्रतिदिन आपकी कृपा से] प्राप्त होती है ।

सायणाचार्य और उनकी देखादेखी ज्वालाप्रसाद जी ने मूलपाठ "ऊ३च्छन्ती" होने पर भी ऋग्वेदस्थ पाठ की भ्रान्ति से "व्युच्छन्ती" की व्याख्या की है । उच्छी बिवासे धातु से यह बना है ॥ प्रतिदिन जब प्रातःकाल लोग सोकर उठते हैं तो बुद्धि तथा सूर्य्य से उत्पन्न हुई उषा (अरुणोदय की बेला=प्रातःकाल) दिखाई देती है, वह अज्ञान=अन्धकार को मिटाती और प्रकाश को फैलाती है । यद्यपि दिव् शब्द सूर्य का पर्य्याय नहीं है, तथापि दिव् के वाचक स्वः इत्यादि छः पद (निघं० १।४) निरुक्त २।१३ के अनुसार द्युलोक और सूर्य दोनों के साधारण नाम हैं । इसलिये वास्तव में सूर्य को द्युस्थान-देवता होने से दिव् के पर्य्यायवाचक शब्दों से और दिव् शब्द से भी सूर्य का ग्रहण अनुचित नहीं है । तथा च निरुक्त ७ । ५ में सूर्य को द्युस्थानदेवता कहा है । इस पर सत्यव्रत सामश्रमी जी भी टिप्पणी में स्वीकार करते हैं कि "सूर्य का दूसरा नाम प्रजापति भी है । बस सूर्य जो प्रतिदिन उषःकाल के पीछे-पीछे दौड़ता रहता है इसी से प्रजापति को कन्या के साथ बलात्कार का दोष लगाया गया ।"॥ निघण्टु १ । ८ में सूनरी उषा का नाम है ॥ ऋ० ७।८१।१ का पाठभेदादि संस्कृतभाष्य में देखिये ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—वसिष्ठ ऋषिः । अश्विनौ देवते । बृहती छन्दः ॥

३१ २ ३ १ २ ३ १ २
३०४—इमा उ वां दिविष्टय उस्रा हवन्ते अश्विना ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १२ ३ १ २र
अयं वामह्वेऽवसे शचीवसू विशं विशं हि गच्छथः ॥२॥

भावार्थः—पूर्वमन्त्र में उषा का वर्णन करके अब सूर्य चन्द्रमा का वर्णन किया जाता है । (उस्रौ) जगत् को बसाने वालो ! (अश्विनौ) सूर्य और चन्द्रमाओ ! (दिविष्टयः) प्रकाश चाहती हुई (इमाः) ये प्रजायें (वाम् उ)

तुमको ही (हवन्ते) प्राप्त करना चाहती हैं इस कारण (अयम्) यह मैं भी (वाम्) तुमको (अवसे) रक्षार्थ (अह्वे) प्राप्त करना चाहता हूं। (शचीवसू) बुद्धि और धन देने वालो! (हि) क्योंकि तुम (विशंविशम्) प्रत्येक प्रजा को (गच्छथः) प्राप्त होते हो।

पृथिवी आदि ८ वसुओं के अन्तर्गत होने से सूर्य्य और चन्द्रमा भी वसु-वसाने वाले हैं, प्रजा को ज्योति और रस से व्यापते हैं इस लिये निरुक्तानुसार अश्विनौ कहाते हैं। प्रकाश द्वारा प्रजा की बुद्धि और धन की वृद्धि करने से निघंण्टु के अनुसार शचीवसू कहाते हैं। ऐसे सूर्य्य और चन्द्र को प्रकाशार्थिनी प्रजायें नित्य चाहती हैं। इस कारण प्रत्येक मनुष्य को प्राप्त होते हुए सूर्य चन्द्रमाओं से उप-कार लेना चाहिये॥ उणादि २। १३ निरुक्त २२। १ निघंटु ३।६ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये॥ ऋ० ७। ७४। १ में भी॥२॥

अथ तृतीयाया:—अश्विनौ वैवस्वतावृषी। अश्विनौ देवते। बृहती छन्दः॥

३०५—कुष्ठः को वामश्विना तपानो देवा मर्त्यः।
घ्नता वामश्मया क्षयमाणोऽशुनेत्थमु आद्वन्यथा॥३॥

भावार्थः—(अश्विना) अश्विनी! सूर्य और चन्द्रमाओ! (देवाः) देवो! प्रकाश को! (कुष्ठः) पृथिवी पर स्थित (कः) कौन (मर्त्यः) मनुष्य (वाम्) तुमको (तपानः) प्रकाशित करने वाला है? कोई नहीं। किन्तु तुम ही सबके प्रकाशक हो। (वाम्) तुम दोनों के लिये (अश्मया) मेघों में (घ्नता) जाते हुए (अंशुना) सोमादि ओषधिरस से (क्षयमाणः) क्षीण हुआ यजमान (यथा) जैसे कि (आद्वन्) कोई भोगी समृद्ध पुरुष होता है (इत्थम् उ) ऐसे ही होता है॥

अर्थात् सूर्य और चन्द्रमा को यद्यपि कौन है पृथिवी पर जो प्रकाश पहुँचा सके, किन्तु सूर्य चन्द्र ही सबको प्रकाशित करते हैं, तथापि मनुष्य सूर्य चन्द्र के लिये मेघमण्डल में होकर जाते हुए सोमादि ओषधियों के रस द्वारा आप्यायित करना चाहिये। जिससे सबके धन धान्यादि की वृद्धि हो॥

निघण्टु १। १० अष्टाध्यायी ७। १३६ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये॥

अथ चतुर्थ्याः—प्रस्कण्व ऋषिः। अश्विनौ देवते। बृहती छन्दः॥

३०६—अयं वां मधुमत्तमः सुतः सोमो दिविष्टिषु।
तमश्विना पिबतं तिरो अह्न्यं धत्तं रत्नानि दाशुषे॥४॥

भावार्थः—(अश्विना) सूर्य और चन्द्रमा ! (वाम्) तुम्हारे लिये (दिविष्टिषु) यज्ञों में (अयम्) यह (मधुमत्तमः) अतिमधुर (सोमः) ओषधि विशेष का रस (सुतः) खींचा है (तम्) उस (तिरो अह्न्यम्) एक दिन बीते [रस] को (पिबतम्) ग्रहण करो और (दाशुषे) हवि देने वाले यजमान के लिये (रत्नानि) रमणीय पदार्थ (धत्तम्) धारित करो ॥

अर्थात् जो मनुष्य ओषधियों का उत्तम मधुर एक दिन पुराना रस खींच कर सूर्य चन्द्रमा वा उनके दृष्टान्त से बताये हुए सभापति और सेनापति का यजन करते हैं उनको धनधान्यादि उत्तम रत्न प्राप्त होते हैं ॥ अध्याय ३ के आरम्भ में सायणाचार्य ने इस मन्त्र का इन्द्र देवता अशुद्ध लिखा था, परन्तु यहाँ व्याख्या करते हुए भाष्य में अश्विनौ देवते व्याख्यात किये हैं जो कि ठीक भी हैं ॥ ऋग्वेद १। ४७। १ में "सुतः सोमऋतावृधा" इतना अन्तर है ॥४॥

अथ पञ्चम्याः—मेधातिथिमेध्यातिथी ऋषी । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३१ २
३०७—आ त्वा सोमस्य गल्दया सदा याचन्नहं ज्या ।
१ २ ३ १ २९ ३ १ २९ ३ १ २
भूर्णिं मृगं न सवनेषु चुक्रुधं क ईशानं न याचिषत् ॥५॥

भावार्थः—प्रकरण से इन्द्र ! परमेश्वर ! (सवनेषु) यज्ञ के सवनों में (सोमस्य) सोमादि ओषधियों के (गल्दया) गालन के साथ तथा (ज्या) जयशील स्तुति के साथ (सदा) सर्वदा (त्वा) आप से (आ-याचन्) सब प्रकार प्रार्थना करता हुआ (अहम्) मैं यज्ञकर्त्ता दीक्षित (मृगम्) मृगादि किसी प्राणी पर (न चुक्रुधम्) क्रोध न करूँ । (भूर्णिम्) पोषण करने वाले (ईशानम्) स्वामी से (कः) कौन (न) नहीं (याचिषद्) माँगे । अर्थात् सब ही स्वामी से याचना करते हैं ।

अर्थात् यज्ञ में दीक्षित यजमान को किसी प्राणी पर क्रोध न करना चाहिये । तथा परमात्मा की सर्वदा प्रार्थना करनी चाहिये ॥

ऋग्वेद ८ । १ । २० के पूर्वार्ध का पाठभेद और निरुक्त ६।२४ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥५॥

अथ षष्ठ्याः—देवातिथिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

१ २ ३ २ ३ २३ ३ १ २
३०८—अध्वर्यो द्रावया त्वं सोममिन्द्रः पिपासति ।
१ २ ३१ २ ३ १२ ३ २३ १ २ ३ २
उपो नूनं युयुजे वृषणा हरी आ च जगाम वृत्रहा ॥६॥

भावार्थः—अब यजमान अध्वर्यु से कहता है कि—(अध्वर्यो) यज्ञ में आहुत्यादि का ठीक करने वाला ऋत्विज् अध्वर्यु कहता है । हे अध्वर्यो ! (त्वम्)

तू (सोमम्) सोमरस को (प्रावय) गीला कर (इन्द्रः) सूर्य (पिपासति) पीना चाहता है। (उ) तथा (वृषणा) वर्षाने वाली (हरी) तिरछी सीधी दो प्रकार की किरणों को (उप-युयुजे) उपयोग में लाता है (च) और (आ-जगाम) प्राप्त होता है [किरण द्वारा] ॥

वृत्रहा का अर्थ मेघहन्ता ही विवरणकार के मत से सत्यव्रत सामश्रमी जी ने भी टिप्पणी में किया है॥ ऋ० ८। ४। ११ में "उपनूनम्" ऐसा पाठ है॥६॥

अथ सप्तम्याः—वसिष्ठ ऋषिः। इन्द्रो देवता। बृहती छन्दः॥

३०९—अभीषतस्तदा भरेन्द्र ज्यायः कनीयसः।
पुरूवसुर्हि मघवन् बभूविथ भरे भरे च हव्यः॥७॥

भावार्थः—(मघवन्) हे परमधन ! (इन्द्र) परमेश्वर ! (ज्यायः) अत्यन्त बड़े ! (कनीयसः) अत्यन्त छोटे (अभीषतः) सब ओर से चाहने वाले जीव के (तत्) उस इष्ट को (आभर) सिद्ध करो (हि) क्योंकि आप (पुरुवसुः) बहुत धन वाले (बभूविथ) हैं (च) और (भरे, भरे) प्रति विपत्-काल में (हव्यः) पुकारने योग्य हैं॥

निघण्टु २। १७ अष्टाध्यायी ८। १। ७२॥ ३। १। ८५ के प्रमाण और ऋ० ७। ३२। २४ का पाठभेद संस्कृत भाष्य में देखिये॥७॥

अथाऽष्टम्याः—ऋष्याद्याः पूर्ववत्॥

३१०—यदिन्द्र यावतस्त्वमेतावदहमीशीय।
स्तोतारमिद्दिधिषे रदावसो न पापत्वाय रंसिषम्॥८॥

भावार्थः—(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (यत्) जिस कारण (त्वम्) आप (यावतः) जितना वस्तुमात्र है उसके [स्वामी हैं इस कारण आपकी कृपा से] (अहम्) मैं (एतावत्) इतने धन का (ईशीय) स्वामी होऊं जितने से (स्तोतारम्) धर्मात्मा का (दधिषे इत्) धारण पोषण करूं ही और (रदावसो) हे धनप्रद ! (पापत्वाय) पाप होने के लिये (न) नहीं (रंसिषम्) दूं॥

ऋ० ७। ३२। १८ में तो "दधियेय रदावसो न पापत्वाय रासीय" ऐसा पाठ है॥८॥

अथ नवम्याः—नृमेध ऋषिः। इन्द्रो देवता। बृहती छन्दः॥

३११—त्वमिन्द्र प्रतूर्तिष्वभि विश्वा असि स्पृधः।
अशस्तिहा जनिता वृत्रतूरसि त्वं तूर्य तरुष्यतः॥९॥

भावार्थ—(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (प्रतूर्तिषु) कामादिशत्रुसंग्रामों में (विश्वाः) सब (स्पृधः) शत्रु सेनाओं को (त्वम्) आप (अभि-असि) तिरस्कृत करने वाले हैं। (त्वम्) आप ही (जनिता) उत्पादक और (वृत्रतूः) पापनाशक तथा (अशस्तिहा) अकीर्ति के नाशयिता (असि) हैं। अतः (तरुष्यतः) हिंसकों का (तूर्य) नाश कीजिये ॥

निघण्टु २। १७ निरुक्त ५। २ इत्यादि के प्रमाण और ऋ० ८। ९९। ५ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥९॥

अथ दशम्याः—नोधा ऋषिः। इन्द्रो देवता। बृहती छन्दः ॥

१ २१३ १ २र ३ १ २र ३ १२
३१२—प्र यो रिरिक्ष ओजसा दिवः सदोभ्यस्परि।
१ २ ३ १२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
न त्वा विव्याच रज इन्द्र पार्थिवमति विश्वं ववक्षिथ ॥१०॥

इत्यष्टमी दशतिः ॥८॥

इति बार्हतमैन्द्रम् ॥

भावार्थः—(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (यः) जो आप (ओजसा) बल से (दिवः) द्युलोक के (सदोभ्यः) स्थान (परि) पर्यन्तों से (प्र-रिरिक्षे) अत्यन्त अधिक हैं (त्वा) उन आपको (पार्थिवम्) पृथिवी का (रजः) रज (न) नहीं (विव्याच) व्यापता। अर्थात् द्युलोक और पृथिवी लोक को उल्लंघन करके आप वर्तमान हैं। इसलिये हमको (विश्वम्) संसार के (अति) पार करके। (ववक्षिथ) ले जाने की इच्छा कीजिये। मुक्ति दीजिये ॥

अष्टाध्यायी २। ४। ७६ इत्यादि के प्रमाण और ऋ० ८। ८८। ५ का पाठ संस्कृतभाष्य में देखिये ॥१०॥

यह तृतीयाध्याय में आठवीं दशति समाप्त हुई
और
इन्द्रदेवता के बृहती छन्दों का प्रकरण भी
समाप्त हुआ ॥

असावीतीन्द्रदैवत्यास्त्रिष्टुभो दशतौ दश ॥१॥

अथ नवमी दशतिस्तत्र

प्रथमायाः वसिष्ठ ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

१ २ ३१ २र ३२ ३क २र३ १ २ ३ १२
३१३—असावि देवं गोऋजीकमन्धोन्यस्मिन्निन्द्रोजनुपेमुवोच ।
१ २ ३ १ २र ३ २ ३१ २ ३ १२
बोधामसि त्वा हर्यश्व यज्ञैर्बोधा न स्तोममन्धसो मदेषु ॥१०

भावार्थः – (**गोऋजीकम्**) गोदुग्धादि मिला हुआ (**अन्धः**) उत्तमान्न (**असावि**) हमने उत्पन्न किया है (**अस्मिन्**) इस अन्न में (**इन्द्रः**) ऐश्वर्यवान् राजा (**जनुषा**) जन्म से (**ईम्**) "यह" ऐसा (**नि-उवोच**) नितरां रुचिपूर्वक कहता है । (**हर्यश्व**) हे दिव्य विद्युत् आदि अश्वों वाले ! (**यज्ञैः**) सुकर्मों से (**त्वा**) तुझ (**देवम्**) राजा को (**बोधामसि**) हम बोध कराते हैं और आप भी (**अन्धसः**) उत्तमान्न के (**मदेषु**) आनन्दों के निमित्त (**नः**) हमारे (**स्तोमम्**) यथार्थ प्रशंसावचन को (**बोध**) सुनकर स्वीकार कीजिए ॥

प्रजा को चाहिए कि उत्तम-उत्तम धान्यादि पदार्थ उत्पन्न करके राजा के अर्पण करे, राजा जन्म से ही ऐसे पदार्थों की अभिरुचि रखता है । और दिव्ययानों वाला राजा सुकर्मियों की रक्षा करता है । जिससे उत्तम धान्यादि द्वारा जगत् को हर्ष-लाभ हो ॥ ऋ० ७ । २१ । १ में भी ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—वसिष्ठ ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

१ २ ३ १२ ३ १ २र ३ १ २
३१४—योनिष्ट इन्द्र सदने अकारि तमा नृभिः पुरुहूत प्र याहि ।
२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १२ ३१२ ३ १२
असो यथा नोऽविता वृधश्चिद्ददो वसूनि ममदश्च सोमैः ॥२॥

भावार्थः—(**इन्द्र**) हे राजन् ! (**सदने**) आपके विराजने के निमित्त (**ते**) आपका (**योनिः**) राजसिंहासन (**अकारि**) हमने बनाया है । (**पुरुहूत**) हे बहुतों को पुकारे हुए ! (**तम्**) उस सिंहासन पर (**नृभिः**) मन्त्रियों सहित (**आ प्र-याहि**) विराजिये (**यथा**) जिससे कि (**नः**) हमारे (**अविता**) रक्षक (**चित्**) और (**वृधः**) वर्धक (**असः**) हूजिये । (**वसूनि**) विद्या और रत्नादि धन (**ददः**) दीजिये (**च**) और (**सोमैः**) सोमादि, ओषधियों के रसों से (**ममदः**) हृष्ट हूजिये ॥ ऋ० ७ । २४ । १ में "वृधे च" पाठ है ॥२॥

अथ तृतीयायाः—गातुऋषिः। इन्द्रो देवता। त्रिष्टुप्छन्दः॥

१ २ ३२ ३१ २ ३ २उ ३
३१५— अदर्दरुत्समसृजो वि खानि,
१ २ ३ १ २ ३ १ २
त्वमर्णवान्बद्बधानाँ अरम्णाः।
३ १ २ ३ १ २ ३ २उ
महान्तमिन्द्र पर्वतं वि यद्वः,
३ २उ ३ २ ३ १ २ ३ २
सृजद्धारा अव यद्दानवान्हन् ॥३॥

भावार्थः—(**इन्द्र**) सूर्य ! (**त्वम्**) तू (**यद्**) जब (**उत्सम्**) गीले मेघ को (**अदर्दः**) विदीर्ण करता है (**खानि**) मेघों में शून्याकाशों को (**वि-असृजः**) रच देता है (**अर्णवान्**) जल वाले समुद्रों को (**बद्बधानान्**) स्थिर जल वाले (**अरम्णः**) बनाता है (**यद्**) और जब (**दानवान्**) जलदायक (**वः**) उन मेघों को (**हन्**) नष्ट करता है और उनसे (**धाराः**) जलप्रवाहों को (**अव सृजत्**) वर्षाता है। तब (**महान्तम्**) बड़े (**पर्वतम्**) पर्वत को (**वि**) विनष्ट करता है॥

इसमें भी सूर्य के दृष्टान्त से राजकार्यों का उपदेश है कि—जिस प्रकार सूर्य मेघ को विदीर्ण करता है, ऐसे ही राजा शत्रुदलस्थ जलाशयों को। जैसे सूर्य मेघ का नाश करके आकाश को खाली कर देता है, ऐसे ही राजा शत्रुदल को नष्ट करके आकाश (मैदान) कर दे। जैसे सूर्य मेघ के जलों से नदियां बहाकर स्थिर जल वाले समुद्र को भरता है, ऐसे राजा शत्रुओं के धनों से स्थिर निधि (कोष) भरे। जैसे सूर्य मेघों से जलधारा बहाता है, ऐसे राजा शत्रुशिरों से रक्तधारा। और जैसे सूर्य इस सबसे पर्वताकार मेघमण्डल का नाश करता है, इसी प्रकार राजा भी शत्रु के पर्वताकार दुर्गों (किलों) को तोड़े॥

निघण्टु ३। २३ और निरुक्त १०। ६ तथा ऋ० ५। ३२। १ का पाठ-भेदादि संस्कृतभाष्य में देखिये॥

अथ चतुर्थ्याः—पृथुवैन्य ऋषिः। इन्द्रो देवता। त्रिष्टुप्छन्दः॥

३ १ २ ३१ २
३१६— सुष्वाणास इन्द्र स्तुमसि त्वा,
३ १ २ ३ १ २
सनिष्यन्तश्चित्तुविनृम्ण वाजम्।
१ २ ३१ २र ३ २उ
आ नो भर सुवितं यस्य कोना,
३ १ २ ३ १ २
तना त्मना सह्याम त्वोताः ॥४॥

भावार्थः—(इन्द्र) हे राजन् ! (सुष्वाणासः) सोमादि को उत्पन्न करते हुए (चित्) और (वाजम्) धान्यादि का (सनिष्यन्तः) न्यायपूर्वक विभाग करते हुए हम (त्वा) आपकी (स्तुमसि) स्तुति करते हैं (तुविनृम्ण) हे बहुबल वा बहुधन ! (त्वोताः) आपसे रक्षा किये हुए हम (यस्य) जिस धनादि की (कोना) कामना करें उस (सुवितम्) प्राप्त करने योग्य धनादि को (नः) हमारे लिये (आभर) प्राप्त कराइये । (तना) विस्तृत धनों को (त्मना) अपने ही द्वारा हम (सह्याम) आपकी कृपा से पावें ।।

खेती, बाड़ी, धन, धान्यादि सब पदार्थों की रक्षापूर्वक उत्पत्ति और न्याय-पूर्वक विभाग, राजा ही के होते हुए होता है । अन्यथा परस्पर भक्ष्य भक्षक बनकर नष्ट हो जावें । इसलिये मनुष्यों को न्यायकारी राजा की इच्छा करनी चाहिये ।।

अष्टाध्यायी ६ । ४ । १४१ । सायणाचार्य । निघण्टु २ । १० और ऋग्वेद १० । १४८ । १ का पाठस्थभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ।।४।।

अथ पञ्चम्याः--सप्तगुर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ।।

३१७— जगृह्मा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तं
वसूयवो वसुपते वसूनाम् ।
विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोना-
मस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ।।५।।

भावार्थः—(इन्द्र) हे राजन् ! (वसूनाम्) धनों के (वसुपते) धनपते ! (वसूयवः) धन चाहने वाले हम (ते) आपके (दक्षिणम्) दाहिने वा चतुर (हस्तम्) हाथ को (जगृह्म) पकड़ते हैं और (त्वाम्) आपको (गोनाम्) पृथिव्यादिकों का (गोपतिम्) स्वामी (विद्मः) जानते हैं । (शूर) हे वीर ! (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (चित्रम्) अनेक प्रकार का (वृषणम्) कामनापूरक (रयिम्) धन (दाः) दीजिये ।।

यहाँ हाथ पकड़ने का तात्पर्य सहारा लेना है ।। ऋग्वेद १० । ४७ । १ में "जगृभ्मा" पाठ है ।।५।।

अथ षष्ठ्याः—वसिष्ठ ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ।।

३१८—इन्द्रं नरो नेमधिता हवन्ते यत्पार्या युनजते धियस्ताः ।
शूरो नृषाता श्रवसश्च काम आ गोमति व्रजे भजा त्वं नः ।।६

भावार्थः—(यत्) जब (नरः) मनुष्य (नेमधिता) संग्राम में (इन्द्रम्) राजा का (हवन्ते) आश्रय करते हैं तब (ताः) उन प्रसिद्ध (पार्य्याः) पार लगाने वाले (धियः) कामों को (युनजते) ठीक-ठीक करते हैं। वह इन्द्र (शूरः) वीर (नृषाता) मनुष्यों को यथास्थान विभागपूर्वक खड़ा करने वाला है। वैसे हे राजन्! (त्वम्) तू (नः) हम को (श्रवसः) यश के (चकाने) चाहने वाले (गोमति) गवादिपशुयुक्त (व्रजे) बरक निमित्त (आ भज) सत्कारपूर्वक रख॥

साधारण योद्धा लोग संग्रामों में राजा के आश्रय रहते हैं। उसी की आज्ञानुसार युद्ध-कौशल दिखाते हैं। वह उनका नायक और यथास्थान विभागपूर्वक खड़ा करने वाला है। उसको यश की इच्छा करते हुए उचित है कि गवादिपशुयुक्त प्रजावर्ग के सुखार्थ अपने वीर योद्धों को सत्कारपूर्वक रक्खे॥

निघण्टु २। १७॥ २। १ अष्टाध्यायी ७। १। ३६ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये॥ ऋ० ७। २७। १ में "चकान" ऐसा पाठ है॥६॥

अथ सप्तम्याः—गौरीवीतिः ऋषिः। इन्द्रो देवता। त्रिष्टुप्छन्दः॥

३१६— वयः सुपर्णा उप सेदुरिन्द्रम्,
प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः।
अप ध्वान्तमूर्णु हि पूर्धि चक्षु-
र्मुमुग्ध्या३स्मान्निधयेव बद्धान् ॥७॥

भावार्थः—(वयः) पक्षितुल्य (सुपर्णाः) सूर्यकिरण (इन्द्रम्) सूर्य को (उप-सेदुः) जैसे आश्रय करती हैं। वैसे ही (प्रियमेधाः) यज्ञादि कर्म जिन्हें प्यारा है वे (ऋषयः) ऋषि लोग इन्द्र अर्थात् राजा को (नाधमानाः) याचना करते हैं कि (ध्वान्तम्) अन्धकार अन्याय को (अप ऊर्णुहि) दूर कीजिये (चक्षुः पूर्धि) न्याय प्रकाश कीजिये (निधयेव) जैसे पाश-समूह से (बद्धान्) बन्धे हुए (अस्मान्) हमको (मुमुग्धि) छुड़ाइये॥

ईश्वर पक्ष में—(वयः) गति वाले (सुपर्णाः) जीवात्मा पक्षी (प्रियमेधाः) जिन्हें यज्ञ प्यारा है वे (ऋषयः) ऋषि (इन्द्रम्) परमेश्वर को (नाधमानाः) प्रार्थना करते हुए (उपसेदुः) आश्रित होते हैं कि—(ध्वान्तम्) अज्ञानान्धकार को (अप-ऊर्णुहि) दूर कीजिये और (चक्षुः पूर्धि) ज्ञान का प्रकाश

कीजिये (सितयेव) जैसे फांसियों के समूह से (बद्धान्) बन्धों को तद्वत् मोहबद्ध (अस्मान्) हम को (मुमुग्धि) मुक्त कीजिये ॥

निरुक्त ४।२॥ ४।३ निघण्टु ३ । १७ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋग्वेद १० । ७३ । ११ में भी ॥७॥

अथाऽष्टम्याः—वेनो भार्गव ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

३२०— नाके सुपर्णमुप यत्पतन्तं,
हृदा वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा
हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं,
यमस्य योनौ शकुनं भुरण्युम् ॥८॥

भावार्थः—इन्द्र ! हे राजन् ! (यत्) जिस प्रकार से (नाके) द्युलोक में (पतन्तम्) प्रकाश गिराते हुए (सुपर्णम्) शोभन पतन वाले (हिरण्यपक्षम्) ज्योतिर्मय जिसके पंख हैं उस (वरुणस्य) वृष्टिकारक वायु के (दूतम्) लाने वाले (यमस्य) विद्युत्सम्बन्धी अग्नि के (योनौ) स्थान में वर्तमान (शकुनम्) पक्षी के तुल्य आकाश में ठहर सकने वाले (भुरण्युम्) शीघ्रगामी सूर्य को (हृदा) हृदय से (वेनन्तः) चाहते हुए लोग (अभ्यचक्षत) सब ओर से देखते हैं (त्वा) आपको भी ऐसे ही देखते हैं ॥

निघण्टु १ । ४ ॥ २ । ६ ॥ २ । १५ ॥ निरुक्त २ । १३ ॥ १० । ३ ॥ १० । २० ॥ ६ । २ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋग्वेद १० । १२३ । ६ में भी ॥८॥

अथ नवम्याः—बृहस्पतिर्नकुलो वा ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

३२१— ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि-
सीमतः सुरुचो वेन आवः ।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः
सतश्च योनिमसतश्च विवः ॥९॥

भावार्थः—हे इन्द्र ! राजन् ! (**वेनः**) परमेश्वर ने (**पुरस्तात्**) सृष्टि के आरम्भ में (**प्रथमम्**) प्रथम (**जज्ञानम्**) उत्पन्न हुए (**ब्रह्म**) बड़े सूर्यमण्डल को (**वि-आवः**) विस्तृत किया है (**सः**) उसी मेधावी ने (**बुध्न्याः**) बुध्न अन्तरिक्ष वा मूल में उत्पन्न हुईं (**अस्य**) इस सूर्यमण्डल की (**उपमाः**) समीप मापने योग्य (**विष्ठाः**) अपनी विशेषता से स्थित (**सीमतः**) सीमा=छोर से (**सुरुचः**) अच्छी चमकीली अन्य भूमियों को विवृत किया । इस प्रकार (**सतः**) वर्त्तमान (**च**) और (**असतः**) भविष्यत् (**च**) और भूतों के (**योनिम्**) गर्भ सूर्यमण्डल को (**विवः**) विवृत किया है ॥

अर्थात् जैसे सृष्टि सूर्यमण्डल अपने समीपस्थ गोलों का धारण तीन काल में करता है इसी प्रकार राजा ॥

निघण्टु ३ । १५ निरुक्त ६ । ३८ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

अथर्ववेद ५ । ६ । १ तथा ४ । १ । १ में भी ॥९॥

अथ दशम्याः—सुहोत्र ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

३२२—अपूर्व्या पुरुतमान्यस्मै महे वीराय तवसे तुराय ।
विरप्शिने वज्रिणे शन्तमानि वचांस्यस्मै स्थविराय तक्षुः ॥१०

इति नवमी दशतिः ॥९॥

भावार्थ—(**अस्मै**) इस प्रत्यक्ष (**महे, वीराय**) बड़े वीर (**तवसे**) बलवान् (**तुराय**) फुरतीले (**विरप्शिने**) अत्यन्त बड़े (**वज्रिणे**) शस्त्राऽस्त्रधारी (**स्थविराय**) वृद्ध अनुभवी (**अस्मै**) इस राजा के लिये (**अपूर्व्या**) जिनसे पूर्व कोई न हों उन (**पुरुतमानि**) बहुत (**शन्तमानि**) सुखकारी (**वचांसि**) वचनों को (**तक्षुः**) कहें ॥

निघण्टु २ । ९ ॥ ३ । ३ इत्यादि के प्रमाण और ऋ० ६ । ३२ । १ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥१०॥

यह तृतीयाऽध्याय में नवमी दशति समाप्त हुई ॥

अव द्रप्सेति पेन्द्रस्य त्रिष्टुभोऽष्टौ प्रकीर्त्तिताः ॥
षष्ठी विराट् त्रिपादुक्ता इत्थं नव ऋचःस्मृताः ॥१॥

अथ दशमी दशतिः

तत्र प्रथमायाः—द्युतान ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

१२ ३ १ २ ३ १२
३२३— अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठ-
३ २ ३ २ ३१ २ ३१२
दीयानः कृष्णो दशभिः सहस्रैः ।
२ ३ २उ ३ २ ३ १ २ ३
आवत्तमिन्द्रः शच्या धमन्त-
२३ १ २ ३१ २ ३ २
मप स्नीहितिं नृमणा अधद्राः ॥१॥

भावार्थः—यदि (कृष्णः) तामसी (द्रप्सः) सामने से भागा शत्रु (अंशुमतीम्) नदी आदि के शरण में (अव अतिष्ठत्) ठहरे तो (दशभिः सहस्रैः) बहुत बलों सहित और (शच्या) बुद्धि वा पुरुषार्थ से (ईयानः) प्राप्त (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् न्यायी राजा (तम्) उस मुख्य शत्रु को (धमन्तम्) श्वास लेते-जीवते को (आवत्) बचावे (अप) और (नृमणाः) मनुष्य-मात्र में मन से प्रेम रखने वाला (स्नीहितिम्) दुष्ट हिंसक सेना को (अप, धा) भगावे वा नष्ट करे ॥

न्यायकारी राजा को चाहिये कि मनुष्य मात्र में मन रक्खे और जो तमोगुणी शत्रु हों उन्हें नदी समुद्रादि के पार भाग जाने पर भी बहुत से सेना बल और बुद्धि बल से जीवनों को निग्रह करके रक्खे और उनके साथी सामान्य दुष्ट मनुष्यों को दूर वा नष्ट करे ॥

अष्टाध्यायी ६ । ३ । १०९ निघण्टु २ । १ ॥ २ । १९ ॥ ३ । ९ के प्रमाण और ऋ० ८ । ९६ । १३ के पाठभेद को संस्कृतभाष्य में देखिये ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—ऋष्याद्याः पूर्ववत् ॥

३१ ३ ३ २ ३ १ २ ३
३२४— वृत्रस्य त्वा श्वसथादीषमाणा
१ २ ३१ २ ३१ २र
विश्वे देवा अजहुर्ये सखायः ।
३१ २ ३ १ २ ३ २३
मरुद्भिरिन्द्र सख्यं ते अस्त्वथे-
२उ ३ १२
मा विश्वाः पृतना जयासि ॥२॥

भावार्थः—(**इन्द्र**) हे राजन् ! (**ये**) जो (**विश्वे**) सब (**देवाः**) सज्जन (**सखायः**) मित्र वीरपुरुष (**वृत्रस्य**) अवरोधक शत्रु के (**श्वसथात्**) प्राण वा बल से (**ईषमाणाः**) मरते हुए (**त्वा**) आपको (**अजहुः**) प्राण छूटने से त्याग दें उन (**मरुद्भिः**) आपके लिये मरने वालों के साथ (**ते**) आप की (**सख्यम्**) मित्रता [सलूक] (**अस्तु**) होनी चाहिये (**अथ**) इससे (**विश्वाः**) सब (**पृतनाः**) संग्रामों को (**जयासि**) जीतिये ॥

जो शूरवीर राजा के मित्र संग्राम में मारे जावें उनके और उनके कुटुम्बियों के साथ राजा को मित्रता निबाहनी चाहिये । ऐसा करने वाले राजा का विजय होता है ॥

निघण्टु २ । ३ ॥ २ । १७ इत्यादि के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिए ॥ ऋ० ८ । ९६ । ७ में भी ॥२॥

अथ तृतीयस्याः- बृहदुक्थ ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

३ १ २ ३ १ २र ३ १ २र १ १ २ ३ १ २
३२५—विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २र
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान ॥३॥

भावार्थः—तो फिर मित्रों को मरवा कर विजय से क्या लाभ है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि—हे राजन् ! (**दद्राणम्**) शीघ्रगामी (**बहूनाम्**) बहुत तारों के बीच में (**युवानम्**) जवान नवीन वा अधिक तेजोधारी (**सन्तम्**) वर्त्तमान चन्द्रमा को (**पलितः**) बूढ़ा सूर्य (**जगार**) निगल जाता है, उसके ऊपर के प्रकाश को अपने में संहार कर लेता है, इसी प्रकार (**समने**) संग्राम में (**यः**) जो (**ह्यः**) कल (**ममार**) मरा है (**सः**) वह (**अद्य**) आज (**समान**) भले प्रकार जीता है (**देवस्य**) परमेश्वर के (**काव्यम्**) चातुर्य को (**महित्वा**) गहरे भाव से (**पश्य**) देख ॥

अर्थात् धर्मानुसार युद्ध में मरे हुओं का शोक नहीं करना । परमेश्वर की लीला को देखो कि बड़ा बूढ़ा सूर्य, जवान (छोटे) शीघ्रगामी चन्द्रमा के प्रकाश को निगल जाता है, अगले दिन फिर उसकी कला पूरी हो जाती हैं । इसी प्रकार जो शूरवीर आज मृत्यु को प्राप्त हुए हैं वे कल जन्मान्तर धारण करके अपने किये धर्म का उत्तम फल भोगेंगे । इनका शोक न करना चाहिये ॥

निरुक्त परिशिष्ट २ । २८ में इसका यह अर्थ लिखा है कि—"विधमनशील और दमनशील चन्द्रमा को बूढ़ा सूर्य निगलता है । वह कल मरा, आज फिर उग

आता है । यह आधिदैवत हुआ । अब अध्यात्म सुनिये—विधमनशील और दमनशील युवा महत्तत्त्व को बूढ़ा आत्मा निगल जाता है । यह रात्रि में मर जाता और अगले दिन फिर जाग उठाता है । यह आध्यात्मिक अर्थ है ।'

इस निरुक्त के परिशिष्ट की शैली स्पष्ट नवीन प्रतीत होती है ।।

निघण्टु २ । १७ ।। ३ । १५ इत्यादि के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।। ऋ० १० । ५५ । ५ में भी ।।३।।

अथ चतुर्थ्याः—द्युतान ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ।।

३२६— त्वं ह त्यत् सप्तभ्यो जायमानो-
ऽशत्रुभ्यो अभवः शत्रुरिन्द्र ।
गूढे द्यावापृथिवी अन्वविन्दो
विभुमद्भ्यो भुवनेभ्यो रणं धाः ।।४।।

भावार्थः—(इन्द्र) हे राजन् ! (त्वम्) तू (ह) निश्चय (त्यत्) इस कारण (जायमानः) प्रसिद्ध हुआ (सप्तभ्यः) एक दिशा में अपने रहने से शेष ७ दिशाओं के ७ (शत्रुभ्यः) तेरा नाश न कर सकने वाले विद्वेषियों के लिये (शत्रुः) उनका नाशक (अभवः) होवे (गूढे) छिपे (द्यावापृथिवी) आकाश और पृथ्वी के स्थानों को (अन्वविन्दः) प्राप्त होवे और (विभुमद्भ्यः) ऐश्वर्यशाली (भुवनेभ्यः) देशों के लिये [उनकी रक्षा और पालनार्थ] (रणम्) संग्राम को (धाः) धारण करे ।। ऋ० ८ । ९६ । १६ में भी ।।४।।

अथ पञ्चम्याः—वामदेव ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ।।

३२७—मेडिं न त्वा वज्रिणं भृष्टिमन्तं पुरुधस्मानं वृषभं स्थिरप्स्नुम् ।
करोष्यर्यस्तरुषीर्दुवस्युरिन्द्र द्युक्षं वृत्रहणं गृणीषे ।।५।।

भावार्थः—(इन्द्र) हे राजन् ! आप (अर्यः) स्वामी (तरुषीः) हिंसक शत्रु सेनाओं को (करोषि) [नष्ट] करते हैं अतः (वज्रिणम्) वज्रधारी (भृष्टिमन्तम्) शत्रुओं के भूनने की तोपों वाले (पुरुधस्मानम्) बहुत पुर्वाधार

नाश करने वाले (**वृषभम्**) कामना के पूरक (**स्थिरप्स्नुम्**) स्थिर रूप (**ऋक्षम्**) न्यायप्रकाश में स्थित (**वृत्रहणम्**) शत्रुहन्ता (**त्वा**) आपको (**शुश्रूषुः**) शुश्रूषा करना चाहने वाला मैं (**मेढिं न**) वेदवाणी के समान (**गृणीषे**) प्रशंसित करता हूँ॥

निघण्टु १। ११॥ ३। १॥ ५। २॥ ३। ५॥ अष्टाध्यायी ३। १। १०३ इत्यादि के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥५॥

अथ षष्ठ्याः —वसिष्ठ ऋषिः। इन्द्रो देवता। त्रिपदा विराट् छन्दः॥

१ २ ३१ २३ १२ ३
३२८— प्र वो महे महे वृधे भरध्वं
१२ ३ १ २३ १ २
प्रचेतसे प्र सुमतिं कृणुध्वम्।
१ २ ३१ २१ ३ २
विशः पूर्वीः प्र चर चर्षणिप्राः ॥६॥

भावार्थः—हे मनुष्यो! (**वः**) तुम्हारे (**महे वृधे**) बड़े वर्धक (**महे**) सत्कार योग्य (**प्रचेतसे**) बुद्धिमान् राजा के लिये तुम (**प्र भरध्वम्**) कर भरो और (**सुमतिम्**) अनुकूलता (**प्र कृणुध्वम्**) करो। हे राजन्! (**चर्षणिप्राः**) मनुष्यों के पालक तुम (**पूर्वीः**) सनातनी (**विशः**) प्रजाओं को (**प्रचर**) अनुकूल रक्खो॥ ऋ० ७। ३१। १० में "महि वृधे" और "प्रचरा" ऐसा पाठ है॥६॥

अथ सप्तम्याः—विश्वामित्र ऋषिः। इन्द्रो देवता। त्रिष्टुप्छन्दः॥

३ १ २ ३१२ ३ १ २
३२९— शुनं हुवेम मघवानमिन्द्र-
३ २उ ३ १२३ १ २
मस्मिन् भरे नृतमं वाजसातौ।
३ १ २ ३२ ३१२ ३२ ३
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु
१ २ ३ १ २ ३ २३ १२
घ्नन्तं वृत्राणि सञ्जितं धनानि ॥७॥

भावार्थः—हम प्रजायें (**शुनम्**) सुखदायी (**मघवानम्**) धनवान् (**नृतमम्**) मनुष्यों में उत्तम (**अस्मिन्, भरे, वाजसातौ, शृण्वन्तम्**) इस जय-लक्ष्मी भरने के, संग्राम में, सुनने वाले (**उग्रम्**) शत्रुनाशक (**समत्सु वृत्राणि**

घ्नन्तम्) संग्रामों में शत्रु सेनाओं को मारने वाले (धनानि संजितम्) धनों के जीतने वाले (इन्द्रम्) राजा को (ऊतये) रक्षा के लिए (हुवेम) आह्वान करती हैं ॥

निघण्टु ३ । ६ ॥ २ । १७ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥
ऋ० ३ । ३० । २२ में "धनानाम्" पाठ है ॥७॥

अथाष्टम्याः—वसिष्ठ ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

३३०— उदु ब्रह्माण्यैरत श्रवस्येन्द्रं
समर्ये महया वसिष्ठ ।
आ यो विश्वानि श्रवसा ततानो-
पश्रोता म ईवतो वचांसि ॥८॥

भावार्थ—(वसिष्ठ) हे अतिश्रेष्ठ मनुष्य ! तू (मे) मुभ (ईवतः) व्यापक परमेश्वर के (ब्रह्माणि) वेदोक्त (श्रवस्या) धन धान्यादि के लिये हितकारी (वचांसि) वचनों को (आ-उप-श्रोत) श्रद्धा से सुन (उ) तथा (यः) जो (श्रवसा) धन धान्यादि से (विश्वानि) सब जगतों को (ततान) विस्तृत करता हैउस (इन्द्रम्) राजा को (समर्ये) संग्राम निमित्त (उत् ऐरत) उच्च प्रभावशाली कर (महय) और सत्कृत कर ॥

निघण्टु २ । ७ ॥ २ । ६ ॥ २ । १७ ॥ २ । १८ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ७ । २३ । १ में "शवसा" यह पाठ है ॥८॥

अथ नवम्याः—गौरीवीतिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

३३१—चक्रं यदस्याप्स्वा निषत्तमुतो तदस्मै मध्विच्चच्छद्यात् ।
पृथिव्यामतिषितं यदूधः पयो गोष्वदधा ओषधीषु ॥१०॥

इति दशमी दशतिः ॥१०॥

भावार्थः—(यत्) जो (अस्य) उस राजा का (चक्रम्) आज्ञा रूपी

नक्र (**अप्सु**) नदी आदि जलाशयों पर (**निषत्तम्**) स्थित हो (**उतो**) तो (**तत्**) वह नक्र (**अस्मै**) इस राजा के लिये (**मधु इव्**) जल को भी (**यच्छात्**) सब ओर छाय दे, किञ्च—(**पृथिव्याम्**) पृथिवी पर (**अतिषितम्**) छोड़ा हुआ (**यत्**) जो (**ऊधः**) वहने वाला जल [नहर आदि द्वारा] (**गोषु**) गवादि पशुओं और (**ओषधीषु**) गेहूँ आदि औषधियों में (**पयः**) रस का (**आ-अवधाः**) आधान करे ।

यदि राजा का राज्य जलाशयों पर हो तो नहर आदि निकाल कर, पशु और कृषि की बड़ी उन्नति हो ॥

निघण्टु १ । १२ उणादि ४ । १८९ सायणाचार्यादि के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० १० । ७३ । ९ में भी ॥९॥

यह तृतीयाध्याय में दशवीं दशति समाप्त हुई ॥१०॥

त्यमूषुतार्क्ष्यदैवत्या अष्टम्या इन्द्रपर्वतौ ।
सप्तम्याश्च तथेन्द्रस्य त्रिष्टुभोऽष्टौ दश स्मृताः ॥१॥

अथैकादशी दशतिः

तत्र प्रथमायाः—अरिष्टनेमिस्तार्क्ष्यपुत्र ऋषिः । तार्क्ष्यो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २
३३२—त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहोवानं तरुतारं रथानाम् ।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम ॥१॥

भावार्थः—(**त्यम् उ**) उस ही (**वाजिनम्**) धान्यादि के दाता (**देवजूतम्**) देवता से प्रसन्न (**सहोवानम्**) महाबली (**रथानां तरुतारम्**) रमणीय लोक-लोकान्तरों के अधर तिराने वाले (**अरिष्टनेमिम्**) अकुण्ठित वज्रधारी (**पृतनाजम्**) शत्रु सेनाओं के जेता (**आशुम्**) व्यापक (**तार्क्ष्यम्**) परमेश्वर सर्वव्यापक को (**स्वस्तये**) कल्याणार्थ (**इह**) इस जगत् में वर्तमान हम (**सु आ हुवेम**) भले प्रकार पुकारते हैं ॥

श्लेषालंकार से इसमें राजविषय भी उपदिष्ट जानो ॥

अष्टाध्यायी ६ । १ । ३४ ॥ ३ । १ । ८६ ॥ ३ । १ । ८५ ॥ ७ । २ । ३४ ॥ २ । ४ । ५६ वा० ॥ निरुक्त ८।११॥ १० । २७-२८ ॥ निघण्टु २ । २० इत्यादि के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० १० । १७८ । १ में "महावानम्" इतना पाठ में भेद है ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—भरद्वाज ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

३ २३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १२ ३२३ २३ १ २
३३३—त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवेहवे सुहवं शूरमिन्द्रम् ।
३२उ ३ १ २ ३१ २ ३२ ३२३१२ ३ १ २
ह्वये नु शक्रं पुरुहूतमिन्द्रमिदं हविर्मघवा वेत्विन्द्रः ॥२॥

भावार्थः—(**त्रातारम्, इन्द्रम्**) पालक परमेश्वर (**अवितराम्, इन्द्रम्**) रक्षक परमेश्वर (**हवे, हवे, सुहवम्**) जब-जब पुकारें तब-तब सुगमता से पुकारने योग्य (**शूरम् इन्द्रम्**) वीर परमेश्वर (**शक्रम्**) शक्तिमान् (**पुरुहूतम्**) वेदों में सबसे अधिक पुकारे जाने वाले (**इन्द्रम्**) परमैश्वर्यवान् को (**ह्वये**) पुकारता हूँ । (**मघवा**) अनन्तधन (**इन्द्रः**) परमेश्वर (**इदम्**) इस (**हविः**) पुकार को (**नु**) शीघ्र (**वेतु**) ज्ञात करे ॥

इसमें भी श्लेषालंकार से राजा की प्रशंसा का उपदेश जानो ॥
ऋ० ६ । ४७ । ११ में जो पाठ में अन्तर है वह संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ तृतीयस्याः—वसुको विमदो वा ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२ ३ २ १२
३३४—यजामह इन्द्रं वज्रदक्षिणं हरीणां रथ्यां३ विव्रतानाम् ।
१ २र ३ १ २ ३ १२ ३ १ २र ३१२ ३ १ २र
प्र श्मश्रुभिर्दोधुवदूर्ध्वधाभुवद्विसेनाभिर्भयमानो वि राधसा ॥३॥

भावार्थः—हम (**वज्रदक्षिणम्**) चतुर वज्र वाले (**हरीणाम् विव्रतानाम् रथ्याम्**) हरने वाले विविध कर्मों के मार्गोपदेशक (**इन्द्रम्**) परमेश्वर वा राजा का (**यजामहे**) पूजन वा सत्कार करते हैं । आगे इसका फल कहते हैं—जिससे (**राधसा**) धन से (**वि**) वियुक्त और (**सेनाभिः**) सेनाओं से (**वि**) वियुक्त (**भयमानः**) भयभीत हुआ [शत्रु] (**ऊर्ध्वधाः**) इधर-उधर भागा (**भुवत्**) होवे और (**श्मश्रुभिः**) मूंछ और रोमाञ्चों से (**प्र दोधुवत्**) अत्यन्त कम्पमान होवे ॥

निघण्टु २ । १ ॥ २ । १० के प्रमाण और ऋग्वेद १० । २३ । १ का पाठ-भेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः वामदेव ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

३३५— सत्राहणं दाधृषिं तुम्रमिन्द्रं
महामपारं वृषभं सुवज्रम् ।
हन्ता यो वृत्रं सनितोत वाजं
दाता मघानि मघवा सुराधाः ॥४॥

भावार्थः —(यः) जो (मघवा) यज्ञवाला (सुराधाः) सुन्दर धनवाला (वृत्रम्) हमारे विघ्नकारक शत्रु को (हन्ता) मारेगा (उत) और (वाजम्) धन वा बल का (सनिता) विभाग करेगा (मघानि) धनों को (दाता) देगा उस (सत्राहणम्) सत्य से असत्य के नाशक (दाधृषिम्) अति प्रगल्भ (तुम्रम्) प्रेरक (महान्) बड़े (अपारम्) अपार विद्या और गम्भीराशय वाले (वृषभम्) कामनाओं के पूरक (सुवज्रम्) न्यायानुसारी दण्ड के धर्त्ता (इन्द्रम्) परमेश्वर वा राजा को [पूजित वा सत्कृत करते हैं] यह पूर्वमन्त्र से अनुवृत्ति जानिये ॥

निघण्टु ३ । १० और सायणाचार्य के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋग्वेद ४ । १७ । ८ में भी ॥

अथ पञ्चम्याः—ऋष्याद्याः पूर्ववत् ॥

३३६— यो नो वनुष्यन्नभिदाति मर्त
उगणा वा मन्यमानस्तुरो वा ।
क्षिधी युधा शवसा वा तमिन्द्रा-
भीष्याम वृषमणस्त्वोताः ॥५॥

भावार्थः—(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (वा) राजन् ! (यः) जो कोई (मन्यमानः) मानी घमण्डी (वा) अथवा (तुरः) हिंसक (मर्त्तः) मनुष्य (नः) हमको (वा) अथवा (उगणाः) श्रेष्ठ प्रजाओं को (वनुष्यन्) हनन

करता हुआ (अभिदाति) सामने आता है (तम्) उस को (क्षिधि) नष्ट कीजिये और (त्वोताः) आप से रक्षा किये हुए (वृषमणः) बलवान् हम लोग उस को (शवसा) बल से (वा) वा (युधा) युद्ध से (अभि स्याम) दबावें ॥

निरुक्त ५ । २ अष्टाध्यायी ६ । ४ । १०२ ॥ ६ । ३ । १३५—१३६ इत्यादि प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥५॥

अथ षष्ठ्याः अपि ऋष्याद्याः पूर्ववत् ॥

३३७— यं वृत्रेषु क्षितयः स्पर्धमाना
यं युक्तेषु तुरयन्तो हवन्ते ।
यं शूरसातौ यमपामुपज्मन्
यं विप्रासो वाजयन्ते स इन्द्रः ॥६॥

भावार्थः—(यम्) जिसको (वृत्रेषु) रोकने वाले दस्युओं के आ पड़ने पर (स्पर्धमानाः क्षितयः) क्रुद्ध हुए वीर मनुष्य (हवन्ते) पुकारते हैं (स) वह शूर पुरुष (इन्द्रः) इन्द्र कहाता है (यम्) और जिसको (युक्तेषु) शत्रुओं के सन्नद्ध होने पर (तुरयन्तः) मारते हुए योद्धा लोग चाहते हैं, वह सेनापति भी इन्द्र कहाता है । (यम्) और जिसको (शूरसातौ) शूरवीरों के विभाग वाले संग्राम में पुकारते हैं वह भी इन्द्र पद का वाच्य है । (यम्) और जिसको (अपाम्) वृष्टिजलों के (उपज्मन्) सामीप्य समय में हवन्ते=हवन करते हैं वह सूर्य वा मध्य-स्थान देव भी इन्द्र पद का वाच्य है । (यम्) और जिसको (विप्रासः) ज्ञानी लोग (वाजयन्ते) स्तुत करते हैं वह परमेश्वर भी मुख्य करके इन्द्र कहाता है ॥

निघण्टु २ । ३ ॥ २ । १७ ॥ ३ । १४ अष्टाध्यायी ७ । १ । ३६ ॥ ७ । १ । ५० इत्यादि प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥६॥

अथ सप्तम्याः—विश्वामित्र ऋषिः । इन्द्रापर्वतौ देवते । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

३३८—इन्द्रापर्वता बृहता रथेन वामीरिष आ वहतं सुवीराः ।
वीतं हव्यान्यध्वरेषु देवा वर्धेथां गीर्भिरिडया मदन्ता ॥७॥

भावार्थः—(**देवाः**) दिव्य स्वभाव (**इन्द्रापर्वता**) बिजुली और मेघो ! तुम-तुम (**बृहता**) बड़े (**रथेन**) रमणीय मार्ग से (**सुवीराः**) सुन्दर वीरों वाली (**वामीः**) उत्तम (**इषः**) अन्न सामग्रियों को (**आवहतम्**) प्राप्त कराओ (**अध्वरेषु**) यज्ञों में (**हव्यानि**) हवन के द्रव्यों को (**वीतम्**) प्राप्त होओ वा खाओ (**गीर्भिः**) वेदमन्त्रों के साथ (**इडया**) हवन किये अन्न से (**मदन्ता**) हृष्ट हुए-हुए तुम (**वर्धेथाम्**) बढ़ो ॥

बिजली और मेघ जल को वर्षाते हैं। उससे अन्नादि उत्पन्न होते हैं। इसलिये मनुष्यों को यज्ञ करने चाहियें। जिनमें वेदमन्त्रों के साथ सुगन्ध मिष्ट पुष्ट रोगनाशकादि द्रव्य हवन किये जाते हैं और उनसे बिजली और मेघ का आप्यायन और वृद्धि होती है। जड़ पदार्थों के सम्बोधन विषय में हम पूर्व निरुक्त के प्रमाण से बता चुके हैं कि यह प्रत्यक्षकृत ऋचाओं की शैली है ॥ इन्द्र पर्वत पदों से यहाँ उपमा से राजा और सेनाध्यक्ष का वर्णन भी उपदिष्ट जानिये ॥ ऋग्वेद ३।५३।१ में भी यही पाठ है ॥

पं० ज्वालाप्रसाद भार्गव का भाष्यकर्त्तृत्व देखिये कि कलकत्ते की छपी सायणभाष्य तथा गानयुक्त पुस्तक में जो भूल से "मदन्ता" के स्थान में 'मदन्ताम्' पाठ छप गया, उस पर इन्होंने भी गतानुगतिकता से वही ज्यों का त्यों अशुद्ध छाप दिया और तिस पर दृश्य यह है कि भाष्य आप "मदन्ता" का ही करते हैं क्योंकि सायणभाष्य में ठीक छपा है। आपने मूल शुद्ध करने में न गान को देखा, न टिप्पणी को, न सायणभाष्य को। और इसी प्रकार उस पुस्तक के भाष्य में "आवहतम्" के स्थान में "आवहन्तम्" छप गया सो आपने भी ज्यों का त्यों मूल-विरुद्ध टीका में लिख दिया और इसके समानाधिकरण समस्तपदों को इसी के समान अशुद्ध सायणभाष्य से उद्धृत किया है। इसी प्रकार के पाण्डित्य के बल से आप नरनारायणादि अवतारसाधक भाष्य करने का साहस कर बैठे। यह तो प्रशंसनीय परिश्रम है ॥७॥

अथाऽष्टम्याः—रेणुर्ऋषिः। इन्द्रापर्वतौ देवते। त्रिष्टुप्छन्दः ॥

३३६— इन्द्राय गिरो अनिशितसर्गा
अपः प्रैरयत्सगरस्य बुध्नात्।
यो अक्षेणेव चक्रियौ शचीभिर्
विष्वक् तस्तम्भ पृथिवीमुत द्याम् ॥८॥

भावार्थः—(**इन्द्राय**) परमेश्वर के लिये (**अनिशितसर्गाः**) अकृत्रिम अनादि (**गिरः**) वेदमन्त्रोक्त स्तुति वाणियें [हों] (**यः**) जो (**सगरस्य**) अन्तरिक्ष के (**बुध्नात्**) मूल प्रदेश से (**अपः**) वर्षा के जलों को (**प्रैरयत्**) प्रेरित करता है और जो (**चक्रियौ**) रथ के दो पहियों को (**अक्षेणेव**) धुरे से जैसे घुमाते हैं वैसे पूर्व मन्त्रोक्त बिजली और मेघों को प्रेरित करता है। और जो (**पृथिवीम्**) भूमि (**उत**) और (**द्याम्**) द्युलोक को (**विष्वक्**) सब ओर से (**तस्तम्भ**) थांभे है ॥

निघण्टु १। ३ ॥ ३ । ६ उणादि ३ । ५ के प्रमाण और ऋ० १०।८६।४ में जो पाठभेद है वह संस्कृतभाष्य में देखिये ॥८॥

अथ नवम्याः वामदेव ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

३४०— **आ त्वा सखायः सख्या ववृत्यु-**
स्तिरः पुरू चिदर्णवां जगम्याः ।
पितुर्नपातमा दधीत वेधा
अस्मिन् क्षये प्रतरां दीद्यानः ॥९॥

भावार्थः—प्रकरण से हे इन्द्र ! परमेश्वर ! (**सखायः**) अनुकूल रहने वाले भक्त लोग (**त्वा**) आपके साथ (**सख्या**) मित्र के (**चित्**) तुल्य (**आववृत्युः**) वर्त्तें। आप (**अर्णवम्**) अन्तरिक्ष समुद्र को (**पुरु**) अत्यन्त करके (**तिरः**) अदृश्य भाव से (**जगम्याः**) व्याप रहे हैं। हे भगवन् ! (**वेधाः**) विधाता आप (**पितुः**) पिता के (**नपातम्**) सन्तान को (**आदधीत**) आधान करें। (**अस्मिन् क्षये**) इस निवासस्थान जगत् में (**प्रतराम्**) अत्यन्त भाव से (**दीद्यानः**) प्रकाशमान हैं ॥

अर्थात् हे परमात्मन् ! आप समस्त आकाश में और उसको उल्लंघन करके भी अदृश्य होकर व्याप रहे हैं। ऐसी कृपा हो कि आपके उपासक सब मनुष्य हों, आपके अनुकूल मित्र के समान वर्तें। आप हर एक पिता को सन्तानवृद्धि दीजिये। आप ही इस जगत् में अत्यन्त प्रकाशमान हैं ॥

अष्टाध्यायी ७।१।३९ निघण्टु २।२ के प्रमाण और ऋग्वेद १०।१०।१ का पाठ संस्कृतभाष्य में देखिये ॥९॥

अथ दशम्याः गोतम ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

३४१— को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य
शिमीवतो भामिनो दुर्हृणायून् ।
आसन्नेषामप्सुवाहो मयोभून्
य एषां भृत्यामृणधत्स जीवात् ॥१०॥

इत्येकादशी दशतिः ॥११॥

इति चतुर्थप्रपाठके प्रथमार्धः ॥

भावार्थः—(**ऋतस्य**) मेघस्थ जल के (**धुरि**) रथ में जुवे में (**शिमीवतः**) पुरुषार्थी (**अप्सुवाहः**) जल को भले प्रकार बहने वाले (**मयोभून्**) सुखकारी (**दुर्हृणायून्**) कठिन है ले चलना जिनका ऐसे (**गाः**) बैल वा घोड़ों को (**अद्य**) अब (**कः**) कौन (**युंक्ते**) जोड़ता है ? कोई नहीं, किन्तु पूर्वोक्त इन्द्र ही जोड़ता है । इस लिये (**यः**) जो यजमान (**एषाम् आसन्**) इनके मुख में (**एषाम् भृत्याम्**) इनकी पोषणसामग्री को (**ऋणधत्**) भरे वा समृद्ध करे (**सः**) वह (**जीवात्**) चिरञ्जीव हो ॥

अर्थात् देखिये परमात्मा का आश्चर्य कर्म कि कौन है ? जिसने निराधार आकाश में बादलों के रथ में चमकीले, तीव्र, जल के भले प्रकार ले चलने वाले बैल वा घोड़े जोड़े हैं ? किसी ने नहीं, किन्तु यह उसी परमात्मा का काम है । इस लिये जो इन दैवी घोड़ों के मुख में भोजन पहुँचाता है अर्थात् यज्ञ करता है वह चिरञ्जीव रहे ॥

निघण्टु १ । १२ ॥ २ । १ ॥ ३ । ५ ॥ ३ । ६ अष्टाध्यायी ६।१।६७ ॥ ७ । १ । ३६ के प्रमाण और ऋ० १ । ८४ । १६ का पाठ संस्कृतभाष्य में देखिये ॥१०॥

यह तृतीयाध्याय में ११वीं दशति समाप्त हुई ॥११॥

यह ऐन्द्र पर्व के त्रिष्टुप्छन्दों का प्रकरण पूर्ण हुआ ॥

गायन्ति त्वेति चेन्द्रस्याऽनुष्टुभो दशतौ दश ॥१॥

अथ द्वादशी दशतिस्तत्र—

प्रथमायाः मधुच्छन्दा ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

३४२—गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः ।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव ये मिरे ॥१॥

भावार्थः—(शतक्रतो) हे बहुकर्मन् ! वा बहुबुद्धे ! परमेश्वर ! इन्द्र ! (गायत्रिणः) गान में कुशल (त्वा) आपका (गायन्ति) गान करते हैं। (अर्किणः) पूजा में चतुर (अर्कम्) पूजनीय आप को (अर्चन्ति) पूजते हैं (ब्रह्माणः) यज्ञ के ब्रह्मा लोग (त्वा) आपको (वंशमिव) बांस वा कुल के समान (उद्येमिरे) ऊंचा करते वा प्रशंसित करते हैं ॥

निरुक्त ५ । ४ ॥ ५ । ५ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० १ । १० । १ में भी ॥१॥

अथ द्वितीयायाः जेता माधुच्छन्दस ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

३४३—इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः ।
रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिम् ॥२॥

भावार्थः—(विश्वाः) सब (गिरः) वैदिकी वा हमारी वाणियें (समुद्रव्यचसम्) आकाशव्यापी ईश्वर वा समुद्र में नौकादि से व्यापने वाले राजा (रथीनाम् रथीतमम्) रथ वालों में अत्यन्त उत्तम रमणीय सूर्यादि लोकरूपी रथों वाले ईश्वर वा महारथी राजा (वाजानां पतिम्) बलों के रक्षक (सत्पतिम्) प्रकृति आदि नित्य पदार्थों के स्वामी ईश्वर वा सज्जनों के रक्षक राजा (इन्द्रम्) परमेश्वर वा राजा को (अवीवृधन्) गुणों से बड़ा होने से वर्णित करें ॥

अष्टाध्यायी ८ । २ । १७ वा० ॥ ६ । ३ । १३६ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० १ । ११ । १ में भी ॥२॥

अथ तृतीयायाः—गोतम ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

३४४—इममिन्द्र सुतं पिब ज्येष्ठममर्त्यं मदम् ।
शुक्रस्य त्वाभ्यक्षरन्धारा ऋतस्य सादने ॥३॥

भावार्थः— (**इन्द्र**) हे राजन् ! वा परमेश्वर ! (**इमम्**) इस (**सुतम्**) सिद्ध हुए (**ज्येष्ठम्**) बड़े उत्तम (**अमर्त्यम्**) दिव्य (**मदम्**) आनन्द को (**पिब**) ग्रहण वा स्वीकार कीजिये (**शुक्रस्य**) मुझ शुद्ध पवित्र के (**सादने**) घर वा हृदय वेश्म में (**ऋतस्य**) सत्य की (**धाराः**) धारें (**त्वा**) आप को (**अभ्यक्षरन्**) प्राप्त होवें ॥ ऋ० १ । ८४ । ४ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—अत्रिऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

३४५—यदिन्द्र चित्र म इह नास्ति त्वादातमद्रिवः ।
राधस्तन्नो विदद्वस उभयाहस्त्या भर ॥४॥

भावार्थः—(**अद्रिवः**) हे दुष्टों पर दण्डधारक ! (**विदद्वसो**) हे धन वाले ! (**चित्र**) हे आश्चर्य गुण कर्म स्वभाव वाले ! (**इन्द्र**) राजन् ! वा परमेश्वर ! (**यत्**) जो (**राधः**) धन (**मे**) मेरे समीप (**न अस्ति**) नहीं है, (**त्वादातम्**) आपके दिये (**तत्**) उस धन को (नः) हमारे लिये (**उभया हस्त्या**) दोनों हाथों से (**आभर**) दीजिये ॥

निरुक्त ४ । ४ अष्टाध्यायी ८ । ३ । १ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ५ । ३६ । १ में "मेहनास्ति" पाठ है ॥४॥

अथ पञ्चम्याः तिरश्ची आङ्गिरस ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

३४६—श्रुधी हवं तिरश्च्या इन्द्र यस्त्वा सपर्यति ।
सुवीर्यस्य गोमतो रायस्पूर्धि महाँ असि ॥५॥

भावार्थः - (**इन्द्र**) हे परमेश्वर ! वा राजन् ! (**महान् असि**) आप बड़े हैं अतः (**यः**) जो पुरुष (**त्वा**) आप को (**सपर्यति**) पूजता अर्थात् आप की आज्ञानुसार चलता है उस (**सुवीर्यस्य**) शुद्धवीर्य ब्रह्मचर्यादि वाले (**गोमतः**) गौ आदि पशु और पृथिवी आदि के स्वामी की (**हवम्**) पुकार (**तिरश्च्या**) अन्तर्धान हुए से (**श्रुधि**) सुनिये और (**रायः**) विद्यादि धन (**पूर्धि**) दीजिये ॥

जैसे परमेश्वर अदृश्य रूप से सबकी सुनता और कर्मानुकूल धनादि पदार्थ देता है, इसी प्रकार राजा को चाहिये कि छिप कर सब की पुकार सुने, और क्षेत्रपतियों के धन धान्यादि की वृद्धि होने देवे ॥

निरुक्त ४ । ३ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ८ । ९५ । ४ में भी ॥५॥

अथ षष्ठ्याः—गोतम ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

३४७—असावि सोम इन्द्र ते शविष्ठ धृष्णवा गहि ।
आ त्वा पृणक्त्विन्द्रियं रजः सूर्य्यो न रश्मिभिः ॥६॥

भावार्थः—(शविष्ठ) हे अतिबलवन् ! (धृष्णो) पापों वा पापियों के दबाने वाले ! (इन्द्र) परमेश्वर ! वा राजन् ! (आ-गहि) रक्षार्थ हमें प्राप्त हूजिये (ते) आपकी प्रसन्नता के लिये (सोमः) शान्तभाव (असावि) हमने उत्पन्न किया है । (इन्द्रियम्) हमारा मन आदि (त्वा) आप में (आ पृणक्तु) लगे (न) जैसे (सूर्य्यः) सूर्य (रश्मिभिः) किरणों से (रजः) पृथिवी आदि के रज को लगता है तद्वत् ॥

ऋ० १ । ८४ । १ में भी ॥६॥

अथ सप्तम्याः—काण्वोनीपातिथिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

३४८—एन्द्र याहि हरिभिरुप कण्वस्य सुष्टुतिम् ।
दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥७॥

भावार्थः—(दिवावसो) हे सुख में वास कराने वाले ! (इन्द्र) राजन् ! हम को (हरिभिः) आज्ञा पहुँचाने वाले राजपुरुषों द्वारा (दिवम्) सुख (यय) पहुँचाइये और (अमुष्य) इस मुख्य इन्द्र (कण्वस्य) मेधावी (दिवः शासतः) सुख के राजा परमेश्वर की (सुष्टुतिम्) अच्छी प्रशंसा को (उप-आ-याहि) प्राप्त हूजिये ॥

ऋ० ८ । ३४ । १ में भी ॥७॥

अथाऽष्टम्याः—तिरश्ची ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

३४९—आ त्वा गिरो रथीरिवास्थुः सुतेषु गिर्वणः ।
अभि त्वा समनूषत गावो वत्सं न धेनवः ॥८॥

भावार्थः—पूर्व मन्त्र की अनुवृत्ति से हे राजन् ! उक्त प्रकार प्रजा को सुख देने का फल यह है कि –(सुतेषु) पुत्रतुल्य प्रजाजनों में (गिरः) उन की प्रशंसायुक्त वाणी (त्वा) आप को (रथीरिव) जैसे रथी शीघ्र चलता है वैसे (आ-अस्थुः) सब ओर से आकर उपस्थित होती हैं (गिर्वणः) हे वाणी से सेवनीय ! (त्वा) आप की (अभि) ओर देख कर (समनूषत) सब भले प्रकार

प्रशंसा करते हैं । दृष्टान्त—(**न**) जैसे (**धेनवः**) दुधारु (**गावः**) गौवें (**वत्सम्**) बछड़े को देखकर प्रीति से रंभाती हैं तद्वत् ॥

ऋ० ८ । ६५ । १ में "समनूषतेन्द्र वत्सं न मातरः" इतना अन्तर है ॥८॥

अथ नवम्याः—ऋष्यादिकं पूर्ववत् ॥

२ ३ २ ३ १२ ३१ ३२ ३ १ २
३५०—एतो न्विन्द्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना ।
३ २३ १२ ३ १२ ३२ ३ १२
शुद्धैरुक्थैर्वावृध्वांसं शुद्धैराशीर्वान्ममत्तु ॥९॥

भावार्थः—प्रजाजन तब आपस में कहते हैं कि—(**एत उ**) मित्रो ! आओ ! आओ ! और (**शुद्धेन साम्ना**) पवित्र सामगान के साथ और (**शुद्धैः उक्थैः**) पवित्र स्तोत्रों से (**वावृध्वांसम्**) अति महान् (**शुद्धम्**) पवित्र (**इन्द्रम्**) परमेश्वर वा राजा को (**स्तवाम**) स्तुत करें । (**शुद्धैः**) पवित्र स्तोत्रों से (**आशीर्वान्**) आशीर्वादियुक्त वह (**नु**) शीघ्र (**ममत्तु**) [हम पर] प्रसन्न होवे ।

ऋ० ८ । ६५ । ७ में "शुद्ध आशीर्वान्" पाठ है ॥९॥

अथ दशम्याः—शंयुर्बार्हस्पत्य ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

२ ३१ २ ३१ २ ३ २ ३ २३ १२
३५१—यो रयिं वो रयिंतमो यो द्युम्नैर्द्युम्नवत्तमः ।
१ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २
सोमः सुतः स इन्द्र तेऽस्ति स्वधापते मदः ॥१०॥

भावार्थः—(**स्वधापते**) हे अन्नपते ! अन्नदातः ! (**इन्द्र**) परमेश्वर ! (**यः**) जो (**वः**) आप का (**सोमः**) शान्तस्वभाव (**सुतः**) पुत्रतुल्य प्रजाजन (**रयिम्**) धन से (**रयिन्तमः**) अति धनवान् और (**यः**) जो (**द्युम्नैः**) यशों से (**द्युम्नवत्तमः**) अतियशस्वी (**अस्ति**) है (**सः**) वह (**ते**) आप के लिये (**मदः**) प्रसन्नताकारक हो ॥

ऋ० ६ । ४४ । १ में "रयिवः" ऐसा अनुस्वाररहित पाठ है ॥१०॥

यह तृतीयाध्याय में बारहवीं दशति समाप्त हुई ॥१२॥

तथा

कण्ववंशाऽवतंस श्रीमान् पं० स्वामी हजारीलाल के पुत्र,
परीक्षितगढ़ (जिला मेरठ) निवासी
तुलसीरामस्वामिकृत सामवेदभाष्य में तीसरा अध्याय
समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थाध्यायः ॥

अनुष्टुभः प्रतीत्यस्यां दशतावष्ट कीर्तिताः ।
यदीति पञ्चमी तासु मारुती सप्तमी तु या ॥१॥

दधिक्राव्णः स्मृताः शिष्टाः षडैन्द्र्योऽथ ऋचः स्मृताः ।

अथ प्रथमा दशतिः

तत्र प्रथमायाः—भरद्वाज ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
३५२—प्रत्यस्मै पिपीषते विश्वानि विदुषे भर ।
३ २ ३ २ ३ १ ३ १ २
अरङ्गमाय जग्मयेऽपश्चादध्वने नरः ॥१॥

भावार्थः—(**नरः**) हे मनुष्यो ! (**अस्मै**) इस इन्द्र अर्थात् योगादि विद्या रूप ऐश्वर्यवान् (**विदुषे**) ज्ञानवान् (**पिपीषते**) पान भोजनादि की इच्छा वाले (**अरंगमाय**) विद्यापारगामी (**जग्मये**) विज्ञान में अधिक (**अपश्चादध्वने**) पीछे न हटने वाले अग्रगामी के लिये (**विश्वानि**) सब आवश्यक वस्तुएं (**भर**) समर्पित करो क्योंकि (**प्रति**) वह भी तुम्हारा प्रत्युपकार करता है ॥ अर्थात् गृहस्थों को इस मन्त्र में कहे लक्षणयुक्त पुरुषों का सर्वथा आदर सत्कार करना चाहिये ॥ निघ० २।१४ में दध्यति गतिकर्मा है ॥ ऋ० ६ । ४२ । १ में "नरे" पाठ है ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—वामदेवः शाकपूतो वा ऋषिः ।
इन्द्रो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
३५३—आ नो वयो वयः शयं महान्तं गह्वरेष्ठाम् ।
३ १ २ ३ २ ३ २उ ३ १ २
महान्तं पूर्विणेष्ठाम् उग्रं वचो अपावधीः ॥२॥

भावार्थः—हे पूर्वमन्त्रोक्त ! योगविद्यादि ऐश्वर्ययुक्त ! इन्द्र (**नः**) हमारी (**वयः**) आयु (**महान्तम्**) बड़े (**गह्वरेष्ठाम्**) अन्तःकरण में स्थित (**वयः शयम्**) आयु में निवास करने वाले आत्मा और (**महान्तम्**) बड़े (**पूर्विनेष्ठाम्**) क्रमागत बुद्धितत्त्व को (**आ**) आदेश कीजिये । हमारे (**उग्रं वचः**) भयानक वचन को (**अपावधीः**) दूर कीजिये ॥

अर्थात् विद्वानों के सदुपदेश से मनुष्यों के आत्मा और मन को उत्तम आदेश मिलता है और दुर्वचनादि दुर्गुण दूर होते हैं ॥२॥

अथ तृतीयायाः—प्रियमेध ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

१ ३ २३ २ ३ १२ ३ १ २
३५४—आ त्वा रथं यथोतये सुम्नाय वर्तयामसि ।
३ १ २ ३ २३ १ २ ३ १ २
तुवीकूर्मिमृतीषहमिन्द्रं शविष्ठ सत्पतिम् ॥३॥

भावार्थः—(**शविष्ठ**) हे आत्मिकबलयुक्त ! (**तुविकूर्मिम्**) बहुत कर्म वाले (**ऋतीषहम्**) दुष्टों को दबाने वाले (**सत्पतिम्**) सत्पुरुषों के पालक (**इन्द्रम्**) योगविद्यादि ऐश्वर्ययुक्त (**त्वा**) आप को (**ऊतये**) अपनी रक्षा और (**सुम्नाय**) सुख के लिये (**आ**) सर्वतः (**वर्त्तयामसि**) हम भ्रमण कराते हैं । दृष्टान्त—(**यथा**) जैसे (**रथम्**) रथ की रक्षा और भ्रमण करते हैं तद्वत् ॥

निघण्टु ३ । ६ ॥ ३ । १ ॥ ऋ० ८ । ६८ । १ में तो "इन्द्र शविष्ठ सत्पते" पाठ है ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थ्याः प्रगाथ ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २र
३५५—स पूर्व्यो महोनां वेनः क्रतुभिरानजे ।
२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३२३ १ २ ३ २
यस्य द्वारा मनुः पिता देवेषु धिय आनजे ॥४॥

भावार्थः—हे विद्वन्निन्द्र (**सः**) वह आप (**वेनः**) मेधावी (**क्रतुभिः**) कर्मों से (**महोनाम् पूर्व्यः**) पूज्यों में अग्रणी (**आनजे**) पहिचाने जाते हैं । (**यस्य**) जिन आप के (**द्वारा**) द्वारा (**मनुः**) मननशील मनुष्य (**धियः**) बुद्धियों को (**आनजे**) उत्पन्न करता है और (**देवेषु**) विद्वानों में (**पिता**) पितृतुल्य पूज्य हो जाता है ॥

निघण्टु ३ । ३ ॥ ३ । १५ ॥ २ । १ ॥ ३ । ६ निरुक्त ६ । ३३॥ ४।२१

इत्यादि प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ८ । ५२ । १ में "महानाम्" और "मनुष्पिता" यह पाठ में अन्तर है ॥४॥

अथ पञ्चम्याः—श्यावाश्व आत्रेय ऋषिः । मरुतो देवताः । अनुष्टुप्छन्दः ॥

३५६—यदी वहन्त्याशवो भ्राजमाना रथेष्वा ।
पिबन्तो मदिरं मधु तत्र श्रवांसि कृण्वते ॥५॥

भावार्थः—(यदि) जहां (रथेषु) रथादि विविध यानों में (आ भ्राजमानः) विराजमान और (मदिरम्) हर्षकारक (मधु) मधुरादि रसयुक्त सोम को (पिबन्तः) पीने वाले (आशवः) शीघ्रगामी मरुत् अर्थात् मुख्य विद्वान् इन्द्र के सहचरवर्ग (वहन्ति) पहुँचते हैं (तत्र) वहीं (श्रवांसि) अन्न धन वा यश को (कृण्वते) करते हैं ॥

अष्टाध्यायी ६ । ३ । १३६ निघण्टु २ । ७ ॥ २ । १० के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥५॥

अथ षष्ठ्याः—शंयुर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

३५७—त्यमु वो अप्रहणं गृणीषे शवसस्पतिम् ।
इन्द्रं विश्वासाहं नरं शचिष्ठं विश्ववेदसम् ॥६॥

भावार्थः—(त्यम्) उस (अप्रहणम्) अहिंसक (शवसः पतिम्) बली (विश्वासाहम्) सब पर प्रभाव रखने वाले (नरम्) नेता (शचिष्ठम्) अत्यन्त बुद्धिमान् (विश्ववेदसम्) सब धन वाले (इन्द्रम्) योगविद्यादि ऐश्वर्ययुक्त पुरुष को (उ) और (वः) तुम उसके सहचरों को (गृणीषे) स्तुत करता हूँ ॥ ऋ० ६ । ४४ । ४ में "मंहिष्ठं विश्वचर्षणिम्" इतना चतुर्थपाद में भेद है ॥६॥

अथ सप्तम्याः—वामदेव ऋषिः । दधिक्रावा देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

३५८—दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः ।
सुरभि नो मुखा करत्प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥७॥

भावार्थः—हे योगविद्यादि ऐश्वर्यशाली ! महात्मन् ! आपके उपदेश से मैं (**जिष्णोः**) जयशील (**अश्वस्य**) शीघ्रगामी (**वाजिनः**) बलवान् (**दधिक्राव्णः**) दधिक्रावा नाम अग्नि की [परिचर्या] (**अकारिषम्**) करूं जिससे वह (**नः**) हमारे (**मुखा**) मुखादि अङ्गों को (**सुरभि**) सुगन्धयुक्त (**करत्**) करे और (**नः**) हमारी (**आयूंषि**) आयुओं को (**प्रतारिषत्**) बढ़ावे ॥

निघण्टु १ । १४ में दधिक्रावा नाम अश्व का है और यथार्थ में दधिक्रावा नामक अग्नि देवतों का अश्व और स्वयं भी देवता है । निरुक्त २ । २७ के अनुसार दधिक्रावा का अर्थ यह है कि जो धारण करे हुए ले चले । सो अग्नि देवतों के हव्य पदार्थों को भी लेकर चलता है और वायु आदि कितने ही देवतों को भी लेकर आकाश में चलता है । इस पर सायणाचार्य भी कहते हैं कि ("अग्नि देवतों के लिए छिप जाता है और उनके अश्व का काम देता है" इत्यादि शतपथ [अध्वर्यु] ब्राह्मण की सङ्गति लगानी चाहिए) ॥ ऋ० ४ । ३६ । ६ में भी ॥७॥

अथाऽष्टम्याः – जेता माधुच्छन्दस ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

३५६—पुरां भिन्दुर्युवा कविरमितौजा अजायत ।
इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्ता वज्री पुरुष्टुतः ॥८॥

इति चतुर्थाध्याये प्रथमा दशतिः ॥१॥

भावार्थः—पूर्वोक्त दधिक्रावा के यज्ञ से (**पुरां भिन्दुः**) मेघनगरों का भेदन करने वाला (**युवा**) पुष्टाङ्ग (**कविः**) गर्जने वाला (**अमितौजाः**) अपरिमित बलयुक्त (**विश्वस्य कर्मणः धर्त्ता**) वर्षाधीन होने से सब कार्यों का धारक (**वज्री**) अस्त्रवाला (**पुरुष्टुतः**) वेदों में अधिकता से वर्णित (**इन्द्रः**) विद्युत् (**अजायत**) प्रकट होता है । ऋ० १ । ११ । ४ में भी ॥८॥

यह चतुर्थाऽध्याय में प्रथम दशति समाप्त हुई ।

प्रेति चानुष्टुभः प्रोक्ता दशतौ दश तत्र च ।
वयश्चिदित्युपास्येयं सप्तमी, नवमी अमी ॥१॥
इति सा वैश्यदेव्यस्ति ऋचं सामेति चान्तिमा ।
ऋक्नामयोः स्तुतिस्तत्र शेषा ऐन्द्र्योऽथ सप्त याः ॥२॥

अथ द्वितीया दशतिः ॥

प्रथमायाः—प्रियमेध ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

१२ ३ २३ १२ ३ १ २ ३१ २
३६०—प्रप्र वस्त्रिष्टुभमिषं वन्दद्वीरायेन्दवे ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २३ १ २
धिया वो मेधसातये पुरन्ध्या विवासति ॥१॥

भावार्थः—हे यजमानो ! और ऋत्विजो ! तुम (**वन्दद्वीराय**) वीर-वन्दित (**इन्दवे**) वर्षा से पृथिवी के भिगोने वाले इन्द्र के लिये (**त्रिष्टुभम्**) ३ स्तोमों वाले साम का (**प्र**) गान करो और (**इषम्**) सोमादि अन्न की आहुति (**प्र**) दो । वह (**धिया**) कर्म से (**वः**) तुम को तथा (**पुरन्धी**) आकाश और पृथिवी को (**मेधसातये**) यज्ञ बांटने के लिये (**आ-विवासति**) सब ओर से सेवित करता है ॥

सामों में स्तोभादि सुने जाते हैं । उनके बनाने को ही विकार, विश्लेष विकर्षण, विराम, अभ्यास, लोप, आगम और स्तोमादि किये जाते हैं । साम विधान ब्राह्मण (१ । १ । ४) में कहा है कि "इस साम की ऋचा ही हड्डियाँ हैं, स्वर मांस हैं और स्तोम रोम हैं" और वह स्तोम ३ प्रकार का है—पदस्तोभ, वाक्य-स्तोभ और अक्षरस्तोभ । जिसमें पदस्तोभ १५ प्रकार के "हाउ" कार आदि मन्त्र-ब्राह्मण (३।१३) में कहे हैं । वाक्यस्तोभ आशस्ति, स्तुति, संख्यान, प्रलय, परिदेवन, प्रैष, अन्वेषण, सृष्टि और आख्यान; ये ९ हैं । और वर्णस्तोभ तो गानग्रन्थ में सर्वत्र ही हैं । तथा च इसी ऋचा में—

(मेधसातये) इसके वामदेव्यगान में (मेधसा १ ता ३ याइ) इत्यादि देखिये ॥

निघण्टु ३ । ७ ॥ २ । १७ ॥ ३ । ३० ॥ २ । १ ॥ ३ । ५ निरुक्त ८।४१ इत्यादि के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋ० ८ । ६९ । १ में "मन्दद्वीराय" पाठ है ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—वामदेव ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

३ १२ ३ २ ३ २ ३ २ २ २ ३ १ २
३६१—कश्यपस्य स्वर्विदो यावाहुः सयुजाविति ।
२ ३ २ ३१ २ ३ २ ३१ ३२ ३ १ २
ययोर्विश्वमपि व्रतं यज्ञं धीरा निचाय्य ॥२॥

भावार्थः—(**स्वर्विदः**) स्वर्लोक के जानने वाले (**धीराः**) ज्ञानवान् योगी (**यज्ञम्**) योगयज्ञ को (**निचाय्य**) निश्चित करके (**इति आहुः**) यह कहते हैं कि (**कश्यपस्य**) इन्द्र के (**यौ**) जो दो (**सयुजौ**) साथ जुड़े हुए धारणाऽऽकर्षण गुण है (**ययोः**) जिन दोनों में (**विश्वम्**) सब (**अपि**) ही (**व्रतम्**) [निघ० २।१] कर्म है [उन्हें तुम जानो] ।।

योगियों से इस बात का निश्चय किया जाता है कि बिजुली में दो गुण हैं जिनसे सब जगत् के कार्य सिद्ध होते हैं ।।२।।

अथ तृतीयायाः—प्रियमेध ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ।।

१ २३ १ २ ३ १ २ ३ १२
३६२—अर्चत प्रार्चत नरः प्रियमेधासो अर्चत ।
१ २ ३ २ ३ २उ ३ २ ३क २र
अर्चन्तु पुत्रका उत पुरमिद् धृष्ण्वर्चत ।।३।।

भावार्थः— परमात्मा उपदेश करता है कि (**नरः**) हे नेता मनुष्यो ! (**प्रियमेधासः**) हे यज्ञ से प्यार करने वालो ! (**पुरम्**) यजन करने वालों का इष्ट पूर्ण करने वाले (**उत**) और (**धृष्णु**) सबको दबा सकने और स्वयं न दबने वाले इन्द्र का (**अर्चत प्रार्चत**) यजन करो, यजन करो, बहुत यजन करो, (**पुत्रकाः**) हे पुत्रो ! (**अर्चन्तु**) यजन करो (**इत्**) अवश्य (**अर्चत**) यजन करो ।।

बहुत बार यजन करो, कहना उसकी अत्यन्त आवश्यक विधि का द्योतक है । इन्द्र शब्द से परमात्मा और सूर्य वा विद्युत् का ग्रहण है ।।

ऋ० ८ । ६९ । ८ में जो पाठभेद है वह संस्कृतभाष्य में देखिये ।।३।।

अथ चतुर्थ्याः—मधुच्छन्दा ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ।।

३ १ २र ३ २ ३ १२ ३ १२
३६३—उक्थमिन्द्राय शंस्यं वर्धनं पुरुनिःषिधे ।
३ १ २र ३१२ ३१ २ ३ १२
शक्रो यथा सुतेषु णो रारणत्सख्येषु च ।।४।।

भावार्थ—हे मित्रो ! (**यथा**) जिस प्रकार पिता (**सुतेषु**) पुत्रों में (**च**) और मित्र (**सख्येषु**) मित्रों में [उपदेश करता है इसी प्रकार] (**शक्रः**) सर्वशक्तिमान् ईश्वर (**पुरुनिःषिधे**) अत्यन्त निरन्तर व्याप्ति वाले (**इन्द्राय**) अपने लिये व विद्युत् के लिये (**शंस्यम्**) कहने योग्य (**वर्धनम्**) वृद्धिकारक (**उक्थम्**) पूर्व मन्त्रादि में कहे वचन का (**नः**) हमें (**रारणत्**) उपदेश करता है ।।

ऋ० १ । १० । ५ में भी ।।४।।

अथ पञ्चम्याः—प्रियमेध ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

३६४—विश्वानरस्य वस्पतिमनानतस्य शवसः ।
एवैश्च चर्षणीनामूती हुवे रथानाम् ॥५॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! मैं परमेश्वर (**विश्वानरस्य अनानतस्य शवसः पतिम्**) सबके नेता, अनम्र, बल के, पति [इन्द्र] का (**वः चर्षणीनाम्**) तुम मनुष्यों के (**रथानाम्**) रथादि यानों की (**ऊती**) रक्षा के लिये (**च**) और (**एवैः**) गतियों सहित (**हुवे**) उपदेश करता हूँ ॥

निघण्टु २ । १४ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋ० ८ । ६८ । ४ में भी ॥५॥

अथ षष्ठ्याः—भरद्वाज ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

३६५—स घा यस्ते दिवो नरो धिया मर्तस्य शमतः ।
ऊती स बृहतो दिवो द्विषो अंहो न तरति ॥६॥

भावार्थः—हे मनुष्य ! (**शमतः ते**) शान्तियुक्त तेरा (**यः**) जो (**सखा**) सखा मित्र अनुकूलवर्त्ती (**दिवः**) आकाश के पदार्थों का (**नरः**) नेता इन्द्र है (**सः**) वह (**धिया**) कर्म से (**बृहतो दिवः ऊती**) बड़े आकाश के वस्तुमात्र की रक्षा से (**द्विषः**) द्वेष करने वालों को (**तरति**) उल्लंघित करता है। दृष्टान्त—(**न**) जैसे (**अंहः**) पाप को लांघते हैं तद्वत् ॥

ऋ० ६ । २ । ४ का पाठभेदादि संस्कृतभाष्य में देखिये ॥६॥

अथ सप्तम्याः—अत्रिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

३६६—विभोष्ट इन्द्र राधसो विभ्वी रातिः शतक्रतो ।
अथा नो विश्वचर्षणे द्युम्नं सुदत्र मंहय ॥७॥

भावार्थः—(**सुदत्र**) हे शुभदान ! (**शतक्रतो**) बहुत कर्म वाले (**विश्वचर्षणे**) सबके देखने वा प्रकाश करने वाले (**इन्द्र**) परमेश्वर ! वा विद्युत् !

(ते) तेरा (विभ्वोः राधसः) बहुत धन का (विभ्वी रातिः) बड़ा दान है (अध) इसलिये (नः) हमको (द्युम्नम्) धन (मंहय) दे ॥

निघण्टु २ । १० ॥ ३ । २०॥ ३ । ११ के प्रमाण और ऋ० ५ । ३८ । १ का पाठ संस्कृतभाष्य में देखिये ॥७॥

अथाष्टम्याः—प्रस्कण्व ऋषिः । देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

३६७—वयश्चित्ते पतत्रिणो द्विपाच्चतुष्पादर्जुनि ।
उषः प्रारन्नृतूँरनु दिवो अन्तेभ्यस्परि ॥८॥

भावार्थः—(अर्जुनि) शुभ्र वर्ण वाली ! (उषः) प्रातःकाल की वेला ! (ते) तेरे (ऋतून् अनु) आगमनों को देख कर (द्विपात्) मनुष्यादि और (चतुष्पात्) गौ आदि तथा (पतत्रिणः वयश्चित्) पंखों वाले पक्षी भी (दिवः अन्तेभ्यः) अनेक दिशाओं से (परि) सब ओर (प्रारन्) अत्यन्त गमन करते हैं ॥

अर्थात् रात्रि में अन्धकार के सताये प्राणी उषःकाल के आगमन से फिर चेष्टा करने लगते हैं । बिजुली के वाचक इन्द्र के वर्णन में उषा का वर्णन अनुचित नहीं है । तथा उसके वर्णन से स्त्री भी उपदिष्ट जानिये ॥८॥

अथ नवम्याः—आप्त्यस्त्रित ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । अनुष्टुप्छन्दः ॥

३६८—अमी ये देवा स्थन मध्य आ रोचने दिवः ।
कद्ध ऋतं कदमृतं का प्रत्ना व आहुतिः ॥९॥

भावार्थः—(अमी) ये (ये) जो (दिवः मध्ये आरोचने) आकाशगत प्रकाश में (देवाः) लोक (स्थन) हैं (वः) इनके मध्य में (कद् ऋतम्) क्या वेदवचन है ? (कद् अमृतम्) क्या यज्ञ की सामग्री है ? (वः) इनके मध्य में (का प्रत्ना आहुतिः) क्या सनातनी यज्ञक्रिया है ?

इस मन्त्र में यह प्रश्न है कि आकाशस्थ लोकलोकान्तरों में भी क्या वेद और यज्ञ का प्रचार है ? इसका उत्तर अगले मन्त्र में दिया है ॥

अष्टाध्यायी ७ । १ । ४५ का प्रमाण और ऋग्वेद १ । १०५ । ५ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ।

कोई लोग यह शंका करते हैं कि ऋग्वेद के मन्त्र सामवेद में देखे जाते हैं, इससे ऋग्वेद ही प्राचीन प्रतीत होता है और सामवेद नवीन। परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि ऋग्वेद के १०। ८५। ११ (ऋक्सामाभ्यामभिहितौ गावौ०) इत्यादि स्थलों में सामवेद का नाम उपस्थित है।.६॥

अथ दशम्याः—वामदेव ऋषिः। ऋक्साम देवते। अनुष्टुप्छन्दः॥

३६९—ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कृण्वते।
वि ते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु वक्षतः ॥१०॥

इति द्वितीया दशतिः ॥२॥

भावार्थः (**याभ्याम्**) जिन-जिन से (**कर्माणि**) अग्निहोत्रादि (**कृण्वते**) करते हैं उन (**ऋचम्**) वेदमन्त्र और (**साम**) गान को (**यजामहे**) संगत करते हैं। (**ते**) वे मन्त्र और गान (**सदसि**) यज्ञमण्डप में (**वि राजतः**) विराजते हैं और (**देवेषु यज्ञं वक्षतः**) वायु आदि देवतों में यज्ञ को पहुँचाते हैं॥

अर्थात् इन सब लोकों में वेदमन्त्र गान और यज्ञ होते हैं॥१०॥

यह अनुष्टुप्छन्दों का (इन्द्र विषयक) प्रकरण समाप्त हुआ॥

और यह चतुर्थोऽध्याय में दूसरी दशति भी पूर्ण हुई ॥२॥

अथ जागतमैन्द्रम्

विश्वा इत्यादिदशतौ जगत्यो दश कीर्तिताः।
दशमी च महापङ्क्तिर्नवमी घृतवत्यृचम् ॥
रोदस्योः स्तुतये प्राहुः शिष्टा ऐन्द्रयो मता दश।

श्लोकार्थः—

"विश्वाः पृतना" इत्यादि (तीसरी) दशति में प्रथम ९ ऋचा और ११वीं का जगती छन्द है। बीच की १०वीं का महापङ्क्ति तथा ९वीं (घृतवती०) के द्यावापृथिवी देवते और शेष सबका इन्द्र है॥

अथ तृतीया दशतिः

प्रथमायाः—रेभ ऋषिः । इन्द्रो देवता । जगती छन्दः ॥

३७०— विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरः सजू-
स्ततक्षुरिन्द्रं जजनुश्च राजसे ।
क्रत्वे वरे स्थेमन्यामुरीमुतो-
ग्रमोजिष्ठं तरसं तरस्विनम् ॥१॥

भावार्थः—(**नरः**) मनुष्य लोग (**सजूः**) साथ मिल कर (**विश्वाः पृतनाः अभिभूतरम्**) सब शत्रुओं के तिरस्कृत करने वाले (**वरे स्थेमनि**) श्रेष्ठ अत्यन्त स्थिर सिंहासनारूढ़ (**आमुरीम्**) शत्रुगणमारक (**उग्रम्**) तेजस्वी (**ओजिष्ठम्**) अत्यन्त प्रतापी (**तरसम्**) बली (**तरस्विनम्**) वेगवान् (**इन्द्रम्**) राजा को (**जजनुः**) बनावें (**उत**) और उसको (**राजसे**) राज्य करने के लिये (**च**) और (**क्रत्वे**) यज्ञ करने के लिये (**ततक्षुः**) शस्त्रास्त्रादि सज्जित करें ॥

निघण्टु २ । ६॥ २ । १७ अष्टाध्यायी ३ । ४ । ६॥ ६ । ४ । १५७॥ ३।४। ११७ के प्रमाण और ऋ० ८ ।९७ । १० का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—सुवेदः शैलूषिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । जगती छन्दः ॥

३७१— श्रत्ते दधामि प्रथमाय मन्यवे
ऽहन् यद्दस्युं नर्यम् विवेरपः ।
उभे यत्वा रोदसी धावतामनु
भ्यसात्ते शुष्मात्पृथिवी चिदद्रिवः । २॥

भावार्थः—(**अद्रिवः**) हे विद्युत्तुल्य तेजस्विन् ! राजन् ! (**ते**) आपके (**प्रथमाय**) मुख्य और विस्तृत (**मन्यवे**) तेज के लिये (**श्रत् दधामि**) श्रद्धा= आदर करता हूँ । (**यत्**) जिस प्रताप से (**नर्यम्**) नरसम्बन्धी (**दस्युम्**) कर्मों के विघ्नकारक दुष्ट जन को (**अहन्**) मारते हो और (**अपः**) कर्मों को (**विवेः**) विस्तृत करते हो । (**ते**) आप के (**शुष्मात्**) बल से (**पृथिवी**) पृथ्वी (**भ्यसात्**) डरे (**चित्**) और (**उभे**) दोनों (**रोदसी**) द्युलोक पृथिवीलोक (**त्वा**) आप

के (अनुधावताम्) अनुकूल चलें, अर्थात् वृष्ट्यादि द्युलोक और धान्यादि से पृथिवी आपके विमुख न हों। श्लेषालंकार में ईश्वर विषय में भी समझिये ॥

निघण्टु १।१०॥ २।१॥ २।६॥ अष्टाध्यायी ३।४।६४॥ ३।४।६७ के प्रमाण और ऋ० १०।१४७।१ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ तृतीयायाः—वामदेव ऋषिः। इन्द्रो देवता। जगती छन्दः ॥

३७२— समेत विश्वा ओजसा पतिं
दिवो य एक इद्भूरतिथिर्जनानाम्।
स पूर्व्यो नूतनमाजिगीषन्तं
वर्तनीरनु वावृत एक इत् ॥३॥

भावार्थः—(विश्वाः) हे सब प्रजावर्ग ! तुम (ओजसा) आत्मिक बल से (दिवः पतिम्) परमात्मा की (समेत) भले प्रकार शरण गहो (यः) जो (एक इत्) एक ही (जनानाम्) प्राणियों वा मनुष्यों का (अतिथिः) सेवनीय (भूः) है और (सः) वही (पूर्व्यः) सनातन (आजिगीषन्तम् नूतनम्) विजय चाहने वाले नवीन धार्मिक राजा को (एक इत्) एक ही (वर्त्तनीः) मार्गों पर (अनुवावृते) चलाता अर्थात् विजय कराता है ॥

निघण्टु २।१४ उणादि २।१०६ अष्टाध्यायी ६।१।७ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—सव्य आङ्गिरस ऋषिः। इन्द्रो देवता। जगती छन्दः ॥

३७३— इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत
ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो।
न हि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सघत्
क्षोणीरिव प्रति तद्धर्य नो वचः ॥४॥

भावार्थः—(प्रभूवसो) हे सर्वाधिकधनयुक्त ! (पुरुष्टुत) इसी से बहुस्तुत ! (इन्द्र) परमेश्वर ! (ये इमे) ये जो प्रत्यक्ष मनुष्य हैं और (ते) वे जो परोक्ष हैं और (वयम्) हम सब (ते) आप ही के हैं और (त्वा) आपका (आरभ्य) अवलम्बन करके (चरामसि) वर्त्तते हैं (गिर्वणः) हे स्तुतियोग्य !

(त्वदन्यः) आपके अतिरिक्त कोई (गिरः) वेदवाणियों को (नहि) नहीं (मघत्) व्याप सकता (तत्) इसलिये (नः) हमारा (वचः) स्तोत्र (प्रति हर्य) स्वीकार कीजिये । दृष्टान्त – (क्षोणीरिव) जैसे पृथिवी अपने में उत्पन्न प्राणिमात्र को स्वीकार करती है ॥

निघण्टु १ । १ ॥ २ । १४ इत्यादि के प्रमाण और ऋग्वेद १ । ५७ । ४ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

अथ पञ्चम्याः—विश्वामित्र ऋषिः । इन्द्रो देवता । जगती छन्दः ॥

३ १२ ३१२ ३ २२ ३ १२ ३२ ३क २र
३७४—चर्षणीधृतं मघवानमुक्थ्यमिन्द्रं गिरो बृहतीरभ्यनूषत ।
३ १ २ ३१ २३२ ३१२३ १२ ३१२
वावृधानं पुरुहूतं सुवृक्तिभिरमर्त्यं जरमाणं दिवेदिवे ॥५॥

भावार्थः—(बृहतीः) बड़ी (गिरः) हमारी वाणी (चर्षणीधृतम्) मनुष्यों के धारक (मघवानम्) धन वा यज्ञ वाले (उक्थ्यम्) प्रशंसनीय (वावृधानम्) बल धन आदि में बड़े (पुरुहूतम्) बहुत पुकारे हुए (अमर्त्यम्) अमर (सुवृक्तिभिः दिवे दिवे जरमाणम्) सुन्दर वेदवाणियों से प्रतिदिन स्तुत किये जाने वाले (इन्द्रम्) परमेश्वर को (अभ्यनूषत) सर्वथा स्तुत करें ॥

निघण्टु ३ । ८ ॥ १ । ६ ॥ ३ । १४ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋ० ३ । ५१ । १ में भी ॥५॥

अथ षष्ठ्याः—कृष्ण आङ्गिरस ऋषिः । इन्द्रो देवता । जगती छन्दः ॥

१ २ ३ १ २ ३१२ ३१२
३७५— अच्छा व इन्द्रं मतयः स्वर्युवः
३२ ३ १ २ ३१२
सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनूषत ।
१२ ३ १२३ २३ २३
परि ष्वजन्त जनयो यथा पतिं
२३ २ ३ २ ३१२ ३१२
मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये ॥६॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! (वः) तुम्हारी (स्वर्युवः) परमानन्द चाहने वाली(सध्रीचीः) सीधी सच्ची (उशतीः) कामना करती हुईं (विश्वाः मतयः) सारी बुद्धियें (अच्छ) अच्छे प्रकार (इन्द्रम्) परमेश्वर को (अनूषत) स्तुत करें । दृष्टान्त—(न) जैसे (शुन्ध्युम्) शुद्ध (मघवानम्) धनवान् (मर्यम्) मनुष्य को (ऊतये) धनधान्य द्वारा अपनी रक्षा के लिये स्तुत करते हैं तद्वत् । दूसरा दृष्टान्त—(यथा) जैसे (जनयः) स्त्रियें (पतिम्) पति को (परिष्वजन्त) आलिङ्गन करती हैं, तद्वत् ॥

मनुष्यों का जितना प्रेम स्त्री-पुरुष के परस्परभाव में है, अथवा जितनी कामना और दीनता प्रार्थना धनादि पदार्थों के लिये करते हैं, यदि इतना प्रेम और कामना नम्रता परमेश्वर के प्रति धारण करें तो अवश्य परमानन्द की प्राप्ति और संसार से रक्षा हो ॥

अष्टाध्यायी ३ । २ । १७० का प्रमाण और ऋ० १० । ४३ । १ में जो भेद है वह संस्कृतभाष्य में देखिये ॥६॥

अथ सप्तम्याः—सव्य ऋषिः । इन्द्रो देवता । जगती छन्दः ॥

३७६— अभि त्यं मेषं पुरुहूतमृग्मियम्
इन्द्रं गीर्भिर्मदता वस्वो अर्णवम् ।
यस्य द्यावो न विचरन्ति मानुषं
भुजे मंहिष्ठमभि विप्रमर्चत ॥७॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! (**त्यम्**) उस (**मेषम्**) कामपूरक (**पुरुहूतम्**) बहुतों से पुकारे हुए (**ऋग्मियम्**) ऋचाओं से जानने योग्य (**वस्वः अर्णवम्**) धन के समुद्र (**इन्द्रम्**) परमात्मा को (**गीर्भिः**) वाणियों से (**मदत**) प्रसन्न करो (**यस्य**) जिसकी (**द्यावः न**) किरणों सी (**मानुषम्**) मनुष्य मात्र में (**अभि**) व्याप कर (**विचरन्ति**) सर्वत्र वर्तमान हैं। (**भुजे**) परमानन्द भोगने के लिये उस (**मंहिष्ठम्**) अत्यन्त पूजनीय (**विप्रम्**) मेधावी को (**अभि अर्चत**) सर्वतः पूजित करो ॥ ऋ० १ । ५१ । १ में "मानुषा" पाठ है ॥७॥

अथाष्टम्याः—ऋष्यादिकं पूर्ववत् ॥

३७७— त्यं सु मेषं महया स्वर्विदं
शतं यस्य सुभ्वः साकमीरते ।
अत्यं न वाजं हवनस्यदं रथम्
इन्द्र ववृत्यामवसे सुवृक्तिभिः ॥८॥

भावार्थः—(**यस्य**) जिसकी (**शतम्**) असंख्य (**सुभुवः**) सुन्दर भूमियें (**सुवृक्तिभिः**) सुन्दर ऋचाओं के साथ (**साकम्**) एक साथ ही (**ईरते**) घूमती हैं (**त्यम्**) उस (**मेषम्**) कामना के पूरक (**स्वर्विदम्**) आनन्द के दाता (**इन्द्रम्**) परमेश्वर को (**अवसे**) रक्षार्थ (**सु मंहय**) भले प्रकार पूज, कि मैं उसे (**आववृत्याम्**) सब ओर वर्तमान करूं। दृष्टान्त—(**न**) जैसे (**अत्यम्**) अग्निमय आदि घोड़ों वाले (**वाजम्**) बलयुक्त (**हवनस्यदम्**) मार्ग पर चलने वाले (**रथम्**) विमानादि को सब ओर वर्तते हैं तद्वत् ॥

परमेश्वर की असंख्य भूमि (लोक) आपस में नहीं टकराती हुई एक साथ घूम रही हैं और ये भूमियें (लोक लोकान्तर) परमात्मा में इस प्रकार वर्त्तमान हैं जिस प्रकार रथ में बैठे लोग अपने-अपने अभीष्ट स्थान को पहुँचते हैं, कोई किसी से टक्कर नहीं मारता। निरुक्त ७। ४ में भी लिखा है कि "परमात्मा ही इन पृथिवी सूर्यादि का रथ और अश्व है" वही सबका उपास्य देव है॥ ऋ० १।५२। १ में भी ॥८॥

अथ नवम्याः—भरद्वाज ऋषिः। रोदस्यौ देवते। जगती छन्दः॥

३७८— घृतवती भुवनानामभिश्रियोर्वी
पृथ्वी मधुदुघे सुपेशसा।
द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा
विष्कभिते अजरे भूरिरेतसा ॥९॥

भावार्थः—हे परमेश्वर! (**वरुणस्य**) वरणीय आपके (**धर्मणा**) धारण से (**घृतवती**) उदक वाली (**भुवनानाम्**) लोक-लोकान्तरों की (**अभिश्रिया**) आश्रय करने योग्य (**उर्वी**) बड़ी (**पृथ्वी**) विस्तार वाली (**मधुदुघे**) जल को पूरित करने वाली (**सुपेशसा**) सुन्दर रूप वाली (**अजरे**) न जीर्ण हुई (**भूरिरेतसा**) बहुत बीज वाली (**द्यावापृथिवी**) द्युलोक और पृथिवी (**विष्कभिते**) ठहरी हैं॥

अष्टाध्यायी ७। १। ३९ निघण्टु १। १२॥ ३। १॥ ३। ७ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये॥ ऋ० ६। ७०। १ में भी ॥९॥

अथ दशम्याः— मेधातिथिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । महापङ्क्तिश्छन्दः ।।

(षडत्राऽष्टाक्षराःपादा द्वौ चार्द्धर्चावऽधीमहे)

३७९—उभे यदिन्द्र रोदसी आप प्राथोषा इव ।
महान्तं त्वा महीनां सम्राजं चर्षणीनाम् ।
देवी जनित्र्यजीजनद् भद्रा जनित्र्यजीजनत् ॥१०॥

भावार्थः—(**इन्द्र**) हे परमेश्वर ! (**यत्**) जो कि आप (**उषा इव**) उषा के समान (**उभे रोदसी**) दोनों द्युलोक और पृथिवी लोकों को (**आ पप्राथ**) सर्वतः अपनी ज्योति से पूरित कर रहे हैं, इस लिये (**देवी**) दिव्य (**जनित्री**) जगज्जननी आपकी ज्योति (**महीनाम्**) बड़ों के (**महान्तम्**) बड़े और (**चर्षणीनाम् सम्राजम्**) मनुष्यादि के राजा (**त्वा**) आपको (**अजीजनद्**) प्रकट करती है । (**भद्रा**) शोभना (**जनित्री**) जगत् की जननी आपकी ज्योति आपको (**अजीजनद्**) प्रकट करती है ॥ दो वार कहना अतिशय अर्थ में है ॥

अष्टाध्यायी ३ । ४ । ६ ॥ ६ । ४ । ५३ ॥ ३ । २ । १३५ ॥ ४ । १ । ५ इत्यादि प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० १० । १३४ । १ में भी ॥१०॥

अथैकादश्याः कुत्स ऋषिः । इन्द्रो देवता । जगती छन्दः ॥

३८०— प्र मन्दिने पितुमदर्चता वचो
यः कृष्णगर्भा निरहन्नृजिश्वना ।
अवस्यवो वृषणं वज्रदक्षिणम्
मरुत्वन्तं सख्याय हुवेमहि ॥११॥

इति तृतीया दशतिः ॥३॥

भावार्थः—परमेश्वर का उपदेश है कि हे मनुष्यो ! (**मन्दिने**) प्रशंसनीय इन्द्र विद्युत् के लिये (**पितुमत्**) हव्ययुक्त (**वचः**) वचन को (**प्र अर्चत**) सुसंस्कृत करो (**यः**) जो कि (**कृष्णगर्भाः**) काले मेघ के गर्भरूप जल को (**ऋजिश्वना**) अपनी सरल वृद्धि से (**निरहन्**) गिराता है । किस प्रकार वचन

कहें ? कि (वृषणम्) वृष्टिकारक (वज्रदक्षिणम्) उत्तम वज्रयुक्त (मरुत्वन्तम्) वायुगणसहित इन्द्र को (सख्याय) अनुकूलता के लिये (अवस्यवः) अपनी धन-धान्यादि से रक्षा चाहने वाले हम (हुवेमहि) हवन करते हैं, इस प्रकार ॥

निरुक्त ४।२४ विवरणकार और सत्यव्रत सामश्रमी ॥ निघण्टु २।७ इत्यादि के प्रमाण और ऋ० १ । १०१ । २ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥११॥

यह इन्द्रविषयक जगती छन्दों का प्रकरण और चतुर्थाऽध्याय में तीसरी दशति पूर्ण हुई ॥३॥

इन्द्रेतीन्द्रस्य दशतावुष्णिहो दश कीर्त्तिताः ॥
अथ चतुर्थी दशतिः

तत्र प्रथमाया:—नारद ऋषिः । इन्द्रो देवता । उष्णिक्छन्दः ॥

३८१— इन्द्र सुतेषु सोमेषु क्रतुं पुनीष उक्थ्यम् ।
विदे वृधस्य दक्षस्य महाँ हि षः ॥१॥

भावार्थः—(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (सोमेषु) सोमादि ओषधियाँ (सुतेषु) तयार होने पर (उक्थ्यम्) स्तोत्रयुक्त (क्रतुम्) यज्ञ को (पुनीषे) आप पवित्र करते हैं। (सः हि) वही यज्ञ (वृधस्य) बड़े (दक्षस्य) बल के (विदे) लाभ के लिये (महान्) बड़ा है ॥

निघण्टु २।९ का प्रमाण और ऋ० ८ । १३ । १ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥१॥

अथ द्वितीयाया:—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनावृषी । इन्द्रो देवता । उष्णिक्छन्दः ॥

३८२— तमु अभि प्र गायत पुरुहूतं पुरुष्टुतम् ।
इन्द्रं गीर्भिस्तविषमा विवासत ॥२॥

भावार्थः—हे उद्गाताओ ! (पुरुहूतम्) बहुत पुकारे हुए (पुरुष्टुतम्) बहुत स्तुत किये हुए (तविषम्) महान् (तम् उ) उस ही (इन्द्रम्) परमेश्वर को (अभि प्र गायत) मुख्य करके स्तुत करो और (गीर्भिः) वाणियों से (आविवासत) सेवित करो ॥

निघण्टु ३। ३॥ ३।५ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ८।१५।१ में भी ॥२॥

अथ तृतीयायाः—ऋष्याद्याः पूर्ववत् ॥

३८३— तं ते मदं गृणीमसी वृषणं पृक्षु सासहिम् ।
उ लोककृत्नुमद्रिवो हरिश्रियम् ॥३॥

भावार्थः—(**अद्रिवः**) हे मेघों और पर्वतों के स्वामी ! (**तम्**) उस (**ते**) आपके (**वृषणम्**) कामनापूरक (**पृक्षु सासहिम्**) कामादि शत्रुओं के दबाने वाले (**उ**) और (**लोककृत्नुम्**) लोकों के कर्ता (**हरिश्रियम्**) व्यापक हैं शोभायें जिस की ऐसे (**मदम्**) आनन्द स्वरूप को (**गृणीमसि**) हम प्रशंसित करते हैं ॥

निघण्टु २ । १७ ॥ १ । १० अष्टाध्यायी ७ । २ । ८० ॥ ७ । १ । ४६ के प्रमाण और ऋ० ८ । १५ । ४ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—पर्वत ऋषिः । इन्द्रो देवता । उष्णिक्छन्दः ॥

३८४— यत्सोममिन्द्र विष्णवि यद्वा घ त्रित आप्त्ये ।
यद्वा मरुत्सु मन्दसे समिन्दुभिः ॥४॥

भावार्थः—(**इन्द्र**) हे परमेश्वर ! (**विष्णवि**) सर्वव्यापक आप में (**यत्सोमम्**) जो अमृत है (**घ**) निश्चय (**आप्त्ये**) प्राप्त योगियों में हुए (**त्रिते**) इडा पिङ्गला सुषुम्णा के समुदाय में जो अमृत है (**यद्वा**) अथवा (**मरुत्सु**) प्राणों में जो अमृत है (**यद्वा**) अथवा अन्यत्र जहाँ-जहाँ अमृत है वहाँ-वहाँ (**इन्दुभिः**) अमृतों से, आप ही (**सम् मन्दसे**) भले प्रकार आनन्दित करते हैं ॥

अर्थात् जहाँ-जहाँ मनुष्य प्राणादि में अमृत पाता है वहाँ-वहाँ सब आप ही का आनन्द है ॥ ऋ० ८ । १२ । १६ में भी ॥४॥

अथ पञ्चम्याः—विश्वमना वैयश्व ऋषिः । इन्द्रो देवता । उष्णिक् छन्दः ॥

३८५— एदु मधोर्मदिन्तरं सिञ्चाध्वर्यो अन्धसः ।
एवा हि वीर स्तवते सदावृधः ॥५॥

भावार्थः— (**अध्वर्यो**) हे यज्ञ के नेता ! (**मधोः अन्धसः**) मधुररसयुक्त हव्यान्न के (**मदिन्तरम्**) अति हर्ष वा पुष्टिकारक रस को (**आ सिञ्च**) होम कर (**एवा हि**) ऐसा करने से (**सदावृधः**) सदा बढ़ने वाला (**वीरः**) गतिशील विद्युत् (**स्तवते**) अर्चित होता अर्थात् उसका यजन होता है ॥ (**उ, इत्**) ये दो पद निरुक्त १ । ६ । के अनुसार मिताक्षर ऋचाओं में पादपूर्ण हैं ॥

"मधो" में नपुंसकलिङ्ग का व्यत्यय से पुल्लिङ्गवद्रूप हो गया ॥ मदिन्तर में नकार का लोप आर्ष मान कर न हुआ और चारों पुस्तकों में नकारसहित ही पाठ देखा जाता है । वीरः यह विसर्ग सहित पाठ यद्यपि सामवेद के मूल पुस्तकों में नहीं देखा जाता परन्तु ऋग्वेद ८ । २४ । १६ में "मध्वः" तथा "सिञ्च दाध्वर्यो" और "वीरः" ये पाठ देखे जाते हैं और सामवेदस्थ सायणभाष्य में भी "वीरः" पाठ की व्याख्या है, अतः हम भी "वीरः" पाठ ही निश्चित समझते हैं ॥ स्तवते में विकरण का व्यत्यय है ॥

अथ षष्ठ्याः—ऋष्यादयः पूर्ववत् ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र

३८६— इन्दुमिन्द्राय सिञ्चत पिबाति सोम्यं मधु ।

१ २र ३ २

प्र राधांसि चोदयते महित्वना ॥६॥

भावार्थः— हे ऋत्विजो ! (**इन्द्राय**) विद्युत् के लिये (**इन्दुम्**) सोम रस का (**आ सिञ्चत**) आसेचन=हवन करो वह (**सोम्यम्**) सोम सम्बन्धी (**मधु**) रस को (**पिबाति**) पीता=शोषता है और (**महित्वना**) अपनी वृद्धि से (**राधांसि**) धनधान्यादि को (**प्रचोदयते**) वृद्ध्यर्थं प्रेरणा करता है ॥

निघण्टु २ । १० का प्रमाण और ऋ० ८ । २४ । १३ का पाठभेद संस्कृत-भाष्य में देखिये ॥६॥

अथ सप्तम्याः —ऋष्यादिकमुक्तवत् ॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

३८७— एतो न्विन्द्रं स्तवाम सखायः स्तोम्यं नरम् ।

३ १ २र ३ २उ ३ २

कृष्टीर्यो विश्वा अभ्यस्त्येक इत् ॥७॥

भावार्थः - (**सखायः**) हे मित्रो ! (**एत उ**) आइये आइये (**यः**) जो कि (**एक इत्**) एक ही (**विश्वाः कृष्टीः**) सब मनुष्यों को (**अभ्यस्ति**) तिरस्कृत

करने में समर्थ है उस (**स्तोम्यम्**) स्तुतियोग्य (**नरम्**) सबके नायक (**इन्द्रम्**) इन्द्रपद के मुख्य वाच्य परमेश्वर को (**नु**) शीघ्र (**स्तवाम**) स्तुत करें ॥

मनुष्यों को यज्ञारम्भ में परमात्मा की स्तुति करनी चाहिये। क्योंकि वही इन्द्रादि पदों का मुख्य वाच्य है ॥ ऋ० ८। २४। १६ में भी ॥७॥

अथाऽष्टम्याः—नृमेध ऋषिः। इन्द्रो देवता। उष्णिक्छन्दः ॥

३८८— इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्।
ब्रह्मकृते विपश्चिते पनस्यवे ॥८॥

भावार्थः—(**ब्रह्मकृते**) वेद के कर्त्ता (**विपश्चिते**) ज्ञानदाता (**विप्राय**) मेधावी सर्वज्ञ (**बृहते**) महान् (**पनस्यवे**) पूजनीय (**इन्द्राय**) इन्द्र पद के मुख्य वाच्य परमेश्वर के लिये (**बृहत्**) बृहत् नामक वा बड़ा (**साम गायत**) सामगान करो ॥

निघण्टु ३। १५॥ ३। १४ के प्रमाण और ऋ० ८। ९८। १ का पाठ-भेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥८॥

अथ नवम्याः—गोतम ऋषिः। इन्द्रो देवता। उष्णिक्छन्दः ॥

३८९ — य एक इद्विदयते वसु मर्ताय दाशुषे।
ईशानो अप्रतिष्कुत इन्द्रो अङ्ग ॥९॥

भावार्थः—(**यः**) जो (**ईशानः**) सर्वेश्वर (**अप्रतिष्कुतः**) जिसके प्रति कोई शब्द नहीं कर सकता ऐसा (**इन्द्रः**) परमेश्वर (**एक इत्**) एक ही (**दाशुषे**) दानी (**मर्त्ताय**) पुरुष के लिये (**अंग**) शीघ्र (**वसु**) दानानुसारि धनादि (**विदयते**) विशेष करके देता है ॥

निरुक्त ५। १७ अष्टाध्यायी ६।१। १२ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० १। ८४। ७ में भी ॥९॥

अथ दशम्याः—विश्वमना ऋषिः। इन्द्रो देवता। उष्णिक्छन्दः ॥

३९०— सखाय आ शिषामहे ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे।
स्तुष ऊ षु वो नृतमाय धृष्णवे ॥१०॥

इति चतुर्थी दशतिः ॥४॥

इति चतुर्थः प्रपाठकः ॥४॥

भावार्थः – (**सखायः**) हे मित्रो ! (**वः**) तुम्हारे (**नृतमाय**) अत्यन्त नेता (**घृष्णवे**) सबको धर्षित कर सके आप धर्षित न हो सके ऐसे (**वज्रिणे**) पापियों के दण्ड प्रदाता (**इन्द्राय**) परमेश्वर के लिये (**ब्रह्म**) वेदोक्त (**स्तुषे**) स्तोत्रपाठ करो (**उ**) और हम भी (**सु आ शिषामहे**) भले प्रकार प्रार्थना करते हैं ॥

अष्टाध्यायी ३ । १ । ८५ ॥ ६ । ३ । १३६ ॥ ८ । ३ । १०७ इत्यादि प्रमाण और ऋ० ८ । २४ । १ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥१०॥

यह चतुर्थाध्याय में चतुर्थी दशति समाप्त हुई ॥४॥

गृणे तदिति पञ्चम्यां दशतावष्ट कीर्तिताः ।
आदित्यः पञ्चमीषष्ठयोः शिष्टा ऐन्द्रय ऋचश्च षट् ॥
अष्टमी च विराडुक्ता पूर्वाः सप्तोष्णिहस्तथा ।

श्लोकार्थः

गृणे इत्यादि ५वीं दशति में सब ८ ऋचा हैं । जिनमें ५-६वीं का आदित्य देवता है, शेष का इन्द्र । और आठवीं का विराट् छन्द है, शेष ७ का उष्णिक् ॥

अथ पञ्चमप्रपाठके प्रथमोऽर्धः

तथा

चतुर्थाऽध्याये पञ्चमी दशतिः

तत्र प्रथमायाः—प्रगाथ ऋषिः । इन्द्रो देवता । उष्णिक्छन्दः ॥

३९१— गृणे तदिन्द्र ते शव उपमां देवतातये ।
यद्धंसि वृत्रमोजसा शचीपते ॥१॥

भावार्थः—(**शचीपते**) कर्मों के पति ! परमेश्वर ! वा कर्म के प्रधान साधनभूत ! विद्युत् ! (**ते**) तेरे (**तत्**) उस (**शवः**) बल को (**देवतातये**) योगयज्ञ वा कर्मयज्ञ के लिये (**उपमाम्**) उत्कृष्टतापूर्वक (**गृणे**) वर्णित करता हूँ (**यत्**) जिस (**ओजसा**) बल से (**वृत्रम्**) पाप वा मेघ को (**हंसि**) हनन करते हो ॥

निघण्टु ३ । १७ ॥ २ । १ ॥ १ । १० अष्टाध्यायी ४।४।१४२ के प्रमाण और ऋ० ८ । ६२ । ८ का पाठभेदादि संस्कृतभाष्य में देखिये ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—भरद्वाज ऋषिः । इन्द्रो देवता । उष्णिक्छन्दः ॥

२ ३ १ २र ३ २ ३ १ २ ३ १२

३६२— यस्य त्यच्छम्बरं मदे दिवोदासाय रन्धयन् ।

३ १ २र ३ १ २र

अयं स सोम इन्द्र ते सुतः पिब ॥२॥

भावार्थः—(**इन्द्र**) मेघवर्धक ! विद्युत् ! (**यस्य**) जिस सोम के (**मदे**) हर्ष में (**त्यत् शम्बरम्**) उस मेघ को (**दिवोदासाय**) पृथिवी से निकलने वाले ऊष्मा के लिये (**रन्धयन्**) गिराता हुआ होता है (**सः अयं सोमः**) वह यह सोम (**ते**) तेरे लिये (**सुतः**) खींचा है (**पिब**) [इस हवन किये हुए को] पी ॥

जब मनुष्य सोमादि ओषधियों को होम करते हैं तब इन्द्र नामक मेघ वर्षाने वाली बिजुली को मद (हर्ष) होता है और वह दिवोदास के लिये मेघ को वर्षाता है। द्युलोक का दास एक प्रकार का ऊष्मा है जो सदा भी पृथिवी से निकलता रहता है और मेघ वर्षने पर विशेष करके। वह घासपात अन्न आदि का उत्पादक है। वही दिवोदास है। यह हम पूर्व व्याख्यान कर चुके हैं। बिजुली का भले प्रकार अपना काम करना ही हर्ष जानिये। त्यत् शब्द तत् शब्द का पर्याय है। पुल्लिङ्ग का नपुंसकलिङ्ग व्यत्यय है॥

निघण्टु १ । १० में शम्बर नाम मेघ और १ । १२ में जल और २ । ६ में बल का नाम है॥ ऋग्वेद ६ । ४३ । १ में "रन्धयः" पाठ है ॥२॥

अथ तृतीयायाः—नृमेध ऋषिः । इन्द्रो देवता । उष्णिक्छन्दः ॥

१ २ ३ १ २

३६३— एन्द्र नो गधि प्रिय सत्राजिदगोह्य ।

३ २र ३ १२ ३१ २र ३ २

गिरिर्न विश्वतः पृथुः पतिर्दिवः ॥३॥

भावार्थः—(**इन्द्र**) विद्युत् ! (**नः प्रियः**) हमारे प्यारे ! (**सत्राजित्**) सब मेघों को जीतने वाले ! (**अगोह्य**) प्रकाशमय होने से छिपने योग्य ! (**गिरिः न**) मेघ के समान (**विश्वतः पृथुः**) सब ओर फैला हुआ (**दिवः**) अन्तरिक्ष का (**पतिः**) पालक तू (**आ गधि**) सब ओर व्यापता है॥

जड़सम्बोधन वेद की शैली है, यह बहुत बार व्याख्यात कर चुके हैं। गिरि मेघ का नाम है।

निघण्टु १ । १० ऋ० ८ । ९८ । ४ में "प्रियः सत्राजिदगोह्यः" पाठ है ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—पर्वत ऋषिः । इन्द्रो देवता । उष्णिक्छन्दः ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

३६४— य इन्द्र सोमपातमो मदः शविष्ठ चेतति ।

२ ३ २ ३ २र २ ३ १ २

येनाऽहंसि न्या३त्रिणं तमीमहे ॥४॥

भावार्थः—(**शविष्ठ**) हे बलिष्ठ ! (**इन्द्र**) विद्युत् ! (**यः मदः**) जो तेरा हर्ष (**चेतति**) तीव्र होता है और (**येन**) जिससे (**सोमपातमः**) सोम का अत्यन्त पीने वाला तू (**अत्रिणम्**) मेघ को (**आ-नि-हंसि**) गिराता है (**तम्**) उस हर्ष को, हम (**ईमहे**) चाहते हैं ॥

निघण्टु ३ । १६ ॥ २ । ६ अष्टाध्यायी ५ । २ । २२२ ॥ ५ । ३ । ५५ ॥ ५ । ३ । ६५ ॥ ६ । ४ । १५५ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋ० ८ । १२ । १ में भी ॥४॥

अथ पञ्चम्याः— इरिमिठ ऋषिः । आदित्या देवताः । उष्णिक्छन्दः ॥

३९५—तुचे तुनाय तत्सु नो द्राघीय आयुर्जीवसे ।
आदित्यासः समहसः कृणोतन ॥५॥

भावार्थः—हे परमेश्वर ! (**सुमहसः**) सुप्रकाशित (**आदित्यासः**) अदिति—द्यौ के पुत्र सूर्यादि लोक (**नः**) हमारे (**तुचे**) पुत्र और (**तनाय**) पौत्रादि के लिए (**जीवसे**) जीवनार्थ (**तत्**) उस (**द्राघीयः**) अतिदीर्घ (**आयुः**) आयु को (**कृणोतन**) करें ॥

अर्थात् आपकी कृपा से सूर्यादि लोकों के प्रकाशादि फल हमारे सन्तानों की आयु के वर्धक हों ॥

निघण्टु २ । २ ऋग्वेद १ । ८९ । १० इत्यादि के प्रमाण और ऋ० ८ । १८ । १८ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥५॥

अथ षष्ठ्याः—विश्वमना ऋषिः । आदित्यो देवता । उष्णिक्छन्दः ॥

३९६—वेत्था हि निर्ऋतीनां वज्रहस्त परिवृजम् ।
अहरहः शुन्ध्युः परिपदामिव ॥६॥

भावार्थः—(**वज्रहस्त**) हे वज्रतुल्य तीव्र किरण वाले सूर्य्य ! (**शुन्ध्युः**) शोधने वाला तू (**अहरहः**) प्रतिदिन (**निर्ऋतीनाम्**) अन्धकारों के (**परिवृजम्**) वर्जन को (**वेत्थ हि**) अवश्य जानता है । (**परिपदामिव**) जैसे कि प्रातःकाल चारों ओर जाने वाले पक्षियों को अपने-अपने घोंसलों के वर्जने=छोड़ने को ॥

जिस प्रकार सूर्योदय होते ही पक्षिगण अपने घोंसले छोड़ भाग जाते हैं, इसी प्रकार अन्धकार का दूर करना सूर्य भले प्रकार जानता है। अर्थात् अन्य कोई सूर्य के समान अन्धकार का वर्जने वाला नहीं है। जो काम जिससे अच्छा बनता है उसी को उसका जानने वाला कहा जाता है, चाहे जड़ हो, चाहे चेतन। निर्ऋति शब्द मृत्यु देवता राक्षस का पर्याय है। वह तामसी अन्धकार कोटि में है। प्रकाश देवकोटि में है। जैसे प्रद्युत मृत्यु को वर्जता है, वैसे ही प्रकाश अन्धकार को॥

ऋ० ८। २४। २४ में भी॥ ६॥

अथ सप्तम्याः—इरिमिठ ऋषिः। आदित्यो देवता। उष्णिक्छन्दः॥

१ २र ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ २
३६७—अपामीवामप स्रिधमप सेधत दुर्मतिम्।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
आदित्यासो युयोतना नो अंहसः॥७॥

भावार्थः—(आदित्यासः) सूर्य किरणें (अमीवाम्) रोग को (अपसेधत) वर्जती हैं (स्रिधम्) बाधक दस्यु चौरादि को (अप) वर्जती हैं (दुर्मतिम्) कामादि विकार से दुष्ट बुद्धि को (अप) वर्जित करती हैं (नः) हमको (अंहसः) पाप से (युयोतन) पृथक् करती हैं॥

अवश्य सूर्य की किरणों से कई रोग दूर होते हैं, चौरादि का भय निवृत्त होता है, रात्रि में स्वाभाविक रीति पर कामादि के विकार उत्पन्न होते हैं उनको भी सूर्य की किरणें हटाती हैं। इसलिये किसी अंश में दुर्मति और पाप से बचाना भी सम्भव है॥ ऋ० ८। १८। १० में भी॥७॥

अथाऽष्टम्याः—वसिष्ठ ऋषिः। इन्द्रो देवता। विराट् छन्दः॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३१ २ ३ १ २
३६८—पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा यं ते सुषाव हर्यश्वाद्रिः।
३ २ ३ २ ३ १२३ १ २
सोतुर्बाहुभ्यां सुयतो नार्वा॥८॥

भावार्थः—(हर्यश्व) हे हरणशील किरणों वाले! (इन्द्र) विद्युत्! वा सूर्य! (सोतुः बाहुभ्याम्) सोमाऽभिषव करने वाले की बाहुओं से (अयम् अद्रिः) यह पाषाण [ग्रावा] (सोमम् सुषाव) सोम को अभिषुत करता है। (न) जैसे (सुयतः अर्वा) सुशिक्षित घोड़ा [सारथि के हाथों से प्रेरणा किया हुआ अभीष्ट स्थान को पहुंचाता है तद्वत्]। उस सोम को (पिब) ग्रहण कर। वह सोम (त्वा) तुझे (मन्दतु) हृष्ट करे॥

मनुष्यों को योग्य है कि उत्तमोत्तम ग्रावों से सोमरस अभिषुत करके सूर्य के लिए होमें। इससे सूर्य को हर्ष-अनुकूलप्रवृत्ति होती है। और जिस प्रकार सुशिक्षित घोड़ा सारथि के हाथों से अभीष्ट मार्ग में प्रवृत्त रहता है,इसी प्रकार भले प्रकार के ग्रावा भी अभीष्ट उत्तम रस अभिषुत करते हैं। पत्थर के उन साधनों को ग्रावा कहते हैं जिनसे सोम अभिषुत होता है ॥ ऋ० ७। २२। १ में भी ॥८॥

यह चतुर्थाऽध्याय में पांचवीं दशति पूर्ण हुई ॥५॥

अभ्रातृव्येति दशतौ ककुभो दश संख्यया।
तृतीया मरुतां षष्ठी चेन्द्रस्याऽष्ट प्रकीर्तिताः ॥१॥

अथ षष्ठी दशतिः

प्रथमायाः—सौभरिऋ॑षिः। इन्द्रो देवता। ककुप्छन्दः ॥

३ २ ३१ २र ३ १२ ३१ २
३९९—अभ्रातृव्यो अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषा सनादसि।
३१ २ ३ १ २
युधेदापित्वमिच्छसे ॥१॥

भावार्थः—(**इन्द्र**) हे राजन्! (**त्वम्**) तू (**सनात्**) सदा से (**जनुषा**) जन्म से (**अभ्रातृव्यः**) शत्रुरहित (**अना**) सैनिकादि नररहित और (**अनापिः**) सुहृद् वा ज्ञानरहित है (**इत्**) तथापि (**युधा**) युद्धादि राजकार्यों के साथ (**आपित्वम्**) सौहार्द को (**इच्छसे**) चाहता है ॥

अष्टाध्यायी ४। १। १४५ ॥ ५। ४। १५८ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ८। २१। १३ में भी ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—सौभरिऋ॑षिः। इन्द्रो देवता। ककुप्छन्दः ॥

१ २ ३१ २ ३ २र ३ २ ३ १२
४००—यो न इदमिदं पुरा प्र वस्य आनिनाय तमु वः स्तुषे।
१ २ ३ १ २ ३१ २
सखाय इन्द्रमूतये ॥२॥

भावार्थः (**सखायः**) हे मित्रो! (**यः**) जो राजा (**नः**) हमारे लिये (**पुरा**) प्रथम (**इदम् इदम्**) देखने योग्य इस (**वस्यः**) धनादि उत्तम पदार्थ

को (**प्र आनिनाय**) लाकर देता है (**सम् उ**) उस ही विजयी (**इन्द्रम्**) राजा को (**वः**) तुम्हारी (**ऊतये**) रक्षा के लिये (**स्तुवे**) प्रशंसा करता हूँ ॥

वसीयः के स्थान में वस्यः यह आर्ष ईकार का लोप है ॥ ऋ० ८ । २१ । ९ । में भी ॥२॥

अथ तृतीयायाः—सौभरिऋंषिः । मरुतो देवताः । ककुप्छन्दः ॥

४०१—आगन्ता मा रिषण्यत प्रस्थावानो माप स्थात समन्यवः ।
दृढा चिद्यमयिष्णवः ॥३॥

भावार्थः—(**प्रस्थावानः**) हे युद्धार्थ प्रस्थान करने वालो ! मरुतो ! युद्ध-यज्ञ के ऋत्विजो ! (**मा आगन्त**) उलटे मत आओ (**मा अपस्थात**) युद्धविमुख मत होओ किन्तु (**यमयिष्णवः**) शत्रुओं को वश में लाने वाले तुम (**समन्यवः**) क्रोध सहित (**दृढा**) दृढ़ (**चित्**) भी शत्रु सैन्यों को (**रिषण्यत**) मारो ॥

विवरणकारानुकूल सामश्रमी सत्यव्रत जी, अष्टाध्यायी ७।४।३६ निरुक्त १।४ के प्रमाण और ऋग्वेद ८।२०।१ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—सौभरिऋंषिः । इन्द्रो देवता । ककुप्छन्दः ॥

४०२—आ याह्ययमिन्दवेऽश्वपते गोपत उर्वरापते ।
सोमं सोमपते पिब ॥४॥

भावार्थः—(**अश्वपते**) हे घोड़ों के स्वामिन् ! (**गोपते**) गौवों के स्वामिन् ! (**उर्वरापते**) धान्ययुक्त पृथिवी के स्वामिन् ! (**सोमपते**) सोमादि ओषधि वर्ग के रक्षक और स्वामिन् ! (**सोमं पिब**) सोमरस पीजिये और (**इन्दवे**) आप प्रकाशमान के लिये (**अयम्**) यह मैं (**आयाहि**) प्राप्त होता हूँ ॥

जबकि राजा विजय करता है तब सोमादि की भेंट लिये शत्रुगण उपस्थित होते हैं कि घोड़े, गौ, पृथिवी आदि सब के आप स्वामी हैं, भेंट ग्रहण कीजिये ॥ ऋ० ८ । २१ । ३ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥४॥

अथ पञ्चम्याः—ऋष्याद्या उक्ताः ॥

४०३—त्वया ह स्विद्युजा वयं प्रति श्वसन्तं वृषभ ब्रुवीमहि ।
संस्थे जनस्य गोमतः ॥५॥

भावार्थः—(**वृषभ**) हे कामों के पूरा करने वाले ! राजन् ! (**वयम्**) हम सेनापत्यादि लोग (**त्वया ह स्वित्**) आप ही की (**युजा**) सहायता से (**गोमतः जनस्य संस्थे**) जीवते वीर के मरने पर (**प्रति**) उसके स्थान में दूसरे (**श्वसन्तम्**) जीवते हुए को (**ब्रुवीमहि**) युद्धार्थ बुलाते हैं ।। ऋ० ८ । २१ । ११ में भी ।।५।।

अथ षष्ठ्याः—सौभरिॠषिः । मरुतो देवता । ककुप्छन्दः ।।

४०४—गावश्चिद्घा समन्यवः सजात्येन मरुतः सबन्धवः ।
रिहते ककुभो मिथः ।।६।।

भावार्थः—(**मरुतः**) युद्धयज्ञ के ऋत्विज् वीर पुरुष (**समन्यवः**) समान तेज वाले (**सजात्येन मिथः सबन्धवः**) समान जाति होने से आपस में भाई-भाई (**ककुभः**) दिशाओं को (**रिहते**) चाटते=व्यापते हैं । दृष्टान्त—(**चित् घ गावः**) जिस प्रकार सूर्य की किरणें समान तेज वाली और एक सूर्य से जन्मने के कारण सबन्धु होकर दिशाओं को व्यापती हैं तद्वत् ।।

निघण्टु १ । ५ में "गावः" किरण का नाम है ।। ऋ० ८ । २० । २१ में भी ।।६।।

अथ सप्तम्याः—नृमेध ऋषिः । इन्द्रो देवता । ककुप्छन्दः ।।

४०५—त्वं न इन्द्रा भर ओजो नृम्णं शतक्रतो विचर्षणे ।
आ वीरं पृतनासहम् ।।७।।

भावार्थ—(**शतक्रतो**) हे बहुकर्मन् ! (**विचर्षणे**) बहुत चरादि द्वारा प्रजा का भेद देखने वाले ! (**इन्द्र**) राजन् ! (**त्वम्**) आप (**नः**) हमारे लिये (**ओजः**) बल और (**नृम्णम्**) धन (**आभर**) भरती कीजिये । तथा (**पृतनासहम्**) संग्राम के सहने वाले (**वीरम्**) वीर पुरुष (**आ**) भरती कीजिये ।।

राजा को योग्य है कि सेनाध्यक्ष के लिये धन, बल और वीर पुरुष भरती रक्खे ।। ऋ० ८ । ९८ । १० में भी ।।७।।

अथाऽष्टम्याः—ऋष्याद्या उक्ताः ॥

२ ३क २र ३ १२ ३ १ २ ३१२ ३ १२
४०६—अधा हीन्द्र गिर्वण उप त्वा काम ईमहे ससृग्महे ।
३२३ १ २ ३१२
उदेव ग्मन्त उदभिः ॥८॥

भावार्थः—(गिर्वणः) हे वाणी से सेवनीय ! (इन्द्र) राजन् ! (त्वा) आप से (ईमहे) हम याचना करते हैं (अध हि) तब ही (कामः) अभीष्ट कामना को (उप ससृग्महे) समीप स्पर्श करते हैं। दृष्टान्त—(इव) जैसे (उदाग्मन्तः) जल के साथ चलने वाले (उदभिः) जलों से स्पर्श करते हैं ॥

अर्थात् जो जल के समीप जाते हैं वे जलों को जैसे प्राप्त होते वा जो जल में घुसते हैं वे जैसे सब ओर से तर हो जाते हैं, इसी प्रकार जब हम सर्वैश्वर्य सम्पन्न के समीप जाकर याचना करते हैं तो कामना तत्काल पूरी होती है ॥

निघण्टु ३ । १६ ॥ अष्टाध्यायी ७ । १ । ३६ ॥ ४ । ३ । ११७ के प्रमाण और ऋ० ८ । ९८ । ७ का पाठभेद संस्कृत भाष्य में देखिये ॥८॥

अथ नवम्याः—सौभरिर्ऋषिः। इन्द्रो देवता । ककुप्छन्दः ॥

१ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३२ ३१ २
४०७—सीदन्तस्ते वयो यथा गोश्रीते मधौ मदिरे विवक्षणे ।
३ १ २र
अभि त्वामिन्द्र नोनुमः ॥९॥

भावार्थः—(इन्द्र) हे राजन् ! (गोश्रीते) पृथिवी पर पके (मधौ) मधुर रस वाले (मदिरे) हर्षकारक (विवक्षणे) प्राण पहुँचाने वाले धान्यादि पर (यथा) जैसे (वयः) पक्षिगण आते हैं। इसी प्रकार सुखेच्छु हम लोग (ते) आपको (सीदन्तः) प्राप्त होते हुए (त्वाम्) आपको (अभि नोनुमः) अभिमुखता से अत्यन्त प्रणाम करते हैं ॥

ईश्वर के विषय में भी इसी प्रकार लगाना चाहिये ॥ ऋ० ८ । २१ । ५ में भी ॥९॥

अथ दशम्याः—ऋष्यादिकमुक्तम् ॥

३२३ १ २ ३२क ३ १ २ ३ १२
४०८—वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद्भरन्तोऽवस्यवः ।
१ २ ३१ २
वज्रिं चित्रं हवामहे ॥१०॥

इति चतुर्थाऽध्याये षष्ठी दशतिः ॥६॥

भावार्थः—(**वज्रिन्**) हे दण्डधर ! (**अपूर्व्य**) अभिनव ! युवक ! राजन् ! (**अवस्यवः**) अपनी रक्षा चाहते हुए (**वयम्**) हम लोग (**चित्रम्**) विविध कर्म वाले (**त्वाम्**) आपको (**भरन्तः**) कर देने आदि से भरते हुए (**उ**) आपको ही (**हुवामहे**) पुकारते हैं। (**न**) जैसे (**कच्चित्**) किसी (**स्थूरम्**) धान्यादि धरने से कोठी-कुठले को भरते हैं कि आवश्यकता के समय इससे प्राण-रक्षा करें ।।

उणादि ५ । ४ का प्रमाण और ऋ० ८ । २१ । १ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ।।१०।।

यह उष्णिह् ककुभ् छन्दों का प्रकरण और चतुर्थाऽध्याय में छठी दशति पूर्ण हुई ।।६।।

स्वादोरित्यादिदशतौ पङ्क्तयो दश कीर्त्तिताः ।
चन्द्रेति नवमी तत्र वैश्वदेवी मता तथा ।।१।।
प्रतीति दशमी अश्विनोरष्टेन्द्रस्य कीर्त्तिताः ।।

अथ सप्तमी दशतिः

तत्र प्रथमायाः—गोतम ऋषिः । इन्द्रो देवता । पङ्क्तिश्छन्दः ।।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २र ३र २र
४०६—स्वादोरित्था विषूवतो मधोः पिबन्ति गौर्यः ।
१ २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
या इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभथा वस्वीरनु
३ १ २
स्वराज्यम् ।।१।।

भावार्थः—(**गौर्यः**) किरणें (**याः**) जो (**इन्द्रेण सयावरीः**) सूर्य के साथ रहने वाली हैं (**वस्वीः**) जो बसाने वाली हैं वे (**स्वादोः**) स्वादु (**विषूवतः**) व्याप्ति वाले (**मधोः**) मधुर सोमादिरस का (**पिबन्ति**) पान करती हैं (**वृष्णा**) वर्षाने वाली बिजुली के सहित (**मदन्ति**) हृष्ट प्रतीत होती हैं (**स्वराज्यम्**) सूर्य

के (अनु) साथ (शोभथाः) शोभित होती हैं । (इत्था) इसी प्रकार राजा के साथ रानियें भी प्रजा से करादि ग्रहण, शोभा, रक्षा और निवास करावें ॥

ऋ० १ । ८४ । १० में तो 'मध्वः' 'शोभसे' पाठ है ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—ऋष्यादयः उक्ताः ॥

४१०—इत्था हि सोम इन्मदो ब्रह्म चकार वर्धनम् ।
शविष्ठ वज्रिन्नोजसा पृथिव्या
निः शशा अहिमर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥२॥

भावार्थः—(शविष्ठ) हे बलिष्ठ ! (वज्रिन्) दण्डधर ! राजन् ! जिस प्रकार (मदः) हर्षकारक (सोमः) सोमादि ओषधिरस (ब्रह्म) बड़ा (वर्धनम्) बढ़ाव (चकार) करता है (इत्था हि इत्) इस ही प्रकार आप भी (ओजसा) बल से (अहिम्) आकर मारने वाले दस्युवर्ग को (पृथिव्याः) अपने राज्य की [illegible] मे (निः शशाः) दूर भगाइये (अनु) और तत्पश्चात् (स्वराज्यम्) अपने राज्य [illegible] र्चन्) ऋद्ध इद्ध करते हुए वर्तिये ॥

ऋग्वेद [illegible] । ८० । १ में "मदे ब्रह्मा" यह अन्तर है ॥२॥

अथ तृतीयायाः अपि ऋष्यादिकमुक्तवत् ॥

४११—इन्द्रो मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभिः ।
तमिन्महत्स्वाजिषूतिमर्भे हवामहे
स वाजेषु प्र नोऽविषत् ॥३॥

भावार्थः—(वृत्रहा) उपद्रवियों का मारक (इन्द्रः) राजा वा सेनापति (मदाय) हर्ष और (शवसे) बल के लिये (नृभिः) वीर पुरुषों से (वावृधे) बढ़ता है (तम् इत्) उस ही (ऊतिम्) रक्षक को (महत्सु आजिषु) बड़े संग्रामों और (अर्भे) छोटे उपद्रवों में (हवामहे) हम पुकारते हैं (सः) वह (वाजेषु) छोटे-बड़े उपद्रवों में (नः) हमारी (प्राऽविषत्) रक्षा करे ॥

ऋग्वेद १ । ८१ । १ में "तेमर्भे" यह पाठभेद है ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—ऋष्यादय उक्ताः ॥

४१२—इन्द्र तुभ्यमिदद्रिवोऽनुत्तं वज्रिन् वीर्यम् ।
यद्ध त्यं मायिनं मृगं तव
त्यन्मायया वधीरर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥४॥

भावार्थः—(**अद्रिवः**) हे मेघ वा पर्वततुल्य दुर्गों [किलों] वाले ! (**वज्रिन्**) शस्त्राऽस्त्र वाले ! (**इन्द्र**) राजन् ! (**तव**) आपका (**त्यत्**) वह (**अनुत्तम्**) अप्रेरित=स्वाभाविक (**वीर्यम्**) पुरुषार्थ बल (**तुभ्यम् इत्**) आपके लिये ही है [आपके सदृश अन्य नहीं] (**यत्**) जिस बल से (**ह**) हि (**त्यम्**) उस (**मृगम्**) मृगवत् धूर्त्त (**मायिनम्**) छली शत्रु को (**मायया**) बुद्धि-चातुर्य से (**अवधीः**) आप मारते हैं (**अर्चन्ननु एव०**) यह पाद ४१० मन्त्र में व्याख्यात हो चुका है ।

निरुक्त १।२० का प्रमाण और ऋ० १ । ८० । ७ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥४॥

अथ पञ्चम्याः—ऋष्यादय उक्ताः ॥

४१३—प्रेह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नि यंसते ।
इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपोऽर्चन्ननु
स्वराज्यम् ॥५॥

भावार्थः—(**इन्द्र**) हे राजन् ! (**प्रेहि**) उच्च भाव से प्राप्त हूजिये (**अभीहि**) शत्रुओं का सामना कीजिये और (**धृष्णुहि**) तिरस्कार कीजिये । (**ते**) आप का (**वज्रः**) वज्र (**न नियंसते**) शत्रुओं से प्रतीघात नहीं पाता । (**ते**) आपका (**शवः हि**) बल ही (**नृम्णम्**) धन है क्योंकि राजबल से ही धन की वृद्धि और रक्षा होती है (**वृत्रं हनः**) शत्रु का हनन कीजिये और (**अपः जयाः**) कर्मों का विजय कीजिये । "अर्चन्ननु स्वराज्यम्" की पूर्ववत् व्याख्या जानो ॥

ऋ० १ । ८० । ३ में "निर्यंसते" पाठ है ॥५॥

अथ षष्ठ्याः—ऋष्यादय उक्तवत् ॥

२३१२ ३१२ ३१२ ३१२
४१४—यदुदीरत आजयो धृष्णवे धीयते धनम् ।
३ १ २३ २३ २३ २उ ३ १ २र ३
युंक्ष्वा मदच्युता हरी कं हनः कं वसौ दधो
१ २३ १२
ऽस्माँ इन्द्र वसौ दधः ॥६॥

भावार्थः—(इन्द्र) हे राजन् ! (यत्) जब (आजयः) संग्राम (उदीरते) उठते हैं तो (धृष्णवे) जो शत्रु को धर्षण करे उसके लिये (धनम्) धन (धीयते) धारण किया जाता है। आप (मदच्युता) शत्रुओं का मद चुवाने वाले (हरी) घोड़े (युंक्ष्व) जोड़िये और (कम्) किसी [शत्रु] को (हनः) वध कीजिये (कम्) किसी [मित्र] को (वसौ दधः) धन में धारण कीजिये (अस्मान् वसौ दधः) हमको धन में धारण कीजिये ॥

ऋ० १। ८१। ३ में—"धना" यह पाठ है ॥६॥

अथ सप्तम्याः—ऋष्यादयोऽप्युक्तवत् ॥

२३ १२ ३ १२ ३१ २
४१५—अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रिया अधूषत ।
१ २ ३ १२ ३ २३ १२ ३२उ
अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती
३क २र ३ १२
योजा न्विन्द्र ते हरी ॥७॥

भावार्थ—(इन्द्र) हे राजन् ! (ते) आप अपने (हरी) घोड़ों को (नु) शीघ्र (योज) जोड़िये [विजयार्थ] जिससे (प्रियाः) प्रीतियुक्त (स्वभानवः) अपने आप प्रकाश करने वाले (विप्राः) मेधावी विद्वान् लोग (अक्षन्) भोगों को प्राप्त हों (अमीमदन्त) हृष्ट हों (नविष्ठया मती अस्तोषत) अत्यन्त नूतन बुद्धि के सहित वर्तमान हुए आपकी प्रशंसा करें (अव) विरुद्ध शत्रुगण को (अधूषत) दूर करें ॥

ऋ० १। ८२। २ में भी ॥७॥

अथाष्टम्याः—ऋष्यादय उक्ताः ॥

२ ३ १ २ ३ २उ ३ १२३ १२
४१६—उपो षु शृणुही गिरो मघवन् मातथा इव ।
३ १ २ ३ १२ ३ २३ २३१ २३
कदा न सूनृतावतः कर इदर्थयास
२३ ३क २र ३ १२
इद्योजान्विन्द्र ते हरी ॥८॥

भावार्थः—(**मघवन्**) हे धनैश्वर्यवन् ! राजन् ! (**गिरः**) हमारी प्रार्थनायें (**उप उ**) शीघ्र ही (**सु शृणुहि**) भले प्रकार श्रवण कीजिये तथा (**कदा**) कभी (**अतथाइव**) प्रतिकूल से (**मा**) मत हूजिये और (**नः**) हम को (**सूनृतावतः**) सत्यप्रिय वाणी वाले (**इत्**) ही (**करः**) कीजिये । (**इत्**) यही (**अर्थयासे**) प्रार्थना किये जाते हो । (**योजान्विन्द्र ते हरी**) इसकी व्याख्या पूर्व मन्त्र के तुल्य है ॥

ऋ० १।८२।१ में—कदा=यदा । इदर्थ०=आदर्थ० । इतना अन्तर है ॥८॥

अथ नवम्याः—त्रित ऋषिः । विश्वेदेवाः देवता: । पङ्क्तिश्छन्दः ॥

४१७—चन्द्रमा अप्स्वा३न्तरा सुपर्णो धावते दिवि ।
न वो हिरण्यनेमयः पदं विन्दन्ति
विद्युतो वित्तं मे अस्य रोदसी ॥६॥

भावार्थः—परमात्मा का उपदेश है कि (**रोदसी**) हे द्यावापृथिवी में स्थित जनो ! (**सुपर्णः**) सुन्दर गति वाला (**चन्द्रमाः**) चन्द्र लोक (**अप्सु**) अन्तरिक्ष में होने वाले जनों के (**अन्तः**) मध्य (**दिवि**) सूर्य के प्रकाश में (**आधावते**) दौड़ता है तथा (**हिरण्यनेमयः विद्युतः**) तेजोमय छोर वाली बिजुलियें (**वः**) तुम्हारे (**पदम्**) विषयों को (**न विन्दन्ति**) नहीं प्राप्त होती हैं (**अस्य**) इस का सूक्ष्म भेद (**मे**) मुझ से (**वित्तम्**) जानो ॥

परमात्मा का उपदेश है कि जिस प्रकार सूर्य पृथिवी विद्युदादि पदार्थों में गूढ घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसी प्रकार राजप्रजा जनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है ॥

ऋग्वेद १ । १०५ । १ में भी ॥६॥

अथ दशम्याः—अवस्युर्ऋषिः । अश्विनौ देवते । पङ्क्तिश्छन्दः ॥

४१८—प्रति प्रियतमं रथं वृषणं वसुवाहनम् ।
स्तोता वामश्विनावृषि
स्तोमेभिर्भूषति प्रति माध्वी मम श्रुतं हवम् ॥१०॥

इति चतुर्थाऽध्याये सप्तमी दशतिः ॥७॥

भावार्थः—(**माध्वी**) मधुरस्वभाव (**अश्विनौ**) हे पृथिवी और द्युलोक के निवासियो ! (**स्तोता ऋषिः**) प्रशंसा करने वाला वेदमन्त्र (**वाम्**) तुम्हारे (**वृषणम्**) कामपूरक (**वसुवाहनम्**) धनप्रापक (**प्रियतमम्**) अतिप्रिय (**रथम्**) रमणीय मार्ग को (**प्रतिभूषति**) समर्थ करता है (**मम**) मेरे (**हवम्**) इस उपदेश को (**श्रुतम्**) श्रवण करो ॥ ऋ० ५ । ७५ । १ में भी ॥१०॥

यह चतुर्थ अध्याय में सप्तमी दशति पूर्ण हुई ॥

आ त इत्यादिदशतावृचोऽष्टौ संप्रकीर्त्तिताः
उपरिष्टाद्बृहत्यन्त्या पङ्क्तयः सप्त चादिमाः ॥१॥
आदौ द्वे सप्तमी चैवाग्नेय्यस्तिस्र उदीरिताः ।
तृतीयोषोदेवताका सौमी तुर्या प्रकीर्त्तिता ॥२॥
अष्टमी वैश्वदेवी चाऽवशिष्टा इन्द्रदैवताः ।

अथाऽष्टमी दशतिः

तत्र प्रथमायाः — वसुश्रुत ऋषिः । अग्निर्देवता । पङ्क्तिश्छन्दः ॥

४१९—आ ते अग्न इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम् ।
यद्ध स्या ते पनीयसी समिद्
दीदयति द्यवीषं स्तोतृभ्य आभर ॥१॥

भावार्थः—(**देव**) दिव्यगुणयुक्त ! (**अग्ने**) प्रकाशस्वरूप ! परमेश्वर ! वा भौतिकाग्ने ! (**द्युमन्तम्**) प्रकाश युक्त (**अजरम्**) जरारहित (**ते**) आपको (**आ इधीमहि**) हम आत्मा में वा यज्ञकुण्डादि में प्रकाशित करें (**यत् ह**) जो कि प्रसिद्ध (**स्या**) वह (**ते**) आप की (**पनीयसी**) प्रशंसायोग्य (**समिद्**) दीप्ति (**द्यवि**) आकाश में (**दीदयति**) प्रकाश करती है (**स्तोतृभ्यः**) उपासकों वा याज्ञिकों के लिये (**इषम्**) आनन्द वा अन्नादि (**आभर**) प्राप्त कराइये ॥ ऋ० ५। ६।४ में भी ॥१॥

अथ द्वितीयायाः —विमद ऋषिः । अग्निर्देवता । पङ्क्तिश्छन्दः ॥

४२०—अग्निं न स्ववृक्तिभिर्होतारं त्वा वृणीमहे ।
शीरं पावकशोचिषं वि वो मदे
यज्ञेषु स्तीर्णबर्हिषं विवक्षसे ॥२॥

भावार्थः—हे परमेश्वर ! (**विवक्षसे**) आप महान् हैं, अतः (**न**) जैसे (**शीरम्**) व्यापने वाले (**पावकशोचिषम्**) शोधक प्रकाश वाले (**स्तीर्ण बर्हिषम्**) जिसके लिये यज्ञ विस्तीर्ण किया जाय उस (**अग्निम्**) अग्नि को (**यज्ञेषु**) अग्निहोत्रादि यज्ञों में (**विवः**) कर्मकाण्डी लोग विशेष प्रकार से वरण करते हैं वैसे ही (**मदे**) आनन्दनिमित्त (**त्वा**) आप का (**स्ववृक्तिभिः**) अपनी की हुई स्तुतियों से हम ज्ञानकाण्डी लोग (**वृणीमहे**) वरण करते है ॥

निरुक्त ४ । १४ निघण्टु ३ । ३ के प्रमाण और ऋ० १० । २१ । १ में जो पाठभेद है वह संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ सायणभाष्य में (विवोमदे) का (विमदे) करके व्याख्यान अनुचित और (वः) की व्याख्या ही नहीं है ॥२॥

अथ तृतीयायाः—सत्यश्रवा ऋषिः । उषा देवता । पङ्क्तिश्छन्दः ॥

३१ २ ३१ २३१ २ ३२ ३१ २
४२१— महे नो अद्य बोधयोषो राये दिवित्मती ।
१ २ ३ १ २ ३ १२
यथा चिन्नो अबोधय सत्यश्रवसि
३ १ २र ३ १ २
वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते ॥३॥

भावार्थः—(**सत्यश्रवसि**) जिस में ठीक-ठीक श्रवण होता है वैसी (**सुजाते**) जिसका जन्म शोभायुक्त है ऐसी (**अश्वसूनृते**) जिस में प्रिय शब्द व्याप जाता है इस प्रकार की (**वाय्ये**) विस्तार वाली ! (**उषः**) प्रभात वेला (**यथाचित्**) जिस प्रकार (**नः**) हम को (**अबोधयः**) पूर्व जगाती रही है उसी प्रकार (**अद्य**) अब भी (**दिवित्मती**) प्रकाश वाली तू (**महे राये**) महाधन धान्यादि के लिये (**नः**) हम को (**बोधय**) जगा ॥

इसमें उषा की प्रशंसा के साथ परमात्मा का यह उपदेश है कि जो लोग उषःकाल–प्रभात वेला में जागते हैं वे उद्यमी कर्मण्य और धन धान्याद्यैश्वर्यशाली होते हैं । और जो स्त्री उषा के समान गुण, कर्म, स्वभाव वाली होती है उस के घर में लक्ष्मी निवास करती है । जिस प्रकार उषःकाल में जगने से यथार्थ श्रवणादि व्यवहार होता है और उषः काल का जन्म सबको अच्छा लगता है, सब पक्षिगणादि प्यारे शब्द बोलते हैं और उषा सब ओर फैलकर शोभा बढ़ाती है और सबको प्रकाशित करती है, इसी प्रकार स्त्रियों को भी सद्गुणाढ्य होना चाहिये ॥

ऋ० ५ । ७९ । १ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—विमद ऋषिः । सोमो देवता । पङ्क्तिश्छन्दः ॥

३२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २र
४२२—भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम् ।
१ २ ३ १ २र ३ २ ३ २ ३
अधा ते सख्ये अन्धसो वि वो मदे
२ ३ २ ३ १ २र ३ १ २
रणा गावो न यवसे विवक्षसे ॥४॥

भावार्थः—सोम ! शान्तस्वरूप ! परमेश्वर ! वा चन्द्र ! वा सोमाख्य ओषधे ! (**नः**) हमारे (**मनः**) मन को (**भद्रम्**) सुखदायी (**दक्षम्**) चतुर (**उत**) और (**क्रतुम्**) शुभ कर्म को (**वातय**) प्राप्त कराये (**अध**) और (**ते**) तेरी (**सख्ये**) अनुकूलवर्त्तिता में (**अन्धसः मदे**) भोज्यादि के हर्ष में हम (**विवः**) तेरा स्वीकार करते हैं । (**न**) जैसे (**रणाः**) प्रीतियुक्त (**गावः**) गौवें (**यवसे**) घास आदि में (**विवक्षसे**) हर्ष को पाती हैं तद्वत् ॥

चन्द्रमा के प्रकाश और सोम ओषधि से मन प्रफुल्लित होता है इत्यादि तो प्रसिद्ध ही है ॥ इस में भी (विवोमदे) का व्याख्यान पूर्व (२ य) मन्त्र के समान सायणाचार्य ने ठीक नहीं किया । इस पर(वः)की व्याख्या का तो सत्यव्रत सामश्रमी जी ने भी सायणभाष्य में प्रश्न करके ही छोड़ दिया है ॥

ऋ० १० । २० । १ में केवल "भद्रं नो अपि वातय मनः" इतना पाठ मिलता है ॥४॥

अथ पञ्चम्याः—गोतम ऋषिः । इन्द्रो देवता । पङ्क्तिश्छन्दः ॥

१ २ ३ १ २ ३२ ३ १ २र३ १ २
४२३—क्रत्वा महाँ अनुष्वधं भीम आ वावृते शवः ।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १
श्रिय ऋष्व उपाकयोर्नि शिप्री
२र ३ १ २ ३ १ २ ३ २
हरिवां दधे हस्तयोर्वज्रमायसम् ॥५॥

भावार्थः—हे इन्द्र ! सभासेनाध्यक्ष ! राजन् ! (**क्रत्वा**) कर्म से (**महान्**) बड़े आप (**अनुस्वधम्**) अन्नादि [रसद] सहित (**शवः**) सेनाबल को (**आ वावृते**) व्यूहादि की रीति से रच कर घुमाते हैं । (**भीमः**) शत्रुओं को भयंकर (**ऋष्वः**) महान् (**शिप्री**) सुन्दर ठोड़ी और नासिका वाले वीराकृतियुक्त (**हरिवान्**) अश्वयुक्त आप (**श्रियः उपाकयोः हस्तयोः**) लक्ष्मी के समीपवर्ती दोनों

हाथों में (आयसम् वज्रम्) लोहमय शस्त्र को (निदधे) नितराम् धारण करते हैं ॥

निघण्टु २ । ७ ॥ ३ । ३ ॥ १ । १५ निरुक्त ६ । १७ इत्यादि के प्रमाण और ऋ० १ । ८१ । ४ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥५॥

अथ षष्ठ्याः—गोतम ऋषिः । इन्द्रो देवता । पङ्क्तिश्छन्दः ॥

४२४—स घा तं वृषणं रथमधि तिष्ठाति गोविदम् ।
यः पात्रं हारियोजनं पूर्णमिन्द्र
चिकेतति योजा न्विन्द्र ते हरी ॥६॥

भावार्थः—(इन्द्र) हे राजन् ! (सः घ) वही (तम्) उस (गोविदम्) पृथिवी के राज्य के प्रापक (वृषणम्) कामपूरक (रथम्) रथ में (अधितिष्ठाति) बैठे (यः) जो (पात्रम्) अधिकारी (हारियोजनम्) घोड़ों का जोड़ना (पूर्णम्) पूर्ण (चिकेतति) जानता है [अज्ञानी रथी न होवे] (इन्द्र) हे ऐश्वर्यवन् ! (ते) आप अपने (हरी) घोड़ों को (नु) शीघ्र (योज) जोड़िये ॥ ऋ० १ । ८२ । ४ में भी ॥६॥

अथ सप्तम्याः—वसुश्रुत ऋषिः । अग्निर्देवता । पङ्क्तिश्छन्दः ॥

४२५—अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः ।
अस्तमर्वन्त आशवोऽस्तं नित्यासो
वाजिन इषं स्तोतृभ्य आ भर ॥७॥

भावार्थः—हे राजन् ! (यः) जो (वसुः) ८ वसुओं में एक है (तम् अग्निम्) उस अग्नि को (मन्ये) मैं मानता-प्रशंसित करता हूं, (यम्) जिस (अस्तम्) अस्त्र में प्रयुक्त को (धेनवः) गौवें (यन्ति) प्राप्त होती हैं और जिस (अस्तम्) अस्त्रयुक्त को (अर्वन्तः) चालाक (आशवः) शीघ्रगामी (वाजिनः) घोड़े प्राप्त होते हैं जिस (अस्तम्) अस्त्र से फेंके हुए को (नित्यासः) चिरस्थायी रत्नादि पदार्थ प्राप्त होते हैं । इसलिये हे राजन् ! (स्तोतृभ्यः) अग्न्यादि पदार्थों के गुण वर्णन करने वालों के लिये (इषम्) अन्नादिवृत्ति (आभर) पूर्ण कीजिये ॥ ऋ० ५ । ६ । १ में भी ॥७॥

अथाऽष्टम्याः—अंहोमुग्वामदेव्य ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः ।
उपरिष्टाद् बृहती छन्दः ॥

४२६—न तमंहो न दुरितं देवासो अष्ट मर्त्यम् ।
सजोषसो यमर्यमा मित्रो नयति
वरुणो अति द्विषः ॥८॥

इति चतुर्थाध्यायेऽष्टमी दशतिः ॥८॥

इति पाङ्क्तम् ॥

भावार्थः—(**सजोषसः**) हे प्रीतियुक्त ! (**देवासः**) सब विद्वानो ! (**यम्**) जिस प्रजाजन को (**अर्यमा**) न्यायकारी (**मित्रः**) सर्वहितकारी (**वरुणः**) श्रेष्ठगुणाढ्य राजा, (**द्विषः**) शत्रुओं को (**अति**) उल्लंघित करके (**नयति**) ले चलता—शासित करता है (**तम्**) उस जन को (**अंहः**) पाप (**न अष्ट**) नहीं व्यापता और (**न**) न (**दुरितम्**) पापजनित दुःख व्यापता है ॥

भले प्रकार राजशासन में सब जन पाप और तज्जनित दुःखभोग से बचते हैं ॥

ऋ० १० । १२६ । १ में (नयन्ति) पाठ है ॥८॥

यह चतुर्थाऽध्याय में आठवीं दशति पूर्ण हुई ॥८॥
यह इन्द्रविषयक पङ्क्ति छन्दों का प्रकरण पूरा हुआ ॥

परि प्रधन्वप्रभृतौ दशार्चौ दशतौ मताः ।
एतासां तु ऋषिच्छन्दोदेवताश्च पृथक् पृथक् ॥
वक्ष्यन्ते तत्र तत्रैव व्याख्यायां हि परिस्फुटम् ।

अथ नवमी दशतिः

तत्र प्रथमायाः—ऋणत्रसदस्यू सहितावृषी । पवमानो देवता ।
द्विपदा पङ्क्तिश्छन्दः ॥

४२७—परि प्र धन्वेन्द्राय सोम स्वादुर्मित्राय पूष्णे भगाय ॥१॥

भावार्थः—(**सोम**) हे शान्तस्वरूप ! परमेश्वर ! (**स्वादुः**) अकथनीयरस आप (**मित्राय**) मित्र (**पूष्णे**) पुष्टिकर्त्ता और (**भगाय**) ऐश्वर्यशाली पुरुष के लिये (**परि प्र धन्व**) आनन्द वर्षाओ ॥

ऋ० ६ । १०६ । १ में भी ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—ऋषिदेवते उक्ते । पिपीलिकामध्या त्रिपदाऽनुष्टुप्छन्दः ॥

२३ १ २१ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
४२८—पर्यू षु प्र धन्व वाजसातये परि वृत्राणि सक्षणिः ।
३२ ३१ २ ३ १ २
द्विषस्तरध्या ऋणया न ईरसे ॥२॥

भावार्थः– सोम की पूर्वमन्त्र से अनुवृत्ति है । हे शान्तस्वरूप ! परमात्मन् ! (**नः**) हमारे (**वाजसातये**) बललाभ के लिये (**सक्षणिः**) सहनशील (**ऋणयाः**) ऋणों को दूर करने वाले आप (**उ**) अवश्य (**सु परि प्र धन्व**) उत्तम आनन्द सब ओर से वर्षाइये और (**द्विषः**) द्वेष करने वाले (**वृत्राणि**) रुकावट-विघ्न डालने वाले कामादि शत्रुओं को (**तरध्यै**) मारने को (**परि ईरसे**) सब ओर से आप प्राप्त हैं ॥ ऋ० ६ । ११० । १ में ईयसे पाठ है ॥२॥

अथ तृतीयायाः—ऋषिदेवते उक्ते । द्विपदा पङ्क्तिश्छन्दः ॥

१२ ३ १ २३२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २९
४२६—पवस्व सोम महान्त्समुद्रः पिता देवानां विश्वाभि धाम ॥३॥

भावार्थः—(**सोम**) हे शान्तस्वरूप ! परमात्मन् (**महान्**) बड़े (**समुद्रः**) जिस आप में सब प्राणी आनन्द कर रहे हैं ऐसे (**देवानाम्**) देवतों के (**पिता**) पिता आप (**विश्वा**) सब (**धाम**) धामों को (**अभि पवस्व**) सर्वतः पवित्र कीजिये ॥ ऋ० ६ । १०६ । ४ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—ऋष्यादय उक्ताः ॥

१२ ३२३ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २९
४३०—पवस्व सोम महे दक्षायाश्वो न निक्तो वाजी धनाय ॥४॥

भावार्थः—(**सोम**) हे परमात्मन् ! (**निक्तः**) शुद्धस्वरूप (**अश्वो न**) बिजुली के समान (**वाजी**) बलिष्ठ आप (**महे दक्षाय धनाय**) बड़े बल और धन के लिये (**पवस्व**) हमारे व्यवहारों को शुद्ध कीजिये ॥

ऋ० ६ । १०६ । १० में "महे" के स्थान में 'क्रत्वे' पाठ है ॥४॥

अथ पञ्चम्याः—ऋष्यादय उक्ताः ॥

१ २ ३ २ ३१ २ ३ २ ३१ २ ३ १ २९
४३१—इन्दुः पविष्ट चारुर्मदायापामुपस्थे कविर्भगाय ॥५॥

भावार्थः—(चारुः) कल्याणस्वरूप (इन्दुः) परमैश्वर्यवान् (कविः) मेधावी परमेश्वर (अपाम्) कर्मों के (उपस्थे) उपस्थान में (मदाय) आनन्द और (मघाय) धनादि ऐश्वर्य के लिये (पविष्ट) हमको पवित्र करे ॥

निघण्टु ३ । १५ । २ ॥ १० । २ । १ निरुक्त २ । १९ के प्रमाण संस्कृत-भाष्य में देखिये ॥ ऋ० ९ । १०९ । १३ में भी ॥५॥

अथ षष्ठ्याः —ऋषिदेवते उक्ते । पिपीलिकामध्या त्रिपदाऽनुष्टुप्छन्दः ॥

२ ३ १ २ ३१ २ ३ १ २ ३१ २ ३ १ २
४३२—अनु हि त्वा सुतं सोम मदामसि महे समर्यराज्ये ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
वाजाँ अभि पवमान प्र गाहसे ॥६॥

भावार्थः—(सोम) हे ओषधे ! वा परमात्मन् ! (महे) महान् (समर्यराज्ये) जहाँ सब मनुष्य समान हों, ऐसे राज्य में (सुतम्) उत्पन्न किये वा हृदय में साक्षात् किये (त्वा) तुझको (हि) ही (अनुमदामसि) पीछे लग के हर्ष वा आनन्द प्राप्त करें । (पवमान) हे पवित्रकारक तू (वाजान्) बलों को (अभि प्र गाहसे) सर्वतः विलोडित करता है ॥ ऋ० ९ । ११० । २ में भी ॥६॥

अथ सप्तम्याः—वसिष्ठ ऋषिः । मरुतो देवताः । द्विपदा पङ्क्तिश्छन्दः ॥

२ ३क २र ३ २ ३ १ २ ३र ३ २ ३ २ ३ १ २
४३३—क ईं व्यक्ता नरः सनीडा रुद्रस्य मर्या अधा स्वश्वाः ॥७॥

भावार्थः – (अध) अब (ईम्) ऐसे अर्थात् पूर्वमन्त्रोक्त आनन्दभागी (रुद्रस्य-स्वश्वाः) प्राण के सुन्दर ले चलने वाले (नरः) नीतियुक्त (व्यक्ताः) स्निग्धचित्त (सनीडाः) साथ मिलकर रहने वाले (मर्याः) मनुष्य (के) कौन हैं ? उत्तर—सामर्थ्य से मरुत् अर्थात् क्रियायज्ञ वा योगयज्ञ के ऋत्विज् हैं ॥

ऋ० ७ । ५६ । १ में (सनीळाः) और (अधा) पाठ है ॥७॥

अथाऽष्टम्याः – वामदेव ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिपदा पदपङ्क्तिश्छन्दः ॥

२ ३ २३ २ ३ २उ ३ २ ३ २ ३१ २ ३ १ २
४३४—अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रं हृदि स्पृशम् ।
३ १ २ ३ १ २
ऋध्यामा त ओहैः ॥८॥

भावार्थः—(अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप ! परमात्मन् ! वा भौतिकाग्ने ! (ते) आपके (ओहैः) प्राप्त कराने वाले (स्तोमैः) गुणकीर्तनों से (अश्वं न) अश्व के समान और (क्रतुं न) बुद्धि के समान (हृदिस्पृशम् तम् भद्रम्) हृदय के प्यारे उस सुख को (अद्य) आज यज्ञ के दिन (ऋध्याम) हम बढ़ावें ॥

ऋ० ४ । १० । १ में भी ॥८॥

अथ नवम्याः—वामदेव ऋषिः । वाजिनो देवताः । पुर उष्णिक् छन्दः ॥

४३५—आविर्मर्या आ वाजं वाजिनो अग्मं देवस्य सवितुः सवम् ।
स्वर्गाँ अर्वन्तो जयत ॥९॥

भावार्थः—(आविः) प्रकाशमान (वाजिनः) द्युस्थान भौतिक देवतों में ३० वें देवता निघं० ५ । ६ (सवितुः देवस्य) प्रेरक देव के (सवम्) यज्ञ की (आ वाजम्) बल पुष्टि पर्यन्त (अग्मम्) प्राप्त हों और (मर्याः) हे मनुष्यो ! तुम (स्वर्गम्) सुख विशेष को (अर्वन्तः) प्राप्त हुए (जयत) उच्चता से वर्तो ॥

अर्थात्—यज्ञानुष्ठान से सुख विशेष और जय होता है ॥९॥

अथ दशम्याः—ऐश्वराधिष्ण्या ऋषयः । पवमानो देवता । द्विपदा पङ्क्तिश्छन्दः ॥

४३६—पवस्व सोम द्युम्नी सुधारो महाँ अवीनामनुपूर्व्यः ॥१०॥

इति चतुर्थाध्याये नवमी दशतिः ॥९॥

इति पञ्चमप्रपाठकस्य प्रथमार्धः ॥

भावार्थः—(सोम) ओषधे ! (द्युम्नी) अन्नवान् अर्थात् पुष्टिमान् (सुधारः) सुन्दर धारा वाला (महान्) उत्तम (अवीनां पूर्व्यः) रक्षक पदार्थों में मुख्य (अनु) क्रम से (पवस्व) शुद्धि कर ॥

अर्थात् सोम ऐसा खींचना चाहिये जिससे स्वच्छ उत्तम धारायुक्त हो । ऐसा करने से, यह क्रम से पुष्टि, रक्षा और शुद्धि करता है ॥

निरुक्त ५ । ५ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद ९ । १०९ । ७ में भी ॥१०॥

यह चतुर्थाध्याय में नवीं दशति पूर्ण हुई ॥ ९ ॥

विश्वेति दशतौ चापि द्विपदाः पङ्क्तयो दश ।
उपस्या सप्तमी वैश्वदेवी षष्ठी ततः पराः ॥१॥
अष्टेन्द्रस्य ऋचः प्रोक्ता इत्थं ज्ञेया विभागशः ॥२॥

अथ दशमी दशतिः

तत्र प्रथमायाः—ऋषिर्नोपलभ्यते पुस्तकेषु । इन्द्रो देवता ।
द्विपदा पङ्क्तिश्छन्दः ॥

४३७—विश्वतोदावन् विश्वतो न आ भर यं त्वा शविष्ठमीमहे ॥१॥

भावार्थः - (**विश्वतोदावन्**) हे सब ओर से दाता ! (**नः**) हम को (**विश्वतः**) सब ओर से (**आभर**) पोषित करो (**यम्**) जिस (**त्वा**) आप (**शविष्ठम्**) बलिष्ठ को (**ईमहे**) हम याचना करते हैं ॥ निघण्टु ३।१६।१ ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—ऋष्यादिकमुक्तवत् ॥

४३८—एष ब्रह्माय ऋत्विय इन्द्रो नाम श्रुतो गृणे ॥२॥

भावार्थः—(**एषः**) यह (**ब्रह्मा**) भक्तों का बढ़ाने वाला (**यः**) जो (**ऋत्वियः**) प्रत्येक ऋतुओं में हितकारी (**इन्द्रः नाम श्रुतः**) इन्द्र नाम से विख्यात है, (**गृणे**) उसे स्तुत करता हूँ ॥२॥

अथ तृतीयायाः—त्रसदस्युर्ऋषिः । छन्दोदेवते उक्ते ॥

४३९—ब्रह्माण इन्द्रं महयन्तो अर्कैरवर्धयन्नहये हन्तवा उ ॥३॥

भावार्थः—(**अहये हन्तवे**) सर्वतुल्य मारक पाप को मारने के लिये (**उ**) निश्चय करके (**ब्रह्माणः**) चतुर्वेदवेत्ता लोग (**अर्कैः**) मन्त्रों से (**इन्द्रम्**) परमेश्वर को (**महयन्तः**) पूजते हुए (**अवर्धयन्**) "प्रसन्न करते हैं" यही सायणाचार्य का अर्थ है ॥

निश्चय परमेश्वर की स्तुति उपासनाओं से मनुष्य पापों से बचते और परमात्मा को प्रसन्न करते हैं ॥

निरुक्त ५ । ५ निघण्टु ३ । १५ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ५ । ३१ । ४ में उत्तरार्ध ऐसा ही है ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—ऋषिर्नोपलभ्यते । छन्दोदेवते उक्ते ॥

४४०—अनवस्ते रथमश्वाय तक्षुस्त्वष्टा वज्रं पुरुहूत द्युमन्तम् ॥४॥

भावार्थः—(**अनवः**) मनुष्य लोग (**अश्वाय**) शीघ्र मोक्षप्राप्त्यर्थ (**ते**) आप को (**रथम्**) रथ (**तक्षुः**) बनाते हैं । (**पुरुहूत**) हे बहुतों से पुकारे हुए ! परमात्मन् ! (**त्वष्टा**) विद्या से प्रदीप्त पुरुष आप को (**द्युमन्तम् वज्रम्**) प्रकाशमान शस्त्र [बनाता है] ॥

ईश्वर के भक्त लोग शीघ्र मोक्षपद को प्राप्त होने के लिये परमेश्वर को ही अपना रथ बनाते और उसी को सर्वपापशत्रुसंहारार्थ शस्त्रभाव से कल्पना करते हैं ॥

ऋ० ५ । ३१ । ४ में पूर्वार्ध यही है, केवल (तक्षुः=तक्षन्) है ॥४॥

अथ पञ्चम्याः—ऋ ष्यादय उक्तवत् ॥

४४१—शं पदं मघं रयीषिणे न काममव्रतो
हिनोति न स्पृशद्रयिम् ॥५॥

भावार्थः—प्रकरण से—हे इन्द्र ! धनवन् ! परमात्मन् ! (**अव्रतः**) यज्ञादि सुकृत न करने वाला कृपण पुरुष (**रयिम्**) धन को (**न स्पृशत्**) छूने भी नहीं पाता, तथा (**कामम्**) अभीष्ट पदार्थों को (**न हिनोति**) नहीं प्राप्त होता परन्तु (**रयीषिणे**) यज्ञादि उत्तम कर्मों में धन देने वाले के लिये (**शम् पदम्**) कल्याण स्थान और (**मघम्**) धन होता है ॥

जो लोग यज्ञादि उत्तम कार्यों में धनादि व्यय करते हैं वे धन धान्यादि सकल इष्ट पदार्थों को प्राप्त होते हैं और इसके विरुद्ध लोग दरिद्र होते हैं ॥

निघण्टु २ । १० इत्यादि प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥५॥

अथ षष्ठ्याः—विश्वेदेवा देवताः । ऋषिश्छन्दश्चोक्तवत् ॥

४४२—सदा गावः शुचयो विश्वधायसः सदा देवा अरेपसः ॥६॥

भावार्थः—हे परमेश्वर ! (**विश्वधायसः**) जो विश्व का अन्नादि दान से धारण पोषण करते हैं (**अरेपसः**) पापाचरण नहीं करते (**देवाः**) दानादि गुणयुक्त पुरुष हैं वे (**सदा शुचयः**) सदा पवित्र रहते हैं । जिस प्रकार (**गावः सदा**) सदा गौ शुद्ध रहती हैं ॥

निघण्टु १ । ४ ॥ १ । ११ ॥ १ । १ के अनुसार गौ शब्द से सूर्यकिरणें वा पृथिवियें वा वेदवाणी वा पृथिवी के चलते बहते जल भी समझने चाहियें ॥६॥

अथ सप्तम्याः—सम्पात ऋषिः । उषा देवता । द्विपदा पङ्क्तिश्छन्दः ॥

४४३—आ याहि वनसा सह गावः सचन्त वर्तनिं यदूधभिः ॥७॥

भावार्थः—हे परमेश्वर ! (**यत्**) जबकि [उषा देवता=प्रातर्वेला] (**आयाहि**) आवे [तभी] (**गावः**) गोरूप हमारी वाणियें (**ऊधभिः**) दुग्ध भरे स्तनों सहित (**वर्तनिम्**) मार्ग को (**सचन्त**) संगत हों ॥

प्रतिदिन प्रातःकल उषा की वेला में वेदवाणियों को हम प्राप्त हों, कृपया ऐसा प्रसाद कीजिये ॥

शतपथ ब्राह्मण १४ । ६ । १२।१ में वाणी को गोरूप से इस प्रकार वर्णन किया है कि —"वाणीरूप धेनु की उपासना करो । उसके ४ थन हैं । १—स्वाहाकार । २—वषट्कार । ३—हन्तकार और ४—स्वधाकार । उसके दो थन स्वाहाकार और वषट्कार को देवता पीते हैं । तथा हन्तकार को मनुष्य और स्वधाकार को पितर । उसका बैल प्राण है और बछड़ा मन ॥

ऋ० १० । १७२ । १ में भी ॥७॥

अथाष्टम्याः—ऋषिर्नोपलभ्यते । इन्द्रो देवता । द्विपदा पङ्क्तिश्छन्दः ॥

१२ ३१ २र ३२ ३
४४४—उप प्रक्षे मधुमति क्षियन्तः
१ २ ३ २ ३ १२
पुष्येम रयिं धीमहे त इन्द्र ॥८॥

भावार्थः—(इन्द्र) हे परमात्मन् ! हम लोग (मधुमति) आत्मिक आनन्दयुक्त (प्रक्षे) क्षेत्र में (उपक्षियन्तः) रहते हुए (रयिम्) विद्यादि धन को (पुष्येम) पुष्ट करें और (ते) आपका (धीमहे) ध्यान करें ॥

बृहदारण्यकोपनिषद् ४ । ५ । १५-१६ में आत्मा को मधु कहा है । "यही वह आत्मा है जो सब भूतों का अधिपति है" यहाँ से आरम्भ करके "यही वह मधु है" यहाँ तक । परन्तु यह आत्मा का माधुर्यरस आत्मज्ञानी ही पान करते हैं, अन्य मन्दभाग्य नहीं ॥८॥

अथ नवम्याः—ऋष्यादय उक्तवत् ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २र
४४५—अर्चन्त्यर्कं मरुतः स्वर्का आ स्तोभति
३ २उ ३ १ २र
श्रुतो युवा स इन्द्रः ॥

भावार्थः— (स्वर्काः) शोभन मन्त्रों वाले (मरुतः) स्तोत्रयज्ञ के ऋत्विक् लोग (अर्कम्) पूजनीय ईश्वर को (अर्चन्ति) पूजते हैं और (सः) वह (युवा) महाबली (श्रुतः) वेदों में विख्यात (इन्द्रः) परमेश्वर (आस्तोभति) स्तुत किया जाता है ॥

निरुक्त ५ । ४ और इन्द्र शब्द से परमेश्वरार्थ ग्रहण में मीमांसाभाष्यस्थ शबर स्वामी की सम्मति जो सत्यव्रत सामश्रमी जी ने टिप्पणी में दी है वह संस्कृत-भाष्य में देखिये ॥९॥

अथ दशम्याः—ऋष्यादय उक्तवद्बोध्याः ।।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३
४४६—प्र व इन्द्राय वृत्रहन्तमाय
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
विप्राय गाथं गायत यं जुजोषते ॥१०॥

इति चतुर्थाध्याये दशमी दशतिः ॥१०॥

भावार्थः—(**वृत्रहन्तमाय**) रोकने वाले काम क्रोधादि शत्रुओं के अत्यन्त विनाशक (**विप्राय**) मेधावी (**इन्द्राय**) परमेश्वर के लिये (**गाथम्**) स्तोत्र को (**प्र गायत**) प्रकर्ष से पढ़ो (**वः**) तुम्हारे (**यम्**) जिस स्तोत्र को, वह परमेश्वर (**जुजोषते**) प्रीति करता है ।।

सायणाचार्य के भाष्य में (**विप्राय**) के स्थान में (**विप्राः**) की व्याख्या अन्यथा है और (**वः**) की व्याख्या ही नहीं दीखती ।।१०।।

यह चतुर्थाध्याय में दशवीं दशति समाप्त हुई ॥१०॥

तत्र तत्रैव वक्ष्यन्तेऽनेतीत्यृष्यादयः क्रमात् ॥

अथैकादशी दशतिः—

तत्र प्रथमायाः—ऋषिर्नोपलभ्यते । अग्निर्देवता । द्विपदा छन्दः ।।

१ २ ३ १ २र ३ २उ ३ १ २
४४७—अचेत्यग्निश्चिकितिर्हव्यवाड् न सुमद्रथः ॥१॥

भावार्थः—(**सुमद्रथः**) जिसका शोभावान् रथ=रमणीय तेजःस्वरूप है (**हव्यवाड्**) जो हवन किये द्रव्यों को स्थानान्तरों में पहुंचाता है, उस अग्नि के (**न**) समान (**चिकितिः अग्निः**) एक चेतन अग्नि [परमात्मा] (**अचेति**) उपासकों से ज्ञात किया जाता है जो ज्योतिःस्वरूप है और प्राणिमात्र के कर्मरूप हव्य का पहुँचाने वाला है ।।

ऋग्वेद के बालखिल्य परिशिष्ट में भी यह पाठ आता है ।।१।।

अथ द्वितीयायाः—बन्धुर्ऋषिः । अग्निर्देवता । द्विपदा छन्दः ।।

२ ३ २ ३ १ २ ३२ ३ २ ३ १ २ ३क २र
४४८—अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भुवो वरूथ्यः ॥२॥

भावार्थः—(**अग्ने**) हे प्रकाशस्वरूप ! (**अन्तमः**) अन्तर्यामी होने से

अत्यन्त समीपस्थ (**उत**) और (**वरूथ्यः**) वरणीय भजनीय (**त्वम्**) आप (**नः**) हमारे (**त्राता**) रक्षक और (**शिवः**) सुखदायक (**भुवः**) हूजिये ॥

ऋ० ५ । २४ । १ में भी ऐसा ही पूर्वार्ध है ॥२॥

अथ तृतीयायाः—ऋष्यादय उक्ताः ॥

४४६—भगो न चित्रो अग्निर्महोनां दधाति रत्नम् ॥३॥

भावार्थः – (**महोनाम्**) बड़ों से (**भगः न**) सूर्य्य सा तेजस्वी (**अग्निः**) परमात्मा (**चित्रः**) अद्भुतस्वरूप (**रत्नम्**) विद्यादि धन को [**भक्तार्थं**] (**दधाति**) धारण करता=देता है ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—इन्द्रो देवता । ऋषिच्छन्दसी उक्ते ॥

४५०—विश्वस्य प्र स्तोभ पुरो वा सन्यदि वेह नूनम् ॥४॥

भावार्थ—(**प्रस्तोभ**) जिसकी सर्वोत्तम स्तुति है ऐसे हे इन्द्र ! परमात्मन्! तू (**यदि**) यदि (**विश्वस्य पुरः वासन्**) सबकी नगरी बसाता है (**वा**) तो (**इह**) यहां हमारी (**नूनम्**) अवश्य बसाव ॥४॥

अथ पञ्चम्याः—संवर्त्तऋषिः । उषा देवता । द्विपदा छन्दः ॥

४५१—उषा अप स्वसुष्टमः सं वर्तयति वर्त्तनिं सुजातता ॥५॥

भावार्थः—हे परमेश्वर ! जिस प्रकार (**उषाः**) प्रभात वेला (**स्वसुः**) अपनी बहन रात्रि के (**तमः**) अन्धियारे को (**सुजातता**) अपने शोभन जन्म से (**वर्त्तनिम्**) लौटने के मार्ग को (**संवर्त्तयति**) लौटाती है । इसी प्रकार आप हमारे हृदय के अन्धकार को दूर करें ॥

ऋ० १० । १७२ । ४ में भी ॥५॥

अथ षष्ठ्याः—भौवन आप्त्य ऋषिः । इन्द्रो देवता । द्विपदा छन्दः ॥

४५२—इमा नु कं भुवना सीषधेमेन्द्रश्च विश्वे च देवाः ॥६॥

भावार्थः हे परमेश्वर ! (**इन्द्रः**) जीवात्मा (**च**) और (**विश्वे च देवाः**) समस्त इन्द्रियां (**नु**) तथा (**इमा भुवना**) ये भुवन (**कम्**) सुख को (**सीषधेम**) साधें ॥

ऋ० १० । १५७ । १ में (सीषधाम) पाठ है ॥६॥

अथ सप्तम्याः—कवष ऐलुषऋषिः । इन्द्रो देवता । द्विपदा गायत्री छन्दः ॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १२ ३ १२
४५३—वि स्रुतयो यथा पथा इन्द्र त्वद्यन्तु रातयः ॥७॥

भाषार्थः—(**इन्द्र**) हे परमेश्वर ! (**यथा**) जिस प्रकार (**पथा**) प्रवाह मार्ग से (**विस्रुतयः**) नदियाँ प्राप्त होती हैं इसी प्रकार (**त्वत्**) आप से (**रातयः**) विद्यादि दान (**यन्तु**) प्राप्त हों ॥७॥

अथाष्टम्याः—भरद्वाज ऋषिः । इन्द्रो देवता । द्विपदा पङ्क्तिश्छन्दः ॥

३ १ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
४५४—अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतहिमाः सुवीराः ॥८॥

भाषार्थः—(**अया**) इस प्रार्थना से हम (**देवहितम्**) ईश्वरदत्त (**वाजम्**) बल को (**सनेम**) सम्भागपूर्वक लेवें और (**सुवीराः**) सुन्दर पुत्रादियुक्त हम (**शतहिमाः**) १०० वर्ष पर्यन्त (**मदेम**) हर्ष को प्राप्त हों ॥

ऋ० ६ । १७ । १५ में भी ॥८॥

अथ नवम्याः—आत्रेय ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । द्विपदा पङ्क्तिश्छन्दः ॥

३ २ ३ १ २र ३ २ ३
४५५—ऊर्जा मित्रो वरुणः पिन्वतेडाः

१ २ ३ १ २ ३ ३ २
पीवरीमिषं कृणुही न इन्द्र ॥९॥

भाषार्थः—(**इन्द्र**) हे परमेश्वर ! आप तथा (**मित्रः**) सूर्य और (**वरुणः**) वृष्टि जल, ये सब (**ऊर्जा**) रस से [श० ५ । १ । २ । ८] (**इडाः**) अन्नों को (**पिन्वत**) पुष्ट करो तथा (**नः**) हमारे लिये (**पीवरीम् इषम्**) पुष्ट अन्न को (**कृणुहि**) करो=उत्पन्न करो ॥९॥

अथ दशम्याः—वसिष्ठ ऋषिः । इन्द्रो देवता । एकपदा गायत्री छन्दः ॥

२ ३ १ २
४५६—इन्द्रो विश्वस्य राजति ॥१०॥

भाषार्थः—पूर्व मन्त्र से अन्वय है । जिस कारण (**इन्द्रः**) परमेश्वर (**विश्वस्य**) सूर्यादि सब का (**राजति**) राजा है । इस लिये सूर्य और वर्षा के जल आदि को प्रेरित करके हमारे लिये रसीले पुष्ट धान्यादि उत्पन्न करे ॥

यजुर्वेद ३६ । ८ में भी ॥१०॥

इति चतुर्थाध्याये एकादशी दशतिः ॥११॥

यह चतुर्थाध्याय में ११ वीं दशति समाप्त हुई ॥

यह द्विपदा छन्दों वाला इन्द्र का प्रकरण हुआ ॥



त्रिकद्रुवित्यादिदशतौ दशत्त्वत्राऽष्टिरादिमा ॥
जगत्ययं सहस्रे त्यऽथैन्द्रया ह्यु पनस्तथा ॥१॥
अग्निं होतारमित्येषा अस्तु श्रौषडऽयारुचा ॥
चतस्रोऽत्यष्टयोऽभिन्यं तवत्यं नर्यमित्यृचौ ॥२॥
इमे द्वे अतिशक्वर्यावऽष्टी इत्येक ऊचिरे ॥
प्रवोमहेऽतिजगती तमिन्द्रमिति तादृशी ॥३॥
सौरी ह्ययं सहस्रेति पावमानी त्वया रुचा ॥
अस्तु श्रौषड् वैश्वदेवी मारुतो तु प्रवोमहे ॥४॥
अभिन्यमिति सावित्री स्यादाग्नेय्यग्निमित्यसौ ॥
एन्द्र्योऽवशिष्टा इत्येवं छन्दोदैवतनिर्णयः ॥५॥

भाषार्थः—"त्रिकद्रुकेषु" इत्यादि [१२ वीं] दशति में दश ऋचा हैं। इनमें प्रथम ऋचा का अष्टि छन्द है। दूसरी "अयंसहस्र०" का जगती छन्द है। "एन्द्रयाह्यु पनः" इस तीसरी, (१) "अग्निं होतारम्०" इस नवीं, "अस्तुश्रौषट्" इस पांचवीं, और "अयारुचा०" इस सातवीं, इन ४ का अत्यष्टि छन्द है॥ "अभित्यम्०" इस आठवीं और "तवत्यन्नर्यम्०" इस दशवीं, (२) इन दो का अति शक्वरी छन्द है और कोई लोग इन दोनों का अष्टि छन्द मानते हैं॥ "प्रवो-महे०" इस छठी और "तमिन्द्रम्०" इस चौथी का अतिजगती छन्द है॥ (३) अयं सहस्र० इस दूसरी का सूर्य देवता है। अयारुचा० इस सातवीं का पवमान। अस्तुश्रौषट्० इस पांचवीं के विश्वेदेवाः। प्रवोमहे० इस छठी के मरुत्(४)अभित्यम्० आठवीं का सविता। अग्निम्० इस नवीं का अग्नि देवता है। शेष (१। ३। ४। १०) का इन्द्र देवता है। यह छन्द और देवता का निर्णय हुआ। (५)॥

अथ द्वादशी दशतिस्तत्र प्रथमायाः गृत्समद ऋषिः॥

१ २ ३ १ २र ३ २
४५७—त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तुविशुष्म-
३ १ २र ३ १ २ ३१ २ ३ २
स्तृम्पत्सोममपिबद्विष्णुना सुतं यथावशम्।
१ २ ३ २ ३ २३ १२ ३ २ ३१
स ईं ममाद महि कर्म कर्तवे महामुरुं
२र ३ २ ३ ३१ २र ३ १ २र
सैनं सश्चद्देवो देवं सत्य इन्दुः सत्यमिन्द्रम् ॥१॥

भावार्थः—(**महिषः**) बड़ा और (**तुविशुष्मः**) बहुत बल अर्थात् आकर्षण वाला सूर्य (**तृम्पत्**) तृप्त होता है [किस से ? सो कहते हैं—] (**त्रिकद्रुकेषु**) ज्योति गौ आयु इन नामों वाले 'गवामयन' नामक यज्ञ जो ताण्ड्यमहाब्राह्मण चतुर्थ प्रपाठक खण्ड एक में प्रसिद्ध है, उसके अभिप्लविक नाम ३ दिनों में (**सुतम्**) सम्पादित (**यवाशिरम्**) यव धान्य के सत्तु मिले हुए (**सोमम्**) सोमरस को (**विष्णुना**) व्यापक वायु के सहित (**अपिबत्**) पीता है, (सः) वह सोम (**ईम्**) इस सूर्य को (**ममाद**) हृष्ट करता है (**सः**) और वह (**सत्यः**) सच्चा (**देवः**) दिव्य (**इन्दुः**) सोम (**एनम्**) इस (**सत्यं देवम्**) सच्चे देव (**महाम्**) महान् (**उरम्**) किरणों से फैले हुए (**इन्द्रम्**) सूर्य को (**सश्चत्**) पहुँचाता है ॥

निघण्टु ३ । ३ ॥ ३ । १ ॥ २ । ६ ॥ २ । १४ अष्टाध्यायी ६ । १ । ३६ के प्रमाण और ऋ० २ । १२ । १ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

अथ द्वितीयायाः—गौराङ्गिरस ऋषिः ॥

३ २ ३२३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २३ ३ १ २
४५८—अयं सहस्रमानवो दृशः कवीनां मतिर्ज्योतिर्विधर्म ।
३ २ ३१ २ ३२३ १ २ ३२३
ब्रध्न समीचीरुषसः समैरयदरेपसः
१ २ ३ १२ ३ १ २ ३ २
सचेतसः स्वसरे मन्युमन्तश्चिता गोः ॥२॥

भावार्थः—(**अयम्**) यह (**सहस्रमानवः**) बहुत प्रकाश वाला (**दृशः**) दिखाने वाला (**कवीनां मतिः**) बुद्धिवालों की बुद्धिरूप [क्योंकि सूर्य के प्रकाश बिना बुद्धिमानों की बुद्धि अन्धकार से दबी रहती है] (**विधर्म ज्योतिः**) विशेष धारक ज्योति रूप (**ब्रध्नः**) सूर्य (**समीचीः उषसः**) सीधी चलने वाली प्रभात-कारक किरणों को (**समैरयत्**) प्रेरित करता है तब—(**स्वसरे**) दिन में (**अरेपसः**) तमोरूपी पाप से रहित (**सचेतसः**) चित्त सहित (**मन्युमन्तः**) प्रकाश वाले [पृथिवी चन्द्रादि लोक] (**गोः**) सूर्य से (**चिताः**) उपचित होते हैं ॥

अर्थात् सूर्य बहुत प्रकाश वाला, दिखाने वाला और इसी से बुद्धिमानों की बुद्धि का जगाने वाला और धारक है । वह जब अपनी किरणों के समूह से जहाँ-जहाँ पृथिवी, चन्द्र वा अन्य लोक में प्रभात काल करने वाली किरणें भेजता है वहाँ-वहाँ तब-तब दिन होता है । इस प्रकार सूर्य से लोकान्तरों में प्रकाश संचित वा उपचित होता है ॥

निघण्टु २।६॥ १ । ६ निरुक्त २ । ६ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ तृतीयाया:—परुच्छेप ऋषि: ॥

१ २ ३ १ २ ३ २३ १ २र
४५९—इन्द्र याह्युप नः परावतो नायमच्छा
३ १ २ ३ १ २ ३२ ३ १२२ १ २
विदथानीव सत्पतिरस्ता राजेव सत्पतिः ।
१ २ ३ १ २ ३२उ ३ २ ३ २
हवामहे त्वा प्रयस्वन्तः सुतेष्वा पुत्रासो न
३२३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
पितरं वाजसातये मंहिष्ठँ वाजसातये ॥३॥

भावार्थः—(**इन्द्र**) हे परमेश्वर ! (**नः**) हमको (**परावतः न**) जो तुझ से दूर से हो गये हैं (**उप आ याहि**) प्राप्त हूजिये । दृष्टान्त—(**अयम्**) यह (**सत्पतिः**) सत्=पृथिवी आदि का आकर्षण से रक्षक सूर्य (**अच्छ**) अभि-व्याप्त होने को (**विदथानीव**) जिस प्रकार यज्ञों को प्राप्त है [पूर्वमन्त्रानुसार] तद्वत् । दूसरा दृष्टान्त:—(**सत्पतिः**) सज्जनों का पालक (**राजेव**) राजा जैसे (**अस्ता**) न्यायासन गृह को प्राप्त होता है, तद्वत् । (**सुतेषु**) सोम सम्पन्न होने पर (**प्रयस्वन्तः**) सोमरस रूप जल लिये हुए हम (**वाजसातये**) बललाभार्थ (**मंहिष्ठम्**) पूजनीयतम (**त्वाम्**) आप को (**आ हवामहे**) पुकारते हैं । पुकारने में दृष्टान्त—(**न**) जैसे (**पुत्रासः**) बच्चे (**वाजसातये**) बल वा अन्न के लाभार्थ (**पितरम्**) बाप को पुकारते हैं तद्वत् ॥

निघण्टु ३ । २ ॥ ३ । १७ ॥ ३ । ४ ॥ १ । १२ निरुक्त ५।२८ अष्टाध्यायी ६ । २ । १८ ॥ ७ । १ । ३९ के प्रमाण और ऋग्वेद १ । १३० । १ का पाठभेद संस्कृतभाष्य देखिये ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—रेभा ऋषिः ॥

१ २र ३ १ २ ३ २
४६०—तमिन्द्रं जोहवीमि मघवानमुग्रं
३ १ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सत्रादधानमप्रतिष्कुतं श्रवाँसि भूरि ।
१ २ ३ १ २र ३ १ २
मँहिष्ठो गीर्भिरा च यज्ञियो ववर्त
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
राये नो विश्वा सुपथा कृणोतु वज्री ॥४॥

भावार्थः—(**मघवानम्**) अत्यन्त धनवान् (**उग्रम्**) न दबने वाले (**अप्रतिष्कुतम्**) जिसके सम्मुख कोई बल न चला सके उस (**सत्रा भूरि श्रवांसि**) सच्चे बहुत यशों को (**दधानम्**) धारण किये हुए (**तम्**) पूर्व मन्त्र में वर्णित (**इन्द्रम्**) परमेश्वर को (**जोहवीमि**) वारम्वार पुकारता हूँ। (**मंहिष्ठः**) अति दाता (**वज्री**) दण्डनायक (**यज्ञियः**) पूजनीय वह परमेश्वर (**आ**) सब ओर (**ववर्त**) वर्तमान है (**च**) और (**नः**) हमारी (**गीर्भिः**) स्तुतियों से (**राये**) विद्यादि धनार्थ (**विश्वा सुपथा**) सब अच्छे मार्ग (**कृणोतु**) बनावे ।।

निघण्टु ३ । १० अष्टाध्यायी ६ । १ । ३२ ।। ६ । १ । ३३ ।। ३ । १ । ८५ के प्रमाण और ऋ० ८ । ९७ । १३ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ।।४।।

अथ पञ्चम्याः—परुच्छेप ऋषिः ।।

४६१—अस्तु श्रौषट् पुरो अग्निं धिया दध आ नु
त्यच्छर्धो दिव्यं वृणीमह इन्द्रवायू वृणीमहे ।
यद्ध क्राणा विवस्वते नाभा सन्दाय नव्यसे
अध प्र नूनमुप यन्ति धीतयो देवाँ अच्छ न धीतयः ।।५।।

भावार्थः—हे इन्द्र ! परमेश्वर ! (**धिया**) प्रणयनादि कर्म से, वा बुद्धि से (**पुरः**) सामने की व्यवधान रहित उत्तर वेदी में वा साक्षात् (**अग्निम्**) आहवनीय नाम अग्नि, वा परमेश्वर को (**आ दधे**) मैं आधान करता, वा धारण करता हूं। (**त्यत्**) उस अग्न्याधान सम्बन्धी (**दिव्यम्**) उत्तम (**शर्धः**) बल को (**वृणीमहे**) हम वरते हैं [अपने अभिप्राय से बहुवचन है] (**नु**) शीघ्र (**नाभा**) वेदी की नाभि वा अपने नाभिचक्र में (**नव्यसे विवस्वते**) नये उदय हुए सूर्य, वा प्राण के लिए (**संदाय**) हव्य देकर, वा शुद्धि करके (**यत्**) जब (**ह**) प्रसिद्ध (**क्राणा**) काम करने वाले (**इन्द्रवायू**) बिजुली और वायु, वा मन और प्राण को (**वृणीमहे**) वरण करते हैं, तब (**अध**) इसके पश्चात् (**धीतयः धीतयः**) हमारी सब अंगुलियें, वा हमारे सब कर्म (**देवान्**) वायु आदि, वा प्राणादि देवतों को (**अच्छ न**) अभिव्याप्त होने के समान (**नूनम्**) अवश्य (**उप प्र यन्ति**) प्राप्त होते हैं। सो यह (**श्रौषट्**) श्रवण (**अस्तु**) हो ।।

ऋत्विज् लोगों की शाला से पश्चिम की ओर 'प्राचीनवंश' नामक यज्ञवेदी

की दक्षिण दिशा में धनुषाकार एक कुण्ड होता है, उसमें का अग्नि "दक्षिणाग्नि" कहाता है। उत्तर में कुण्ड नहीं होता। पश्चिम में गोलाकार कुण्ड होता है, उसमें का अग्नि "गार्हपत्य" कहाता है। पूर्वदिशा में चौखूटा कुण्ड होता है, उसमें का अग्नि "आहवनीय" कहाता है। और पूर्वदिशा में ही पूर्वोक्त कुण्ड से आगे एक अन्य कुण्ड भी होता है उसे "उत्तरवेदी" वा "परली वेदी" कहते हैं। उसके मध्य की भूमि "नाभि" कहाती है। उसमें अध्वर्यु और प्रतिहार के कर्म होते हैं। किन्तु होता का होम सम्बन्ध वा अग्निसम्बन्ध उससे कुछ नहीं होता इस प्रकार "पुरः" शब्द से पूर्व दिशा की पहली अव्यवहित चौखूटी वेदी का ग्रहण है। निघण्टु २।१॥२।६॥ ३।५ निरुक्त ३।८ शतपथ १२।६।१।१३ के प्रमाण और ऋ० १।१३६। १।५ पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥५॥

अथ षष्ठ्याः—एवया मरुदृषिः ॥

१ २ ३२ ३ १ ३ ३ १ २
४६२—प्र वो महे मतयो यन्तु विष्णवे
३ १ २ ३ १ २ ३ १२
मरुत्वते गिरिजा एवयामरुत् ।
१ २३ १ २१ ३ १ २ ३ १ २
प्र शर्धाय प्र यज्यवे सुखादये तवसे
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
भन्ददिष्टये धुनिव्रताय शवसे ॥६॥

भावार्थः—परमात्मा आशीर्वाद देते हैं कि—(**एवयामरुत्**) हे ज्ञानप्रापक वेदों के जानने वाले मनुष्य ! (**महे**) बड़ाई के लिए, (**मरुत्वते विष्णवे**) ऋत्विजों वाले यज्ञ के लिये, (**प्र**) उत्तम (**शर्धाय**) बल के लिये, (**प्रयज्यवे**) जिससे यज्ञ करते हैं उसके लिये, (**सुखादये**) सुखपूर्वक भोग के लिये (**तवसे**) फुर्ती के लिये, (**भन्ददिष्टये**) कल्याण सुख संगति के लिये, (**धुनिव्रताय**) चलने फिरने के काम के लिये, (**शवसे**) और मानस बल के लिये (**गिरिजाः**) तुम्हारी प्रार्थनावाणियों में उपजी (**मतयः**) बुद्धियें (**वः**) तुम्हें (**प्र यन्तु**) उच्च भाव से प्राप्त हों ॥ ऋ० ५।८७।१ में भी ॥६॥

अथ सप्तम्याः—आनानतः पारुच्छेपिर्ऋषिः ॥

३ २ ३ १ २१ ३ २३ ३ १ २
४६३—अया रुचा हरिण्या पुनानो विश्वा द्वेषांसि
३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
तरति सयुग्वभिः सूरो न सयुग्वभिः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र
धारा पृष्ठस्य रोचते पुनानो अरुषो हरिः ।
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २
विश्वा यद्रूपा परियास्यृक्वभिः सप्तास्येभिऋृक्वभिः ॥७॥

भावार्थः—फिर परमात्मा का उपदेश है कि—हे मनुष्य ! (**अया**) इस (**हरिण्या**) रस खींचने वाली (**रुचा**) चमक से (**न**) जैसे (**सूरः**) सूर्य (**सयुग्वभिः**) साथ जुड़ी किरणों से (**विश्वा**) सब (**द्वेषांसि**) विरोधी अन्धकारों को (**तरति**) नष्ट करता है, ऐसे ही (**पुनानः**) पवित्रात्मा पुरुष सब "द्वेषांसि" द्वेषादि दुर्गुणों को (**सयुग्वभिः**) साथ जड़े प्रज्ञानों से नष्ट करता है। (**यत्**) और जैसे (**अरुषः**) रूपवान् (**हरिः**) सूर्य और (**पृष्ठस्य धारा**) सूर्य के धरातल की ज्योतिरूप धारा (**रोचते**) चमकती है और (**विश्वा रूपा**) सब रूप वाली वस्तुओं को (**सप्तास्येभिः ऋक्वभिः**) सात रङ्ग रूप मुखवाले तेजों से (**परियाति**) व्यापता है, ऐसे ही (**पुनानः**) पवित्रात्मा पुरुष भी (**ऋक्वभिः**) प्रशंसाओं की सर्वतोविख्याति से व्याप जाता है।

निघण्टु ३ । ७ का प्रमाण और ऋ० ९ । १११ । १ के पाठभेद संस्कृत-भाष्य में देखिये ॥७॥

अथाष्टम्याः—नकुल ऋषिः ॥

३ २र ३ १ २ ३ १ २ ३क २र ३ १ २ ३
४६४—अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतु-
१ २ ३ १२ ३ २३२ ३२ ३ २
मर्चामि सत्यसवँ रत्नधामभि प्रियं मतिम् ।
३ २उ ३२३ १ २र ३ १ २ ३
ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत्सवीमनि
१ २ ३ १ २ ३ १ २
हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपा स्वः ॥८॥

भावार्थः—मनुष्य परमात्मा के प्रति निवेदन करता है कि हे पितः ! (**त्यम्**) उन आप (**देवम्**) सुखदायक (**ओण्योः सवितारम्**) द्यु और पृथिवी के उत्पादक (**कविक्रतुम्**) सर्वज्ञ बुद्धि वाले (**सत्यसवम्**) सच्चे ऐश्वर्य वा सृष्टि वाले (**रत्नधाम्**) रमणीय प्रज्ञान वा हीरे आदि वा लोकों के धारक (**अभि प्रियम्**) सब ओर से प्यारे (**मतिम्**) विद्वानों के माननीय (**कविम्**) वेदविद्या के उपदेष्टा को (**अभि अर्चामि**) सर्वतः पूजता हूँ। (**यस्य**) जिस आपकी (ऊर्ध्वा भा) उच्च दीप्ति से (**अमतिः**) जड़ प्रकृति (**सवीमनि**) उत्पत्ति समय पर (**अदिद्युतत्**) प्रकाशित हो जाती है।

(हिरण्यपाणिः) वह तेजःस्वरूप (सुक्रतुः) सुकर्मा आप (कृपा) अपने सामर्थ्य से (स्वः) सूर्य और तदुपलक्षित अन्य लोकों को (अमिमीत) रचते हैं ॥

निघण्टु ३ । ३० ॥ निरुक्त १२ । १३ ॥ ६ । ७ ॥ १० । ३१ ॥ ५ । ४॥ शतपथ ४ । ३ । ४ । २१ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ यजु० ४ । २५ और अथर्व ७ । ४ । १ । २ में भी ॥८॥

अथ नवम्याः—परुच्छेप ऋषिः ॥

३ १ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १
४६५—अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसोः सूनुँ
२र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १२
सहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम् ॥
२ ३ १ २ ३२ ३ २ ३ १ २ ३ २
य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा ।
३ २ ३ १ २ ३ १२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
घृतस्य विभ्राष्टिमनु शुक्रशोचिष आजुह्वानस्य सर्पिषः ॥९॥

भाषार्थः—पूर्वमन्त्र में ज्ञाकाण्ड की प्रतिज्ञा की, जब कर्मकाण्ड की प्रतिज्ञा करता है कि—हे इन्द्र ! परमेश्वर ! मैं (**अग्निम्**) अग्नि को (**होतारम्**) होम-साधक (**वसोः दास्वन्तम्**) धन का दाता [अपने विषय के विज्ञान वालों को] (**सहसः सूनुम्**) [बल करके अरणियों में से अग्नि उत्पन्न होता है इस कारण] बल के पुत्र (**जातवेदसम्**) जिसके प्रकाश से ज्ञान प्रकट होता है ऐसा (**मन्ये**) मानता हूं । दृष्टान्त - (**न**) जैसे (**जातवेदसं विप्रम्**) विद्या जिससे उत्पन्न है उस विद्वान् को ॥ (**यः**) जो (**देवः**) प्रकाशमान (**स्वध्वरः**) यज्ञ का सुधारने वाला अग्नि (**देवाच्या**) वायु आदि देवतों को जाने वाली (**कृपा**) सामर्थ्य से (**आजुह्वानस्य**) हवन किये जाते हुए (**सर्पिषः**) ताये हुए (**शुक्रशोचिषः**) श्वेतवर्ण (**घृतस्य**) घी की (**विभ्राष्टिम् अनु**) चमक के साथ (**ऊर्ध्वया**) ऊपर जाता है ॥

सायण के भाष्य में "वष्टि" पद की व्याख्या है परन्तु यह पद मूल में नहीं है । हां, ऋग्वेद १ । १२७ । १ में "वसो" की जगह "वसुम्" और विभ्राष्टिमनु-वष्टि शोचिषा जुह्वानस्य" पाठ है । उसी की भ्रान्ति से यह सायण भाष्य की भूल का अनुमान होता है । निघण्टु ३ । २० ॥ २ । ९ निरुक्त ७।१९॥ ६।८॥ ६।१७ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥९॥

अथ दशम्याः—गृत्समद ऋषिः ॥

२ ३ १ २र ३ १ २ ३२
४६६—तव त्यन्नर्यं नृतोऽप इन्द्र प्रथमं
३ २ ३ २ ३ १ २ ३२
पूर्व्यं दिवि प्रवाच्यं कृतम् ।

२ ३२ ३ १२ ३ १ २ ३ १२ ३२ ३२
यो देवस्य शवसा प्रारिणा असु रिणन्नपः ।
२३ १ २३ १२३
भुवो विश्वमभ्यदेव-
१ २ ३ १ २१ ३१२ ३ १ २१
मोजसा विदेदूर्जं शतक्रतुर्विदेदिषिम् ॥१०॥

इति चतुर्थाध्याये द्वादशी दशतिः ॥१२॥

भावार्थः —अब ईश्वरभक्त ईश्वरीय बल की महिमा कहता है—(**नृतः**) हे सूर्यादि को नचाने वाले ! (**इन्द्र**) परमेश्वर ! (**तव**) आप का (**त्यत्**) वह (**नर्यम्**) मनुष्य हितकारी (**दिवि प्रथमम्**) आकाश में विस्तृत (**पूर्व्यम्**) सनातन (**कृतम्**) किया हुआ (**प्रवाच्यम्**) प्रशंसनीय (**अपः**) कर्म है कि (**यः**) जो कोई ईश्वरोपासक (**देवस्य शवसा**) आप के बल से (**असु रिणन्**) जीवता हुआ (**अपः**) कर्मों का (**प्रारिणाः**) प्रारम्भ करे तो वह (**शतक्रतुः**) बहुकर्मा (**विश्वम् अदेवम्**) सब देवविरोधिमात्र का (**ओजसा**) पुरुषार्थ से (**अभि भुवः**) तिरस्कार करे और (**ऊर्जम्**) पराक्रम को (**विदेत्**) पावे तथा (**इषम्**) अन्नादि सब सामग्री को (**विदेत्**) पावे ॥

इस में सायणाचार्य ने सामवेद से पाठ (भुवः) का व्याख्यान न करके ऋग्वेद २ । २२ । ४ के पाठ (भुवत्) की व्याख्या की है ॥ ऋ० में—यः=यत् । असु=असुम् । विदेत्=विदात् ये भी पाठान्तर हैं ॥१०॥

यह चतुर्थाऽध्याय में बारहवीं दशति समाप्त हुई ॥१२॥

तथा

कण्ववंशाऽवतंस श्रीमान् पं० स्वामी हजारीलाल के पुत्र
परीक्षितगढ़ जिला मेरठ) निवासी,
तुलसीराम स्वामिकृत सामवेद छन्दआर्चिक भाष्य में यह
चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ ॥४॥

समाप्तं चैन्द्रं पर्व काण्डं वा ॥२॥

अथ पञ्चमाऽध्यायः ॥

आग्नेय और ऐन्द्र नाम के दो पर्व वा काण्ड पूर्ण होकर अब पंचमाध्याय के साथ पावमान वा सौम्य पर्व का आरम्भ है। इसलिये प्रथम पवमान वा सोम शब्द के अर्थ का विचार करना चाहिये। पवमान सोम इन्द्र अग्नि आदि पदों का यद्यपि मुख्य और पूर्ण अर्थ तो परमेश्वर ही है क्योंकि असीम भाव से उन-उन पदों के अर्थ की सम्भावना परमात्मा में ही है, यह बात हम कई वार प्रथम निवेदित कर चुके हैं परन्तु तो भी आधिदैविक अर्थ का विचार शेष है सो किया जाता है। निघण्टु के चतुर्थ पञ्चम अध्यायों में जो पद नाम हैं उनमें पवमान पद नहीं देखा जाता, परन्तु "सोम" निघण्टु अध्याय ५ खण्ड ५ में दूसरा पद है। और श्रीमान् यास्कमुनि ने सोम और पवमान को एकार्थ भी बतलाया है। इन सबके जानने के लिये हम निरुक्त का पाठ॰ उद्धृत करते हैं:—

"सोम एक ओषधि है और यह सोम शब्द सुनोति धातु से बना है जो कि यह ओषधि भी निचोड़ी वा अर्क खींची जाती है। निघण्टु के अनुसार इसका बड़ा व्याख्यान है। जो आश्चर्य-सा है। प्रधानता से पवमान देवता वाली ऋचाओं में [नमूना] निदर्शनार्थ उदाहरण देंगे ॥२॥

ऋ० ९ । १ । १—स्वादिष्ठया मदिष्ठया० ग्रामदेऽपि छ० अ० ५ । द० १ । मं० २ ॥

यह सोम विषयक ऋचा निगद में व्याख्यात हो चुकी है। अब यह दूसरी ऋचा है जो इस सोम की वा चन्द्रमा की है ॥३॥

सोमं मन्यते पपिवान् ऋ० १० । ८५ । ३

"सोमं०—षधिम्" इतने भाग से यह वर्णन किया है कि असोम को सोम समझ अभिषुत कर लिया हो ॥ "सोमं०—विदुः" इस भाग में यह कहा है कि जो ठीक सोम है उसे पूर्ण विद्वान् जानते हैं और यज्ञ न करने वाला उसे नहीं जाना।

॰ पाठ संस्कृतभाष्य में है, यहाँ अर्थ मात्र है ॥

यह दशविषयक अर्थ हुआ। अब देवताविषयक अर्थ करते हैं—"सोमं०—पपिम्" इतने ऋग्भाग में असोम को सोम समझने की भूल कही है। "सोमं०—विदुः" में चन्द्रमा को सोम कहा है, उसे कोई नहीं खाता, जो अदेव है। अब एक और ऋचा है जो चन्द्रमा की वा इस सोम की है॥४॥

यत्त्वा देव प्रपिबन्ति० ऋ० १० । ८५ । ५

इस ऋचा के पूर्वार्ध में नाराशंसों का अभिप्राय है वा महीने के शुक्ल कृष्ण दो पक्षों का। उत्तरार्ध में वायु को सोम का रक्षक कहा है साहचर्य से वा रस हरने से। संवत्सरों की आकृति मास है। इससे सोम को या तो रूप विशेषों से ओषधि समझना चाहिये वा चन्द्रमा॥ निरुक्त ११ । २ । ५॥

इस प्रकार सोम शब्द से निरुक्तकार ने आश्चर्यगुणयुक्त सोमौषधि का ग्रहण किया है। और "पवमान देवतावाली ऋचाओं में निदर्शनार्थ उदाहरण देंगे" इससे आचार्य ने सोम और पवमान को एकार्थ ठहराया है और चन्द्रमा का नाम भी सोम बतलाया है। तथा सोम पद से महीने का अर्थ भी लिया है। और वेद के अर्थ में यौगिकार्थ की प्रधानता के कारण जिस-जिस मन्त्र में आये सोम वा पवमान शब्दों का जो-जो अर्थ ठीक घटेगा वह-वह किया जायगा। शतपथ ब्राह्मण में भी सोम शब्द के कई एक अर्थ पाये जाते हैं जैसा कि श० १२ । ६ । १ । १ में यज्ञ का नाम सोम है और उसके अंग ये देवता अर्थात् आहुतियें हैं॥ और श० ११ । ५ । ६ । ६ में साम ही सोमाहुति हैं देवतों की॥ तथा श० ७ । ३ । १ । ४५ में प्राण का नाम सोम है। और श० ५ । १ । ५ । २८ में ज्योति को सोम कहा है॥

अथ पञ्चमाध्याये प्रथमा दशतिः।

तत्र प्रथमायाः—अमहीयुर्ऋषिः। सोमो देवता। गायत्री छन्दः॥

४६७—उच्चा ते जातमन्धसो दिवि सद्भूम्या ददे।
उग्रँ शर्म महि श्रवः ॥१॥

भावार्थः—अगले मन्त्र में स्पष्ट सोम पद के ग्रहण को देख कर प्रकरण से हे सोम! (ते) तेरे (अन्धसः) अन्न—भोजन से (जातम्) उत्पन्न (उग्रम्) प्रभावशाली (शर्म) सुख को और (महि) बड़े (श्रवः) यश को (दिवि) स्वर्ग=सुखस्थान में (सत्) विद्यमान को (भूमिः) भूमिस्थ पुरुष (आददे) ग्रहण करता है॥

भाव यह है कि—पृथिवी के वे मनुष्य जो सोमरस का भोग लगाते हैं, वे उस से उत्पन्न हुए बड़े सुख और यश को प्राप्त होते हैं। सोमरस दुग्ध के समान श्वेत रंग वाली लताओं से निकलता है। यह बात ऋग्वेद ९। १०७। ९ में (सोमो दुग्धा०) लिखी है॥ ऋ० ९। ६१। १० में भी ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—मधुच्छन्दा ऋषिः। सोमो देवता। गायत्री छन्दः॥

१ २ ३ १ २ ३ १२ ३ १ २
४६८—स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया।
१ २ ३ १ २ ३ २
इन्द्राय पातवे सुतः ॥२॥

भावार्थः—(**सोम**) सोम ! (**इन्द्राय**) विद्युत् वा राजा के लिये (**पातवे**) चूसने वा पीने के लिये (**सुतः**) सम्पन्न किया हुआ (**स्वादिष्ठया**) स्वादिष्ट और (**मदिष्ठया**) अति हर्षकारक (**धारया**) धारा से (**पवस्व**) प्राप्त हो॥

अर्थात् मनुष्यों को इन्द्रयागार्थ वा राजार्थ ऐसा सोम खींचना चाहिए जो अतिहर्षकारक स्वादिष्ट और धार वाला हो॥ ऋ० ९। १। १ में भी ॥२॥

अथ तृतीयायाः—भृगुर्वारुणिर्ऋषिः। सोमो देवता। गायत्री छन्दः॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३२
४६९—वृषा पवस्व धारया मरुत्वते च मत्सरः।
२ ३ १ २३ १ २
विश्वा दधान ओजसा ॥३॥

भावार्थः—(**ओजसा**) बल सहित (**विश्वा**) सब गुणों को (**दधानः**) धारण किये हुए (**च**) और (**मत्सरः**) हर्षकारक (**वृषा**) वीर्य वृद्धिकारक सोम ! (**इन्द्राय**) इन्द्र के लिये (**धारया**) धार से (**पवस्व**) प्राप्त हो॥
ऋ० ९। ६५। १० में भी ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—प्रमहीयुर्ऋषिः। सोमो देवता। गायत्री छन्दः॥

२ ३ २ ३ १२ ३ १ २ ३ १ २
४७०—यस्ते मदो वरेण्यस्तेना पवस्वान्धसा।
३ १ २ ३ २
देवावीरघशँ्सहा ॥४॥

भावार्थः—हे सोम ! (**यः**) जो (**ते**) तेरा (**वरेण्यः**) स्वीकार करने

योग्य (**देवावीः**) देवों का रक्षक और (**अघशंसहा**) असुरों का नाशक (**मदः**) हर्षकर प्रभाव है (**तेन**) उस (**अन्धसा**) आदरयोग्य अन्न से (**पवस्व**) प्राप्त हो ॥

सोमरस में ऐसा मद—हर्ष है कि जिस से सज्जनों की रक्षा और दुर्जन का तिरस्कार होता है, इससे वह सब को स्वीकार करना चाहिए ॥

ऋ० ९। ६१। १९ में भी ॥४॥

अथ पञ्चम्याः—त्रित ऋषिः। सोमो देवता। गायत्री छन्दः॥

४७१—तिस्रो वाच उदीरते गावो मिमन्ति धेनवः।
हरिरेति कनिक्रदत् ॥५॥

भावार्थः—सोम के यज्ञ का वर्णन करता है—(**तिस्रः**) ऋग्, यजुः और साम तीन लक्षणयुक्त (**वाचः**) वाणियों को (**उदीरते**) ऋत्विज् लोग उच्चारते हैं और (**धेनवः गावः**) दुधार गौवें (**मिमन्ति**) [दुहने को] पुकारती हैं तथा (**हरिः**) सोम (**कनिक्रदत्**) अग्नि से गिरते हुए निरन्तर जलमय होने से चिटचिटा शब्द करता हुआ (**एति**) जाता है ॥

अर्थात् सोमरस की धार चिटचिटाती अग्नि में पड़ती है, ऋत्विज् लोग तीनों प्रकार की ऋचाओं का पाठ करते हैं और प्रातः गोदोहनकाल होता है, यह भी सूचित किया है ॥

अष्टाध्यायी ७। ४। ६५ धातुपाठादि के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥
ऋ० ९। ३३। ४ में भी ॥५॥

अथ षष्ठ्याः—कश्यप ऋषिः। सोमो देवता। गायत्री छन्दः॥

४७२—इन्द्रायेन्दो मरुत्वते पवस्व मधुमत्तमः।
अर्कस्य योनिमासदम् ॥६॥

भावार्थः—(**इन्दो**) सोम! (**मधुमत्तमः**) अतिमाधुर्ययुक्त (**मरुत्वते इन्द्राय**) वायु युक्त मेघस्थ विद्युत् को (**पवस्व**) प्राप्त हो (**अर्कस्य**) यज्ञ की (**योनिम्**) वेदि को (**आसदम्**) समीप करके बैठता हूँ।

अर्थात् वेदि के समीप बैठकर अति मधुर रसयुक्त सोम की आहुतियें दी जाती हैं॥ निघण्टु २। १४ में "पवते" यह गत्यर्थक धातु का प्रयोग है।
ऋग्वेद ९। ६४॥ २२ में भी ॥६॥

अथ सप्तम्याः– जमदग्निऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१ २ ३ १ २र ३ १ २र ३ २
४७३—असाव्यंशुर्मदायाप्सु दक्षो गिरिष्ठाः ।
३ २उ ३ १ २
श्येनो न योनिमासदत् ॥७॥

भावार्थः—(मदाय) हर्ष=वृद्धि के लिये (अंशुः) सोम (असावि) खींचा जाता है (गिरिष्ठाः) पर्वत पर उत्पन्न होता, वा मेघमण्डल में स्थित हुआ (अप्सु) अन्तरिक्षजल में (दक्षः) बलिष्ठ होता और बढ़ता है। यह सोम (श्येनो न) बिजुली के समान (योनिम्) अपने कारण को (आसदत्) प्राप्त हो जाता है ॥

सोम शीतप्रधान देशों वा पर्वतों में उत्पन्न होता है, विद्युत् के बल विशिष्ट होने से विद्युत् उसका कारण कहा जाता है। वह हवन किया हुआ अपने कारण विद्युत् और मेघ द्वारा पुनः पर्वतादि जन्मभूमियों को पहुँच जाता है ॥

निघण्टु १ । १४ का प्रमाण संस्कृतभाष्य के देखिये ॥
ऋ० ६ । ६२ । ४ में भी ॥७॥

अथाऽष्टम्याः—दृढच्युत आगस्त्य ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
४७४—पवस्व दक्षसाधनो देवेभ्यः पीतये हरे ।
३१ २ ३ २ ३ १२
मरुद्भ्यो वायवे मदः ॥८॥

भावार्थः—(हरे) सोम ! (दक्षसाधनः) बलसाधक (मदः) हर्षकारक (मरुद्भ्यः) ऋत्विजों के लिये (वायवे) वायु तथा (देवेभ्यः) अन्य व्यावहारिक देवतों के लिये (पवस्व) प्राप्त हो ॥

निघण्टु २।९ में "दक्ष" बल का नाम है ॥ ऋ० ९ । २५ । १ में भी ॥८॥

अथ नवम्याः—काश्यपोऽसित ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
४७५—परि स्वानो गिरिष्ठाः पवित्रे सोमो अक्षरत् ।
१ २ ३ १ २
मदेषु सर्वधा असि ॥९॥

भावार्थः—(गिरिष्ठाः सोमः) पहाड़ी सोम (स्वानः) खींचा हुआ

(पवित्रे) शुद्ध पात्र द्रोणकलशादि में (परि अक्षरत्) निचोड़ा जाता है वह (मदेषु) हर्षार्थ (सर्वधाः) सबका धारण करने वाला वा सबों से धारने योग्य (असि) है ॥

ऋ० ६ । १८ । १ के पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥६॥

अथ दशम्याः—ऋष्यादय उक्तवत् ॥

४७६—परि प्रिया दिवः कविर्वयांसि नप्त्योर्हितः ।
स्वानैर्याति कविक्रतुः ॥१०॥

इति पञ्चमाऽध्याये प्रथमा दशतिः ॥१०॥

भावार्थः—(कविक्रतुः) तीव्रबुद्धि (कविः) मेधावी (नप्त्योः हितः) आकाश पृथिवी का हितकारी पुरुष (स्वानैः) सोम खींचने वाले अपने साथी अध्वर्युओं सहित (दिवः) सुखस्थान की (प्रिया वयांसि) प्यारी आयुओं को (परि याति) सब ओर से प्राप्त होता है ॥

निघण्टु ३ । ३० का प्रमाण और ऋ० ६ । ६ । १ का अन्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥१०॥

यह पञ्चमाध्याय में प्रथम दशति समाप्त हुई ॥१॥

पवमानस्य गायत्र्यः प्रेत्यस्यां दशतौ दश ॥१॥

अथ द्वितीया दशतिः

तत्र प्रथमायाः—श्यावाश्व ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

४७७—प्र सोमासो मदच्युतः श्रवसे नो मघोनाम् ।
सुता विदथे अक्रमुः ॥१॥

भावार्थः—(मदच्युतः) मद चूने वाले [पके] (सुताः) खींचे हुए

(सोमासः) सोम (नः मघोनाम्) हम हवि वालों के (विदथे) यज्ञ में (श्रवसे) अन्न वा यश के लिये (प्र अक्रमुः) जाते हैं ॥

निघण्टु ३ । १७ और सायणाचार्य के प्रमाण तथा ऋ० ६ । ३२ । १ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ द्वितीयायाः—त्रित ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१ २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
४७८—प्र सोमासो विपश्चितोऽपो नयन्त ऊर्मयः ।
१ २ ३ १ २
वनानि महिषा इव ॥२॥

भावार्थः—(विपश्चितः सोमासः) बुद्धिवर्धक सोम (अपः ऊर्मयः) जल की लहरें (इव) सी (महिषाः) महान् (वनानि) जलों के प्रति (प्र नयन्त) जाते हैं ॥

निघण्टु १ । २ ॥ ३ । ३ इत्यादि प्रमाण और ऋ० ६।३३।१ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ तृतीयायाः—अमहीयुर्ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्द ॥

१२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
४७९—पवस्वेन्दो वृषा सुतः कृधी नो यशसो जने ।
२ ३ २ ३ १ २
विश्वा अप द्विषो जहि ॥३॥

भावार्थः—(इन्दो) हे सोम ! वा परमेश्वर ! (वृषा) वीर्यवर्धक, वा कामना पूर्ण करने वाला (सुतः) खींचा हुआ, वा हृदय कमल में साक्षात् किया हुआ तू (पवस्व) प्राप्त हो और (जने) मनुष्यवर्ग में (नः) हमको (यशसः) यशस्वी (कृधि) कर तथा (विश्वा) सब (द्विषः) शत्रुओं, वा काम क्रोधादिकों को (अप जहि) नष्ट कर।

भौतिकपक्ष में भाव यह है कि—सोम का सेवन करने वाले मनुष्यों में यश वाले, पराक्रमी और शत्रुओं का नाश करने वाले होने सम्भव हैं ॥

ऋग्वेद ९ । ६१ । २८ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—भृगुर्ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३
४८०—वृषा ह्यसि भानुना द्युमन्तं त्वा हवामहे ।
१ २ ३ १ २
पवमान स्वर्दृशम् ॥४॥

भावार्थः—(**पवमान**) हे पवित्र कारक ! सोम ! वा परमेश्वर ! (**भानुना द्युमन्तम्**) प्रकाश से दीप्तिमान् (**स्वर्दृशम्**) सुख दिखाने वाले (**त्वा**) तुझ को (**हवामहे**) हम हवन करते, वा पुकारते हैं (**हि**) निश्चय तू (**वृषा**) वीर्य-वर्धक, वा कामनापूरक (**असि**) है ॥

भौतिकपक्ष में भाव यह है कि—सोम शुद्धिकारक, प्रकाश वाला, सुखदायक और वीर्यवर्धक है ॥

ऋ० ६ । ६५ । ४ में (पवमान स्वाध्यः) पाठ है ॥४॥

अथ पञ्चम्याः—कश्यप ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

४८१—इन्दुः पविष्ट चेतनः प्रियः कवीनां मतिः ।
सृजदश्वं रथीरिव ॥५॥

भावार्थः—(**मतिः**) मन का बढ़ाने वाला (**चेतनः**) बुद्धि का जगाने वाला (**कवीनां प्रियः**) इसी से बुद्धिमानों का प्यारा (**इन्दुः**) सोम (**प्रविष्ट**) प्राप्त हो (**रथीरिव**) जैसे रथी (**अश्वम्**) रथ के घोड़े को (**सृजेत्**) छोड़े ॥

ऋग्वेद ६ । ६४ । १० में (मती) पाठ है ॥५॥

अथ षष्ठ्याः—ऋष्यादयः पूर्ववत् ॥

४८२—असृक्षत प्र वाजिनो गव्या सोमासो अश्वया ।
शुक्रासो वीरयाशवः ॥६॥

भावार्थः—(**गव्या**) गौवों की इच्छा से (**अश्वया**) अश्वों के अभिलाष से (**वीरया**) और वीर पुरुषों की आकाङ्क्षा से (**वाजिनः शुक्रासः आशवः सोमासः**) बलिष्ठ वीर्यवर्धक वेग वाले सोम (**प्र असृक्षत**) [अग्नि में] छोड़े जाते हैं ॥

अर्थात् जो लोग वेदानुकूल सोमयागादि करते हैं उनकी गौ, अश्व, वीर पुरुष आदि सब पदार्थों के लिये इच्छा को परमात्मा पूर्ण करता है ॥

ऋ० ६ । ६४ । ४ में भी ॥६॥

अथ सप्तम्याः निध्रुविः काश्यप ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

४८३—पवस्व देव आयुषगिन्द्रं गच्छतु ते मदः ।
वायुमा रोह धर्मणा ॥७॥

भावार्थः—सोम ! (**देवः**) दिव्यगुणयुक्त तू (**आयुषक्**) जिससे साथ मिल जावे इस प्रकार (**वायुम्**) वायु को (**धर्मणा**) स्वभाव से (**आरोह**) चढ़ और (**ते मदः**) तेरा हर्षकारक प्रभाव (**इन्द्रम्**) सूर्य वा मेघस्थ विद्युत् को (**गच्छतु**) जावे, इसलिये (**पवस्व**) प्राप्त हो ।।

जो सोम हवन किया जाता है उसका सारांश वा प्रभाव वायु में चढ़कर सूर्य और मेघस्थ विद्युत् को प्राप्त होता है । इससे पूर्वमन्त्रोक्त फल होते हैं, यह तात्पर्य है ।।

ऋ० ९ । ६३ । २२ में (देवायुषक्) पाठ है ।।७।।

अथाऽष्टम्याः—अमहीयुर्ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ।।

४८४—पवमानो अजीजनद्दिवश्चित्रं न तन्यतुम् ।
ज्योतिर्वैश्वानरं बृहत् ।।८।।

भावार्थः—(**पवमानः**) सोम [हवन किया हुआ] (**दिवः**) आकाश से (**तन्यतुम्**) विस्तीर्ण (**बृहत्**) बड़ी (**वैश्वानरम्**) बिजुली की (**ज्योतिः**) ज्योति को (**चित्रं न**) विचित्र सी (**अजीजनत्**) उत्पन्न करता है ।।

अथवा—(**पवमानः**) पवित्र पुरुष (**दिवश्चित्रं न**) प्रकाश के विचित्र से (**तन्यतुम्**) विस्तीर्ण (**वैश्वानरम् ज्योतिः**) ईश्वरीय तेज को (**अजीजनत्**) आत्मा में प्रकट करता है ।।

उणादि ४ । २ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।।
ऋ० ९ । ६१ । १६ में भी ।।८।।

अथ नवम्याः—काश्यपोऽसित ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ।।

४८५—परि स्वानास इन्दवो मदाय बर्हणा गिरा ।
मधो अर्षन्ति धारया ।।९।।

भावार्थः—(**स्वानासः**) अभिषुत किये हुए (**इन्दवः**) सोम (**बर्हणा, गिरा**) महती वेदवाणी के साथ (**मधो धारया**) मधुर धार से (**मदाय**) [वायु विद्युत् आदि देवों के] मदार्थ (**परि अर्षन्ति**) सब ओर जाते हैं ।।

ऋग्वेद ९ । १० । ४ में जो पाठान्तर है वह संस्कृतभाष्य में देखिये ।।९।।

अथ दशम्याः—ऋष्यादिकं पूर्ववत् ॥

४८६—परि प्रासिष्यदत्कविः सिन्धोरूर्मावधि श्रितः ।
कारुं बिभ्रत्पुरुस्पृहम् ॥१०॥

इति पञ्चमाध्याये द्वितीया दशतिः ॥२॥

इति पञ्चमः प्रपाठकः ॥५॥

भावार्थः—(**कविः**) बुद्धिमान् यजमान (**पुरुस्पृहम्**) बहुतों से चाहे हुए (**कारुम्**) स्तोता ऋत्विज् को (**बिभ्रत्**) धारण किये हुए (**सिन्धोः ऊर्मौ अधिश्रितः**) मन की लहर पर ठहरा हुआ (**परि प्रासिष्यदत्**) सोम को अग्नि में होम करता है ॥

अर्थात् यजमान और ऋत्विज् सबको मिलकर यज्ञ में सोम होम करना चाहिये ॥

शतपथ ७ । ५ । २ । ५२ निघण्टु ३ । १६ के प्रमाण और ऋ० ६।१४।१ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥१०॥

यह पञ्चमाध्याय में दूसरी दशति पूर्ण हुई ॥२॥

यह पांचवां प्रपाठक पूर्ण हुआ ॥५॥

उपोषु जातमित्यस्यां दशतौ दश कीर्त्तिताः ।
गायत्र्यः सोमदैवत्या विज्ञातव्या मनीषिभिः ॥१॥

अथ तृतीया दशतिः ॥

तत्र प्रथमायाः अमहीयुर्ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

४८७—उपो षु जातमप्तुरं गोभिर्भङ्गं परिष्कृतम् ।
इन्दुं देवा अयासिषुः ॥१॥

भावार्थः—(**देवाः**) वायु बिजुली आदि देवता, (**परिष्कृतम्**) स्वच्छ किये हुए (**भंगम्**) पत्थरों से छेते हुए (**अप्तुरम्**) मेघस्थ जलों में जाने वाले (**सुजातम्**) उत्तम उत्पन्न हुए (**इन्दुम्**) सोम को (**गोभिः**) अपनी-अपनी

किरणों से (उप उ अयासिषुः) समीप प्राप्त होते ही हैं ॥

ऋ० ९ । ६१ । १३ में भी ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—बृहन्मतिराङ्गिरस ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

४८८—पुनानो अक्रमीदभि विश्वा मृधो विचर्षणिः ।
शुम्भन्ति विप्रं धीतिभिः ॥२॥

भावार्थः—(विचर्षणिः) जो विविध प्रकार का देखा जाता है वह (पुनानः) सोम (विश्वाः मृधः) समस्त शत्रु सेनाओं को (अभि, अक्रमीत्) अभिभूत करता है इसलिये उस (विप्रम्) बुद्धितत्त्व को जगाने वाले सोम को (धीतिभिः) अङ्गुलियों से (शुम्भन्ति) संस्कृत करते हैं ॥

निघण्टु ३ । ११ ॥ २ । १७ ॥ ३ । १५ ॥ २ । ५ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ९ । ४० । १ में भी ॥२॥

अथ तृतीयायाः—असितः काश्यपो जमदग्निर्वा ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

४८९—आविशन् कलशं सुतो विश्वा अर्षन्नभि श्रियः ।
इन्दुरिन्द्राय धीयते ॥३॥

भावार्थः—(सुतः) सम्पन्न किया हुआ (इन्दुः) सोम (विश्वाः श्रियः) सब सम्पदाओं को (अभि, अर्षन्) सर्वतः फैलाता हुआ (कलशम् आविशन्) द्रोणकलश नामक कलशे में प्रविष्ट होता हुआ (इन्द्राय) यजमान राजा के लिये (धीयते) 'दशापवित्र' पर रक्खा जाता है ॥

ईश्वरपक्ष में—(सुतः) शमादिसम्पन्न (इन्दुः) योगैश्वर्य वाला पुरुष (विश्वाः श्रियः अभ्यर्षन्) सब योगसम्पत्तियों को सब ओर फैलाता हुआ(कलशम्) प्रजापति में (आविशन्) अपने को प्रविष्ट जानता हुआ (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये (धीयते) उपस्थित होता है ॥

शतपथ ४ । ३ । १ । ६ में प्रजापति को द्रोणकलश कहा है ॥ ऋ० ९ । ६२ । १९ में जो पाठभेद है वह संस्कृतभाष्य में देखिये ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—प्रभूवसुर्ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

४९०—असर्जि रथ्यो यथा पवित्रे चम्वोः सुतः ।
कार्ष्मन्वाजी न्यक्रमीत् ॥४॥

भावार्थः—(**यथा**) जिस प्रकार (**रथ्यः**) रथ में युक्त (**वाजी**) घोड़ा (**काष्ठर्मन्**) इधर उधर आकर्षण वाले संग्राम में (**चम्वोः**) दो सेनाओं में (**न्यक्रमीत्**) नितराम् चलता है, इसी प्रकार (**सुतः**) सम्पन्न किया हुआ सोम (**पवित्रे**) दशापवित्र पर (**असर्जि**) छोड़ा जाता है ॥

ऋ० ९ । ३६ । १ में भी ॥४॥

अथ पञ्चम्याः—मेध्यातिथिर्ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

४६१—प्र यद्गावो न भूर्णयस्त्वेषा अयासो अक्रमुः ।
घ्नन्तः कृष्णामप त्वचम् ॥५॥

भावार्थः—(**न**) जैसे (**भूर्णयः**) त्वरायुक्त (**त्वेषाः**) प्रकाशयुक्त (**अयासः**) गमनशील (**गावः**) किरणें (**कृष्णां त्वचम्**) अन्धियारी ढकने वाली रात्रि को (**अप घ्नन्तः**) दूर करते हुए (**प्र, अक्रमुः**) उत्कृष्टता से चलते हैं, वैसे ही (**यत्**) जो सोम भी प्रकाशादि के करने वाले होते हैं ॥

निघण्टु २ । १४ ॥ १ । ५ धातुपाठ भ्वा० आ० ॥ तु० प० आदि के प्रमाण तथा ऋ० ९ । ४१ । १ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥५॥

अथ षष्ठ्याः—निध्रुविर्ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

४६२—अपघ्नन्पवसे मृधः क्रतुवित्सोम मत्सरः ।
नुदस्वादेवयुं जनम् ॥६॥

भावार्थः—(**सोम**) हे परमेश्वर ! वा ओषधे ! (**मत्सरः**) हर्षदायक और (**क्रतुवित्**) बुद्धिलाभकारक तू (**मृधः**) शत्रुओं को (**घ्नन्**) विनष्ट करता हुआ (**पवसे**) प्राप्त होता है । सो तू (**अदेवयुं जनम्**) देवतों का यजन न चाहने वाले पुरुष को (**अप नुदस्व**) दूर भगा ॥

सेवन किया हुआ परमेश्वर और सोमौषधि, सर्वशत्रुओं की निवृत्ति, बुद्धि की वृद्धि, हर्ष का दान और दस्युओं का नाश करता है ।

ऋ० ९ । ६३ । २४ में भी ॥६॥

अथ सप्तम्याः—ऋष्यादय उक्तवत् ॥

४६३—अया पवस्व धारया यया सूर्यमरोचयः ।
हिन्वानो मानुषीरपः ॥७॥

भावार्थः— सोम=परमेश्वर ! वा ओषधे ! (**मानुषीः अपः**) मनुष्यों के कर्मों को (**हिन्वानः**) प्रेरित करता हुआ तू (**यया धारया**) जिस तेजोरूप धार वा बहती धार से (**सूर्यम्**) सूर्य लोक को (**अरोचयः**) प्रकाशित वा आप्यायित करता है (**अया**) उसी धार से (**पवस्व**) प्राप्त हो ॥

परमेश्वर वा सोम मनुष्यों को कर्म करने का सामर्थ्य देता और सूर्यलोक को अपने तेज वा धार से प्रकाशित वा आप्यायित करता है ॥७॥

ऋ० ९ । ६३ । ७ में भी ॥७॥

अथाष्टम्याः—अमहीयुर्ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१ २ ३ २उ ३ १ २ ३ २३ १२
४९४—स पवस्व य आविथेन्द्रं वृत्राय हन्तवे ।

३ १ २ ३ २ ३ २
वव्रिवाँसं महीरपः ॥८॥

भावार्थः—सोम ! ओषधे (**यः**) जो तू (**महीः अपः वव्रिवांसम्**) भारी जलों को रोके हुए (**वृत्राय**) मेघ को (**हन्तुम्**) हनन करने के लिये (**इन्द्रम्**) विद्युत् वा सूर्य को (**आविथ**) तृप्त करता है (**सः**) वह तू (**पवस्व**) अग्नि में हुत हो ॥

ईश्वरपक्ष में--सोम ! परमेश्वर ! (**यः**) जो आप (**मही अपः वव्रिवांसम् वृत्रम्**) भारी शुभकर्मों को रोकते हुए पाप को (**हन्तुम्**) विनष्ट करने के लिये (**इन्द्रम् आविथ**) जीवात्मा को तृप्त करते हैं (**सः पवस्व**) वह आप हमें प्राप्त हों ॥

ऋ० ९ । ६१ । २२ में भी ॥८॥

अथ नवम्याः—ऋष्यादय उक्तवत् ॥

४९५—अया वीती परि स्रव यस्त इन्दो मदेष्वा ।

३ १ २ ३ १ २र
अवाहन्नवतीर्नव ॥९॥

भावार्थः—(**इन्दो**) सोम ! (**अया वीती**) उस व्याप्ति से (**परिस्रव**) अग्नि में टपक कि (**यः**) जिससे आप्यायित जो सूर्य (**ते मदेषु**) तेरे उत्पादित हर्षों के होने पर (**नव नवतीः**) ८१० मेघों को (**आ**) सब ओर से (**अवाऽहन्**) हनन करता है ॥

अथवा (**इन्दो**) परमेश्वर ! (**अया वीती परिस्रव**) उस व्याप्ति से

अमृत वर्षाओ कि (यः) जिससे आप्यायित जीवात्मा (ते मदेषु) आपकी की हुई अमृतदृष्टि से उत्पन्न आनन्दों के होने पर (नव नवतीः) ८१० पापों को (आ) सब ओर से (अवाऽहन्) हनन करता है ॥

(नव नवतीः) का व्याख्यान विस्तारपूर्वक अध्याय २ दशति ७ ऋचा ५ (१७९) में कर आये हैं वहां देख लीजिए ॥ ऋ० ९ । ६१ । १ में भी ॥९॥

अथ दशम्याः—उक्थ्य ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

४९६—परि द्युक्षं सनद्रयिं भरद्वाजं नो अन्धसा ।
स्वानो अर्ष पवित्र आ ॥१०॥

इति पञ्चमाध्याये तृतीया दशतिः ॥३॥

भावार्थ—(स्वानः) सोम वा परमेश्वर (नः) हमारे लिये (द्युक्षं सनद्रयिं वाजम्) प्रकाशमान धनदायक बल को (अन्धसा) अन्न सहित (परिभरत्) सब ओर से प्राप्त करावे और (पवित्रे) दशापवित्र पर, वा पवित्र हृदय में (आ अर्ष) सर्वतः प्राप्त हो ॥

सोमयाग वा ईश्वर की कृपा से मनुष्य धन धान्य बलादि को प्राप्त होते हैं । व्याकरण का प्रमाण और ऋ० ९ । ५२ । १ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥१०॥

यह पञ्चमाध्याय में तीसरी दशति समाप्त हुई ॥३॥

अचीति दशतौ सौम्यो गायत्र्यो हि चतुर्दश ॥१॥
अथ चतुर्थी दशतिः

तत्र प्रथमायाः—मेध्यातिथिर्ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

४९७—अचिक्रदद्वृषा हरिर्महान्मित्रो न दर्शतः ।
सं सूर्येण दिद्युते ॥१॥

भावार्थः—(**वृषा**) वृष्टिकारक वा वीर्यवर्द्धक (**हरिः**) हरा वा हरण-शील (**मित्रः न महान्**) मित्र के समान सत्कारार्ह (**दर्शतः**) देखने योग्य सोम (**सूर्येण सम्**) सूर्य के साथ (**दिद्युते**) प्रकाश करता (**अभिक्रदत्**) और अग्नि में डाला हुआ चिटचिटा शब्द करता है क्योंकि जलयुक्त होता है ॥ ऋ० ९ । २ । ६ में भी ॥

अथ द्वितीयायाः—भृगुर्ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

२ ३ १२ ३ २३ १ २ ३ १ २
४९८—आ ते दक्षं मयोभुवं वह्निमद्या वृणीमहे ।
२ ३ १ २३ १ २
पान्तमा पुरुस्पृहम् ॥२॥

भावार्थः— सोम ! वा परमेश्वर ! (**ते**) तेरे उस (**मयोभुवम्**) सुख-कारक (**आपान्तम्**) सर्वतो रक्षा करते हुए (**पुरुस्पृहम्**) बहुतों से कामना किये हुए (**दक्षम्**) बल रूपी (**वह्निम्**) अग्नि को जो प्रकाशक और प्रापक है (**अद्य**) आज यज्ञ दिन में (**आ वृणीमहे**) सब ओर से हम वरण करते हैं ॥
ऋ० ९ । ६५ । २८ में भी ॥२॥

अथ तृतीयायाः—उचथ्यः ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ २ ३ १ २
४९९—अध्वर्यो अद्रिभिः सुतँ सोमं पवित्र आ नय ।
३ १ २ ३ १ २
पुनाहीन्द्राय पातवे ॥३॥

भावार्थ—(**अध्वर्यो**) हे अध्वर्यु ! (**अद्रिभिः सुतं सोमम्**) शिलबट्टों से छेतकर स्वरस निकाले हुए सोम को (**पवित्रे आनय**) दशापवित्र पर ला और (**इन्द्राय पातवे पुनाहि**) इन्द्र अर्थात् सूर्य वा विद्युत् वा यजमान राजा के लिये पीने का स्वच्छ कर ॥ ऋ० ९।५१।१ में जो पाठभेद है वह संस्कृतभाष्य में देखिये ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—प्रवत्सार ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

२३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र
५००—तरत्स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः ।
२ ३ ३ १ २
तरत्स मन्दी धावति ॥४॥

भावार्थः—(**धारासुतस्य**) धार बांध कर निचोड़े हुए सोमरूप (**अन्धसः**)

अन्न के [उपभोग से] (सः) वह इन्द्र अर्थात् विद्युत् वा राजा (मन्वी) हृष्ट-पुष्ट (तरत्) तीव्रतायुक्त (धावति) गमन वा प्राप्ति करता है (तरत्स मन्वी धावति) यह दूसरी बार वीप्सा अर्थात् अत्यन्त अभिलाषा प्रकट करने को कहा गया है ॥

ऋ० ६ । ५८ । १ में भी ॥

निरुक्त के परिशिष्ट १३ । ६ में इस ऋचा का व्याख्यान इस प्रकार मिलता है कि "वह आनन्दयुक्त जो स्तुति करता है, सब पाप से तरता और उत्तम गति को प्राप्त होता है । धार से निचोड़े, मन्त्र से पवित्र किये, वाणी से स्तुत किये [सोम] का" ॥४॥

अथ पञ्चम्याः—निध्रुविकश्यप ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

५०१—आ पवस्व सहस्रिणं रयिं सोम सुवीर्यम् ।
अस्मे श्रवांसि धारय ॥५॥

भावार्थः—(सोम) ओषधे ! वा परमेश्वर ! (अस्मे) हमारे लिये (सहस्रिणम्) बहुत संख्या वाले (सुवीर्यम्) शोभन वीर्ययुक्त (रयिम्) धन का (आपवस्व) लाभ करा और (श्रवांसि) यशों का (धारय) धारण करा । अर्थात् सोमयज्ञ और ईश्वर की कृपा से मनुष्यों को धन वीर्य और यश प्राप्त होते हैं ॥

अष्टाध्यायी के "सुपां०" ७ । १ । ३९ इस सूत्र से यहाँ चतुर्थी विभक्ति को शे आदेश होकर (अस्मे)रूप हुआ और यही रूप सातों विभक्तियों में इसी सूत्र से होता है जैसा कि प्रथमार्थ में, द्वितीयार्थ में, तृतीयार्थ में और इसी मन्त्र में चतुर्थ्यर्थ में, पञ्चम्यर्थ में, ऋ० ३ । ३० । १९ में षष्ठ्यर्थ में और सप्तम्यर्थ में ऊपर संस्कृतभाष्य में है ॥ ऋ० ९ । ६३ । १ में भी ॥५॥

अथ षष्ठ्याः—ऋष्यादिकमुक्तवत् ॥

५०२—अनु प्रत्नास आयवः पदं नवीयो अक्रमुः ।
रुचे जनन्त सूर्यम् ॥६॥

भावार्थः—सोम के उपभोग और यजन से (प्रत्नासः आयवः) बूढ़े पुरुष (नवीयः पदम्) नवयौवन को (अनु अक्रमुः) क्रमशः प्राप्त होते हैं, इस कारण (रुचे) प्रकाश के लिये (सूर्यम्) सूर्यवत् तेज करने वाले [सोम] को (जनन्त) लोग उत्पन्न करते हैं ॥ ऋ० ९ । २३ । २ में भी ॥६॥

अथ सप्तम्याः—भृगुर्ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

५०३—अर्षा सोम द्युमत्तमोऽभि द्रोणानि रोरुवत् ।
सीदन् योनौ वनेष्वा ॥७॥

भावार्थः—(द्युमत्तमः) दीप्तियुक्त, (योनौ, वनेषु, आसीदन्) अपने स्थान, जलों में, स्थित (द्रोणानि, अभि, रोरुवत्) द्रोण कलशों की ओर, शब्द करता हुआ (सोम) सोमरस (अर्ष) जाता है ॥

जब दशापवित्र में से निकलता और द्रोण कलश में धार बन्धकर सोमरस पड़ता है, तो धध धध शब्द करता हुआ सोमसेवियों को आनन्द देता है ॥

यद्वा (सोम) हे परमेश्वर ! (द्युमत्तमः) अनन्त प्रकाश वाले आप (योनौ वनेषु) गृहरूप हृदयकमलों में (आ सीदन्) विराजमान हुए (द्रोणानि) उपासनारूपी यज्ञ के द्रोणकलश जो हमारे हृदय हैं । (अभि) उनकी ओर (रोरुवत्) वेदशब्दों का उपदेश करते हुए (अर्ष) प्राप्त हूजिये ॥

निघण्टु ३ । ४ में योनि=गृह का नाम है ॥७॥

अथाष्टम्याः—कश्यप ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

५०४—वृषा सोम द्युमाँ असि वृषा देव वृषव्रतः ।
वृषा धर्माणि दध्रिषे ॥८॥

भावार्थः—(देव) दिव्यगुणयुक्त ! (सोम) परमेश्वर ! वा सोमौषधे ! (वृषा असि) तू अमृत वर्षाने वाला, वा मेघ वर्षाने वाला है (वृषा) वीर्यदाता (वृषा) वीर्यवान् (द्युमान्) प्रकाश वाला (वृषव्रतः) श्रेष्ठ कर्म वाला, वा यज्ञ वाला तू (धर्माणि दध्रिषे) धर्मयुक्तकर्मों, वा यज्ञों का धारण करता है ॥

सब यज्ञ वा अन्य उत्तम कर्म, परमेश्वर के अनुग्रह और सोमादि ओषधियों के प्रयोग से सिद्ध होते हैं, तथा सब प्रकार का बल और वीर्य प्राप्त होता है ॥

ऋ० ९ । ६४ । १ में (दधिषे) पाठ है ॥८॥

अथ नवम्याः—ऋष्यादयः पूर्ववत् ॥

५०५—इषे पवस्व धारया मृज्यमानो मनीषिभिः ।
इन्दो रुचाभि गा इहि ॥९॥

भावार्थः—(इन्दो) सोम ! वा परमेश्वर ! (मनीषिभिः) यज्ञ के अध्वर्युओं, वा उपासकों से (मृज्यमानः) शोधा जाता हुआ, वा ढूंढा जाता हुआ तू (इषे) गेहूँ आदि अन्न के लिये, वा आत्मा की तृप्तिकारक ध्यानानन्दरस के लिये (धारया पवस्व) धार से प्राप्त हो, वा धारणा से प्राप्त हो और (रुचा) चमक से, वा ज्ञान के प्रकाश से (गाः) स्तुतिकर्ताओं को (अभि, इहि) सर्वतः प्राप्त हो ॥

निघण्टु २ । ७ ॥ ३ । १५ ॥ ३ । १६ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ९ । ६४ । १३ में भी ॥९॥

अथ दशम्याः—असित ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

५०६—मन्द्रया सोम धारया वृषा पवस्व देवयुः ।
अव्या वारेभिरस्मयुः ॥१०॥

भावार्थः—(सोम) हे अमृतस्वरूप ! परमेश्वर ! वा ओषधे (वृषा) अमृतवर्षी, वा जलवर्षी (देवयुः) देवों=विद्वानों को चाहने वाला, वा वायु आदि देवों को चाहने वाला (अस्मयुः) और हमको चाहने वाला तू (वारेभिः) अपने वरणीय उत्तम गुणों से (अव्याः) हमारी रक्षा कर और (मन्द्रया धारया) गम्भीर अमृतधारा से वा जलधारा से (पवस्व) वृष्टि कर ॥

ऋग्वेद ९ । ६ । १ में (अव्यो वारेष्वस्मयु) पाठ है ॥१०॥

अथैकादश्याः—कविर्भार्गवो, भारद्वाजो वा ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

५०७—अया सोम सुकृत्यया महांत्सन्नभ्यवर्धथाः ।
मन्दान इद्वृषायसे ॥११॥

भावार्थः—(सोम) अमृतस्वरूप परमेश्वर ! वा ओषधे ! (मन्दानः) आनन्द (सन्) हुआ (महान्) सत्कारयोग्य तू (इत्) ही (वृषायसे) मेघ के सा काम करता है । क्योंकि (अया सुकृत्यया) इस उत्तम धारा से (अभ्यवर्धथाः) अमृतवर्षा वा वर्षा करके बढ़ाता है ॥

ऋ० ९ । ४७ । १ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥११॥

अथ द्वादश्याः—जमदग्निर्ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

५०८—अयं विचर्षणिर्हितः पवमानः स चेतति ।
हिन्वान आप्यं बृहत् ॥१२॥

भावार्थः—(अयम्) यह सोम अमृतस्वरूप परमात्मा, वा ओषधिविशेष (विचर्षणिः) प्रकाशक (हितः) हितकारी (पवमानः) और शुद्धिकारक है। (सः) वह (बृहत्) बड़े (आप्यम्) कर्मफल वा, जलोद्भव धान्य को (हिन्वानः) प्रेरित करता हुआ (चेतति) बुद्धि को बढ़ाता है ॥

विचर्षणि=प्रकाशक । निघण्टु ३ । ११ ॥ ऋ० ९।६२।१० में भी ॥१२॥

अथ त्रयोदश्याः—अयास्य आङ्गिरसो वा ऋषिः ।
सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१ २ ३ १ २र ३ १ २र
५०९—प्र न इन्दो महे तु न ऊर्मिं न बिभ्रदर्षसि ।
३ २ ३ २ ३ १ २
अभि देवां अयास्यः ॥१३॥

भावार्थः—(इन्दो) अमृतस्वरूप परमेश्वर ! वा ओषधे ! (देवान्) विद्वान् उपासकों, वा याज्ञिकों को (अभि, अयास्यः) तू सर्वतः प्राप्त होता है और (नः) हमारे (महे) बड़े (तुने) ज्ञान धन, वा धान्यादि धन के लिये (ऊर्मि न) तरंग वा लहर सी (बिभ्रत्) धारण कराता हुआ (प्र, अर्षसि) उच्चभाव से प्राप्त होता है ॥

जिस प्रकार सोमरस से उत्पन्न हुआ हर्ष मनुष्यों के हृदयों में तरंग सी उठाता है, इसी प्रकार परमात्मा की प्राप्ति से उत्पन्न हुआ आनन्द भी उपासकों के हृदय में लहर सी उठाता है और मग्न कर देता है। इसको वे लोग ही जानते हैं, जिन्हें अनुभव है ॥

निघण्टु २ । १० का प्रमाण और ऋग्वेद ९ । ४४ । १ का पाठभेद संस्कृत-भाष्य में देखिये ॥१३॥

अथ चतुर्दश्याः—अमहीयुर्ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

३ १ २३ २उ ३ २ ३ १ २
५१०—अपघ्नन्पवते मृधोऽप सोमो अराव्णः ।
२ ३ १ २ ३ २
गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम् ॥१४॥

इति पञ्चमाध्याये चतुर्थी दशतिः ॥४॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! (सोमः) सेवन किया हुआ परमेश्वर, वा सोम (अराव्णः अपघ्नन्) अदाता अयाज्ञिक यज्ञविरोधी पापियों को दूर करता हुआ तथा (मृधः अप) शत्रुओं को दूर करता हुआ (इन्द्रस्य निष्कृतम्) परमात्मा के पवित्रपद मोक्ष को, वा इन्द्रपदवी को (गच्छन्) प्राप्त कराता हुआ (पवते) प्राप्त होता है ॥ ऋ० ९ । ६१ । २५ में भी ॥१४॥

यह पञ्चमाध्याय में चौथी दशति समाप्त हुई ॥४॥

पुनान इति पञ्चम्यां दशतौ द्वादश स्मृताः ।
पवमानस्य दैवत्यं बृहती छन्द एव च ॥१॥
भरद्वाजः काश्यपोऽत्रिर्जमदग्निश्च गोतमः ।
विश्वामित्रो वसिष्ठश्च सर्वासामृषयो मताः ॥२॥

श्लोकार्थः—"पुनानः" इत्यादि ५ वीं दशति की १२ ऋचाओं का पवमान देवता, बृहती छन्द और भरद्वाज, काश्यप, अत्रि, जमदग्नि, गोतम, विश्वामित्र और वसिष्ठ, ये सप्त ऋषि हैं ॥१।२॥

अथ पञ्चमी दशतिस्तत्र प्रथमा—

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र
५११—पुनानः सोम धारयापो वसानो अर्षसि ।
१ २ ३ १ २र ३१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२
आ रत्नधा योनिमृतस्य सीदस्युत्सो देवो हिरण्ययः ॥१॥

भावार्थः—(**सोम**) अमृतस्वरूप परमेश्वर ! आप (**धारया**) अमृत की धारा से (**पुनानः**) पवित्र करते हुए (**अप**) कर्मों और जीवात्माओं को (**वसानः**) व्यापक होकर आच्छादित किए हुए (**अर्षसि**) हमें प्राप्त होते हैं । और (**रत्नधाः**) रमणीय पदार्थों के धारण करने कराने वाले (**हिरण्ययः**) ज्योतिःस्वरूप (**उत्सः**) कूप के समान गम्भीर अमृत के कूप रूप (**देवः**) आप (**ऋतस्य**) सत्य वेद के (**योनिम्**) कारण अपने निज स्वरूप में (**आ सीदसि**) सब ओर व्याप कर स्थित हैं ॥

सोम के पक्ष में:—(**सोम**) ओषधे ! (**धारया पुनानः**) अपनी धार से शुद्ध करता हुआ (**अपः**) जलों में (**वसानः**) बसा हुआ (**अर्षसि**) हमें प्राप्त होता है और (**रत्नधाः**) रम्यपदार्थों का धारण कराने वाला (**देवः**) दिव्यगुण-युक्त (**हिरण्ययः**) चमकीला (**उत्सः**) द्रवरूप (**ऋतस्य**) यज्ञ के (**योनिम्**) स्थान में (**आ सीदसि**) अपने धूम से सब ओर फैल कर स्थित होता है ।

निघण्टु ३ । १० का प्रमाण और ऋ० ९ । १०७ । ४ का पाठभेद संस्कृत-भाष्य में देखिये ॥१॥

अथ द्वितीया—

२ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ २३ १
५१२—परीतो षिञ्चता सुतँ सोमो य उत्तमं हविः ।
३ १ २र ३ २ २उ ३ २ ३ २ ३ १ २
दधन्वाँ यो नर्यो अप्स्वा३न्तरा सुषाव सोममद्रिभिः ॥२॥

भावार्थः—(**यः**) जो (**सोमः**) सोम (**उत्तम हविः**) उत्तम हव्य पदार्थ है, उस (**सोमम्**) सोम को (**यः**) जो अध्वर्यु आदि पुरुष (**अप्सु अन्तः**) जलों के मध्य में (**अद्रिभिः आसुषाव**) पाषाणों से रस खींचता है वह पुरुष (**नर्यः**) मनुष्यों का हितकारी है और (**सुतम्**) खींचे हुए उस सोम को (**दधन्वान्**) धारण करने वाले तुम लोग (**इतः**) इस संसार में (**परिषिञ्चत**) हवन से सब ओर छिड़को=फैलाओ ॥

यद्वा—(**यः**) जो (**सोमः**) परमात्मा रूपी अमृत (**उत्तमं, हविः**) सर्वोत्तम ज्ञानयज्ञ का हवि ग्रहणयोग्य पदार्थ है, उस (**सोमम्**) परमात्मा रूपी अमृत (**अप्सु अन्तः**) कर्मों के साक्षिभूत को (**यः**) जो उपासक (**अद्रिभिः**) प्राणायामों से (**आसुषाव**) साक्षात्करता है, वह पुरुष (**नर्यः**) मनुष्यमात्र का हितकारी है और तुम लोग उस (**सुतम्**) साक्षात् किये हुए परमात्मा रूपी अमृत को (**दधन्वान्**) धारण करते हुए (**इतः**) इस संसार में (**परिषिञ्चत**) सब ओर छिड़को=आत्मज्ञान का उपदेश करो ॥

उणादि ४ । ६५ निघण्टु २ । १ इत्यादि प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ९ । १०७ । १ में भी ॥२॥

अथ तृतीया—

१ २ ३ १ २र ३ १ २र ३
५१३—आ सोम स्वानो अद्रिभिस्तिरो वाराण्यव्यया ।
२ ३ २ ३ २ ३क २र ३ २ २ २ ३ १ २
जनो न पुरि चम्वोर्विशद्धरिः सदो वनेषु दध्रिषे ॥३॥

भावार्थः—(**अद्रिभिः**) प्राणायामों से (**स्वानः**) साक्षात् किये जाते हुए और (**अव्यया, वाराणि, तिरः**) नहीं घटने वाली, सूर्य की किरणों को, तिरस्कृत [मात] करते हुए (**हरिः**) सब का ग्रहण करने वाले आप (**सोम**) हे अमृतस्वरूप ! परमात्मन् ! (**चम्वोः**) द्युलोक और पृथिवीलोकों में (**आ विशत्**) सर्वत्र प्रवेश किये हुए वर्त्त रहे है। दृष्टान्त—(**न**) जैसे (**जनः**) प्राणिवर्ग (**पुरि**) नगर में सर्वत्र प्रविष्ट रहते हैं तद्वत् । वह आप (**वनेषु**) एकान्त ध्यान-योग्य देशों में (**सदः**) हृदय कमलरूपी स्थान में (**दध्रिषे**) धारण किये जाते हैं ॥

यद्वा—(**अद्रिभिः स्वानः**) शिलबट्टों से स्वरस निकाला जाता हुआ और (**अव्यया**) न घटने वाली (**वाराणि**) सब की आच्छादक सूर्यकिरणों को (**तिरः**) अपनी चमक से तिरस्कृत करता हुआ (**हरिः**) हरितवर्ण धूम वाला (**सोम**) ओषधिविशेष ! (**चम्वोः**) हवन से पृथिवी आकाश में (**आविशत्**)

सर्वतः प्रवेश करके वर्तमान होता है (जनो न पुरि) जैसे नगरी में प्राणिवर्ग । और (वनेषु) मेघस्थ जलों में (सदः दधिषे) स्थान में धारण कराया जाता है ॥

अर्थात् जब मनुष्य सिलबट्टों से सोम का स्वरस निकाल कर अग्नि में हवन करते हैं, तब हरे रङ्ग के धुएं वाला सोम आकाश और पृथिवी में सूर्यकिरण सा चमकता हुआ मेघस्थ जलों में स्थान पाता है ॥

निघण्टु ३ । ३० का प्रमाण और ऋग्वेद ९ । १०७ । १० का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥३॥

अथ चतुर्थी—

५१४—प्र सोम देववीतये सिन्धुर्न पिप्ये अर्णसा ।
अंशोः पयसा मदिरो न
जागृविरच्छा कोशं मधुश्चुतम् ॥४॥

भावार्थः—(सोम) हे अमृत ! परमात्मन् ! (न) जैसे (सिन्धुः) समुद्र (अर्णसा) जल से (प्र पिप्ये) सर्वतः पूर्ण है, ऐसे ही आप (अंशोः पयसा) अमृत रूपी जल से पूर्ण हैं । अतएव कृपा करके (मदिरः) हर्षकारक (न) और (जागृविः) चेतन आप (देववीतये) विद्वान् उपासकों की तृप्ति के लिए (मधुश्चुतं कोशम्) आत्मा रूपी मधु को उपदेश द्वारा फैलाने वाले हृदयकोश को (अच्छ) प्राप्त हों ॥

यद्वा—(सोम) औषधिविशेष ! (सिन्धुर्नाऽर्णसा प्र पिप्ये) जैसे समुद्र जल से पूर्ण है, वैसे (अंशोः पयसा) लताखण्ड के रस से तू पूर्ण है, अतः (मदिरः) हर्षकारक (न) और (जागृविः) आलस्यनिवारक (देववीतये) देवयजन के लिये (मधुश्चुतं कोशम्) मधु टपकाने वाले द्रोणकलश को (अच्छ) प्राप्त हो ॥

जिस प्रकार समुद्र सर्वतः जल से पूर्ण है, इसी प्रकार सोम सर्वतः रस से पूर्ण है । हृष्टिपुष्टिकारक, आलस्यनिवर्त्तक वह सोम देवयजन के लिये द्रोणकलशादि पात्रों में रखकर वर्त्तना चाहिये । यह तात्पर्य है ॥

आत्मा का मधु नाम से वर्णन शतपथ के १४ वें काण्ड में आया है । ऋ० ९ । १०७ । १२ में भी ॥४॥

अथ पञ्चमी—

५१५—सोम उ ष्वाणः सोतृभिरधि ष्णुभिरवीनाम् ।
अश्वयेव हरिता याति धारया
मन्द्रया याति धारया ॥५॥

भावार्थः—(इव) जिस प्रकार (सोमः) सोम (सोतृभिः) अभिषव करने वाले अध्वर्युओं से (अवीनाम्) पर्वतों के (स्नुभिः) टुकड़ों=पाषाणों द्वारा (स्वानः) छेत कर स्वरस निकाला जाता हुआ (अश्वया) शीघ्रगामिनी (हरिता धारया) हरी धूमधारा से (अधि याति) ऊपर को जाता है (उ) इसी प्रकार [उपासित अमृत परमात्मा भी] (मन्द्रया धारया) गम्भीर धारणा से ध्यान किया हुआ (याति) भक्तों को प्राप्त होता है ॥

अमरकोश ३ । ३ । २०६ ॥ २ । ३ । ५ के प्रमाण और ऋ० ९ । १०७ । ८ का पाठभेद संस्कृत भाष्य में देखिये ॥५॥

अथ षष्ठी—

५१६—तवाहꣳ सोम रारण सख्य इन्दो दिवेदिवे ।
पुरूणि बभ्रो नि चरन्ति मामव
परिधीꣳरति ताꣳ इहि ॥६॥

भावार्थः—(बभ्रो) विश्वम्भर ! (इन्दो) परमैश्वर्यवन् ! (सोम) अमृत ! परमात्मन् ! (अहं तव सख्ये) मैं आपकी आज्ञानुवर्तिता में (दिवे दिवे रारण) प्रति दिन रमण करता हूँ (पुरूणि) अनेक योनियातनायें (माम्) मुझे (अव नि चरन्ति) सताती हैं । कृपया (तान् परिधीन्) उन उपाधि=बन्धनों को (अतीहि) निवारण करके प्राप्त हूजिये=मुक्ति दीजिये ॥

उणादि १ । २१, १ २२ अमर० ३ । ३ । १७० तथा हैमकोषादि के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद ९ । १०७ । १९ में भी ॥६॥

अथ सप्तमी—

५१७—मृज्यमानः सुहस्त्या समुद्रे वाचमिन्वसि ।
रयिं पिशङ्गं बहुलं पुरुस्पृहं पवमानाभ्यर्षसि ॥७॥

भावार्थः—(**पवमान**) हे पवित्र ! (**सुहस्त्या**) शोभनप्रकाश ! परमेश्वर ! (**मृज्यमानः**) अन्वेषण किये हुए आप (**समुद्रे**) हृदयान्तरिक्ष में (**वाचम् इन्वसि**) वाणी को प्रेरित करते हैं=वेदोपदेश करते हैं और (**पिशंगम्**) सुवर्णादि (**पुरुस्पृहम्**) बहुतों से चाहे हुए (**प्रभूतम्**) बहुत (**रयिम्**) धन को (**अभ्यर्षसि**) सब ओर से प्राप्त कराते=देते हैं ॥

उणादि ३ । ८६ निघण्टु १ । ३ ॥ २ । १४ के प्रमाण और ऋ० ९ । १०७ । २१ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥७॥

अथाष्टमी—

३ १ २र ३ २ ३ १२ ३ २ ३ १२
५१८—अभि सोमास आयवः पवन्ते मद्यं मदम् ।
३१ २र ३ १२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
समुद्रस्याधि विष्टपे मनीषिणो मत्सरासो मदच्युतः ॥८॥

भावार्थः—(**मनीषिणः**) ज्ञानी (**सोमासः**) जिन्होंने अमृत पाया है वे (**मत्सरासः**) इसी से आनन्द में मग्न और (**मदच्युतः**) आनन्द को उपदेश से फैलाने वाले (**आयवः**) मनुष्य (**मदम्**) आनन्दकारक (**मद्यम्**) रस को (**समुद्रस्य**) हृदयान्तरिक्ष के (**अधि**) भीतर (**विष्टपे**) स्थान में (**अभिपवन्ते**) सम्पादित करते हैं ॥

निघण्टु २।३ का प्रमाण और ऋग्वेद ९ । १०७ । १४ का पाठभेद संस्कृत-भाष्य में देखिये ॥८॥

अथ नवमी—

३ १ २ ३ १ २ ३२ ३ २ ३ १ २ ३ २
५१९—पुनानः सोम जागृविरव्या वारैः परि प्रियः ।
१ २र ३ १ २ ३ १ २
त्वं विप्रो अभवोऽङ्गिरस्तम मध्वा यज्ञं मिमिक्ष णः ॥९॥

भावार्थः—(**सोम**) हे अमृत ! (**अंगिरस्तम**) हे मेधावियों में उत्तम ! परमेश्वर ! (**त्वम्**) आप (**पुनानः**) पवित्र (**जागृविः**) चेतन (**प्रियः**) सर्व-हितैषी (**विप्रः**) सर्वज्ञ (**अभवः**) हैं । कृपा करके (**वारैः**) अपने वरणीय गुणों से (**परि अव्याः**) हमारी सब ओर से रक्षा कीजिये । तथा (**नः**) हमारे (**यज्ञम्**) ज्ञानयज्ञादि को (**मध्वा**) आनन्दरस से (**मिमिक्ष**) सींचने की इच्छा कीजिये ॥

निघण्टु ३ । १५ का प्रमाण और ऋ० ९ । १०७ । ६ के पाठभेद संस्कृत-भाष्य में देखिये ॥९॥

अथ दशमी—

५२०—इन्द्राय पवते मदः सोमो मरुत्वते सुतः ।
सहस्रधारो अत्यव्यमर्षति तमी मृजन्त्यायवः ॥१०॥

भावार्थः—(मदः) हर्षकारक (सुतः) सम्पादित (सहस्रधारः) बहुत धारों वाला (सोम) ओषधिरस, वा आत्मिकानन्द रस (मरुत्वते इन्द्राय) ऋत्विजों वाले यजमान वा प्राणों वाले इन्द्रियाधिष्ठाता आत्मा के लिये (पवते) प्राप्त होता है, (ईम्) इसी लिये (तम्) उसको (आयवः) मनुष्य (मृजन्ति) सम्पादित करते हैं और वह (अव्यम्) रक्षायोग्य पुरुष को (अति) बहुतायत से (अर्षति) प्राप्त होता है ॥

ऋ० ९ । १०७ । १७ में भी ॥१०॥

अथैकादशी—

५२१—पवस्व वाजसातमोऽभि विश्वानि वार्या ।
त्वꣳ समुद्रः प्रथमे विधर्म देवेभ्यः सोम मत्सरः ॥११॥

भावार्थः—(सोम) हे अमृत ! परमात्मन् ! (वाजसातमः) अन्नादि के अत्यन्त दाता (मत्सरः) आनन्दस्वरूप और आनन्ददायक (त्वम्) आप (विश्वानि) सब (वार्या) वरणीय स्तोत्रों को (अभि) लक्ष्य करके (प्रथमे) विशाल वा श्रेष्ठ (विधर्मन्) विशेष करके धारक (समुद्रः) हृदयान्तरिक्ष में (देवेभ्यः) अपने उपासकों के लिये (पवस्व) अपनी प्राप्ति का विधान कीजिये)।

ऋ० ९ । १०७ । २३ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥११॥

अथ द्वादशी—

५२२—पवमाना असृक्षत पवित्रमति धारया ।
मरुत्वन्तो मत्सरा इन्द्रिया हया मेधामभि प्रयाꣳसि च ॥१२॥

इति पञ्चमाऽध्याये पञ्चमी दशतिः ॥५॥

भावार्थः—(पवमानाः) पवित्र हुए (मरुत्वन्तः) प्राणों (मत्सराः)

आनन्द में मग्न (**धारया**) अमृत धारा से (**पवित्रम्**) पवित्र परमात्मा को (**अभि**) सर्वतः प्राप्त होकर (**हया**) घोड़े रूपी (**इन्द्रिया**) इन्द्रियों को, (**मेधाम्**) बुद्धि और उससे उपलक्षित मन चित्त अहंकार को (**च**) और (**प्रयांसि**) धान्यादि सांसारिक सामग्री को (**असृक्षत**) त्याग देते हैं=मोक्ष पाते हैं ॥

निरुक्त ५ । ६ और निघण्टु २ । ७ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद ९ । १०७ । २५ में भी ॥१२॥

यह पञ्चमाध्याय में पांचवीं दशति पूर्ण हुई ॥५॥
तथा यह बृहती छन्दों का प्रकरण हुआ ॥

प्र तु द्रवेति दशतौ त्रिष्टुभो दश कीर्तिताः ॥१॥
अथ षष्ठी दशतिः

अथ प्रथमायाः—उशना ऋषिः । सोमो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

१ २१३ १३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २१
५२३—प्र तु द्रव परि कोशं नि षीद नृभिः पुनानो अभि वाजमर्ष ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अश्वं न त्वा वाजिनं मर्जयन्तोऽच्छा बर्ही रशनाभिर्नयन्ति॥१॥

भावार्थः—प्रकरण से—सोम ! (**नृभिः**) अध्वर्यु संज्ञक मनुष्यों से (**पुनानः**) शोधा जाता हुआ (**प्र द्रव**) त्वरा से चलता है (**तु**) और (**कोशम्**) द्रोणकलश को (**अभि परि निषीद**) व्याप=भर कर स्थित होता है । (**अच्छ**) भले प्रकार से (**वाजिनम्**) बलवान् (**अश्वम्**) घोड़े को (**मर्जयन्तः**) मार्जन करते हुए अश्वसेवक (**रशनाभिः**) लगामों से (**न**) जैसे (**नयन्ति**) ले जाते हैं, वैसे ही (**त्वा**) तुझको अध्वर्यु लोग (**बर्हिः**) यज्ञकुण्ड को ले जाते हैं, वह तू (**वाजम्**) बल को (**अर्ष**) प्राप्त कराता है ॥

अर्थात् सोमरस को स्वच्छ सम्पन्न करके द्रोणकलशादि पात्र विशेष में स्थापित करके अध्वर्यु लोग यज्ञ को ले जाते हैं, उससे वह बलदायक होता है । जैसे कि सुशिक्षित और सुसंस्कृत घोड़ों को युद्धयज्ञ को ले जाते हैं और बल सम्पादित करते हैं (बल में उपमा है) और विजय को प्राप्त करते हैं ॥

यद्यपि मूलसंहिता में (तु) पाठ है, परन्तु न जाने किस कारण से सायणाचार्य्यादि ने (नु) की व्याख्या की है। यह भी सन्देह नहीं कर सकते कि संहिता में "तु" पाठ अशुद्ध हो और लेखक का प्रमाद हो, क्योंकि—श्रशनसाम, वृषौशन साम, जनस्यामीवर्त्त २ सामों और त्रिष्टुवौशनसाम इन ५ सामगानों में, जीवानन्द के छापे पुस्तक और पं० गुरुदत्त के लाहौर के छापे पुस्तक और मुम्बई के छपे ऋग्वेद ९।८७।१ मन्त्रस्थपाठ में; इस प्रकार ८ स्थानों में (तु) ही देखा जाता है, (नु) नहीं ॥

अथ द्वितीयाया:—वृषगणो वासिष्ठ ऋषि:। सोमो देवता। अनुष्टुप्छन्द: ॥

१ २३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
५२४—प्र काव्यमुशनेव ब्रुवाणो देवो देवानां जनिमा विवक्ति ।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३क २र ३ १ २
महिव्रत: शुचिबन्धु: पावक: पदा वराहो अभ्येति रेभन् ॥२॥

भावार्थ;—(**महिव्रत:**) वाणी का करने=बनाने वाला (**शुचिबन्धु:**) पवित्र पुरुषों का बन्धु के समान हितकारी (**पावक:**) पवित्र स्वरूप और पवित्रकर्त्ता (**देवानां देव:**) देवों का देव परमात्मा (**उशनेव**) चाहता हुआ सा (**काव्यम्**) वेद का (**प्र ब्रुवाण:**) उपदेश देता हुआ (**जनिम**) सोमादि पदार्थों के जन्म को (**आविवक्ति**) विशेष करके बतलाता है। (**पदा**) वेदपदों को (**अभि**) हृदयाऽभ्यन्तर में (**रेभम्**) बतलाता हुआ (**वराह:**) श्रेष्ठ कल्परूपी दिन वाला (**एति**) [कल्पारम्भ में वेदप्रकाशक ऋषियों को] प्राप्त होता है ॥

यद्यपि परमात्मा अपने आप निष्काम है, परन्तु संसार पर अनुग्रह की इच्छा कामना वाला सा जान पड़ता है, वह प्रत्येक कल्परूपी दिन के आरम्भ में पवित्र ऋषियों के हृदयों में वेदोपदेश देता हुआ सोमादि उत्तम अमूल्य पदार्थों के गुण कर्म स्वभाव और जन्म का सविशेष उपदेश करता है। वह वेद द्वारा वाणी का प्रवर्तक और बनाने वाला भी होने से वाक्कर्त्ता कहाता है। प्रतिस्वरूप, पवित्रों का हितकारी, देवों का देव, काव्य के समान अलंकारादियुक्त वेद का उपदेश करता हुआ, सारे जगत् पर दया करता है ॥

उणादि ४। २३६ अष्टाध्यायी ३। १। ८५ और ७। ४। ७८ निघण्टु १। ११॥ २। १ और निरुक्त ५। ४ तथा विवरणकार सत्यव्रत सामश्रमी जी के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

कोई लोग इसमें 'वराह' शब्द के आ जाने से वराहाऽवतार का वर्णन करते हैं, परन्तु यह अयुक्त है। क्योंकि वेदों में कहीं भी किसी अवतार का वर्णन नहीं, न परमेश्वर का अवतार सम्भव है, और वेदों में निराकार=देहरहित होने का प्रति-

पादन है,और सायणाचार्य ने भी इस मन्त्र के भाष्य में अवतार का अर्थ नहीं किया, विवरणकार और सत्यव्रत जी भी 'वराह' शब्द का अर्थ 'सोम' दिखाते हैं, अवतार नहीं । निरुक्तकार यास्क मुनि भी वराह शब्द का अर्थ मेघ, इन्द्र इत्यादि ही करते हैं और अपने अर्थ में ब्राह्मण और वेद के उदाहरण देते हैं । निदान वराह पद से अवतार विशेष का ग्रहण किसी प्राचीन भाष्यकार ने नहीं किया और जो-जो विशेषण इस ऋचा में आये हैं, वे वराह में घट भी नहीं सकते । ऋ० ६ । ६७ । ७ में भी ॥२॥

अथ तृतीयायाः—पराशर ऋषिः । सोमो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

३ १ २र ३ १ २र
५२५— तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्नि-
३ १ २ ३ १ २र ३ २
ऋ॒तस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम् ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः
१ २ ३ १ २ ३ २
सोमं यन्ति मतयो वावशानाः ॥३॥

भावार्थः—(**वह्निः**) ईश्वरदत्त ज्ञान के ले चलने वाला ऋषि (**तिस्रः वाचः**) तीन प्रकार की ऋग्, यजुः और साम लक्षणयुक्त वाणियों को (**ऋतस्य धीतिम्**) सत्य की धारणा और (**ब्रह्मणः मनीषाम्**) परमात्मा की सत्य प्रज्ञा को (**प्र ईरयति**) लोक में प्रचारित करता है, इस लिये (**गावः**) वेदवाणियें (**गोपतिं पृच्छमानाः**) वाणीपति—परमात्मा से पूछती हुई सी (**यन्ति**) बाहर जाती हैं अर्थात् ज्यों की त्यों प्रकाशित होती हैं, तथा (**मतयः**) वेदवाही ऋषियों की बुद्धियें (**वावशानाः**) सोमादि वेदप्रतिपादित पदार्थों की कामना करती हुई (**सोमम्**) सोमोपलक्षित वस्तुमात्र को (**यन्ति**) प्राप्त होती हैं ॥

पूर्वमन्त्र में यह कहा गया था कि ऋषि लोग प्रत्येक कल्प के आरम्भ में ईश्वर से प्रातिभासिक ज्ञान को प्राप्त हुआ करते हैं। इस मन्त्र में यह कहा जाता है कि सर्वथा ज्यों का त्यों ही परमात्मा की ओर से हृदय में प्राप्त हुआ ज्ञान जो ऋग्, यजुः और साम इन तीन प्रकार की ऋचाओं में वर्णित होता है, उसे ऋषि लोग प्रचार किया करते हैं। न्यूनाधिक कुछ नहीं । जिस प्रकार एक दूत अपने स्वामी से पूछ कर ज्यों का त्यों सन्देश ले जाता है, इसी प्रकार वेदवाणियें मानो परमात्मा से पूछकर चलती हैं। इसी लिये वेदों में प्रतिपादित सोमादि पदार्थों की यथार्थ प्राप्ति वेदवाही ऋषियों को हो जाती है, किसी प्रकार का भ्रम नहीं होता ॥

यहाँ तीन प्रकार की वाणी कहने से वेदों की ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद इन तीन संहिताओं का ग्रहण नहीं है, प्रत्युत चारों संहिता ऋग् यजुः साम अथर्व में तीन प्रकार की ऋचा हैं। एक ऋक्, दूसरी यजुः, तीसरी साम। जैसा कि मीमांसा-दर्शन सूत्र २।१। ३५-३६-३७ में जैमिनि जी ने माना है कि "जिन की अर्थवश से पादव्यवस्था है वे ऋक्, जिनमें गीति हैं वे साम और शेष यजुः" ।। मीमांसा के सूत्र और निघण्टु १। ११ तथा निरुक्त परिशिष्ट और इस का अनुसरण करते हुए विवरणकार का मत संस्कृतभाष्य में देखिये। निरुक्त के परिशिष्ट की व्याख्या सी करते हुए इस प्रकार कहते हैं कि ३ वाणी ऋग् यजु साम, वा सत्त्व रज तम, वा जागृत स्वप्न सुषुप्ति वृत्तियां। जल और किरणों को वहन करने—ले चलने से सूर्य को वह्नि कहा है। ऋत का अर्थ आदित्य वा ब्रह्म है। मनु के (अग्नौ प्रास्ताहुतिः०) अनुसार आदित्य आहुतियों का वाहक है। गौ शब्द का अर्थ जल वा किरण है। इसी प्रकार गोपति का अर्थ किरणपति=सूर्य है। जिससे पूछती हुई सी मति अर्थात् किरणें चलती हैं। मति नाम किरणों का इसलिये है कि उनसे प्रकाश होकर विषयों को जाना जाता है। सोम आदित्य का नाम है, जिसमें कामना करती सी किरणें फिर लौट जाती हैं। आध्यात्मिक पक्ष में वह्नि आत्मा का नाम है, क्योंकि वह वशित्वादि गुणयुक्त है। वह ३ वाणी—१ विद्या २ बुद्धि ३ मन को प्रेरित करता है। विद्या=महत्तत्त्व=बुद्धि अहंकार और मन=प्रधानता से भूतेन्द्रियाँ, ऋत आत्मा की धीति अर्थात् मन चाहे कर्मों को प्रेरित करते हैं। ब्रह्म—आत्मा को जो इन्द्रियों का स्वामी है, इन्द्रियाँ पूछ करके काम करती हैं। क्योंकि आत्मा के अभिप्रायानुकूल चलती हैं। इसी प्रकार सोम=आत्मा की कामना करती हुई उसी में चली जाती हैं, फिर प्रकट नहीं होतीं ।। ऋ० ९। ९७। ३४ में भी ।।३।।

अथ चतुर्थ्याः—वशिष्ठ ऋषिः। सोमो देवता। त्रिष्टुप्छन्दः ।।

३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

५२६—अस्य प्रेषा हेमना पूयमानो देवो देवेभिः समपृक्त रसम्।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

सुतः पवित्रं पर्येति रेभन् मितेव सद्म पशुमन्ति होता ।।४।।

भावार्थः—(**अस्य**) इस वेद की (**हेमना**) सुवर्णतुल्य बहुमूल्य (**प्रेषा**) आज्ञा से [आज्ञानुसार] (**पूयमानः**) शोधा हुआ और (**सुतः**) अभिषुत सम्पन्न हुआ सोम (**रेभन्**) अग्नि में हवन करने से चिटचिटाता हुआ (**पर्येति**) गगनमण्डल में सब ओर फैलता है, तब (**देवः**) सूर्य (**देवेभिः**) वायु आदि देवों सहित (**पवित्रं रसम्**) शुद्ध रस को (**समपृक्त**) छुवाता वर्षाता है। चिटचिटा शब्द करते हुए सोम के आकाशमण्डल में जाने पर दृष्टान्त—(**मितेव**)

जिस प्रकार गिनने वाला और (**होता**) बुलाने वा दुहने वाला पुकारता हुआ (**पशुमन्ति**) पशु वाले (**सद्म**) घरों में जाता है तद्वत् ॥

जिस प्रकार गवादि पशुओं का संभालने, दुहने वाला, पुकारता हुआ खरक को जाता और दुहता है, इसी प्रकार हवन किया हुआ सोम आकाश रूपी खरक में मेघरूपी पशुओं को पुकारता हुआ मानो जाकर दुहता है।

अष्टाध्यायी ६ । १ । १६८ ॥ ६ । १ । ३४ इत्यादि प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ६ । ६७ । १ में भी ॥४॥

अथ पञ्चम्याः —प्रतर्दन ऋषिः । सोमो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

५२७—**सोमः पवते जनिता मतीनां**
जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः ।
जनिताऽग्नेर्जनिता सूर्यस्य
जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः ॥५॥

भावार्थः—(**सोमः**) प्रसुत परमात्मा जो कि (**मतीनां जनिता**) बुद्धियों का उत्पादक (**दिवो जनिता**) द्युलोक का उत्पादक (**पृथिव्याः जनिता**) पृथिवी का उत्पादक (**अग्नेर्जनिता**) अग्नि का उत्पादक (**सूर्यस्य जनिता**) सूर्य का उत्पादक (**इन्द्रस्य जनिता**) विद्युत् का उत्पादक (**उत**) और (**विष्णोः**) यज्ञ का (**जनिता**) उत्पादक है (**पवते**) याज्ञिकों को प्राप्त होता है।

और विवरणकार यह अर्थ करते हैं कि—"सोमः पवते०। इसका विनियोग यज्ञ के चतुर्थ दिन में है। अधियज्ञ पक्ष के अर्थ में—पर्णसोम पृथिवी आदि का उत्पन्न करने वाला कहना सम्भव है क्योंकि यज्ञ द्वारा स्थिति का हेतु है। मति, द्युलोक, अग्नि, सूर्य, इन्द्र और व्याप्ति वाले पदार्थ का भी पृथिव्यादि से रस लेकर बढ़ाने वाला होने से "सोम सबका उत्पादक है" यह अधिदैवत अर्थ हुआ। और आत्मपरक अर्थ करें तो यह होगा कि—आत्मा सोम है, जो सबमें बसा है और सब को बनाता है। भोक्ता होने से आत्मा वा उपादान कारण। भूतेन्द्रियों का उत्पादक है और दोनों (पृथिवी तथा द्युलोक) के ग्रहण से मध्यवर्ती अन्तरिक्ष का भी ग्रहण जानो और उन तीनों स्थानों में अग्न्यादि का भी तथा व्याप्ति वाले पदार्थ का भी"।

तथा निरुक्त के परिशिष्टकार ने यह अर्थ किया है कि—"सोमः पवते० ऋचा

में सोम सूर्य का नाम है क्योंकि वह उत्पादक है। वह मति=प्रकाश कारक सूर्य-किरणों, द्यु=प्रकट करने वाली सूर्यकिरणों, पृथिवी=फैलाने वाली सूर्यकिरणों, अग्नि=चलने वाली सूर्यकिरणों, सूर्य=स्वीकार करने वाली सूर्यकिरणों, इन्द्र=ऐश्वर्य आकर्षण वशीकरण करने वाली सूर्यकिरणों और विष्णु=व्यापने वाली सूर्यकिरणों का [उत्पादक है] यह देवता पक्ष का अर्थ हुआ। और आत्मा के पक्ष में–सोम आत्मा है क्योंकि वह भी उत्पादक है इन्द्रियादि का और सम्पूर्ण विभूतियों से विभु आत्मा है। यह आध्यात्मिक अर्थ कहा"। नि० प० २। १२॥ ऋ० ६। ६६। ५ में भी ॥५॥

अथ षष्ठ्याः—वसिष्ठ ऋषिः। सोमो देवता। त्रिष्टुप्छन्दः॥

५२८—अभि त्रिपृष्ठं वृषणं वयोधा-
मङ्गोषिणमवावशन्त वाणीः।
वना वसानो वरुणो न सिन्धुर्वि
रत्नधा दयते वार्याणि ॥६॥

भावार्थः—(वाणीः) वेदवाणी (त्रिपृष्ठम्) तीन पृथिवी द्यु और अन्तरिक्ष अथवा प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन और सायंसवन ये तीनों जिसके स्थान हैं, उस (वृषणम्) कामनापूर्ण कर्त्ता, वा वृष्टि के हेतु (वयोधाम्) आयु वा अन्न के धारक (अंगोषिणम्) स्तुति वा प्रशंसा के योग्य को (अभि अवावशन्त) सर्वतः कामना करें=चाहें। वह (वरुणः) वरणीय परमात्मा, वा सोम (रत्नधाः) रत्नों का धारक (वार्याणि) वरणीय श्रेष्ठ रत्नों को (विदयते) विशेष करके देता है। दृष्टान्त—(न) जैसे (वना) जलों को (वसानः) वसाये हुए (सिन्धुः) समुद्र रत्न धारण किये हुए हैं और खोजने वालों को रत्न देता है॥

जिस प्रकार परमात्मा पूर्णरूप से त्रिलोकी में व्याप रहा है, कामना पूर्ण करता है, प्राणियों की आयुः को धारण कराता है और प्रशंसनीय है, इसी प्रकार किसी अंश में सोम भी पृथिवी में उत्पन्न होता, हवन से द्यु और अन्तरिक्ष में भी व्यापता है, वृष्टि करता है, अन्न उत्पन्न करता और "अन्न ही प्राणियों के प्राण हैं" इस कहावत के अनुसार आयु का भी धारण करने वाला और प्रशंसनीय है। इसलिये वेदानुसार मनुष्यों को परमात्मा और सोमादि उत्तम पदार्थों की कामना करनी

चाहिए। जिस प्रकार समुद्र में रत्न हैं और खोजने वालों को मिलते हैं, इसी प्रकार परमात्मा के उपासक और सोमादि उत्तम पदार्थों के ढूंढने वालों को भी सब रम्य रत्न पदार्थ प्राप्त होते हैं॥

अष्टाध्यायी ७। १। ३९ निघण्टु २। ७ निरुक्त ५। ११ के प्रमाण और ऋ० ९। ९०। २ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये॥६॥

अथ सप्तम्याः—पराशर ऋषिः। सोमो देवता। त्रिष्टुप्छन्दः॥

५२९—अक्रान्त्समुद्रः प्रथमे विधर्मन्
जनयन् प्रजा भुवनस्य गोपाः।
वृषा पवित्रे अधि सानो अव्ये
बृहत्सोमो वावृधे स्वानो अद्रिः॥७॥

भावार्थः—(स्वानः) अभिषव किया हुआ (अधिसानः) अभिषेक किया जाता हुआ (सोमः) सोमरस (अव्ये) ऊन के (पवित्रे) दशापवित्र पर [स्थापित] (प्रथमे) विस्तृत (विधर्मन्) विशेष धारक यज्ञ में (अद्रिः) मेघरूप में परिणत (बृहत्) बहुत (वावृधे) बढ़ता है और (भुवनस्य) पृथिव्यादि लोक की (प्रजाः) प्रजाओं को (जनयन्) अन्नोत्पत्ति करके उत्पन्न करता हुआ (गोपाः) गौ आदि पशुओं की तृणोत्पत्ति करके रक्षा करने वाला (वृषा) वर्षा करने वाला (समुद्रः) जिससे जल वर्षते हैं, वह सोमरस (अक्रान्) सर्वतः क्रान्त होता है॥

ईश्वर पक्ष में—(अव्ये) पर्वत के एकान्त (पवित्रे) शुद्ध देश में (स्वानः) ध्यान से अभिषव किया जाता हुआ और (अधिसानः) अभिषेचन किया जाता हुआ (सोमः) आत्माऽऽनन्दाऽमृत (अद्रिः) मेघ सा (बृहत्) बहुत (वावृधे) उमड़ता=बढ़ता है। क्योंकि (गोपाः) पृथिवी आदि लोकों का पालक (समुद्रः) जिसमें लोक लोकान्तर घूम रहे हैं, वह अमृत परमात्मा (भुवनस्य) भूलोकादि की (प्रजाःजनयन्) प्रजाओं को उत्पन्न करता हुआ (प्रथमे) विस्तृत (विधर्मन्) विशेष करके धारने वाले गगनमण्डल में (अक्रान्) सबको आक्रान्त कर रहा है। (वृषा) वह कामना पूरी करता है॥

निरुक्त के परिशिष्टकार ने इसका व्याख्यान इस प्रकार किया है कि—

"आक्रमण करता है मुद्र=आदित्य जो कि वर्षा करने से प्रजा का उत्पादक और सबका राजा है। सोम पवित्र पर स्थित, वृष्टिकारक, अत्यन्त बढ़ता है। यह आधिदैविक अर्थ हुआ। अब आध्यात्मिक अर्थ यह है कि—क्रमण करता है समुद्र=आत्मा, जो बड़े आकाश में ज्ञान द्वारा सबका उत्पादक और राजा है। (उत्तरार्ध का अर्थ पूर्व के तुल्य है) निरुक्त परिशिष्ट २। १६ अष्टाध्यायी ८। २। ६४॥ निघण्टु १। १० इत्यादि के प्रमाण और ऋग्वेद ९। ९७। ४० का पाठभेद संस्कृत-भाष्य में देखिये, तथा निरुक्तपरिशिष्ट में ऋग्वेदस्थ पाठ की ही व्याख्या है ॥७॥

अथाऽष्टम्याः—प्रस्कण्व ऋषिः। सोमो देवता। त्रिष्टुप्छन्दः॥

५३०—कनिक्रन्ति हरिरा सृज्यमानः सीदन्वनस्य जठरे पुनानः।
नृभिर्यतः कृणुते निर्णिजं गामतो मतिं जनयत स्वधाभिः ॥८॥

भावार्थः—(यतः) जिस कारण (पुनानः) सोम पवित्रता का कर्ता है, वह (नृभिः) मनुष्यों से (आसृज्यमानः) चारों ओर बैठकर अग्नि में छोड़ा जाता हुआ (वनस्य) काष्ठ=इन्धन के (जठरे) जाठराग्नि में (सीदन्) रक्खा हुआ (हरिः) हरे (निर्णिजम्) रूप को (कृणुते) करता है अर्थात् अग्नि में हवन करने से हरे धुवें को निकालता है और (कनिक्रन्ति) चड़चड़ाता है। (अतः) इस कारण (स्वधाभिः) आहुतियों के साथ (गाम्) वेदमन्त्रों के उच्चारणरूप वाणी और (मतिम्) उनके अर्थ की विचारणा को (जनयत) उत्पन्न करो। अर्थात् सोम की आहुति, वेदमन्त्रों का उच्चारण और उनके अर्थ का विचार करते हुए यज्ञ करो॥

अष्टाध्यायी ६। १। १८९॥ ७। ४। ६५ निघण्टु ३। ७॥ १। ११ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये॥ ऋ० ९। ९५। १ में "गाः अतो मती." पाठ है, और सायणाचार्य ने वहीं के पाठभेदभ्रम से "गाः" की ही व्याख्या की है ॥८॥

अथ नवम्याः—उशना ऋषिः। सोमो देवता। त्रिष्टुप्छन्दः॥

५३१—एष स्य ते मधुमाँ इन्द्र सोमो
वृषा वृष्णः परि पवित्रे अक्षाः।
सहस्रदाः शतदा भूरिदावा
शश्वत्तमं बर्हिरा वाज्यस्थात् ॥९॥

भावार्थः—(**इन्द्र**) हे राजन् ! यजमान ! (**मधुमान्**) मधुर रसयुक्त (**स्यः**) वह (**पवित्रे**) दशापवित्र पर स्थित (**सोमः**) सोमरस (**वृषः ते**) यज्ञ करके वर्षा कराने वाले आपके (**शश्वत्तमं बर्हिः**) सनातन यज्ञ में (**परि अक्षाः**) सब ओर फैले (**एषः**) यह (**वृषा**) वर्षा का हेतु (**सहस्रदाः**) सहस्र का दाता (**शतदाः**) शत का दाता (**भूरिदावा**) बहुत का दाता (**वाजी**) बलयुक्त [सोम] आपके यज्ञ में (**आ अस्थात्**) सर्वतः स्थित होवे ।।

अष्टाध्यायी ६ । १ । १३३ ।। ३ । २ । ७४ के प्रमाण और ऋ० ९।८७।४ का पाठभद संस्कृतभाष्य में देखिये ।।९।।

अथ दशम्याः—प्रतर्दन ऋषिः । सोमो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ।।

१ २ ३ १२ ३ २ ३१
५३२—पवस्व सोम मधुमाँ ऋतावापो
२र ३ २ ३ २ ३ १ २
वसानो अधिसानो अव्ये ।
२१३ १ २ ३ १ २
अव द्रोणानि घृतवन्ति रोह
३ १ २ ३१ २ ३ १ २
मदिन्तमो मत्सर इन्द्रपानः ।।१०।।

इति पञ्चमाध्याये षष्ठी दशतिः ।।६।।

भावार्थः—(**सोम**) सोमरस ! (**अपः वसानः**) जलों में मिला हुआ (**मधुमान्**) मधुर रसयुक्त (**ऋतावा**) यज्ञवाला (**अव्ये**) ऊर्णामय दशापवित्र पर (**अधिसानः**) अभिषेक किया हुआ (**मत्सरः**) हृष्टिपुष्टियुक्त और (**मदिन्तम**) अतिहृष्टिपुष्टिकारक (**इन्द्रपानः**) इन्द्र=सूर्य विद्युत् वा राजा यजमान के पान योग्य (**पवस्व**) प्राप्त हो, तथा (**घृतवन्ति**) जल वाले (**द्रोणानि**) द्रोणकलशों में (**अव रोह**) रक्खा जाए ।।

सोमरस के सम्पादन करने वालों को उसमें मिठाई मिलाकर, जलतुल्य गीला करके, ऊन के दशापवित्र पर द्रोणकलशों में भरकर, रख के यज्ञ में वर्तना चाहिए । वह हृष्टि पुष्टि स्वादु से युक्त, हृष्टि पुष्टि स्वादु बल आदि देता है ।।

निघण्टु १ । १३ का प्रमाण और ऋ० ९ ।९६ । १३ का पाठभेद संस्कृत-भाष्य में देखिये ।।१०।।

यह पंचमाध्याय में छठी दशति समाप्त हुई ।।६।।

प्र सेनानीति सोमस्य त्रिष्टुभो द्वादश स्मृताः ॥१॥
अथ सप्तमी दशतिः ॥

तत्र प्रथमायाः—प्रतर्द्दन ऋषिः । सोमो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

५३३— प्र सेनानीः शूरो अग्रे रथानां
गव्यन्नेति हर्षते अस्य सेना ।
भद्रान् कृण्वन्निन्द्रहवान्त्सखिभ्य
आ सोमो वस्त्रा रभसानि दत्ते ॥१॥

भावार्थः—सोमसेवी (सेनानीः) सेना का नायक (शूरः) शत्रुओं का बाधक (गव्यन्) शत्रु की भूमि को चाहता हुआ (रथानाम्) रथों के (अग्रे) आगे (प्र एति) चलता है और (अस्य) इसकी अधीन (सेना) सेना (हर्षते) हृष्ट होती है । (सोमः) सोमरस (इन्द्रहवान्) इन्द्र=राजा की प्रशंसा के शब्दों को (भद्रान्) यथार्थ सच्चा (कृण्वन्) करता हुआ (सखिभ्यः) मित्रों के हित के लिये (वस्त्रा) दूसरों को ढक लेने वाले (रभसानि) घावों को (आ दत्ते) ग्रहण करता है ॥

गौ=पृथिवी निघं० १ । १ ॥ ऋ० ९ । ९६ । १ में भी ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—पराशर ऋषिः । सोमो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

५३४—प्र ते धारा मधुमतीरसृग्रन्वारं यत्पूतो अत्येष्यव्यम् ।
पवमान पवसे धाम गोनां जनयन्त्सूर्यमपिन्वो अर्कैः ॥२॥

भावार्थः—(पवमान) सोम ! (मधुमतीः) मधुरतायुक्त (ते) तेरी (धाराः) धारें तब (प्रासृग्रन्) छूटती हैं (यत्) जब कि (पूतः) स्वच्छ किया हुआ (अव्यं वारम्) ऊन के दशापवित्र को (अत्येषि) लांघकर अग्नि में जाता है (गोनां धाम) किरणों के पुञ्ज को (जनयन्) उत्पन्न करता हुआ (अर्कैः) अपने तेजों से (सूर्यम्) सूर्य को (अपिन्वः) आप्यायित करता और (पवसे) गगन-मण्डल को जाता है ॥

सोमरस को स्वच्छ करके दशापवित्र से लेकर अग्नि में होम करने से उसकी मधुर धारें छूटतीं और आकाशमण्डल में अपने तेजोयुक्त सूक्ष्म अवयवों से सूर्य की किरणों को बसाती हुई वृष्टि और शुद्धि करती हैं यह तात्पर्य है ॥

अष्टाध्यायी ७।१।५७ का प्रमाण और ऋ० ९। ९७। ३१ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ तृतीयायाः—इन्द्रप्रमतिर्वासिष्ठ ऋषिः । सोमो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

५३५—प्र गायताभ्यर्चाम देवान्त्सोमँ हिनोत महते धनाय ।
स्वादुः पवतामति वारमव्यमा सीदतु कलशं देव इन्दुः ॥३॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! (**देवः**) दिव्य उत्तम (**इन्दुः**) सोमरस (**कलशम्**) द्रोणकलश में (**आसीदतु**) रक्खा जावे, फिर (**स्वादुः**) स्वादयुक्त सोमरस (**अव्यम् वारम्**) ऊन के दशापवित्र से (**अति**) उतर कर (**पवताम्**) छोड़ा जावे । तुम (**सोमम्**) सोमरस को (**हिनोत**) अग्नि में हवन करो । उससे (**देवान्**) वायु आदि देवतों को (**अभ्यर्चाम**) सत्कृत करो=सुधारो और (**महते धनाय**) बड़े धन की प्राप्ति के लिये (**प्र गायत**) भले प्रकार वेदमन्त्रों का उच्चारण करो ॥

अष्टाध्यायी ७ । १ । ४५ ॥ २ । ३ । १४ के प्रमाण और ऋ० ९।९७।४ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—वसिष्ठ ऋषिः । सोमो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

५३६— प्र हिन्वानो जनिता रोदस्यो
रथो न वाजँ सनिषन्नयासीत् ।
इन्द्रं गच्छन्नायुधा सँ शिशानो
विश्वा वसु हस्तयोरादधानः ॥४॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! (**रोदस्योः जनिता**) द्युलोक और भूमिलोक का उत्पादक[क्योंकि हविः पहुँचाने से द्युलोक और वर्षा के हेतु होकर भूमि का आप्यायन सोमयज्ञ द्वारा होता है] (**हिन्वानः**) अग्नि में हवन किया हुआ (**वाजं सनिषन्**) जो अन्न देवेगा [वह सोम] (**इन्द्रं गच्छन्**) इन्द्र=सूर्य वा विद्युत् के

समीप जाता हुआ (**आयुधा**) मानो इन्द्र=सूर्य वा विद्युत् के आयुध=शस्त्रों मेघहननार्थ (**संशिशानः**) पैनाता हुआ और (**विश्वा**) सब (**वसु**) धन (**हस्तयोः आदधानः**) मानो हस्तगत करता हुआ (**रथः न**) रथ सा (**प्र अयासीत्**) आकाश को जाता है ॥

अष्टाध्यायी ६ । ४ । ५३ ॥ ७ । १ । ३९ निघण्टु २ । ७ ॥ ३ । ३० के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ९ । ९० । १ में (सनिष्यन्) पाठ है और सायणाचार्य के भाष्य में भ्रम से उसी की व्याख्या हो रही है ॥४॥

अथ पञ्चम्याः—मृडीको वासिष्ठ ऋषिः । सोमो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
५३७— **तक्षद्यदी मनसो वेनतो वाग्**
२ १ ३ १ २ ३ १ २ र
ज्येष्ठस्य धर्म द्युक्षोरनीके ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ र
आदीमायन्वरमा वावशाना
३ १ २ ३ १ ३ २ ३ १ २
जुष्टं पतिं कलशे गाव इन्दुम् ॥५॥

भावार्थः—(**यदि**) जब कि (**मनसः**) प्रशंसा करने वाले (**वेनतः**) कामना करते हुए की (**वाक्**) प्रशंसा वाली वाणी (**धर्मन्**) धर्म अर्थात् यज्ञ में (**ज्येष्ठस्य**) बड़े श्रेष्ठ (**द्युक्षोः**) प्रकाशमान तेज वाले सवन के (**अनीके**) मुख्य समय में (**तक्षत्**) घड़ती है (**आत्**) तभी (**कलशे**) कलश में स्थित (**ईम्**) इस (**जुष्टम्**) प्रीतिपात्र (**पतिम्**) भर्त्ता के तुल्य (**वरम्**) वरणीय (**इन्दुम्**) सोम को (**आवावशानाः**) सर्वतः कामना करती हुई सी (**गावः**) किरणें (**आयन्**) प्राप्त होती है ॥

यद्यपि यज्ञ के द्रोणकलश में स्थापित सोमरस का जब अग्नि में होम किया जाए, तब उस सोम का सम्पर्क किरणों से होवे, परन्तु जितने सवन का आरम्भ ही होता है और सोमरस द्रोणकलश में ही रखा रहता है और प्रशंसा करने वाले याज्ञिक पुरुष की वाणी वेदमन्त्रों से उसका वर्णन ही करती है, इतने ही किरणें मानो कोई स्त्रियें अपने प्यारे पति से स्पर्श करती हों, ऐसी कामना सी करती हुई, झट द्रोण-कलश स्थित सोमरस से स्पर्श करती है ॥

अष्टाध्यायी ६ । ३ । १३६ ॥ ७ । १ । ३९ निघण्टु २ । ६ ॥ ३ । १४ निरुक्त २ । ६ के प्रमाण और ऋ० ९ । ९७ । २२ के पाठ का भेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥५॥

अथ षष्ठ्याः— नोधा ऋषिः । सोमो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

५३८—साकमुक्षो मर्जयन्त स्वसारो दश धीरस्य धीतयो धनुत्रीः ।
हरिः पर्यद्रवज्जाः सूर्यस्य द्रोणं ननक्षे अत्यो न वाजी ॥६॥

भावार्थः—प्रकरण से सोम प्रथम (**द्रोणं ननक्षे**) द्रोणकलश में भरा रहता है । फिर (**धीरस्य**) ध्यानशील होता की (**साकमुक्षः**) साथ खींचने वाली (**स्वसारः**) अच्छे फेंकने वाली (**धनुत्र्यः**) प्रेरणा करने वाली (**दश धीतयः**) १० अंगुलियें (**मर्जयन्त**) सोम को सुशोभित करती हैं । फिर (**अत्यः**) शीघ्रगामी (**वाजी न**) बलवान् अश्व सा [सोम] (**हरिः**) हरे रंग वाला होकर (**सूर्यस्य**) सूर्य की (**जाः**) सन्तानरूप दिशाओं को (**पर्यद्रवत्**) सब ओर भागता है, अर्थात् अग्नि में हवन किया हुआ हरे धुएं के रूप में सब दिशाओं में फैलता है ।

स्रुव में जो अंगुलियों का आकार होता है, ५ वे और ५ होता के दाहिने हाथ की मिलाकर १० अंगुलियां जानो ॥

निघण्टु २ । ५ ॥ २ । २ ॥ २ । १८ इत्यादि के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ९ । ९३ । १ में भी ॥६॥

अथ सप्तम्याः—काण्वो घोर ऋषिः । सोमो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

५३९— अधि यदस्मिन्वाजिनीव शुभः
स्पर्धन्ते धियः सूरे न विशः ।
अपो वृणानः पवते कवीया-
न्व्रजं न पशुवर्धनाय मन्म ॥७॥

भावार्थः—(**यत्**) जब कि (**वाजिनीव**) जैसे बलवान् घोड़े पर तथा (**सूरे न**) जैसे सूर्य पर (**शुभः**) सुहाती हुई (**विशः**) किरणें (**अस्मिन्**) इस सोम पर (**अधि स्पर्धन्ते**) एक दूसरी से बढ़ कर प्रकाश करती हैं, तब (**न**) जैसे (**कवीयान्**) अति चतुर गोपालक (**मन्म व्रजम्**) रक्षा वा सम्मानयोग्य खरक में (**पशुवर्धनाय**) पशुओं की वृद्धि के लिए (**पवते**) जाता है । वैसे ही यह सोम भी (**अपः**) मेघस्थ जलों को (**वृणानः**) आच्छादित करता हुआ वृष्टि से पशु आदि की वृद्धि के लिए आकाश को जाता है ॥

निघण्टु १ । १४ ॥ २ । १४ ॥ ३ । १५ के प्रमाण और ऋग्वेद ६।६४।१ के पाठभेदादि संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ किन्हीं-किन्हीं पुस्तकों में मूल में (शुभ:) पद विसर्गरहित देखा जाता है ॥७॥

अथाऽष्टम्याः—मन्युर्वासिष्ठ ऋषिः । सोमो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

५४०— इन्दुर्वाजी पवते गोन्योघा
इन्द्रे सोमः सह इन्वन्मदाय ।
हन्ति रक्षो बाधते पर्यरातिं
वरिवस्कृण्वन्वृजनस्य राजा ॥८॥

भावार्थः—(इन्दुः) चूने वा टपकने के स्वभाव वाला (वाजी) बलवान् (गोन्योघाः) इन्द्रियों में नितरां बल पुरुषार्थ हो जिसका, ऐसा (सोमः) सोमरस (इन्द्रे) इन्द्रियों के अधिष्ठाता अन्तःकरण में (सहः) बल को (इन्वन्) पहुँचाता हुआ, यद्वा, इन्द्र=वृष्टि के कर्ता में बल पहुँचाता हुआ (पवते) चूता टपकता वा वर्षता है और (रक्षः हन्ति) राक्षसगण का हननकर्त्ता तथा (अरातिम्) शत्रु का (परिबाधते) सर्वतः संहार करता है । ऐसा सोम (वरिवः) श्रेष्ठ धन को (कृण्वन्) उत्पन्न करता हुआ (वृजनस्य) बल वा सेना का (राजा) ऐश्वर्यकारी है ॥

अर्थात् सोमरस के हवन से इन्द्र वृष्टि करता और मेघों का हनन कर के धान्यादि धन को उत्पन्न करता है और सोमरस के सेवन से शरीर और मन को बल प्राप्त होता है, जिससे शत्रुओं को जीत कर राज्यादि ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं ॥

उणादि १।१२ निघण्टु २ । १४ ॥ २ ॥ ६ ॥ २ ॥ २१ के प्रमाण संस्कृत-भाष्य में देखिये ॥'गोन्योघाः'पद में हमारे विचार में तो ओजस् का ओघस् है । ज का घ वर्णव्यत्यय से हुआ है । परन्तु सायणाचार्य ओघ शब्द अकारान्त की व्याख्या करते हैं,उसमें दीर्घ पाठ विचारणीय ही रह जाता है । और श्री सत्यव्रत सामश्रमी जी कहते हैं कि–'गोनी' शब्द महाभाष्य के पस्पशाह्निक में गमनशील के अर्थ में अपभ्रंश है ऐसा पतञ्जलि ने लिखा है उसमें 'ओघ' के स्थान में 'ओघाः' पाठ फिर विचारणीय ही रह जाता है ॥ सायणाचार्य ने(अरातिः)ऐसा ऋग्वेद ६ । ६७ । १० का पाठ है, उसी की व्याख्या यहाँ सामवेद में (अरातिम्) पाठ होने पर भी की है ॥८॥

अथ नवम्याः—कुत्स ऋषिः । सोमो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

५४१— अया पवा पवस्वैना वसूनि
मांश्चत्व इन्दो सरसि प्र धन्व ।
ब्रध्नश्चिदत्र वातो न जूतिं
पुरुमेधाश्चित्तकवे नरं धात् ॥९॥

भावार्थः—(इन्दो) सोम ! (अया) इस (पवा) पवित्र धारा से (मांश्चत्वः) अश्ववत् वेगगामी (सरसि) उदकपूर्ण आकाश में (प्र धन्व) ऊंचा जा, तथा (एना) इन (वसूनि) धान्यादि धनों को (पवस्व) वर्षाव । (यस्य) जिस तेरे (वातः न) वायु के समान (न रम्) लेचलने वाले (जूतिम्) वेग को (तकवे) गमन के लिये (पुरुमेधाः) बहुत प्रज्ञा वाला पुरुष (चित्) भी (ब्रध्नः-चित्) और सूर्य (धात्) धारण करे ॥

यज्ञ में भले प्रकार अभिषव किया हुआ सोम अग्नि में हवन किया जाता है जिससे सूर्यादि भौतिक देवों का आप्यायन होता है और उसके पान से विद्वान् यज्ञकर्त्ताओं का आप्यायन होता है । सोम सरलस्वभाव वाला, बुद्धि का उत्पादक और गतिवालों की गति का सहायक है । यह तात्पर्य है ॥

अष्टाध्यायी ३ । २ । १०१ ॥ ६ । १ । १६६ ॥ ३ । ३ । ९७ ॥ निघण्टु १ । १४ ॥ १ । १२ ॥ २ । १४ इत्यादि के प्रमाण और ऋ० ९ । ९७ । ५२ का पाठभद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥९॥

अथ दशम्याः—पराशर ऋषिः । सोमो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

५४२— महत्तत्सोमो महिषश्चकारापां
यद्गर्भोऽवृणीत देवान् ।
अदधादिन्द्रे पवमान ओजो-
ऽजनयत्सूर्ये ज्योतिरिन्दुः ॥१०॥

भावार्थः—(**सोमः**) सोमरस या अमृत परमात्मा (**यत्**) जो कि (**अपां-गर्भः**) जलों का ग्राहक वा कर्मों का ग्राहक (**देवान् अवृणीत**) वायु आदि देवतों, वा विद्वानों वा इन्द्रियों का वरण करता है, (**महिषः**) गुणों से महान् सोम (**तत्-महत्**) यह बड़ा काम (**चकार**) करता है। तथा (**पवमानः**) शुद्धि का हेतु सोम (**इन्द्रे**) बिजुली वा आत्मा में (**ओजः**)बल को (**अदधात्**) धारण करता है और वही (**इन्दुः**) सोम (**सूर्ये**) आदित्यमण्डल में (**ज्योतिः**) प्रकाश को (**अजनयत**) उत्पन्न करता है ।।

परमात्मा यह सब करता है, इसमें तो विवाद ही नहीं, परन्तु सोम भी किसी अंश तक जलों का ग्राहक, वायु आदि देवों का वा पान करने से इन्द्रियों का वरण करने वाला, वृष्टिकारक, विद्युत्तत्त्व वा आत्मा में बल का धारण करने वाला और सूर्य की किरणों में फैलकर प्रकाश का उत्पन्न करने वाला कहा जा सकता है।

निरुक्त के परिशिष्टकार २ । १७ में कहते हैं कि यहां इन्दु = आत्मा वा आदित्य का नाम है। और निघण्टु २ । ३ ।। ३ । ३ के प्रमाण भी संस्कृतभाष्य में देखिये ।। ऋ० ९ । ९७ । ४१ में भी ।।१०।।

अथैकादश्याः—कश्यप ऋषिः । सोमो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ।।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २
५४३— असर्जि वक्वा रथ्ये यथाजौ
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
धिया मनोता प्रथमा मनीषा ।
२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
दश स्वसारो अधि सानो अव्ये
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
मृजन्ति वह्निं सदनेष्वच्छ ॥११॥

भावार्थः—(**यथा**) जिस प्रकार (**आजौ**) संग्राम में (**रथ्ये**) जहां रथादि हों वहां (**वक्वा**) बोली बोलने वाले नायक से (**प्रथमा**) श्रेष्ठ (**मनोता**) जिसमें मन ओत-प्रोत हों उस (**मनीषा**) मन की चलाने वाली (**धिया**) बुद्धि अर्थात् पूर्ण सावधानी से (**असर्जि**) अस्त्र शस्त्र वा अश्वादि चलवाये जाते हैं, इसी प्रकार (**दश स्वसारः**) १० अंगुलियें (**अव्ये**) पर्वत के (**अधिसानौ**) सानुप्रदेश में (**सदनेषु**) सोमोत्पत्ति के स्थानों में (**अच्छ**) भले प्रकार से (**वह्निम्**) ले चलने की शक्ति वाले सोम को (**मृजन्ति**) शुद्ध करें और छोड़ें ।।

अष्टाध्यायी ७।१।३६ निघ० २।५ इत्यादि के प्रमाण और ऋ० ६।६१।१ में जो पाठों के भेद हैं वे संस्कृतभाष्य में देखिये और सायणाचार्य ने पाठों में बहुत भेद होने पर भी उन्हीं ऋग्वेदस्थ पाठों का अनुसरण करके व्याख्या की है। इसी लिये असम्बद्धता स्पष्ट जान पड़ती है ॥११॥

अथ द्वादश्याः—प्रस्कण्व ऋषिः। सोमो देवता। त्रिष्टुप्छन्दः॥

३ २ ३ २ ३ ३ ३ १ २ ३
५४४— अपामिवेदूर्मयस्ततुराणाः
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
प्र मनीषा ईरते सोममच्छ।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १
नमस्यन्तीरुप च यन्ति सं
२ ३ १ ३ १ २
चाच विशन्त्युशतीरुशन्तम् ॥१२॥

भावार्थः—(मनीषाः) बुद्धियें (अपाम्) जलों की (ऊर्मयः) तरंगों के (इव) समान (ततुराणाः) फुरतीली (इव) सी (सोमम्) सोमरस के सेवन से सौम्यस्वभाव वाले पुरुष को (अच्छ) अच्छे प्रकार (प्र ईरते) प्राप्त होती हैं। (नमस्यन्तीः) मानो उसको नमस्कार करती हुई (उशतीः) और चाहती हुई (उशन्तम्) चाहते हुए-उस पुरुष के (उप यन्ति च) समीप भी जाती हैं (सं च) और उससे मिलती हैं (आ विशन्ति च) और उसमें भी अपना आवेश करती हैं॥

अष्टाध्यायी ६। १। १८६ इत्यादि के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये॥ ऋ० ६। ६५। ३ में भी ॥१२॥

यह पंचमाध्याय में सप्तमी दशति समाप्त हुई ॥७॥
और यह त्रिष्टुप्छन्दों का प्रकरण हुआ॥

पुरोजिती दशतौ पावमान्यो नव स्मृताः।
अनुष्टुप्छन्दसोऽष्टौ च बृहती सप्तमी मता ॥१॥
ऋषीणां विप्रकीर्णत्वात्तत्र तत्राभिदध्महे॥

श्लोकार्थः—पुरोजिती० इस दशति में ६ ऋचा हैं, जिनका पवमान देवता है। ७वीं का बृहती छन्द है। शेष ८ का अनुष्टुप्छन्द है ॥१॥ सब ऋचाओं के भिन्न-भिन्न ऋषि हैं, उनका वर्णन उस-उस ऋचा के शीर्षक पर ही किया जायेगा।

अथाष्टमी दशतिः

तत्र प्रथमायाः—श्यावाश्व ऋषिः । पवमानो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
५४५—पुरोजिती वो अन्धसः सुताय मादयित्नवे ।
२ ३ १ २ ३ १ २ २क २र
अप श्वानँ श्नथिष्टन सखायो दीर्घजिह्व्यम् ॥१॥

भावार्थः—(**सखायः**) हे मित्रो ! (**वः**) तुम्हारे (**मादयित्नवे**) हर्ष वा आनन्ददायक (**पुरोजिती**) आगे जय कराने वाले (**सुताय**) सम्पादित सोम रूपी (**अन्धसः**) तृप्तिकारक अन्न के लिये अर्थात् उसकी रक्षार्थ (**दीर्घजिह्व्यम् श्वानम्**) लम्बी जीभ वाले कुत्ते को (**अप श्नथिष्टन**) भगाओ ॥

यज्ञस्थान एक पवित्र स्थान है, उसमें रक्खे हुए सोमादि उत्तम हव्य पदार्थों को कुत्ते और उससे उपलक्षित अन्य लम्बी जीभ वाले जो जीभ निकाल कर पानी पीते हैं उन मांसाहारादि परायी हानि करने वाले जन्तुओं से अवश्य बचना चाहिये। इसी को मूल मानकर लोक में भी कहावत है कि "कुत्ती जैसे यज्ञमण्डप के योग्य नहीं" इत्यादि ॥ "इन ऋचाओं का ज्योतिष्टोम नामक यज्ञ में विनियोग है" ऐसा विवरणकार लिखते हैं ॥ परमेश्वर विषयक अर्थ में भी श्वन् शब्द से पराये अनिष्ट करने वाले क्रोधादि से अपने ध्यानामृत की रक्षा करना आवश्यक है, जो कि आत्मा की तृप्ति का हेतु ध्यानामृतरूप अन्न है ॥

उणादि १।१५६ अष्टाध्यायी ७।१।३६ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥
ऋ० ९ । १०१ । १ में भी ॥१॥

अथ द्वितीयायाः - ययातिर्नाहुष ऋषिः । पवमानो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

१ २ ३ २ ३२उ ३ १ २ ३ १ २
५४६—अयं पूषा रयिर्भगः सोमः पुनानो अर्षति ।
१ ३ १ २ ३ १ २ ३क २र ३ १ २ ३ २
पतिर्विश्वस्य भूमनो व्यख्यद्रोदसी उभे ॥२॥

भावार्थः—हे मित्रो !(**अयं सोमः**) यह सोम वा परमात्मा (**पूषा**) पुष्टिकर्त्ता (**भगः**) सबको सेवनीय (**रयिः**) धनदायक (**पुनानः**) पवित्रता का सम्पादक (**अर्षति**) कलश वा आकाश वा पवित्र हृदय में प्राप्त होता है। तथा (**विश्वस्य**) सब (**भूमनः**) प्राणिवर्ग का (**पतिः**) पालन करने वाला, (**उभे रोदसी**) दोनों पृथिवी लोक और द्युलोक को (**व्यख्यत्**) अपने प्रभाव से प्रकाशित करता है। विवरणकार कहते हैं कि इसका विनियोग ज्योतिष्टोम यज्ञ के दूसरे दिन में है ॥
ऋ० ९ । १०१ । ७ में भी ॥२॥

अथ तृतीयायाः—ऋष्यादयः पूर्ववत् ॥

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
५४७—सुतासो मधुमत्तमाः सोमा इन्द्राय मन्दिनः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
पवित्रवन्तो अक्षरन् देवान् गच्छन्तु वो मदाः ॥३॥

भावार्थः—हे मित्रो ! (**वः**) तुम्हारे (**मदाः**) हृष्टिपुक्त (**मन्दिनः**) हर्षदायक (**मधुमत्तमाः**) अत्यन्त मधु मिले हुए (**इन्द्राय सुतासः**) इन्द्र के लिये अभिषुत किये हुए (**पवित्रवन्तः**) दशापवित्रादि वाले (**सोमाः**) सोम (**अक्षरन्**) अग्नि में छिड़के जावें और (**देवान्**) देवतों को (**गच्छन्तु**) प्राप्त होवें ॥ इसका विनियोग ज्योतिष्टोम के तीसरे दिन में विवरणकार कहते हैं ॥

ऋ० ६ । १०१ । ४ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—मनुः सांवरण ऋषिः । पवमानो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
५४८—सोमाः पवन्त इन्दवोऽस्मभ्यं गातुवित्तमाः ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३क २र ३ १ २
मित्राः स्वाना अरेपसः स्वाध्यः स्वर्विदः ॥४॥

भावार्थः—(**इन्दवः**) दीप्तिवाले (**गातुवित्तमाः**) अधिकतया ठीक मार्ग पाने और पहुँचाने वाले (**मित्राः**) सबके हितकारी (**स्वानाः**) अपने आप जीवन करने वाले (**अरेपसः**) पापरहित (**स्वाध्यः**) भले प्रकार से ध्यान करने वाले (**स्वर्विदः**) लगभग सब कुछ जानने वाले (**सोमाः**) सोम का सेवन करने वाले लोग (**अस्मभ्यम्**) हमारे लिये (**पवन्ते**) प्राप्त होवें ॥

निरुक्त १०।४१ निघंटु २।१४॥ ११ के प्रमाण और ऋ० ६।१०१।१० का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥४॥

अथ पंचम्याः—ऋजिश्वाम्बरीषौ द्वावृषी । पवमानो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
५४९—अभी नो वाजसातमं रयिमर्ष शतस्पृहम् ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्दो सहस्रभर्णसं तुविद्युम्नम् विभासहम् ॥५॥

भावार्थः—(**इन्दो**) प्रकाशस्वरूप ! (**नः**) हमारे लिये (**वाजसातमम्**) अन्न वा बल के अत्यन्त दाता (**शतस्पृहम्**) बहुतों से चाहे हुए (**सहस्र-भर्णसम्**) अनेक प्रकार से भरण-पोषण करने वाले (**तुविद्युम्नम्**) बड़े यशस्वी (**विभासहम्**) बड़े-बड़ों के प्रकाश को दबा सकने वाले (**रयिम्**) विद्यादि धन को (**अभि अर्ष**) सब ओर से प्राप्त कराइये ॥

निरुक्त ५ । ५ में द्युम्न=अन्न वा यश । सत्यव्रत सामश्रमी कहते हैं कि (विभासह) शब्द यहीं एक स्थान में ३ वेद संहिताओं में आया है ।

ऋग्वेद ६ । ६८ । १ में (अभि) और (विभ्वासहम्) पाठ हैं ॥५॥

अथ षष्ठ्याः—ऋभसूनू काश्यपौ ऋषी । पवमानो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

५५०—अभी नवन्ते अद्रुहः प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् ।
वत्सं न पूर्व आयुनि जातं रिहन्ति मातरः ॥६॥

भावार्थः—पूर्वोक्त सोमसेवी सौम्य पुरुष (**अद्रुहः**) किसी से द्रोह नहीं करते, सब पर प्यार करते हैं और (**इन्द्रस्य**) परमेश्वर के (**प्रियम्**) प्यारे (**काम्यम्**) उत्तम काम्य कर्म को (**अभि नवन्ते**) प्राप्त करते हैं=अनुष्ठान करते हैं । दृष्टान्त—(**न**) जैसे (**पूर्वे आयुनि**) पूर्व आयु में (**जातम्**) उत्पन्न हुए (**वत्सम्**) पुत्र पर (**मातरः**) उनकी मातायें (**रिहन्ति**) [प्रेम से] प्यार करती हैं ॥

निघण्टु २।१४ इत्यादि के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ९।१००। १ में भी ॥६॥

अथ सप्तम्याः—ऋषिदेवते उक्ते । बृहती छन्दः ॥

५५१—आ हर्यताय धृष्णवे धनुष्टन्वन्ति पौंस्यम् ।
शुक्रा वि यन्त्यसुराय निर्णिजे विपामग्रे महीयुवः ॥७॥

भावार्थः—पूर्वोक्त सोमसेवी वीर (**शुक्राः**) वीर्यवान् ब्रह्मचर्यबलयुक्त मनुष्य (**आहर्यताय, धृष्णवे, असुराय**) आक्रमण करते हुए, धृष्ट, असुर=पराई हानि और स्वार्थसाधन में तत्पर पुरुष के लिये (**पौंस्यम् धनुः**) पौरुषयुक्त धनुष् को (**तन्वन्ति**) चढ़ाते हैं । (**महीयुवः**) विजय से पृथिवी को चाहने वाले वे (**विपाम्**) विद्वानों के (**अग्रे**) आगे वर्त्तमान हुए (**निर्णिजे**) अपने रूप की रक्षा के लिये (**वियन्ति**) लड़ते हैं ।

यद्यपि पूर्वोक्त प्रकार के सौम्य पुरुष सबका प्रियाचरण करते हैं, परन्तु जो कोई दुष्ट धृष्ट उन पर आक्रमण करे तो अपने स्वरूप की रक्षा के लिये उनसे युद्ध करने में समर्थ होते हैं और विद्वानों के आगे होकर अपनी रक्षा और दुष्टों का दमन कर सकते हैं ।

निघण्टु २ । १४ ॥ ३ । ७ ॥ ३ । १५ के प्रमाण और ऋ० ९ । ९९ । १ के पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये । सायणाचार्य ने ऋग्वेद के पाठ (वयन्ति) की ही व्याख्या यहां (वियन्ति) पाठ होते हुए भी भ्रान्ति से की है ॥७॥

अथाष्टम्याः—ऋजिश्वाम्बरीषावृषी । पवमानो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

५५२—परि त्यं हर्यतं हरिं बभ्रुं पुनन्ति वारेण ।
यो देवान्विश्वां इत्परि मदेन सह गच्छति ॥८॥

भावार्थः—(**त्यम्**) उस (**हर्यतम्**) सब से चाहने योग्य (**हरिम्**) हरे और (**बभ्रुम्**) श्वेतवर्ण सोम को (**वारेण**) बाल से रचे हुए दशापवित्र से (**परि पुनन्ति**) सब प्रकार शोधते हैं। (**यः**) जो सोम (**विश्वान्**) सब (**इत्**) ही (**देवान्**) वायु आदि देवतों को (**मदेन**) रस के (**सह**) साथ (**परि-गच्छति**) सब ओर जाता है।

विवरणकार कहते हैं कि इस मन्त्र का विनियोग ज्योतिष्टोम यज्ञ के नवें दिन में है ॥ ऋ० ९ । ९८ । ७ में भी ॥८॥

अथ नवम्याः—प्रजापतिर्ऋषिः । पवमानो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

५५३—प्र सुन्वानायान्धसो मर्तो न वष्ट तद्वचः ।
अप श्वानमराधसं हता मखं न भृगवः ॥९॥

इति पञ्चमाऽध्यायेऽष्टमी दशतिः ॥८॥

इत्यानुष्टुभम्

भावार्थः—(भृगवः) हे ज्ञानी मनुष्यो ! जो कोई (**अन्धसः**) सोमादि ओषधिरूप अन्न का (**सुन्वानाय**) सम्पादन करने वाला (**मर्त्तः**) मनुष्य अध्वर्यु और उसके उपलक्षण से अन्य ऋत्विज् हैं (**तद्वचः**) उसके वा उनके वचन[याचना] की (**न प्र वष्ट**) मत इच्छा करो अर्थात् बिना याचना ही दक्षिणा दो और (**अराध-सम्**) बिना दक्षिणा के (**मखम्**) यज्ञ को (**न हत**) मत नष्ट करो किन्तु (**श्वानम्**) कुत्ता आदि कर्मविघ्नकारी प्राणिवर्ग को (**अप हत**) हटाओ ॥

अर्थात् यजमान को चाहिये कि अध्वर्यु आदि ऋत्विज लोग जो सोम रस के हवन आदि कामों को करते हैं उनकी याचना की प्रतीक्षा न करे, किन्तु बिना

मांगे ही श्रद्धा और योग्यतानुसार दक्षिणा दे। और बिना दक्षिणा के यज्ञ नष्ट न करे। लोक में भी (बिना दक्षिणा यज्ञ हत=नष्ट है) इत्यादि कहावतों का मूल ऐसे ही जान पड़ते हैं॥ ऋ० ६। १०१। १३ में जो अन्तर है वह संस्कृतभाष्य में देखिये॥६॥

यह पञ्चमाध्याय में आठवीं दशति पूर्ण हुई॥८॥

जगत्योऽभिप्रियाणीति सौम्यो द्वादश संमताः।
ऋषीणां विप्रकीर्णत्वाद् दृश्यन्ते तत्र तत्र हि॥१॥

अथ नवमी दशतिः

तत्र प्रथमायाः—कविर्ऋषिः। पवमानो देवता। जगती छन्दः॥

५५४—अभि प्रियाणि पवते चनोहितो
नामानि यह्वो अधि येषु वर्धते।
आ सूर्यस्य बृहतो बृहन्नधि
रथं विश्वञ्चमरुहद्विचक्षणः॥१॥

भावार्थः—(चनोहितः) अन्नोत्पत्ति के लिये हितकारी (यह्वः) महान सोम (नामानि) नम्रशील (प्रियाणि) जगत् का प्रीणन करने वाले जलों को (अभि पवते) सब ओर से वर्षाता है। (येषु) जिन अन्तरिक्षस्थ जलों के (अधि) ऊपर आकाश में (वर्धते) प्रवृद्ध होता है।(बृहतः सूर्यस्य) बड़े आदित्य मण्डल की [किरणों में] (विष्वञ्चं रथम्) तिरछा चलने वाले रथ में (विचक्षणः) विलक्षण प्रकाश वाला (बृहन्) बढ़ता हुआ सोम (अध्यरुहत्) चढ़ता है॥

ऐसा ही मनु ने भी कहा है कि "अग्नि में छोड़ी आहुति सूर्य को प्राप्त होती है और सूर्य से वर्षा, उससे अन्न, उससे वीर्य, उससे प्रजा उत्पन्न होती है" ३। ७६॥ निरुक्त ६। १६ निघं० ३। ३ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये। ऋ० ६। ७५। १ में भी॥१॥

अथ द्वितीयायाः—कविर्ऋषिः । पवमानो देवता । जगती छन्दः ।।

५५५—अचोदसो नो धन्वन्त्विन्दवः
प्र स्वानासो बृहद्देवेषु हरयः ।
वि चिदश्नाना इषयो अरातयो
ऽर्यो नः सन्तु सनिषन्तु नो धियः ॥२॥

भावार्थः—(अचोदसः) अनन्यप्रेरित (स्वानासः) अभिषुत किये जाते हुए (हरयः) हरित धूमरूप में परिणत, वा हरणस्वभाव वाले (इन्दवः) सोम वा आत्मायें (नः) हमारे (देवेषु) वायु आदि देवतों वा इन्द्रियों में (बृहत्) बहुत (प्र धन्वन्तु) उच्चता से प्राप्त होवें । (चित्) तथा (नः) हमारे (अरातयः) दानरहित (अर्यः) शत्रुतुल्य (इषयः) विषयेच्छु कामादिगण (वि अश्नानाः सन्तु) निर्विषय हो जावें और (नः) हमारी (धियः) बुद्धियें वा कर्म (सनिषन्तु) संविभाग को प्राप्त होवें ।।

निघण्टु २ । १४ का प्रमाण और ऋ० ९ । ७९ । १ का पाठभेद संस्कृत-भाष्य में देखिये ।।२।।

अथ तृतीयायाः—ऋष्यादय उक्तवत् ।।

५५६—एष प्र कोशे मधुमाँ अचिक्रद—
दिन्द्रस्य वज्रो वपुषो वपुष्टमः ।
अभ्यृ३तस्य सुदुघा घृतश्चुतो
वाश्रा अर्षन्ति पयसा च धेनवः ॥३॥

भावार्थः—(एषः) यह (इन्द्रस्य वज्रः) इन्द्र का वज्रतुल्य प्रहार का साधन (वपुषः, वपुष्टमः) बोने वाले से अधिक बोने वाला [क्योंकि सोम ही अन्न और औषधियों का उत्पादक है] (मधुमान्) मधुरतायुक्त सोम (कोशे) द्रोण कलशादि में (प्र अचिक्रदत्) अत्यन्त शब्द करता है (च) और (ऋतस्य) जल

की (**धेनवः**) धारण करने वाली (**सुदुघाः**) भले प्रकार दुहने योग्य (**घृतश्चुतः**) जल की टपकाने वाली (**वाश्राः**) शब्द करती हुई (**पयसा**) जल से (**अभि-अर्षन्ति**) सब ओर वर्तती हैं ॥

ऋ० ६ । ७७ । १ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—ऋषिगण ऋषिः । पवमानो देवता । जगती छन्दः ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २उ
५५७—**प्रो अयासीदिन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतं**
३ २ ३ १ २र ३ १ २
सखा सख्युर्न प्र मिनाति सङ्गिरम् ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३
मर्य इव युवतिभिः समर्षति
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
सोमः कलशे शतयामना पथा ॥४॥

भावार्थः—(**इन्दुः**) सोम, वा जीवात्मा (**इन्द्रस्य**) विद्युत्, वा परमात्मा के (**निष्कृतम्**) स्वच्छ पद को (**प्रो अयासीत्**) उन्नत होकर प्राप्त होता है (**सख्युः**) अनुकूलवर्त्ती के (**सखा**) अनुकूल रहता हुआ (**संगिरम्**) सुन्दर शब्द, वा वाणी को (**न प्रमिनाति**) नहीं नष्ट करता है किन्तु (**इव**) जैसे (**मर्यः**) मनुष्य (**युवतिभिः**) युवतियों के साथ (**समर्षति**) प्रीति से संगत होता है वैसे (**सोमः**) सोम, वा आत्मा (**कलशे**) द्रोण कलश, वा परमात्मा में (**शतयामना-पथा**) अनेकों की गति वाले मार्ग से प्राप्त होता है ॥

निघण्टु २ । ३ और अष्टाध्यायी ३ । १ । १२३ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ६ । ८६ । १६ में भी ॥४॥

अथ पञ्चम्याः—कविर्भार्गव ऋषिः । पवमानो देवता । जगती छन्दः ॥

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३
५५८—**धर्त्ता दिवः पवते कृत्व्यो रसो**
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
दक्षो देवानामनुमाद्यो नृभिः ।
१ २ ३ २उ ३ १ २र ३
हरिः सृजानो अत्यो न सत्वभि-
२ ३ १ २ ३ २
र्वृथा पाजांसि कृणुषे नदीष्वा ॥५॥

भावार्थः—(**सत्वभिः नृभिः**) प्राणधारी नेता ऋत्विजों से (**सुजानः**) अभिषुत किया हुआ (**देवानामनुमाद्यः**) देवतों का हर्षकारक (**दिवःधर्ता**) द्युलोक का धारक (**कृत्व्यः**) संपादन किया हुआ (**रसः**) रसरूप (**दक्षः**) बलकारक (**हरिः**) हरितवर्ण सोम (**अत्यः न**) घोड़े के समान वेग से (**पवते**) जाता है तथा (**नदीषु**) नदी आदि जलप्रवाहों में (**वृथा**) बिना यत्न ही (**पाजांसि**) बलों को (**आ कृणुषे**) सब ओर से बढ़ाता है ॥

निघण्टु २ । ९ ॥ १ । १४ ॥ २ । ९ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये । विवरणकार कहते हैं कि इसका यज्ञ के अष्टम दिन में विनियोग है । ऋ० ९ । ७६ । १ में तो "कृणुते" पाठ है और सायणाचार्य ने उसी की व्याख्या यहां पर भी कर दी है ॥५॥

अथ षष्ठ्याः—कविऋषिः । पवमानो देवता । जगती छन्दः ॥

१ २ ३ १ २ ३ २र
५५६—वृषा मतीनां पवते विचक्षणः
३ १ २ ३ १ २र ३ २
सोमो अह्नां प्रतरीतोषसां दिवः ।
३ १ २र ३ १ २ ३
प्राणा सिन्धूनां कलशां अचिक्रद-
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
दिन्द्रस्य हार्द्याविशन्मनीषिभिः ॥६॥

भावार्थ (**मतीनां वृषा**) बुद्धियों का वर्षाने वाला, (**विचक्षणः**) विशेष से प्रकाशक, (**अह्नाम्, उषसाम्, दिवः**) दिनों, प्रभातों और द्युलोक का (**प्रतरीता**) जगाने वाला, (**सिन्धूनाम् प्राणा**) नदियों का [वर्षा से] पूर्ण करने वाला (**सोमः**) सोम (**कलशान्**) द्रोण कलशों के प्रति (**अचिक्रदत्**) शब्द करता है और (**मनीषिभिः**) बुद्धिमान् याज्ञिकों से हवन किया जाता हुआ (**इन्द्रस्य**) विद्युत् के (**हार्दि**) हृदय में (**आविशन्**) प्रविष्ट होता हुआ-सा (**पवते**) आकाश को जाता है ॥

निघण्टु १ । १३ का प्रमाण और ऋ० ९ । ८६ । १९ के पाठभेद संस्कृत-भाष्य में देखिये । विवरणकार कहते हैं कि इसका विनियोग सोमयज्ञ के तीसरे दिन में होता है ॥६॥

अथ सप्तम्याः—रेणुर्भार्गव ऋषिः । पवमानो देवता । जगती छन्दः ॥

५६०—त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुदुह्रिरे
सत्यामाशिरं परमे व्योमनि ।
चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे
चारूणि चक्रे यदृतैरवर्द्धत ॥७॥

भावार्थः— (**यत्**) जब कि सोम (**ऋतैः**) यज्ञों से (**अवर्धत**) बढ़ता है [तब] (**सप्त**) ७ सात (**धेनवः**) वाणियें (**अस्मै**) इस सोम के लिये (**सत्याम्**) सच्चे (**आशिरम्**) आशिष् को (**दुदुह्रिरे**) पूरित करती हैं । तथा यह सोम (**परमे**) बड़े (**व्योमनि**) आकाश में (**अन्या चत्वारि**) अन्य चार (**भुवनानि**) भुवन अर्थात् पृथिवी अन्तरिक्ष द्यौः और दिशाओं को (**निर्णिजे**) शुद्ध करने के लिये (**चारूणि**) सुन्दर कल्याणरूप (**चक्रे**) करता है ॥

विवरणकार कहते हैं कि "इसका विनियोग ३ तीसरे दिन में होता है । इस सोम के लिये । ७ धेनु=७ छन्द । ३=प्रातः माध्यन्दिन और तृतीय सवनों में पूरित करते हैं । अथवा ३ सवनों से ७ धेनु=७ अहोरात्र, वषट्कारी लोग=१ होता २ मैत्रावरुण ३ ब्राह्मणाच्छंसी ४ पोता ५ नेष्टा ६ अच्छावाक ७ आग्नीध्र; इनकी वाणियें दुही जाती हैं । अथवा धेनुओं से दुहा जाता है सच्चा आशिर= आश्रयण वा मिश्रण । उत्तम व्योम=स्थान वा यज्ञ में । ४ अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी और अतिरात्र चौथा । अथवा पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ और दिशायें । अथवा ४ वेद । अथवा ४ महाऋत्विज् अथवा ४ समुद्र । भुवनों को शोधने के लिये=१४ भुवन–७ भू आदि लोक ७ पाताल; इनको भी कल्याण रूप करता है । किस प्रकार से ? जब कि ऋत=रत्नों वा यज्ञों से बढ़ता है । अथवा उसके लिये ७ धेनु=७ किरणें प्रपूरित करती हैं । अथवा ७ सूर्यकिरणों के रंग । अथवा ७ अग्नि की लपटें । वा ७ माता=भू आदि लोक । ७ पाताल=७ सोमसंस्था वा ७ समुद्र वा ७ द्वीप वा ७ स्वर । ये ७ पूरित करते हैं । आशिर=उदक । बड़े आकाश में । ४ अन्य भुवनों= पृथिव्यादिकों को सुन्दर करता है । जब यज्ञों से बढ़ता है । अथवा ७ धेनु=७ शिरःस्थानी प्राण । ३ उत्पत्ति स्थिति प्रलयों में सत्य ज्ञान को । ४ भुवन=जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति तुरीयावस्थाओं में=अद्वैत अवस्था वाले में नित्य । उन मनुष्यों से विज्ञानार्थ बढ़ता है ॥" ऋ० ९।७०।१ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥७॥

अथाऽष्टम्याः—वेनोभार्गव ऋषिः । पवमानो देवता । जगती छन्दः ॥

१ २ ३ १२३ १ २ ३ १
५६१—इन्द्राय सोम सुषुतः परि स्रवा-
२र ३ १२ ३२
पामीवा भवतु रक्षसा सह ।
२ ३ १२ ३ २ ३
मा ते रसस्य मत्सत द्वयाविनो
१ २ ३२ ३ १ २
द्रविणस्वन्त इह सन्त्विन्दवः ॥८॥

भावार्थः—(सोम) हे परमात्मन् !, वा सोम ! (सुषुतः) भले प्रकार साक्षात् किया हुआ, वा अभिषुत किया हुआ तू (इन्द्राय) जीवात्मा, वा विद्युत् के लिये (परिस्रव) अमृत वर्षा, वा वृष्टि की योग्यता का सम्पादन कर। (अमीवा) रोग (रक्षसा सह) वायु आदि में स्थित दुष्ट विकार के साथ (अप भवतु) दूर हो। (ते) तेरे (रसस्य) आनन्दरस, वा रस से (द्वयाविनः) झूठ सच वाले पापी लोग (मा मत्सत) न हृष्ट हों किन्तु (इह) इस ध्यान यज्ञ में, वा क्रिया यज्ञ में (इन्दवः) तेरे रस (द्रविणस्वन्तः) भक्तिभावादि धन, वा धान्यादि धन वाले (सन्तु) होवें ॥

ऋ० ९ । ८५ । १ में भी ॥८॥

अथ नवम्याः—भरद्वाजो वसुऋषिः । पवमानो देवता । जगती छन्दः ॥

१ २ ३ १ २ ३२उ ३ २ ३
५६२—असावि सोमो अरुषो वृषा हरी
१ २ ३ ३ २ ३ १ २र
राजेव दस्मो अभि गा अचिक्रदत् ।
३ २उ ३ १ २ ३ १ २
पुनानो वारमत्येष्यव्ययं
३ १ २र ३ १२ ३ १ २
श्येनो न योनिं घृतवन्तमासदत् ॥९॥

भावार्थः—(अरुषः) रूपवान् (हरिः) हरित धुवें के वर्णवाला (वृषा) वृष्टिकारक (पुनानः) अभिषुत किया हुआ (राजा) प्रकाशमान (सोमः)

सोम (**असावि**) प्रथम अभिषुत किया जाता है, फिर (**वस्मः**) अन्धकार का निवारक बिजुली में चमकता हुआ (**गाः**) पृथिवियों की ओर (**अभि**) लक्ष्य करता हुआ (**इव**) सा (**अचिक्रदत्**) शब्द करता है (**अव्ययम्**) और ऊर्णामय (**वारम्**) दशापवित्र को (**अत्येषि**) उल्लङ्घित करता है और (**श्येनो न**) श्येन=बाज सा बलवान् (**घृतवन्तम्**) जलयुक्त (**योनिम्**) आकाश स्थान को (**आसदत्**) प्राप्त होता है ॥

इसका विनियोग नवमें दिन में विवरणकार ने माना है ॥ निघण्टु १ । १ ॥ १ । १२ ॥ ३ । ७ उणादि १ । १४५ के प्रमाण और ऋ० ९ । ८२ । १ के पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥९॥

अथ दशम्याः—वत्सप्रीऋषिः । पवमानो देवता । जगती छन्दः ॥

२ ३२उ ३ १ २ ३ २ ३ १
५६३—प्र देवमच्छा मधुमन्त इन्दवो-

२ ३ २ ३ २उ ३ १ २
ऽसिष्यदन्त गाव आ न धेनवः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
बर्हिषदो वचनावन्त ऊधभिः

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
परिस्रुतमुस्रिया निर्णिजं धिरे ॥१०॥

भावार्थः—(**मधुमन्तः**) माधुर्य्ययुक्त (**इन्दवः**) सोम (**वचनावन्तः**) शब्दयुक्त हुए (**अच्छ**) व्याप कर (**देवम्**) इन्द्र नामक विद्युत् को (**प्र, असिष्यदन्त**) ग्रहनामक घटों में से टपक [निकल] कर जाते हैं तथा (**गावः**) सूर्य की किरणें (**बर्हिषदः**) जो कि यज्ञ में स्थित हैं वे (**परिस्रुतम्**) उस टपके हुए (**निर्णिजम्**) शुद्धिकारक सोम का (**आ धिरे**) आधान करती हैं (**न**) जैसे (**धेनवः उस्रियाः**) दुधार गौवें (**ऊधभिः**) वाखों से दूध का आधान करती हैं ॥

अब हम उन घटों के नाम बताते हैं कि जो व्यावहारिक भिन्न-भिन्न देवतों को आहुति देने के लिए सोम से भरे हुए रक्खे जाते हैं। ३ – सवनों में ३४ घट होते हैं। प्रातः सवन में २५ होते हैं। जैसा कि १–उपांशु २–अन्तर्याम ३–ऐन्द्रवायव ४–मैत्रावरुण ५–आश्विन ६–शुक्र ७–मन्थी ८–आग्रयण ९–उक्थ १०–ध्रुव ११ से २३ तक तेरह ऋतुग्रह २४–ऐन्द्राग्न और २५–वैश्वदेव ॥

माध्यन्दिन सवन में ४ होते हैं। ३ मारुत्वतीय, चतुर्थ माहेन्द्र ॥ तृतीयसवन में ५ होते हैं। १–आदित्य २–सावित्र ३–महावैश्वदेव ४–पात्नीवत और ५–हारियोजन ॥ ३४ ॥ निघण्टु २ । ११ में उस्रिया गौ का नाम है ॥ ऋ० ९ । ६८ । १ में भी ॥१०॥

अथैकादश्याः— अत्रिर्ऋषिः । पवमानो देवता । जगती छन्दः ॥

३ २ ३क २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३क २र
५६४—अञ्जते व्यञ्जते समञ्जते क्रतुं रिहन्ति मध्वाभ्यञ्जते ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं
३ २ ३ २ ३ १ २
हिरण्यपावाः पशुमप्सु गृभ्णते ॥११॥

भावार्थः—(**हिरण्यपावाः**) ज्योति से पवित्र करने वाले अध्वर्यु लोग (**क्रतुम्**) यज्ञ को (**अञ्जते**) विस्तारित करते (**व्यञ्जते**) प्रकट करते और (**समञ्जते**) भले प्रकार से देखते-भालते हैं। तथा (**पशुम्**) प्रकाश से दिखाने वाले सोम को (**अप्सु**) जलों में (**गृभ्णते**) ग्रहण करते और (**मध्वा**) शहद आदि मिठाई से (**अभ्यञ्जते**) सानते हैं। तथा (**सिन्धोः**) समुद्र के (**उच्छ्वासे**) श्वासरूप मेघमण्डल में (**पतयन्तम्**) गिरते हुए को (**रिहन्ति**) चखते हैं ॥ इसका विनियोग उपहव्य और प्रवर्ग्य में विवरणकार मानते हैं ॥

व्याकरण और निरुक्त तथा सायणाचार्य के सम्मत प्रमाण तथा ऋ० ९ । ८६ । ४३ के पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥११॥

अथ द्वादश्याः—पवित्र ऋषिः । पवमानो देवता । जगती छन्दः ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २
५६५—पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः ।
१ २ ३ २उ ३ १ २ ३ २ ३ १ २र ३ १ २र
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तः सं तदाशत ॥

इति पञ्चमाध्याये नवमी दशतिः ॥९॥

इति आग्नेयम् ॥

भावार्थः—(ब्रह्मणस्पते) हे वेद के पति ! परमात्मन् !, वा चतुर्वेदविद् ब्रह्मा के रक्षक ! सोम ! (ते) तेरी (पवित्रम्) पवित्रता (विततम्) विस्तृत है, (प्रभुः) प्रभावशाली तू (सर्वतः) सब ओर से (गात्राणि) देह के अंगों को (पर्येषि) व्यापता है । परन्तु (अतप्ततनूः) देह से व्रताचरणादि तप न करने वाला पुरुष (आमः) कच्चा है और (तत्) उस पवित्रता को (न अश्नुते) नहीं भोगता । किन्तु (शृतासः) जो परिपक्व हैं, वे (तत्) उस पवित्रता को (सम् आशत) भोगते हैं ॥

इसी से अज्ञानवश चक्राङ्कित लोग केवल अग्नितप्त चक्रादि से भुजा का एक देश दग्ध करवा कर समस्त शरीर से तप न करने पर ही अपने को वैदिक मानते हैं । वस्तुतः इसका विनियोग ज्योतिष्टोम के तीसरे दिन में है । यही सत्यव्रत जी की सम्मति है । ऋ० ९ । ८३ । १ में का पाठव्यत्ययमात्र संस्कृतभाष्य में देखिये ॥१२॥

यह पञ्चमाध्याय में नवीं दशति पूर्ण हुई ॥९॥
यह जगती छन्दों का प्रकरण समाप्त हुआ ॥

इन्द्रमच्छेति खण्डेऽस्मिन् ऋचो द्वादशसंख्यकाः ।
उष्णिहः पावमान्योऽत्र वक्ष्यन्त ऋषयः पृथक् ॥१॥

अथ दशमी दशतिः

तत्र प्रथमायाः अग्निश्चाक्षुष ऋषिः । पवमानो देवता । उष्णिक्छन्दः ॥

२ ३ १ २ ३ २ ३१ २र ३ १२
५६६—इन्द्रमच्छ सुता इमे वृषणं यन्तु हरयः ।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
श्रुष्टे जातास इन्दवः स्वर्विदः ॥१॥

भावार्थः—(इमे) ये (सुताः) अभिषव किये हुए (जातासः) उत्पन्न हुए (स्वर्विदः) सुखदायक (हरयः) हरे धूम के रंग के (इन्दवः) सोम (श्रुष्टे) शीघ्र (वृषणम् इन्द्रम्) वृष्टिकारक विद्युत् को (अच्छ) अच्छे प्रकार (यन्तु) प्राप्त हों ॥

निघण्टु ४ । ३ में श्रुष्टी शीघ्र का नाम है और ऋ० ९ । १०६ । १ में पाठ भी ठीक श्रुष्टी ही है ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—चक्षुर्मानव ऋषिः । पवमानो देवता । उष्णिक्छन्दः ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
५६७—प्र धन्वा सोम जागृविरिन्द्रायेन्दो परि स्रव ।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
द्यु मन्तं शुष्ममा भर स्वर्विदम् ॥२॥

भावार्थः—(**सोम**) हे शान्तस्वरूप ! (**इन्दो**) परमेश्वर ! (**जागृविः**) चेतनस्वरूप आप (**इन्द्राय**) जीवात्मा के लिए (**परिस्रव**) अमृत वर्षाइये (**प्र धन्व**) और [हमें] प्राप्त हूजिये। तथा (**द्युमन्तम्**) प्रकाशयुक्त (**स्वर्विदम्**) मोक्षदायक (**शुष्मम्**) बल (**आभर**) पहुँचाइये ॥

भौतिक पक्ष में—(**इन्दो**) गीले ! (**सोम**) सोमरस ! (**जागृविः**) शरीर को चेताने वाला (**इन्द्राय**) विद्युत् के लिए (**प्र धन्व**) प्राप्त हो और (**परिस्रव**) वृष्टि कर और (**द्युमन्तम्**) प्रकाशयुक्त (**स्वर्विदम्**) सुखदायक (**शुष्मम्**) बल को (**आभर**) पहुँचा ॥

निघण्टु २ । १४ और २ । ९ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋ० ९ । १०६ । ४ में भी ॥२॥

अथ तृतीयायाः—पर्वतनारदावृषी । पवमानो देवता । उष्णिक्छन्दः ॥

१ २ ३ १ २र ३ २ ३ १ २
५६८—सखाय आ नि षीदत पुनानाय प्र गायत ।
२ ३ १र ३ १ २र ३ २
शिशुं न यज्ञैः परि भूषत श्रिये ॥३॥

भावार्थः—(**सखायः**) हे मित्रो ! (**आनिषीदत**) आओ बैठो और (**पुनानाय**) शुद्धिकारक पवमान—सोम के लिए (**प्रगायत**) गुण वर्णन करो तथा (**यज्ञैः**) यज्ञों से (**श्रिये**) शोभा के लिये (**परिभूषत**) सुसंस्कृत=सुशोभित करो । दृष्टान्त—(**न**) जैसे (**शिशुम्**) बालक को संस्कारों से भूषित=शोभित करते हैं, तद्वत् ॥

ऋ० ९ । १०४ । १ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—ऋष्यादय उक्तवत् ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
५६९—तं वः सखायो मदाय पुनानमभि गायत ।
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
शिशुं न हव्यैः स्वदयन्त गूर्तिभिः ॥४॥

भावार्थः—(**सखायः**) हे मित्रो ! (**वः**) तुम अपने (**मदाय**) हर्ष= आनन्द के लिए (**पुनानम्**) पवित्रताकारक (**तम्**) उस सोम को (**अभिगायत**) प्रशंसित करो (**हव्यैः**) और हव्य मधु आदि द्रव्यों के मिलाने से (**स्वदयन्त**) स्वादु बनाओ (**न**) जैसे (**शिशुम्**) बालक को सत्कृत करते हैं, तद्वत् ॥

निघण्टु ३ । १४ का प्रमाण और ऋ० ९ । १०५ । १ का पाठान्तर संस्कृत-भाष्य में देखिये ॥४॥

अथ पञ्चम्याः—त्रित ऋषिः । पवमानो देवता । उष्णिक्छन्दः ॥

५७८—प्राणा शिशुर्महीनां हिन्वन्नृतस्य दीधितिम् ।
विश्वा परि प्रिया भुवदध द्विता ॥५॥

भावार्थः—(**महीनाम्**) भूमियों अर्थात् भूमिनिवासी मनुष्यादि का (**शिशुः**) बालक समान (**प्राणा**) प्राणाधार सोम (**ऋतस्य दीधितिम् हिन्वन्**) यज्ञ की दीप्ति को प्राप्त कराता हुआ (**विश्वा**) सब (**प्रिया**) प्यारे हव्यों को (**परिभुवत्**) तिरस्कृत [मात] करता है अर्थात् सर्वोपरि हव्य है (**अध**) और (**द्विता**) दो प्रकार पृथिवी और अन्तरिक्ष में स्थित होता है ॥

विनियोग इसका छठे दिन में है ।.

ऋ० ९ । १०२ । १ में प्राणा—क्राणा पाठ है और सायणाचार्य ने यहां भी उसी का अर्थ कर दिया है ॥५॥

अथ षष्ठ्याः—मनुर्ऋषिः । पवमानो देवता । उष्णिक्छन्दः ॥

५७९—पवस्व देववीतय इन्दो धाराभिरोजसा ।
आ कलशं मधुमान्त्सोम नः सदः ॥६॥

भावार्थः—(**इन्दो**) सोम ! (**धाराभिः**) प्रवाहों से (**ओजसा**) बल-पूर्वक (**देववीतये**) वायु आदि देवों के भोजनार्थ (**पवस्व**) जा । तथा (**सोम**) ओषधे ! (**मधुमान्**) माधुर्ययुक्त (**नः**) हमारे (**कलशम्**) द्रोणकलश में (**आ सदः**) स्थित हो ॥

अथवा—(**इन्दो**) परमेश्वर ! (**देववीतये**) विद्वान् उपासकों को मिलने के लिये (**पवस्व**) प्राप्त हूजिये (**ओजसा**) अपने अनन्त सामर्थ्य से (**मधुमान्**)

आन्दस्वरूपयुक्त (**सोम**) शान्तस्वरूप ! भगवन् ! (**धाराभिः**) अमृतद्रव के प्रवाहों से (**नः**) हमारे (**कलशम्**) हृदय घट में (**आसदः**) विराजिये ।।

वी धातु क्रम से भोजनार्थ और गत्यर्थ मान कर देववीतये प्रयोग है । इसका अग्निष्टोम यज्ञ के ९ वें दिन में विनियोग है । विवरणकार का मत है ।। ऋ० ९ । १०६ । ७ में भी ।।६।।

अथ सप्तम्याः—अग्निऋर्षिः । पवमानो देवता । उष्णिक्छन्दः ।।

१ २ ३ २ ३ २र ३ २ ३ १ २
५७२—सोमः पुनान ऊर्मिणाव्यं वारं वि धावति ।
१ २ ३ १ २र ३ १ २
अग्रे वाचः पवमानः कनिक्रदत् ।।७।।

भावार्थः—(**पुनानः**) पवित्र और (**पवमानः**) अन्यों को पवित्र करने वाला (**सोमः**) सोम (**ऊर्मिणा**) लहरों के साथ (**अव्यम्**) ऊन के (**वारम्**) दशापवित्र को (**विधावति**) विविध प्रकार से चलता है । तथा (**वाचः**) वेद-मन्त्रोच्चारण के (**अग्रे**) आगे [साथ-साथ] (**कनिक्रदत्**) शब्द करता है ।।

अथवा—(**पुनानः**) स्वयं पवित्र और (**पवमानः**) अन्यों को पवित्र करने वाला (**सोमः**) शान्त आत्मा (**ऊर्मिणा**) मानस उन्नति से (**अव्यं वारम्**) सूर्य के मण्डल को (**विधावति**) विशेष कर प्राप्त होता है ।।

इसका विनियोग चौथे दिन में है ।।

ऋ० ९ । १०६ । १० में अव्यः पाठ है ।।७।।

अथाऽष्टम्याः— द्वित ऋषिः । पवमानो देवता । उष्णिक्छन्दः ।।

१ २ ३ १-२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
५७३—प्र पुनानाय वेधसे सोमाय वच उच्यते ।
३ १ २र ३ १ २ ३ १ २
भृतिं न भरा मतिभिर्जुजोषते ।।८।।

भावार्थः—(**पुनानाय**) पवित्र (**वेधसे**) बुद्धितत्त्वयुक्त, वा मेधावी (**सोमाय**) सोमौषधि वा शान्तात्मा के लिये यह (**वचः**) वचन (**प्रोच्यते**) कहा जाता है कि (**मतिभिः**) बुद्धियों से (**जुजोषते**) अत्यन्त सेवा करने वाले के लिये (**भृतिम् न**) नौकरी-सी (**भर**) भरो ।।

ऋग्वेद ९ । १०३ । १ में उच्यते- उद्यतम् पाठ है । निघण्टु ३ । १५ में वधाः=बुद्धिमान् का नाम है ।।८।।

अथ नवम्याः—पर्वतनारदावृषी । पवमानो देवता । उष्णिक् छन्दः ॥

५७४—गोमन्न इन्दो अश्ववत्सुतः सुदक्ष धनिव ।
शुचिं च वर्णमधि गोषु धारय ॥९॥

भावार्थः—(इन्दो) परमेश्वर ! वा सोम ! (सुदक्ष) सुन्दर बलवन् ! (सुतः) हृदय में ध्यान किये हुए, वा अभिषुत किये हुए (नः) हमारे लिये (गोमत्) गौ आदि दुग्धदायक पशुयुक्त, वा इन्द्रिययुक्त और (अश्ववत्) अश्वादि सवारी वाले, वा प्राण वाले [धन और बल] को (धनिव) प्राप्त कराइये (च) और (गोषु) गवादि पशु, वा इन्द्रियों में (शुचिं वर्णं) शुद्ध रंग (अधि धारय) धारित कीजिये ॥

निघण्टु २ । १४ अष्टाध्यायी ३ । १ । ८५ के प्रमाण और ऋ० ९।१०५ । ४ के पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥९॥

अथ दशम्याः—ऋष्यादयः पूर्ववत् ॥

५७५—अस्मभ्यं त्वा वसुविदमभि वाणीरनूषत ।
गोभिष्टे वर्णमभि वासयामसि ॥१०॥

भावार्थः—प्रकरण से—हे परमेश्वर ! वा सोम ! (वाचः) वेदवाणी (अस्मभ्यम्) हमारे हित के लिये (वसुविदम् त्वा) ज्ञानादि, वा धान्यादि धन के प्रापक तुझको (अभि अनूषत) स्तुत करती हैं,वा गुण बताती हैं । हम (गोभिः) इन वेदवाणियों से (ते) तेरे (वर्णम्) स्वरूप को (अभि वासयामसि) जानते हैं ॥

ऋग्वेद ९ । १०४ । ४ में भी ॥१०॥

अथैकादश्याः—अग्निश्चाक्षुष ऋषिः । पवमानो देवता । उष्णिक्छन्दः ॥

५७६—पवते हर्यतो हरिरति ह्वरांसि रंह्या ।
अभ्यर्ष स्तोतृभ्यो वीरवद्यशः ॥११॥

भावार्थः—(हरिः) धूम बना सोम (ह्वरांसि) कुटिल (हर्यतः) इधर उधर जाते हुए पदार्थों को (अति) उल्लंघन करके (रंह्या) वेग से (पवते)

जाता है। तथा (**स्तोतृभ्यः**) यजमानादि स्तोताओं के लिये (**वीरवत्**) वीर सहित (**यशः**) कीर्त्ति (**अभ्यर्ष**) प्राप्त कराता है ॥

विनियोग प्रथम दिन में है ॥

निघण्टु २ । १४ इत्यादि प्रमाण और ऋग्वेद ९ । १०६ । १३ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥११॥

अथ द्वादश्याः—द्वित ऋषिः । पावमानो देवता । उष्णिक्छन्दः ॥

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
५७७—परि कोशं मधुश्चुतँ सोमः पुनानो अर्षति ।
३ २उ ३ १ २ ३ १ २
अभि वाणीर्ऋषीणाँ सप्ता नूषत ॥१२॥

इति पञ्चमाध्याये दशमी दशतिः ॥१०॥

भाषार्थः—(**पुनानः सोमः**) पवित्र करता हुआ सोम (**मधुश्चुतं कोशम्**) मीठा जल चुआने वाले मेघमण्डलरूप कोश को (**परि अर्षति**) सब ओर से जाता है । [इत्यादि यश] (**ऋषीणाम्**) वेदमन्त्रों की (**सप्त**) गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् और जगती ७ (**वाणीः**) वाणियें (**अभि अनूषत**) सर्वतः वर्णित करती हैं ।

ऋग्वेद ९ । १०३ । ३ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥१२॥

यह पांचवें अध्याय में दशवीं दशति पूर्ण हुई ॥१०॥

यह उष्णिक्छन्दों का प्रकरण हुआ ॥

पवस्वेति दशत्यां तु ककुभोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ।
ससुन्वे इति गायत्री यवमध्येति केचन ॥१॥
अध्वर्व्यूहनादेषा ककुबेवेति केचन
एष स्य धारया सुतः प्रगाथः काकुभोन्तिमः ॥२॥
ऋषीणां विप्रकीर्णत्वात्तत्र तत्राभिदध्महे ॥

"पवस्व" इत्यादि ग्यारहवीं दशति में आठ ऋचा हैं । जिनमें ५ वीं "ससुन्व"

इत्यादि गायत्री छन्द की है। शेष ककुप्छन्द की हैं। कोई लोग ५ वीं को यवमध्या गायत्री कहते हैं॥

कोई कहते हैं कि यह (५ वीं) अक्षरव्यूहन से ही ककुप् ही है। "एष स्य-धारया सुतः" इत्यादि अन्त की दो ऋचाओं का प्रगाथ फिर ककुप् है॥२॥

ऋषि भिन्न-भिन्न २ हैं, इसलिये उस-उस ऋचा के ऊपर ही कहते जावेंगे॥

विपरीता यवमध्या। पिं० ३। ५८॥

यद्याद्यान्त्यौ पादौ लघ्वक्षरौ, मध्यमो बह्वक्षरश्च भवति।
तदा यथा यवोमध्ये स्थूलस्तथात्वाद्यवमध्येति प्रोच्यते॥३॥

अब कि पहला और अन्त का पाद थोड़े अक्षरों वाला और मध्यम पाद बहुत अक्षरों से युक्त हो तब जैसे जौ (यव) बीच में से मोटा होता है, उसके तुल्य होने से यह "यवमध्या" कहाती है॥३॥

अथैकादशी दशतिः

तत्र प्रथमायाः—गौरिवीतिः शाक्त्य ऋषिः। पवमानो देवता। ककुप्छन्दः॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
५७८—पवस्व मधुमत्तम इन्द्राय सोम क्रतुवित्तमो मदः।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
महि द्युक्षतमो मदः॥१॥

भावार्थः— (**सोम**) परमेश्वर! वा औषध! (**मधुमत्तमः**) अत्यन्त मधुरता से युक्त (**क्रतुवित्तमः**) अतिशय प्रज्ञा वा कर्म का प्राप्त कराने वाला (**मदः**) आनन्द वा हर्षदायक (**महि**) पूजनीय, वा सत्करणीय (**द्युक्षतमो मदः**) प्रकाश की बहुलायत वाला आनन्दस्वरूप, वा हर्षप्रद तू (**इन्द्राय**) जीवात्मा, वा विद्युत्तत्व के लिए (**पवस्व**) प्राप्त हो॥

ऋग्वेद ९। १०८। १ में भी॥१॥

अथ द्वितीयायाः—ऊर्ध्वसद्मा ऋषिः। पवमानो देवता। ककुप्छन्दः॥

३ २ ३ २ ३२उ ३ १२ ३ १ २ ३ २
५७९—अभि द्युम्नं बृहद्यश इषस्पते दिदीहि देव देवयुम्।
१ २र ३ १ २
वि कोशं मध्यमं युव॥२॥

भावार्थः— (**इषस्पते**) अन्न के पति! परमेश्वर!, वा सोम! (**देव**)

दिव्यप्रकाशादिगुणवन् ! (**अग्ने**) सर्वतः (**द्युम्नम्**) प्रकाशित (**बृहत्**) बड़े (**यशः**) कीर्ति वा अन्न जल को (**वीदिहि**) प्रकाशित कीजिए। तथा (**देवयुम्**) विद्वानों, वा वायु आदि देवों को चाहने वाले (**मध्यमं कोशम्**) बीच के कोश हृदय को, वा मेघमण्डल को (**वि युव**) खोल दीजिये ॥

अष्टाध्यायी ८।१।७२॥ ८।१।१६॥ ६।१।१६८ निघण्टु २। ७॥ १।१२॥ १।१० के प्रमाण और ऋ० ९।१०८।९ का पाठभेद संस्कृत-भाष्य में देखिये ॥ इसका विनियोग पांचवें दिन में है ॥२॥

अथ तृतीयायाः—ऋजिश्वा ऋषिः। पवमानो देवता। ककुप्छन्दः ॥

५८०—आ सोता परि षिञ्चताश्वं न स्तोममप्तुरं रजस्तुरम्।
वनप्रक्षमुदप्रुतम् ॥३॥

भावार्थः—हे ऋत्विजो ! (**अश्वं न**) अश्व के समान वेगवान (**स्तोमम्**) प्रशंसनीय (**अप्तुरम्**) जलों से प्रेरक (**रजस्तुरम्**) और तेज के प्रेरक (**वनप्रक्षम्**) जल से मिले हुए (**उदप्रुतम्**) जल में तिरने वाले सोम को (**आ सोत**) अभिषुत करो (**परिषिञ्चत**) और सब ओर फैलाओ ॥

अष्टाध्यायी ७।१।१४५ निरुक्त ४।१९ के प्रमाण और ऋ० ९।१०८। ७ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—कृतयशा ऋषिः। पवमानो देवता। ककुप्छन्दः ॥

५८१—एतमु त्यं मदच्युतं सहस्रधारं वृषभं दिवोदुहम्।
विश्वा वसूनि बिभ्रतम् ॥४॥

भावार्थः—(**त्यम्**) उस पूर्व प्रकरण में कहे (**एतम् उ**) इस ही (**मदच्युतम्**) हर्ष के टपकाने वाले (**सहस्रधारम्**) असंख्यधार (**वृषभम्**) वर्षाने वाले (**दिवः**) द्युलोक को (**दुहम्**) दुहने वाले (**विश्वा वसूनि बिभ्रतम्**) समस्त धान्यादि धन को धारण करते हुए सोम का [अभिषव करो और सब ओर फैलाओ] यह पूर्व मन्त्र में अन्वय है ॥

ऋ० ९।१०८।११ में पुनः पाठ है ॥४॥

अथ पञ्चम्याः—ऋणव ऋषिः। पवमानो देवता। गायत्री वा यवमध्या वा ककुप्छन्दः ॥

५८२—स सुन्वे यो वसूनां यो रायामानेता य इडानाम्।
सोमो यः सुक्षितीनाम् ॥५॥

भावार्थः—(**यः सोमः**) जो सोम (**वसूनाम्**) वसुसंज्ञक ८ देवों का (**आनेता**) प्राप्त कराने वाला है, (**यः**) जो (**रायाम्**) धान्यादि धनों का प्रापक है, (**यः**) जो (**इडानाम्**) भूमियों का प्रापक है (**यः**) जो (**सुक्षितीनाम्**) सुन्दर मनुष्यों का प्रापक है (**सः**) वह सोम (**सुन्वे**) अभिषुत किया जाए ॥

निघण्टु १ । १ ॥ २ । ३ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये। ऋ० ९।१०८। १३ में भी ॥ इसका विनियोग छठे दिन में देखा जाता है ॥५॥

अथ षष्ठ्याः—शक्तिऋषिः। पवमानो देवता। ककुप्छन्दः ॥

५८३—त्वं ह्या३ङ्ग दैव्यं पवमान जनिमानि द्युमत्तमः।
अमृतत्वाय घोषयन् ॥६॥

भावार्थ—(**अंग**) हे प्रिय ! (**पवमान**) पवित्र परमात्मन् ! वा सोम ! (**त्वं हि**) तू ही (**द्युमत्तमः**) अत्यन्त प्रकाशमान (**दैव्यम्**) विद्वानों के (**जनिमानि**) जन्मों को (**अमृतत्वाय**) मोक्षभाव के लिए (**घोषयन्**) विख्यात करता हुआ सा वर्त्तमान है ॥

परमात्मा विद्वानों वा याज्ञिकों के जन्मों को मोक्षभाव के लिए विख्यात करता हुआ है। सोम भी जब अग्नि में हवन किया हुआ शब्द करता है तब यज्ञकर्त्ताओं के अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा उत्तरोत्तर ज्ञान की प्राप्ति से मानो मोक्ष को विख्यात करता है ॥

इसका विनियोग तीसरे दिन में है। ऋ० ९ । १०८ । ३ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥६॥

अथ सप्तम्याः—उरुऋषिः। पवमानो देवता। ककुप्छन्दः ॥

५८४—एष स्य धारया सुतोऽव्या वारेभिः पवते मदिन्तमः।
क्रीडन्नूर्मिरपामिव ॥७॥

भावार्थः—(स्यः) वह (एषः) यह (सुतः) अभिषव करके निकाला हुआ सोम (अव्या) ऊनी (वारेभिः) दशापवित्र के वालों से (अपाम्) जल की (ऊर्मिः) लहर (इव) सा (वीडन्) उमरता हुआ (मदिन्तमः) अतिहर्षकारक (धारया) धारा से (पवते) चलता है ॥

इसका सप्तम दिन में विनियोग देखा जाता है ॥

ऋ० ९ । १०८ । ५ में भी ॥७॥

अथाष्टम्याः—ऋजिश्वा ऋषिः । पवमानो देवता । ककुप्छन्दः ॥

५८५—य उस्रिया अपि या अन्तरश्मनि निर्गा अकृन्तदोजसा ।
अभि व्रजं तत्निषे गव्यमश्व्यं वर्मीव धृष्णवा रुज
(ओ३म् वर्मीव धृष्णवा रुज) ॥८॥

इति पञ्चमाऽध्याये एकादशी दशतिः ॥११॥

इति काकुभम् ॥

इति षष्ठः प्रपाठकः ॥६॥

इति श्रीमत्कण्ववंशावतंस पण्डित हजारीलाल शास्त्रि सूनुना
हस्तिनापुर पार्श्ववर्त्ति परीक्षितगढ़ निवासिना
तुलसीरामस्वामिना कृते सामवेदभाष्ये
पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

इति पावमानं पर्व ॥३॥

भावार्थः—(धृष्णो) धर्षणशील (यः) जो सोम (उस्रियाः) गौली (अपियाः) अन्तरिक्ष में स्थित (गाः) किरणों को (अश्मनि अन्तः) मेघ के मध्य में स्थित हुइयों को (निरऽकृन्तत्) निकालता=वर्षाता है [वह सोम] (गव्यम्) गौवों के और (अश्व्यम्) घोड़ों के (व्रजम्) समुदाय को (अभि तत्निषे) वर्षा से विस्तृत करता है । तथा (वर्मीव) कवचधारी वीर पुरुष सा

(आ रुज) शत्रु दल को नष्ट करता है ।। मन्त्र में (   ) कोष्ठक का मध्यस्थ पाठ दो बार जो पढ़ा है, किन्हीं-किन्हीं पुस्तकों में है और अध्याय की समाप्ति-सूचनाऽर्थ है ।।

सोमयज्ञ से वर्षा, उससे तृणादि, उससे गौ आदि दुग्धदायक पशु और घोड़े आदि सवारियों की वृद्धि तथा सोम के सेवन से शत्रुनाशनयोग्य बल की प्राप्ति सुलभ ही है ।

निघण्टु १ । १० ।। २ । ११ ।। १ । ३ निरुक्त ४ । ११ अष्टाध्यायी ३ । २ । १०५ के प्रमाण और ऋ० ६ । १०८ । ६ के पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ।।८।।

यह पञ्चमाध्याय में ग्यारहवीं दशति पूर्ण हुई ।।११।।
तथा यह ककुप्छन्दों का प्रकरण भी पूर्ण हुआ ।।
यह छठा प्रपाठक समाप्त हुआ ।।६।।

कई लोगों के मत में छन्दआर्चिक ग्रन्थ भी यहीं समाप्त माना जाता है । परन्तु अन्य लोग अगले छठे अध्याय आरण्यक काण्ड की समाप्ति पर छन्दआर्चिक की समाप्ति मानते हैं ।।

कण्ववंशावतंस श्रीमान् पं० स्वामी हजारीलाल के पुत्र,
परीक्षितगढ़ (जिला मेरठ) निवासी
तुलसीरामस्वामिकृत

सामवेदभाष्य में यह पांचवां अध्याय समाप्त हुआ ।।५।।
यह पवमानपर्व ३ भी समाप्त हुआ ।।

ओ३म्

अथ षष्ठाध्यायः ॥

छन्द आर्चिके मुख्यानि त्रीणि पर्वाणि—आग्नेयमैन्द्रं पवमानं चेति । वक्ष्यमाणमारण्यकं पर्वापि छन्द आर्चिकेऽन्तर्भूतमेव । परन्त्वत्र नास्ति कस्याश्चिदेकस्या देवताया वर्णनमपि तु बह्वीनाम् । अतएव नेदं पर्वत्रयेऽन्तर्भावयितुं शक्यमासीत् । आरण्यकपदनिर्वचनं तु—

अरण्यान्मनुष्ये ४ । २ । १२६

इत्यस्योपरि—पथ्यध्यायन्यायविहारमनुष्यहस्तिष्विति वक्तव्यम् । अरण्येऽधीयते आरण्यकोऽध्याय इति ॥

आरण्यकाऽभिधः षष्ठोऽध्यायो व्याक्रियतेऽधुना ।
तत्रेन्द्रेत्यादिकानां तु पञ्चपञ्चाशतां क्रमात् ॥१॥
ऋषिच्छन्दोदैवतानि तत्र तत्राभिदध्महे ॥

भावार्थः—छन्द आर्चिक के मुख्य तीन पर्व हैं १–आग्नेय २–ऐन्द्र ३–पावमान । यह अगला आरण्यक पर्व भी छन्द आर्चिक के अन्तर्गत ही है, परन्तु इसमें मुख्य करके किसी एक देवता का वर्णन नहीं है किन्तु बहुतों का है । इसी से एक के सा नाम भी नहीं प्रसिद्ध हुआ । आरण्यक शब्द का अर्थ यह है कि जो वन में पढ़ा जावे, वह अध्याय । इस विषय में अष्टाध्यायी ४ । २ । १२६ और इसके वार्तिक और उदाहरण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

अब आरण्यक नाम छठे अध्याय का भाष्य आरम्भ किया जाता है, इसमें "इन्द्र" इत्यादि ५५ ऋचाओं के ऋषि, देवता, छन्दों को क्रम से वहां-वहां वर्णन करते जायेंगे ॥१॥

अथ प्रथमा दशतिः ॥

तत्र प्रथमायाः—भरद्वाज ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

२ ३१ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २

५८६—इन्द्र ज्येष्ठं न आ भर ओजिष्ठं पुपुरि श्रवः ।

१ २र ३ १ २ ३ १र २र

यद्दिधृक्षेम वज्रहस्त रोदसी उभे सुशिप्र पप्राः ॥१॥

भावार्थः—(**वज्रहस्त**) आयुध वा शस्त्र हाथ में रखने वाले ! वा कड़क को धारित करने वाले ! (**सुशिप्र**) सुन्दर नासिका युक्त ! (**इन्द्र**) राजन् वा विद्युत् ! (**यत्**) जिससे (**उभे**) दोनों (**रोदसी**) द्युलोक और भूमि को (**पप्राः**) पूरित करता है [वही] (**ज्येष्ठम्**) बहुत (**ओजिष्ठम्**) बलिष्ठ (**पुपुरि**) तृप्तिकारक (**श्रवः**) अन्न (**नः**) हमारे लिये (**आभर**) प्राप्त कराइये । तथा जो हम (**दिधृक्षेम**) धारण करना चाहें वह भी ॥

इन्द्र शब्द से यहां राजा और पक्षान्तर में विद्युत् का ग्रहण है । राजा को तो स्पष्ट ही वज्रधारी और सुन्दर नासिकादि अङ्गों से युक्त तथा अन्नवर्धक कहना ठीक है । विद्युत् के पक्ष में यह रूपकालङ्कार है । विद्युत् का प्रहार वज्रतुल्य है और चमक नासिक की उपमा देने में युक्त है ॥

यहां कोई-कोई लोग वज्रहस्तादि विशेषण देखकर और निरुक्त में देवतों के पुरुषाकार होने के वर्णन को देखकर शंका में पड़ते हैं कि कहीं यह स्वर्गस्थ पुरुषाकार माने हुए इन्द्र का वर्णन तो नहीं है ? उनके भ्रम निवारणार्थ उस प्रकरण को सब निरुक्त उदाहरणों और अर्थों सहित नीचे लिखा जाता है:—

"अथाकारचिन्तनं देवतानाम् । पुरुषविधाः स्युरित्येकं चेतनावद्धि स्तुतयो भवन्ति तथाभिधानानि । अथापि पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्ते ॥

ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू ॥

अर्थात् अब देवताओं के आकार का विचार करते हैं । एक आकार देवतों का मनुष्याकार है क्योंकि चेतन के समान स्तुतियां हैं और नाम भी । और मनुष्यों के अङ्गों का वर्णन भी पाया जाता है (जैसा कि—)

उरुं नो लोकमनु नेषि विद्वान्त्स्वर्वज्ज्योतिरभयं स्वस्ति ।

ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू उपस्थेयाम शरणा बृहन्ता ॥

(ऋ० ६ । ४७ । ८ ॥)

अर्थ: – (**इन्द्र**) हे राजन् ! (**स्थविरस्य**) जिस विद्याविनयवृद्ध (**ते**) आपके (**शरणा**) शत्रुनाशक (**बृहन्ता**) बड़ी (**ऋष्वा**) श्रेष्ठ (**बाहू**) भुजाओं को हम (**उपस्थेयाम**) उपस्थित होवें (**विद्वान्**) वह आप विद्वान् जिस से (**नः**) हमको (**उरुम्**) बहुत (**स्वर्वत्**) सुखयुक्त (**ज्योतिः**) प्रकाश और (**अभयम्**) भयरहित (**स्वस्ति**) सख और (**लोकम्**) दर्शन को (**अनु नेषि**) प्राप्त कराते हो ॥

इसमें राजा को मनुष्याकार देवता मानकर प्रशंसा (स्तुति) की है। दूसरा उदाहरण निरुक्तकार ने देवता के मनुष्याकार होने का यह दिया है कि—

य संगृभ्णा मघवन्काशिरित्ते

इसका अर्थ यह है कि हे (**मघवन्**) धनवन् ! राजन् ! (**यत्**) जो कि (**ते**) आपकी (**काशिः**) मुट्ठी है वह (**संगृभ्णा**) संग्रह करने वाली हो ॥

काशिर्मुष्टिः निरुक्त ६ । १ फिर निरुक्तकार कहते हैं—

अथापि पौरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैः । आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याहि । कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते ।

अर्थात् मनुष्यों के से द्रव्यों का भी वर्णन देवतों में पाया जाता है। जैसा कि नीचे के मन्त्र में है—

आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याह्या चतुर्भिरा षड्भिर्हूयमानः ।
आष्टाभिर्दशभिः सोमपेयमयं सुतः सुमख मा मृधस्कः ॥

ऋ० २ । १८ । ४ ॥

अर्थः- (**इन्द्र**) परमैश्वर्ययुक्त राजन् (**हूयमानः**) बुलाये हुए आप (**द्वाभ्यां हरिभ्याम्**) दो हरणशील पदार्थों से युक्त यान द्वारा (**आ याहि**) आइये (**चतुर्भिः**) चार से (**आ**) आइये (**षड्भिः**) छः से (**आ**) आइये (**अष्टाभिः**) आठ से (**आ**) आइये (**दशभिः**) दश हरणशील पदार्थों से युक्त यान के द्वारा आइये (**अयम्**) इस (**सुतः**) उत्पन्न किये रस के (**सोमपेयम्**) सोमपानार्थ आइये (**सुमख**) हे सुन्दर यज्ञ वाले ! (**मृधः**) संग्रामों को (**मा कः**) न कीजिये ।

अर्थात् राजा को योग्य है कि अग्नि आदि पदार्थों से सम्पादित यन्त्र आदि निर्मित यानों द्वारा जावे आवे । सज्जनों से सोमपाकादि आदर सत्कार ग्रहण कर ले, संग्राम न करे ॥ फिर निरुक्त ने दूसरा प्रतीक नीचे लिखे मन्त्र का दिया है:—

अपाः सोममस्तमिन्द्र प्रयाहि कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते ।
यत्रा रथस्य बृहतो निधानं विमोचनं वाजिनो दक्षिणावत् ।

ऋ० ३ । ५३ । ६ ॥

अर्थः—(इन्द्र) हे राजन् ! (यत्र) जिस गृह में (बृहतः) बड़े (रथस्य) विमान रथ और (वाजिनः) अग्नि जन्य घोड़े का (निधानम्) स्थापन और (विमोचनम्) खोलने का (दक्षिणावत्) दक्षिणा के तुल्य है (गृहे) जिस आपके गृह में (कल्याणीः) सुखदायिका (जाया) स्त्री है उस (अस्तम्) गृह को [निघण्टु ३ । ४] (प्र याहि) आइये जाइये और (सोमम्) सोमरस को (अपाः) पीजिये, जिससे (सुरणम्) अच्छे प्रकार संग्राम हो । तथा निरुक्त—

अथापि पौरुषविधिकैः कर्मभिः । अद्धीन्द्र
पिब च प्रस्थितस्य । आ श्रुत्कर्ण श्रुधी हवम् ॥

अर्थात् निरुक्तकार कहते हैं कि मनुष्यों के से काम भी देवतों के वेद में पाये जाते हैं । जैसा कि—(इन्द्र) हे राजन् ! (अद्धि) भोजन कीजिये (पिब च) और पान कीजिये । इत्यादि । और (श्रुत्कर्ण) सुनने की शक्ति रूप कान वाले ! (हवम्) पुकार को (आ श्रुधी) सब ओर से श्रवण कीजिये ।

यहां तक निरुक्तकार ने यह बताया है कि मनुष्यों के से कर्म, मनुष्यों के से वाहनादि और मनुष्यों के से अङ्ग देवतों के वेद में वर्णन किये प्रतीत होते हैं । इससे मनुष्य भी दान, दीपन, द्योतनादि गुणों से इन्द्रादिपदवाच्य देवता हैं । इससे आगे निरुक्तकार यह बतलाते हैं कि वायु, सूर्य, अग्नि आदि पदार्थ जो मनुष्याकार नहीं है, वह भी देवता हैं ॥ यथा:—

अपुरुषविधाः स्युरित्यपरमपि तु यद् दृश्यतेऽपुरुषविधं तद्यथा-ऽग्निर्वायुरादित्यः पृथिवी चन्द्रमा इति । यथो एतच्चेतनावद्धि-स्तुतयो भवन्तीत्यचेतनान्यप्येवं स्तूयन्ते । यथा ऽक्षप्रभृतीन्योषधि-पर्यन्तानि । यथो एतत्पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्त इत्यचेतनेष्व-प्येतद्भवति । अभिक्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः इतिग्रावस्तुतिः । यथो एतत्पौरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैरित्येतदपि तादृशमेव । सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनमिति नदीस्तुतिः । यथो एतत्पौरुषविधिकैः

कर्मभिरित्येतदपि तादृशमेव। होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशतेति ग्रावस्तुतिरेव । अपि वोभयविधाः स्युरपि वा पुरुषविधानामेव सतां कर्मात्मान एते स्युर्यथा यज्ञो यजमानस्यैष चाख्यानसमयः । निरुक्ते ७ । ७ ॥

अर्थात् निरुक्तकार कहते हैं कि बहुत से देवता मनुष्याकार नहीं भी है । जैसे देखा जाता है कि अग्नि, वायु, सूर्य, पृथिवी, चन्द्रमा ये देवता है । जिस प्रकार चेतनों की प्रशंसा पाई जाती है वैसी जड़ (अचेतन) देवनों की भी पाई जाती है । जैसे कि अक्ष से लेकर ओषधि पर्यन्त हैं । और जिस प्रकार मनुष्याकार अंगों से स्तुति पाई जाती हैं,ऐसी अचेतन जड़ पदार्थों की भी प्रशंसा पाई जाती हैं ।"पत्थरों के हरे मुख" (हरे मसाले पीसने से) कहे गये हैं । और जिस प्रकार चेतनों के वाहनादि द्रव्यों का वर्णन है इसी प्रकार जड़ पदार्थों के भी वाहनादि का वर्णन देखा जाता है, जैसा कि "नदी ने सुखदायक रथ जोड़ा" (प्रवाह से अभिप्राय है) ॥ और जिस प्रकार मनुष्याकार देवतों के कर्म पाये जाते हैं इसी प्रकार अचेतनों के भी । जैसा कि "होता से पहले सिल बट्टों ने मसाला चाट लिया" यह देखा जाता है । इससे या तो देवता दोनों प्रकार के हों, अथवा मनुष्याकारों के ही कर्म रूप देवता निराकार हों, जैसे यजमान मनुष्याकार देवता और उसका कर्म "यज्ञ" निराकार देवता है । और यह आख्यान का समय है ॥

ऋ० ६ । ४६ । ५ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

अथ द्वितीयायाः—वसिष्ठ ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

२ ३ २ ३ १२ ३ १र २उ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
५८७—इन्द्रो राजा जगतश्चर्षणीनामधिक्षमा विश्वरूपं यदस्य ।
१ ३ ३ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ २
ततो ददाति दाशुषे वसूनि चोदद्राध उपस्तुतं चिदर्वाक् ॥२॥

भावार्थः—(**राजा**) प्रजापालक राजा (**जगतः**) जंगम पशु आदि तथा (**चर्षणीनाम्**) मनुष्यों का (**इन्द्रः**) ईश्वर अर्थात् स्वामी है । तथा (**यत्**) जो कुछ (**विश्वरूपम्**) सब प्रकार का धन है (**अस्य**) इसी राजा का है । (**ततः**) उस अपने धन में से (**दाशुषे**) दानादि करने वाले पुण्यात्मा पुरुष के लिये (**वसूनि**) धन (**ददाति**) राजा देता है । (**चित्**) और (**अर्वाक्**) हमारे सामने को (**उपस्तुतम्**) मनोवाञ्छित (**राधः**) धन को (**चोदत्**) प्रेरित करे ॥

निघण्टु २ । ३ ॥ १ । १ ॥ २ । १० अष्टाध्यायी ६ । १ । १२ के प्रमाण और ऋ० ७ । २६ । ३ के पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ तृतीयायाः– वामदेव ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

२ ३ १ ३ १ २ ३ २उ ३ २३क २र
५८८—यस्येदमा रजोयुजस्तुजे जने वनं स्वः ।
१ २ ३ १ २ ३२
इन्द्रस्य रन्त्यं बृहत् ॥३॥

भावार्थ—(यस्य) जिस (रजोयुजः) ज्योति वाले (इन्द्रस्य) राजा का (रन्त्यम्) रमणीय (बृहत्) बड़ा (वनम्) सम्भाग करने योग्य (इदम्) यह (स्वः) सुख (तुजे जने) दानी पुरुष के निमित्त (आ) सब ओर वर्तमान है [वह हमारे लिये धन को प्रेरित करे] यह पूर्व मन्त्र से अन्वय है ॥

निरुक्त ४ । १६ निघण्टु ३ । २० के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—शुनःशेप ऋषिः । वरुणो देवता । चतुष्पाज्जगती छन्दः ॥

१२ ३१ २ ३ १ २ ३ १ २र३ १ २र ३ १ २
५८९—उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय ।
१ २ ३ २ ३१ २र ३ २ ३ १ २
अथादित्य व्रते वयं तवानागसो अदितये स्याम ॥४॥

भावार्थः—(आदित्य) सूर्यवत् प्रकाशमान ! (वरुण) वरणीय ! राजन्! (अस्मत्) हम से (उत्तमम् मध्यमम् अधमम्) उत्तम मध्यम अधम तीनों (पाशम्) बन्धन (उत् अव वि श्रथाय) शिथिल कर दीजिये (अथ) और (वयम्) हम लोग (तव व्रते) आपके नियम में (अदितये) दुःख वा खण्डन से रहित होने के लिये (अनागसः) अपराधरहित (स्याम) होवें ॥

ऋ० १ । २४ । १५ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥४॥

अथ पञ्चम्याः—गृत्समद ऋषिः । पवमानो देवता ।
चतुष्पाज्जगती छन्दः ॥

१ २ ३ १ २र ३
५९०— त्वया वयं पवमानेन सोम
१ २ ३१र २र ३ १ २
भरे कृतं वि चिनुयाम शश्वत् ।
१ २ ३ १ २ ३
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्ता-
१ २ ३ १ २ ३ २ ३२
मदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ॥५॥

भावार्थः—(**सोम**) हे शान्तस्वरूप ! परमात्मन् ! (**वयम्**) हम लोग (**पवमानेन**) पवित्र करने वाले (**त्वया**) आपकी सहायता से (**भरे**) भरण-पोषण करने योग्य गृहाश्रम में (**कृतम्**) कर्म को (**विचिनुयाम**) संगृहीत करें और (**नः**) हमारे (**तत्**) उस कर्म को (**मित्रः**) प्राण (**वरुणः**) अपान (**अदितिः**) बुद्धि (**सिन्धुः**) अन्तरिक्ष (**पृथिवी**) भूमि (**उत**) और (**द्यौः**) द्युलोक (**मामहन्ताम्**) बढ़ावें। ऐसी कृपा कीजिये ॥

ऋ० ६ । ६७ । ५८ में भी ॥५॥

अथ षष्ठ्याः—वामदेव ऋषिः । विश्वेदेवाः देवता । एकपाज्जगती छन्दः ॥

३ १ २र ३ २उ३ २

५६१ — इमं वृषणं कृणुतैकमिन्माम् ॥६॥

भावार्थः—पूर्वोक्त मित्रादि गण (**इमम्**) इस (**माम्**) मुझ (**एकम्**) असहाय को (**इत्**) ही (**वृषणम्**) कामनाओं का पूर्ण करने वाला (**कृणुत**) करें। अर्थात् परमात्मन् ! आपकी कृपा से प्राणादि हमारे अनुकूल हों ॥६॥

अथ सप्तम्याः—अमहीयुर्ऋषिः । पवमानो देवता । गायत्री छन्दः ॥

२ ३ १ २ ३ १ २३ १२ ३ १ २

५६२—स न इन्द्राय यज्यवे वरुणाय मरुद्भ्यः ।

३ १ २र

वरिवोवित्परिस्रव ॥७॥

भावार्थः—(**सः**) वह पवित्र परमात्मा (**नः**) हमारे (**वरिवोवित्**) धान्यादि धन के दिलाने वाले आप (**यज्यवे**) यजन करने वाले (**इन्द्राय**) विद्युत् (**वरुणाय**) अपान और (**मरुद्भ्यः**) वायुओं के लिये (**परिस्रव**) वृष्टि करने की योग्यता दे ।

"परमात्मा प्राणों का भी प्राण है" इत्यादि उपनिषदों के प्रमाणों से सिद्ध है कि परमात्मा प्राण अपानादि को अपने-अपने काम में प्रवृत्त करने वाला है ॥ वरुण पद से यहाँ मेघस्थ जल को नीचे खसकाने वाले अपान नामक वायु विशेष के ग्रहण में ऋग्वेद ४ । ४ । ३० । ३ और निरुक्त १० । ४ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋ० ९ । ६१ । १२ में भी ॥७॥

अथाऽष्टम्याः—अमहीयुर्ऋषिः । पवमानो देवता । गायत्री छन्दः ॥

३ १ २र ३ २उ ३ २ ३ १ २

५६३—एना विश्वान्यर्य आ द्युम्नानि मानुषाणाम् ।

१ २

सिषासन्तो वनामहे ॥८॥

भावार्थः—हे परमात्मन् ! हम लोग (**मानुषाणाम्**) मनुष्यों के (**एना**) इन (**विश्वानि**) सब (**द्युम्नानि**) अन्नों को (**अर्यः**) प्राप्त करते और (**सिषासन्तः**) बांटना चाहते हुए (**आ वनामहे**) सब ओर से न्यायपूर्वक बांटते हैं ॥

निरुक्त ५ । ५ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ६ । ६१ । ११ में भी ॥८॥

अथ नवम्याः- आत्मा ऋषिः । अन्नं देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

५९४— अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य
पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम ।
यो मा ददाति स इदेवमाव-
दहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ॥९॥

भावार्थः—परमात्मा वा अन्न कहता है कि—हे मनुष्यो ! (**अहम्**) मैं (**देवेभ्यः**) वायु विद्युत् आदि देवतों से (**प्रथमजाः**) पूर्वज (**अस्मि**) हूँ और (**ऋतस्य**) सच्चे (**अमृतस्य**) अमृत का (**नाम**) टपकाने वाला हूं । (**यः**) जो पुरुष (**मा ददाति**) मेरा दान करता है (**सः इत्**) वही (**एवम्**) ऐसे (**आवत्**) प्राणियों की रक्षा करता है । [और जो किसी को न दे कर आप ही खाता है]उस (**अन्नम् अदन्तम्**) अन्न खाते हुए को (**अहम् अन्नम्**) मैं अन्न (**अद्मि**) खा जाता हूँ=नष्ट कर देता हूँ ॥

अर्थात् परमात्मा कहता है कि मैं सबका प्राणाधार जीवनाधार होने से अन्न हूँ । जो लोग स्वयं मुझको जानकर अन्यों के लिऐ मेरा दान करते हैं अर्थात् ब्रह्मज्ञानोपदेश करते हैं, वे प्राणियों की रक्षा करते और पुण्य भागी होते हैं,परन्तु अन्यों को उपदेश न करने वाले ज्ञानित्वाऽभिमानियों को मैं नष्ट कर देता हूँ ॥

दूसरे पक्ष में कल्पना की रीति पर अन्न कहता है कि प्रत्येक देवता से पूर्व मैं हूँ । कोई वस्तु अपने भक्ष्य (मुझ) विना नहीं रह सकती । इसलिए जो लोग मेरा दान (अन्नदान) करते हैं वे प्राणियों की रक्षा करते हैं और जो असुर केवल अपना ही पेट पालते हैं, अन्य अतिथि आदि को अन्नदान नहीं करते, उन उदरम्भरियों को मैं अन्न नष्ट कर देता हूँ ॥

इस ऋचा के सम्बन्ध में निरुक्त परिशिष्ट १४ । १–१० तक देखना चाहिये, जो विस्तार के भय से हमने उद्धृत नहीं किया ॥६॥

यह षष्ठाध्याय में प्रथमा दशति पूर्ण हुई ॥४॥

अथ द्वितीया दशतिः

तत्र प्रथमायाः—श्रुतकक्ष ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

२ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २
५९५—त्वमेतदधारयः कृष्णासु रोहिणीषु च ।
१ २ ३ २ ३ १ २
परुष्णीषु रुशत्पयः ॥१॥

भावार्थः—हे परमात्मन् ! (**कृष्णासु**) काली (**रोहिणीषु**) लाल (**च**) और (**परुष्णीषु**) पर्वों वाली [निरुक्त ६ । २६] नदी वा गौओं में (**एतत्**) इस (**रुशत्**) चमकते हुए (**पयः**) जल वा दुग्ध को (**त्वम्**) आपने (**अधारयः**) धारित किया है ॥

अष्टाध्यायी ४।१।३९ निरुक्त ६ । २६ ॥ २ । २० के प्रमाण संस्कृत भाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद ८ । ९३ । १३ में भी ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—पवित्र ऋषिः । पवमानो देवता । जगती छन्दः ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
५९६— अरूरुचदुषसः पृश्निरग्रिय
३ १ २ ३ १ २ ३ २
उक्षा मिमेति भुवनेषु वाजयुः ।
३ १ २ ३ १ २
मायाविनो ममिरे अस्य मायया
३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
नृचक्षसः पितरो गर्भमादधुः ॥२॥

भावार्थः—सोमयज्ञ का फल कहते हैं—(**उषसः पृश्निः**) उषा का छूने वाला सूर्य (**अग्रियः**) मुख्य (**अरूरुचत्**) उत्तमता से तपता है और (**उक्षाः**)

मेघ (**भुवनेषु**) लोकों में (**वाजयुः**) अन्नोत्पत्ति वा बलवृद्धि चाहता हुआ (**मिमेति**) सदा गर्जता है और (**मायाविनः**) बुद्धि वाले (**अस्य**) इस सोम के (**मायया**) बुद्धितत्त्व से (**ममिरे**) बनते हैं और (**नृचक्षसः**) मनुष्यों को प्रकाश देने वाली (**पितरः**) चन्द्र किरणें (**गर्भम्**) ओषधियों में गर्भ का (**आदधुः**) आधान करती हैं ॥

निरुक्त २ । १४ ॥ ४ । २० निघण्टु २ । ७ ॥ २ । ६ ॥ ३ । ६ तथा सायणभाष्य के प्रमाण और ऋ० ९।८३।३ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ तृतीयायाः—मधुच्छन्दा वैश्वामित्र ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

२ ३ २उ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
५९७—इन्द्र इद्धर्योः सचा सम्मिश्ल आ वचोयुजा ।
१ २ ३ १ २३ १ २
इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ॥३॥

भावार्थः—इस पूर्वोक्त सूर्य, चन्द्र, मेघ, बिजुली आदि का नियन्ता कौन है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि—(**इन्द्रः**) परमेश्वर (**इत्**) ही (**वचोयुजा**) वचनबद्ध (**हर्योः**) सूर्य चन्द्रमाओं के (**सचा**) साथ व्यापक होने से (**आ संमिश्लः**) सर्वत्र मिला हुआ है (**इन्द्रः**) वही परमेश्वर (**वज्री**) दण्ड देने वाला और (**हिरण्ययः**) ज्योतिःस्वरूप है । इसी से यह जगत् नियमित है ॥

शतपथ ६ । ७ । १ । २ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋग्वेद १ । ७ । २ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः ऋष्यादय उक्तवत् ॥

२ ३ १ २ ३ १ २
५९८— इन्द्र वाजेषु नोऽव सहस्रप्रधनेषु च
३२ ३ १ २ ३ १ २
उग्र उग्राभिरूतिभिः ॥४॥

भावार्थः—(**इन्द्र**) हे परमेश्वर ! (**उग्रः**) महाबली होने से किसी से न दबने वाले आप (**उग्राभिः**) न दबने वाली (**ऊतिभिः**) रक्षाओं से (**वाजेषु**) छोटे संग्रामों (**च**) और (**सहस्रप्रधनेषु**) बड़े-बड़े संग्रामों में (**नः**) हम को (**अव**) बचाइये ॥

निघण्टु २।१७ में 'वाजे' संग्राम का नाम है ॥ ऋ० १ । ७ । ४ में भी ॥४॥

अथ पञ्चम्याः—प्रथ ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
५९९— प्रथश्च यस्य सप्रथश्च नामा-
२९ ३ १ २ ३ २
नुष्टुभस्य हविषो हविर्यत् ।
३ १ २९ ३ २ ३ १ २
धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णो
३ ३ २९ ३ १ २
रथन्तरमा जभारा वसिष्ठः ॥५॥

भावार्थः (**यस्य**) जिस (**आनुष्टुभस्य**) अनुष्टुप् आदि छन्दोयुक्त (**हविषः**) ग्रहण करने योग्य वाणीरूप हवि का (**प्रथः च सप्रथः च नाम**) प्रथ और सप्रथ विख्यात नाम है और (**यत् हविः**) जो हव्य (**वसिष्ठः**) वेदवाणी रूपी है, वही (**धातुः**) जगत् के विधाता (**च**) और (**सवितुः**) उत्पादक (**विष्णोः**) परमात्मा से (**रथन्तरम्**) रथन्तरादि नामक सामों को (**आजभार**) लाता है ॥

अर्थात् वेदवाणी रूप हव्य ही, जो अनेक छन्दोयुक्त है, रथन्तरादि संज्ञायुक्त अनेक सामों की सूचना देता है ॥

शतपथ १४ । ९ । २ । २ निरुक्त ११ । १० और १० । ३१ तथा १२।१८ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० १० । १८१ । १ में भी ॥५॥

अथ षष्ठ्याः—गृत्समद ऋषिः । वायुर्देवता । गायत्री छन्दः ॥

३ १ २९ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
६००— नियुत्वान्वायवा गह्ययं शुक्रो अयामि ते
३ २ ३ २ ३ २
गन्तासि सुन्वतो गृहम् ॥६॥

भावार्थः—(**वायो**) प्राणादि वायु ! वा सर्वेश्वर ! (**नियुत्वान्**) सामर्थ्ययुक्त [आप] (**आगहि**) प्राप्त हूजिये (**अयम्**) यह (**शुक्रः**) श्वेत सोम, अथवा शुद्ध आत्मा (**ते**) आप के लिये (**अयामि**) नियमित है । (**सुन्वतः**) अभिषव करने वाले अथवा ध्यान करने वाले के (**गृहम्**) घर अथवा हृदयरूपी घर को (**गन्तासि**) आप प्राप्त होते हैं ॥

निघण्टु २ । २२ निरुक्त १० । १ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋग्वेद २ । ४१ । २ में भी ॥६॥

अथ सप्तम्याः—नृमेधपुरुमेधावृषी । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

१ २र ३ १ २ ३ १ २
६०१— यज्जायथा अपूर्व्य मघवन्वृत्रहत्याय ।
१ २ ३ १२ ३ १ २ ३ १ २र
तत्पृथिवीमप्रथयस्तदस्तभ्ना उतो दिवम् ॥७॥

इति षष्ठाध्याये द्वितीया दशतिः ॥२॥

भाषार्थः—(**मघवन्**) हे यज्ञ वा धन वाले ! परमेश्वर ! (**अपूर्व्य**) हे अनादे ! (**यत्**) जब कि आप (**वृत्रहत्याय**) अज्ञान निवारणार्थ (**जायथाः**) हृदय में साक्षात् अनुभव में आते हैं (**तत्**) तब (**पृथिवीम्**) पृथिवी को (**अप्रथयः**) सुख से बढ़ाते (**उतो**) और (**तत्**) तभी (**दिवम्**) द्युलोक को (**अस्तभ्नाः**) अच्छा आधार देते हैं ॥

अर्थात् जब मनुष्य परमात्मा का ध्यान करते हैं और वह साक्षात् अनुभव को प्राप्त होता है तभी भूमि और द्युलोक की अच्छी सुधरी अवस्था होती है। ऋ० ८ । ८९ । ५ में उत द्याम् पाठ है ॥७॥

यह षष्ठाध्याय में दूसरी दशति पूर्ण हुई ॥२॥

अथ तृतीया दशतिः ।

तत्र प्रथमायाः— वामदेव ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

२ ३ २ ३ २ ३ १ २र ३ २ ३ १ २र
६०२—मयि वर्चो अथो यशोऽथो यज्ञस्य यत्पयः ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २र
परमेष्ठी प्रजापतिर्दिवि द्यामिव दृंहतु ॥१॥

भाषार्थः—(**परमेष्ठी, प्रजापतिः**) सर्वव्यापि प्रजापालक (**मयि**) मुझमें (**वर्चः**) ब्राह्म तेज (**अथो**) और (**यशः**) कीर्त्ति (**अथो**) तथा (**यत्**) जो कि (**यज्ञस्य**) यज्ञ का (**पयः**) जल है [उसको] (**दृंहतु**) बढ़ावे। दृष्टान्त—(**दिवि**) आकाश में (**द्यामिव**) जैसे द्युलोक को बढ़ाता है तद्वत् ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—गोतम ऋषिः । पवमानो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३
६०३— सं ते पयांसि समु यन्तु वाजाः
२र २र ३ १ २
सं वृष्ण्यान्यभिमातिषाहः ।
३ १ २ ३ १ २
आप्यायमानो अमृताय सोम
३ १ २र ३ १ २
दिवि श्रवांस्युत्तमानि धिष्व ॥२॥

भावार्थः—(**अभिमातिषाहः**) हे गर्व दूर करने वाले ! (**सोम**) शान्त ! परमात्मन् ! (**ते**) आपके दिए हुए (**पयांसि**) जल (**सं यन्तु**) संगत होवें (**उ**) और (**वाजाः**) अन्न (**सम्**) संगत हों (**वृष्ण्यानि**) वीर्य भी संगत हों। (**आप्यायमानः**) महान् से महान् आप (**अमृताय**) मोक्षदान के लिए (**दिवि**) आकाश में (**उत्तमानि श्रवांसि**) उत्तम यशों को (**धिष्व**) धारण कराइये ॥

ऋ० १ । ६१ । १८ में भी ॥२॥

अथ तृतीयायाः—ऋष्यादिकं पूर्ववत् ॥

६०४— त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वा-
स्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः ।
त्वमातनोरुर्वा३न्तरिक्षं
त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ ॥३॥

भावार्थः—(**सोम**) परमात्मन् ! (**त्वम्**) आपने (**इमाः**) इन (**विश्वाः**) सब (**ओषधीः**) ओषधियों को (**अजनयः**) उत्पन्न किया है (**त्वम्**) आपने ही (**अपः**) जलों को (**त्वम्**) और आपने ही (**गाः**) गौ आदि पशुओं को उत्पन्न किया है [निरुक्त २ । ५] (**त्वम्**) आपने ही (**उरु**) बड़े (**अन्तरिक्षम्**) अन्तरिक्ष लोक और उसके पदार्थों को (**आतनोः**) फैलाया है (**त्वम्**) आप ने ही (**ज्योतिषा**) ज्योति से (**तमः**) अन्धकार को (**वि ववर्थ**) अस्त व्यस्त किया है ॥

ऋ० १ । ६१ । २१ में "त्वमाततन्थोर्वन्तरिक्षम्" पाठ है ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—मधुच्छन्दा ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः ॥

६०५— अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम् ॥४॥

भावार्थः—हे परमेश्वर ! (**अग्निम्**) प्रकाशस्वरूप (**पुरोहितम्**) सर्वव्यापक होने से सब के आगे वर्त्तमान (**यज्ञस्य**) यज्ञ के (**देवम्**) प्रकाशक (**ऋत्विजम्**) प्रत्येक ऋतु में पूजनीय (**होतारम्**) गज के दाता और आदाता

(रत्नधातमम्) सम्पूर्ण रम्य पदार्थों को बहुतायत से धारण करने वाले [आपकी] (ईडे) स्तुति करता हूँ ॥

अथवा ज्ञानयज्ञ के आप ही अग्नि, आप ही पुरोहित, आप ही देवता, आप ही ऋत्विज्, आप ही होता हैं। अकेले ही आप सर्व कार्य साधते हैं ॥

निरुक्त ७। १५ और २। १२ फिट् सूत्र १ उणादि ४। ५० अष्टाध्यायी ३। १। ३॥ ६। १। १०७॥ ८। २। ५॥ ८। १। २८॥ ८। ४। ६६॥ १। २। ३९॥ ५। ३। ३९॥ ७। ४। ४२॥ १। ४। ६७॥ २। २। १८॥ ६। २। २॥ ६। २। १३९॥ ६। २। ४९॥ १। २। ४० इत्यादि प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० १। १। १ में भी ॥४॥

अथ पञ्चम्याः—वामदेव ऋषिः। अग्निर्देवता। त्रिष्टुप्छन्दः ॥

१ २ ३ २ ३ २ ३
६०६— ते मन्वत प्रथमं नाम गोनां
२ ३ १ २ ३ १ २
त्रिः सप्त परमं नाम जानन् ।
१ २ ३ २ ३क २ ३ २
ता जानतीरभ्यनूषत क्षा
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
आविर्भुवन्नरुणीर्यशसा गावः ॥५॥

भावार्थः—पूर्व मन्त्र में से अनुवृत्ति लेकर, अग्ने ! प्रकाशस्वरूप ! परमात्मन् ! (क्षाः) पृथिवीस्थ प्रजायें (ते) आपके (नाम) ओंकारादि नाम को (गोनाम्) वेदवाणियों में (प्रथमम्) मुख्य (अमन्वत) मानती हैं और (त्रिः सप्तपरमम्) ३ गुणे ७=२१ प्रकार के छन्दोयुक्त वेदमन्त्रों में प्रधान (नाम) नाम (जानन्) जानती हैं। (ताः) वे (जानतीः) जानती हुई प्रजायें (अभ्यनूषत) आपकी स्तुति करती हैं। (वाचः) वाणियें (यशसा) आप की कीर्ति से (अरुणीः) दीप्तियुक्त (आविर्भुवन्) प्रकट होती है ॥

अष्टाध्यायी ७। १। ५७ का प्रमाण और २१ छन्दों के ११ नाम तथा ऋ० ४। १। १६ के पाठों के भेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥५॥

अथ षष्ठ्याः—गृत्समद ऋषिः। अग्निर्देवता। त्रिष्टुप्छन्दः ॥

१ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३क २
६०७—समन्या यन्त्युपयन्त्यन्याः समानमूर्वं नद्यस्पृणन्ति ।
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
तमू शुचिं शुचयो दीदिवांसमपान्नपातमुप यन्त्यापः ॥६॥

भावार्थः— अग्ने ! परमेश्वर ! जिस प्रकार (**अन्याः आपः**) कोई जल तो (**ऊर्वम्**) समुद्र में स्थित बड़वानल में (**सं यन्ति**) मिल जाते हैं (**अन्याः**) और दूसरे जल (**उपयन्ति**) समीप तक पहुँचने पाते हैं । और कोई (**नद्यः**) नदी बनकर (**समानम्**) एक साथ (**पृणन्ति**) अपने को देते हैं (**उ**) ऐसे ही (**तम्**) उस (**दीदिवांसम्**) अत्यन्त प्रकाशमान (**अपां न पातम्**) कर्मों के न गिराने वाले को (**शुचयः**) पवित्र पूर्वोक्त वाणियें (**उपयन्ति**) समीप प्राप्त होती हैं, उनमें कोई साक्षात् और कोई परम्परा से आपका वर्णन करती हैं ॥

यद्वा, एक प्रकार के जल जो यज्ञ में "एक धन" कहाते हैं और दूसरे जो "वसतीवरी" संज्ञक होते हैं वे सब चात्वाल और उत्कर नामक स्थानों में मिलकर, मेघमण्डल द्वारा वर्षा कर, नदी बनकर, समुद्र को प्राप्त होते हैं । अन्य सब पूर्व के तुल्य है । वेददीप (यजुर्भाष्य) ५ । ७ में लिखा है कि जिन घड़ों से सोमकण्डनाथ जल लाया जाता है, वे "एकधन" कहाते हैं । इसी से उनके जल को भी एकधन कह सकते हैं । तथा वहीं लिखा है कि उत्तरवेदि के निचयार्थ जिस भूमि भाग में मिट्टी खोदते हैं वह स्थान "चात्वल" कहाता है और "उत्कर" भी यज्ञ के स्थानविशेष का नाम है । वेददीप १ । २५ में लिखा है कि "स्फ्य" नाम यज्ञपात्रविशेष से उखाड़ी हुई मिट्टी को "उत्कर" नामक स्थान में डाले । निघण्टु ३ । २० का प्रमाण और ऋ० २ । ३५ । ३ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥६॥

अथ सप्तम्या.—वामदेव ऋषिः । रात्रिर्देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

६०८—आ प्रागाद्भद्रा युवतिरह्नः केतूंत्समीर्त्सति ।
अभूद्भद्रा निवेशनी विश्वस्य जगतो रात्री ॥७॥

भावार्थः— हे अग्ने ! प्रकाशस्वरूप ! परमात्मन् ! (**भद्रा**) सांसारिक क्षणिक सुखदायिनी (**युवतिः**) दृढ़ (**विश्वस्य**) सब (**जगतः**) जगत् की (**भद्रा**) भली (**निवेशनी**) सुलाने वाली (**रात्री**) रात्री वा मोहावस्था जो आपके ध्यान से पराङ्मुख करने वाली (**अभूत्**) है, (**आप्रागात्**) हम पर चढ़ी आती है। वही (**अह्नः**) दिन वा ज्ञानप्रकाशकी (**केतून्**) किरणों को (**समीर्त्सति**) दूर करना चाहती है । उससे हमें बचाइये । यह तात्पर्य है ॥

निरुक्त २ । २० निघण्टु २ । १४ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥७॥

अथाष्टम्याः—भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः । वैश्वानरो देवता । जगती छन्दः ।।

६०६— प्रक्षस्य वृष्णो अरुषस्य नू महः
प्र नो वचो विदथा जातवेदसे
वैश्वानराय मतिर्नव्यसे शुचिः
सोम इव पवते चारुरग्नये ।।८।।

भावार्थः—हे अग्ने ! परमात्मन् ! (प्रक्षस्य) सबसे छूए हुए (वृष्णः) सर्व कामनाओं के वर्षाने वाले (अरुषस्य) प्रकाशमान आपकी (महः) पूजा-परक (नः) हमारा (वचः) वचन (नु) शीघ्र (प्र) समर्थ हो । तथा (जातवेदसे) जिन आप से ज्ञान प्रकट हुआ है उन (वैश्वानराय) सर्वनियन्ता आपके लिये (शुचिः) पवित्र (मतिः) बुद्धि प्राप्त हो (इव) जैसे (नव्यसे) नये उत्पन्न किये (अग्नये) अग्नि के लिये (चारुः) सुन्दर (सोमः) सोम (विदथा) यज्ञ में (पवते) प्राप्त होता है ।। तद्वत्—

निरुक्त १२ । ७ ।। ७ । २१ ।। ७ । १६ निघण्टु । ३ । १७ के प्रमाण-संस्कृतभाष्य में देखिये ।।८।।

अथ नवम्याः—भरद्वाज ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । त्रिष्टुप्छन्दः ।।

६१०— विश्वे देवा मम शृण्वन्तु यज्ञ-
मुभे रोदसी अपां नपाच्च मन्म ।
मा वो वचांसि परिचक्ष्याणि वोचं
सुम्नेष्विद्वो अन्तमा मदेम ।।९।।

भावार्थः—हे अग्ने ! परमात्मन् ! (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् और भौतिक देव (उभे) दोनों (रोदसी) द्युलोक और पृथिवी लोक (च) और (अपान्नपात्) देवदूत अग्नि (मम) मेरे (मन्म) माननीय (यज्ञम्) यज्ञ को (शृण्वन्तु) ग्रहण करें । और मैं (वः) आपके (परिचक्ष्याणि) निन्दा-

योग्य (वचांसि) वचनों को (मा वोचम्) न बोलूं। तथा (वः) आपके (अन्तमाः) अतिसमीपस्थ हुआ मैं (सुम्नेषु इत) सुखों में ही (मदेम) हृष्ट होऊं ॥

निरुक्त १० । १८ ॥ ७ । ५ निघण्टु १ । ३ ॥ २ । २ ॥ ३ । ६ अष्टाध्यायी ३ । १ । ८५ इत्यादि पर संस्कृतभाष्य में ध्यान देना चाहिये ॥

ऋग्वेद ६ । ५२ । १४ में यज्ञम्=यज्ञियः पाठ है ॥९॥

अथ दशम्याः - वामदेव ऋषिः । लिङ्गोक्ता देवता । महापङ्क्तिश्छन्दः ॥

६११—यशो मा द्यावापृथिवी यशो मेन्द्रबृहस्पती ।
यशो भगस्य विन्दन्तु यशो मा प्रतिमुच्यताम्
यशसा३स्याः संसदोऽहं प्रवदिता स्याम् ॥१०॥

भावार्थः—हे अग्ने ! परमेश्वर ! (मा) मुझे (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी लोक (यशः) कीर्त्ति को प्राप्त करावें। (मा) मुझे (इन्द्रबृहस्पती) राजा और विद्वान् पुरुष (यशः) यश को प्राप्त करावें। (भगस्य) ऐश्वर्य का (यशः) यश (विन्दन्तु) प्राप्त होवे। (यशः) यश (मा प्रतिमुच्यताम्) कभी न छोड़े। (यशस्वी) कीर्त्तिवाला (अहम्) मैं (अस्याः) इस (संसदः) विद्वत्सभा का (प्रवदिता) प्रगल्भता से बोलने वाला (स्याम्) होऊँ ॥१०॥

अथैकादश्याः- हिरण्यस्तूप ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

६१२— इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचं
यानि चकार प्रथमानि वज्री ।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द
प्र वक्षणा अभिनत्पर्वतानाम् ॥११॥

भावार्थः—(इन्द्रस्य) सूर्य वा विद्युत् के (वीर्याणि) पराक्रमयुक्त कर्मों को (प्रवोचम्) वर्णन करता हूँ (यानि) जिन को कि (वज्री) वज्रवाला

इन्द्र (प्रथमानि) मुख्य और विख्यात (चकार) करता है। वे ये हैं—(अहिम्) मेघ को (अहन्) मारता (अनु) फिर (नु) शीघ्र (अपः) जलों को (ततर्द) बहाता और (पर्वतानाम्) मेघों की (वक्षणाः) नदियां (प्र अभिनत्) तोड़ता अर्थात् दोनों किनारों में रगड़ कर बहाता है॥

बिजुली का प्रहार वा गिरना वज्र कहा गया है॥

निघण्टु १।१०॥ १।१३ निरुक्त ७।१० और उसके भाष्य का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये॥११॥

अथ द्वादश्याः- विश्वामित्र ऋषिः। अग्निर्देवता। त्रिष्टुप्छन्दः॥

६१३— अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा
घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्।
त्रिधातुरर्को रजसो विमानो-
ऽजस्रं ज्योतिर्हविरस्मि सर्वम्॥१२॥

भावार्थः—(अग्निः अस्मि) मैं अग्नि हूँ। जो कि (जन्मना) जन्म से ही (जातवेदाः) ज्ञान के साधन प्रकाश का उत्पादक हूँ। (घृतम्) घृत (मे) मेरा (चक्षुः) प्रकाशक है (अमृतं मे आसन्) अमृत=प्रकाश मेरे मुख में है (त्रिधातुः) तीन प्रकार अपने को धारण करने वाला हूँ १— (अर्कः) प्राण रूप होकर (रजसः) अन्तरिक्ष का (विमानः) अधिष्ठाता हूँ। २— (अजस्रं ज्योतिः) निरन्तर ज्योति=सूर्य होकर द्युलोक का अधिष्ठाता हूँ। ३— (सर्वम् हविः) सब हव्य (अस्मि) मैं हूँ॥

अर्थात् जब अग्नि प्रकट होता है तभी साथ ही प्रकाश भी प्रकट होता है। घी का सेचन मानो अग्नि की आंख में अञ्जन डालकर प्रकाश का बढ़ाना है। इसी से यह जतलाया है कि घृत का भोजन आंखों को गुणदायक है। अग्नि ही प्राणादि ३ रूपों से स्थित है। १. प्राण होकर अन्तरिक्ष, २. सूर्य होकर द्युलोक और ३. सब हव्य पदार्थों में व्याप कर पृथिवी का अधिष्ठाता है। जो प्रकाश के बढ़ाने वाले घृतादि हव्य पदार्थ हैं, वे सब आग्नेय हैं। तभी तो अग्नि के सहायक हैं॥ अग्नि जड़ पदार्थ में भी उत्तम पुरुष के साथ वर्णन करना वेद की विचित्र मनोहर शैली मात्र है॥ ऋ० ३।२६।७ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये॥१२॥

अथ त्रयोदश्याः— ऋष्यादय उक्ताः ॥

६१४— पात्यग्निर्विपो अग्रं पदं वेः
पाति यह्वश्चरणं सूर्यस्य ।
पाति नाभा सप्तशीर्षाणमग्निः
पाति देवानामुपमादमृष्वः ॥१३॥

इति षष्ठाध्याये तृतीया दशतिः ॥३॥

भावार्थः—(**अग्निः**) व्यापक अग्नि (**वेः**) गतिस्वभाव वाली (**विपः**) पृथिवी के (**अग्रम्**) मुख्य (**पदम्**) स्थान की (**पाति**) रक्षा करता है (**यह्वः**) महान् अग्नि (**सूर्यस्य**) सूर्य के (**चरणम्**) पद=स्थान की (**पाति**) रक्षा करता है। (**ऋष्वः**) महान् अग्नि ही (**देवानाम्**) देवतों के (**उपमादम्**) हर्षकारक यज्ञ की (**पाति**) रक्षा करता है ॥

अथवा—(**विपः**) विद्वान् (**अग्निः**) पूजनीय ईश्वर (**वेः**) चलने के स्वभाव वाले जीवात्मा रूप पक्षी के (**अग्रं पदम्**) मुख्य पद–मोक्षधाम की (**पाति**) रक्षा करता है। (**यह्वः**) महान् आत्मा (**सूर्यस्य**) गतिशील आत्मा की (**चरणम्**) गति की (**पाति**) रक्षा करता है (**अग्निः**) वही पूज्य परमेश्वर (**नाभा**) नाभिमण्डल में (**सप्तशीर्षाणम्**) ५ इन्द्रियें, ६ ठा मन, ७ वीं बुद्धि वाले जीवात्मा की (**पाति**) रक्षा करता है। (**ऋष्वः**) महान् परमात्मा (**देवानाम्**) इन्द्रियों के (**उपमादम्**) हर्षकारक जीवात्मा की (**पाति**) रक्षा करता है ॥

निघण्टु १ । १ ॥ २ । १४ ॥ ३ । ३ ॥ अष्टाध्यायी ३ । १ । ३६ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥१३॥

यह छठे अध्याय में तीसरी दशति पूर्ण हुई ॥३॥

अथ चतुर्थी दशतिः ॥

तत्र प्रथमायाः—वामदेव ऋषिः । अग्निर्देवता । पङ्क्तिश्छन्दः ॥

६१५—भ्राजन्त्यग्ने समिधान दीदिवो जिह्वा चरत्यन्तरासनि ।
स त्वं नो अग्ने पयसा वसुविद्रयिं वर्चो दृशेऽदाः ॥१॥

भावार्थः—(**अग्ने**) परमेश्वर ! (**समिधान**) प्रकाशमान ! (**दीदिवः**) सर्वोपरि विराजमान ! (**भ्राजन्ती**) आपके अनुग्रह से प्रकाश करती हुई (**जिह्वा**) जीभ (**अन्तः आसनि**) भीतर मुख में (**चरति**) खाती वा चलती है (**सः**) वही (**त्वम्**) आप (**अग्ने**) अग्ने ! (**वसुविद्**) धनधान्य के प्रापक (**पयसा**) दुग्ध के साथ [बाल्यावस्था में ही] (**रयिम्**) धन और (**वर्चः**) तेज (**दृशे**) देखने को (**दाः**) देते हैं ॥

अष्टाध्यायी ६ । १ । ६३ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥१॥

अथ द्वितीयायाः— वामदेव ऋषिः । ऋतवो देवताः । पङ्क्तिश्छन्दः ॥

६१६—वसन्त इन्नु रन्त्यो ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः ।
वर्षाण्यनु शरदो हेमन्तः शिशिर इन्नु रन्त्यः ॥२॥

भावार्थः—हे अग्ने ! परमेश्वर ! आपकी कृपा से (**वसन्तः**) चैत्र वैशाख २ मासों का ऋतु (**रन्त्यः**) रमणीय हो (**इत्**) और (**नु**) निश्चय (**ग्रीष्मः**) ज्येष्ठ आषाढ़ २ मासों का ऋतु (**रन्त्यः**) रमणीय हो (**इत्**) और (**नु**) निश्चय (**वर्षाणि**) श्रावण भाद्रपद का ऋतु (**अनु**) तत्पश्चात् (**शरदः**) आश्विन कार्तिक का ऋतु (**हेमन्तः**) मार्गशिर पौष का ऋतु (**इत्**) और (**नु**) निश्चय (**शिशिरः**) माघ फाल्गुन का ऋतु (**रन्त्यः**) रमणीय हो ॥

इसी प्रसंग का निरुक्त भी ४ । २७ देखने योग्य है । उसका अर्थ यह है कि—"सप्तयुञ्ज० ऋ०" एक चक्र अर्थात् एक प्रकार चलने वाले रथ को ७ जोड़ते हैं । चक्र शब्द चकति वा चरति वा क्रामति से बना है । एक अश्व ले चलता है जिसके ७ नाम हैं, वह सूर्य है । उसकी ७ किरणें (रश्मि) हैं । रश्मि इसलिये कहाती हैं कि उसको रस पहुँचाती हैं । इसी बात को यू भी कहा करते हैं कि इसकी ७ ऋषि स्तुति किया करते हैं । यह ऋषि नाम भी इसी कारण है कि किरणें रस को पहुँचाती हैं । अगले आधे मन्त्र में संवत्सर का वर्णन है । संवत्सर नाम का चक्र है । ३ नाम ग्रीष्म वर्षा और हेमन्त हैं । इसको संवत्सर इससे कहते हैं कि इसमें सर्व भूतमात्र वसते हैं ग्रीष्म इससे कहाता है कि उसमें रस ग्रसे जाते हैं । वर्षा इसलिए कि उसमें मेघ वर्षता है । हेमन्त इससे कि उसमें हिम (पाला वा बर्फ) पड़ता है । हिम शब्द हन्ति वा हिनोति से बना है । संवत् को अजर इसलिये कहा कि यह पुराना नहीं पड़ता, सदा नवीन है । अनर्व इसलिये है कि और में नहीं और समाता । जिस सम्वत् में ये सब प्राणी जन्मते मरते रहते हैं, उसका वर्णन सब प्रकार से विभाग करके किया जाता है । जैसा कि 'पञ्चारे चक्रे०' इसमें ५ ऋतु करके वर्णन है । संवत्सर' की ५ ऋतु हैं, ऐसा ब्राह्मण में भी कहा है, हेमन्त और शिशिर को मिलाकर एक करने से 'षडर आहुरर्पितम्' इस स्थान में षट् ऋतु करके वर्णन है ।

अराः इसलिये कहाते हैं कि अरे नाभि में पोये रहते हैं। और षट् शब्द सङ्गति से बना है। 'द्वादशारम्' इत्यादि वाक्य में १२ मासों के विभाग से वर्णन है। मास इसलिये कहाते हैं कि इनसे काल को मापते हैं। प्रधि चारों ओर का घेरा कहाता है। तस्मिन्साकं 'त्रिशता०' इत्यादि में संवत्सर चक्र की ३६० कील गिनायी हैं। ब्राह्मण में भी लिखा है कि संवत्सर के दिन रात्रि मिलाकर ३६० हैं। 'सप्त शतानि विंशतिश्च०' इस स्थान में ७२० कहे हैं वे भिन्न-भिन्न दिन और रात्रि को बांटकर ७२० कील जानो। यह भी ब्राह्मणवाक्य हैं" ॥२॥

अथ तृतीयायाः—नारायण ऋषिः। पुरुषो देवता। अनुष्टुप् छन्दः ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
६१७—सहस्रशीर्षाः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
१२ २२ ३१ २ ३ १ २ ३ २
स भूमिं सर्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशांगुलम् ॥३॥

भावार्थः—हे अग्ने ! परमात्मन् ! (सहस्रशीर्षाः) जिसमें बहुत शिर (सहस्राक्षः) बहुत आंख (सहस्रपात्) बहुत पांव हैं (सः) वह आप (भूमिम्) ब्रह्माण्ड भूमि को (सर्वतः) बाहर भीतर सर्वत्र (वृत्वा) व्यापकर (दशाङ्गुलम्) हृदय देश को (अत्यतिष्ठत्) उल्लंघन करके स्थित हैं ॥

अर्थात् आप ही सर्वेश्वर हैं। सायणाचार्य कहते हैं कि "सम्पूर्ण प्राणियों का समष्टि रूप ब्रह्माण्ड रूपी देहवाला विराट् नाम जो पुरुष वह सहस्रशीर्षा है। सहस्र शब्द के उपलक्षणार्थ होने से यह अर्थ हुआ कि वह अनन्त शिरों से युक्त है। जो-जो सर्व प्राणियों के शिर हैं वे-वे सब उस ब्रह्माण्ड देह के अन्तर्गत होने से उसी पुरुष के कहे गये हैं। ऐसे ही सहस्राक्ष और "सहस्रपात्" होना जानो। यजुः। ३१। १ और ऋ० १०। ९०। १ के पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—ऋष्यादिकं पूर्ववत् ॥

३ २ ३ २ ३ ३१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
६१८—त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोस्येहाभवत्पुनः।
२ ३ १ २ ३ क २ र ३ २ ३ २
तथा विष्वङ् व्यक्रामदशनानशने अभि ॥४॥

भावार्थः—अग्ने ! परमात्मन् (अस्य) इन आपका (पादः) एक देश-मात्र (इह) इस जगत् में (पुनः) बार-बार (अभवत्) होता है और (त्रिपाद्) शेष आपका सच्चिदानन्दस्वरूप संसार के स्पर्श से रहित ही (पुरुषः) पूर्ण (ऊर्ध्वः) संसार से बाहर (उदैत्) उच्चभाव से रहता है (तथा) तथा जो जगत् में आया हुआ एक देश है वह (अशनानशने) खाने आदि व्यवहारयुक्त चेतन प्राणिवर्ग और उससे रहित अचेतन पर्वत आदि पदार्थ, इन दोनों में (विष्वङ्) छिपा हुआ (अभि व्यक्रामत्) अभिव्याप्त होकर स्थित है ॥

अर्थात् जिस प्रकार परमात्मा अनन्त है, वैसे जगत् परमात्मा के बराबर अनन्त नहीं है, किन्तु परमात्मा के एक देश में सब जगत् बार-बार सृष्टिकाल में स्थित रहता है, शेष परमात्मा जगत् के बाहर बहुलता से वर्त्तमान है, परमात्मा जितना जगत् में है,उतना ही सब चेतनाऽचेतन को अपनी एकदेशीय व्याप्ति से व्याप्त कर देता है ॥ ऋ० १० । ६० । ४ और यजुः ३१ । ४ के पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥४॥

अथ पञ्चम्याः—ऋष्यादय उक्ताः ॥

६१६—पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥५॥

भावार्थः—उपादान कारण प्रकृति या प्रधान सहित परमात्मा को यहां 'पुरुष' कहा है, क्योंकि वह पुर=ब्रह्माण्ड में शयन करता है । (**इदम्**) यह वर्त्तमान कल्पस्थ जगत् (**यद्**) और जो (**भूतम्**) भूत कल्पस्थ (**च**) और (**यत् भाव्यम्**) जो होने वाले कल्प में स्थित जगत् है (**सर्वम्**) यह सब (**पुरुषः**) पुरुष (**एव**) निश्चय कहा जाता है । (**अस्य**) इन आपका (**पादः**) एक पादमात्र (**विश्वा**) सब (**भूतानि**) प्राणी हैं (**अस्य**) और इन आपके (**त्रिपाद्**) तीन पाद (**अमृतम्**) अमर (**दिवि**) अवकाश=रिक्त स्थान मात्र में है ॥

यद्यपि परमात्मा को "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि उपनिषदों में अनन्त माना है, इसलिये वह "इतना है" इस परिमाण में नहीं आ सकता और परिमाणातीत पदार्थ में पादकल्पना नहीं बन सकती, परन्तु यह त्रिकालस्थ जगत् परमात्मा की अपेक्षा बहुत छोटा है । इस बात के वर्णन करने को पादकल्पना करके वर्णन कर दिया है ॥

ऋग्वेद १० । ६० । २ यजुर्वेद ३१ । २ से पूर्वार्ध की तुल्यता और यजुर्वेद ३१ । ३ से उत्तरार्ध की कुछ न्यून तुल्यता है ॥५॥

अथ षष्ठ्याः—ऋष्यादयः पूर्ववत् ॥

६२०—तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥६॥

भावार्थः—भूत भविष्यत् वर्त्तमान जगत् का आधार जितना है, (**तावान्**) उतना सब (**अस्य**) इस परमात्मा का (**महिमा**) सामर्थ्य विशेष है, न कि केवल इतना ही परमात्मा है । (**च**) किन्तु (**पूरुषः**) परमात्मा तो (**ततः**) उस महिमा से (**ज्यायान्**) अत्यन्त महान् है । (**यत्**) जो कुछ (**अन्नेन**) अन्न से

(**अतिरोहति**) उपजता है उसका (**उत**) और (**अमृतत्वस्य**) मोक्ष का (**ईशानः**) अधिष्ठाता परमात्मा ही है ॥

ऋग्वेद १० । ९० । २ के उत्तरार्ध से तुल्यता है और १० । ९० । ३ के पूर्वार्ध में "एतावान्, अतः" इतना पाठान्तर है ॥६॥

अथ सप्तम्याः—नारायण ऋषिः । स्रष्टा देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १२

६२१—ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः ।

२ ३ १ २र ३ २उ ३ १ २ ३ २

स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥७॥

भावार्थः—(**ततः**) उस निमित्तकारण पुरुष से (**विराट्**) ब्रह्माण्डदेह (**अजायत**) उत्पन्न हुआ करता है (**विराजः**) ब्रह्माण्ड देह का (**अधि**) अधिष्ठाता (**पूरुषः**) परमात्मा होता है (**सः**) वह (**जातः**) उत्पन्न हुआ ब्रह्माण्ड देह (**पश्चात्**) फिर (**भूमिम्**) पृथिवी (**अथो**) और (**पुरः**) ग्राम नगरादि वा प्राणिदेहों को (**अत्यरिच्यत**) लांघकर वर्तमान रहा करता है । अर्थात् ग्राम नगरादि सब उसके भीतर आ जाते हैं, वह इन सबसे बड़ा होता है ॥

"परमात्मा का कोई कार्य वा कारण नहीं है" इत्यादि प्रमाणों से यह शंका नहीं करनी चाहिए कि इस मन्त्र में वा ऐसे ही अन्य मन्त्रों में परमात्मा से विराट् की उत्पत्ति में परमात्मा उपादान कारण हो ॥ यजु: ३१ । ५ में भी ॥ ऋ० १० । ९० । ५ में भी—ततः तस्मात् पाठभेद हैं ॥७॥

अथाष्टम्याः—वामदेव ऋषिः । द्यावापृथिवी देवते । त्रिष्टुप् (उपरिष्टाज्ज्योतिः) छन्दः ॥

१ २ ३ १ २ ३

६२२—मन्ये वां द्यावापृथिवी सुभोजसा

१ २र ३ १ २ ३ १ २र

ये अप्रथेथाममितमभि योजनम्

१ २ ३ १२ ३ १ २र ३ १ २

द्यावापृथिवी भवतं स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥८॥

भावार्थः—(**द्यावापृथिवी**) परम पुरुष से रचित ! और उसी से व्याप्त द्युलोक और पृथिवीलोको ! और उनमें स्थित प्राणि तथा अप्राणिवर्गो !(**वाम्**) तुम-दो को (**सुभोजसौ**) भले प्रकार से पालन करने वाले (**मन्ये**) मानता हूँ (**ये**) जो तुम (**अमितम्**) अपरिमित (**योजनम्**) देश तक (**अभि अप्रथेथाम्**) व्याप्त होकर फैले हो (**ते**) वे तुम (**द्यावापृथिवी**) द्युलोक और पृथिवीलोको ! (**नः**) हमको (**अंहसः**) दुःख वा पाप से (**मुञ्चतम्**) छुड़ाओ और (**स्योने**) सुखदायक (**भवतम्**) होओ ॥ जड़ सम्बोधन वैदिक शैलीमात्र है ॥८॥

अथ नवम्याः— वामदेव ऋषिः । इन्द्रोदेवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
६२३—हरी त इन्द्र श्मश्रूण्युतो ते हरितौ हरी ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
तन्त्वा स्तुवन्ति कवयः पुरुषासो वनगवः ॥९॥

भावार्थः- (**इन्द्र**) परम पुरुष के रचे हुए ! सूर्य !(**ते**) तेरी (**श्मश्रूणि**) किरण रूप मूछें (**हरी**) हरण करने वाली हैं (**उतो**) और (**ते**) तेरे (**हरी**) अश्व के समान धारण और आकर्षण गुण (**हरितौ**) हरण करने वाले हैं (**तम्**) उस (**त्वा**) तुझको (**कवयः**) बुद्धिमान् (**वनगवः**) सेवनीय वैदिकी वाणी वाले (**पुरुषासः**) पुरुष (**स्तुवन्ति**) वेदानुसार वर्णित करते हैं ॥

अष्टाध्यायी ६ । १ । ७ ॥ ७ । १ । ५० ॥ ३ । १ । ८५ ॥ १ । २ । ४८ ॥ निघण्टु १ । १५ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥९॥

अथ दशम्याः- वामदेव ऋषिः । आत्मा देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
६२४—यद्वर्चो हिरण्यस्य यद्वा वर्चो गवामुत ।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
सत्यस्य ब्रह्मणो वर्चस्तेन मा संसृजामसि ॥१०॥

भावार्थः- (**हिरण्यस्य**) सुवर्ण का, वा ज्योति का, वा लक्ष्मी का (**यत्**) जो (**वर्चः**) तेज है (**उत**) और (**गवाम्**) किरणों वा अन्य गोशब्दवाच्य पदार्थों का (**यत्**) जो (**वर्चः**) तेज है (**सत्यस्य**) त्रिकालैकरस (**ब्रह्मणः**) ब्रह्म का (**वर्चः**) जो तेज है (**तेन**) उस तेज से (**मा**) हम लोग अपने को (**संसृजामसि**) संसर्ग वाला करें ॥

निरुक्त २ । १० ॥ २ । १३ । निघण्टु १ । १ ॥ १ । ४ ॥ १ । ११ ॥ ३ । १६॥ ४।१ और अष्टाध्यायी ७ । १।४३ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥१०॥

अथैकादश्याः—वामदेव ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

२ ३ १ २ ३ २ ३ २ २र २ ३ १ २
६२५—सहस्तन्न इन्द्र दद्ध्योज ईशे ह्यस्य महतो विरप्शिन् ।
२ ३ १ ३ १ २र ३ १ २
क्रतुं न नृम्णं स्थविरं च वाजं
३ २ ३ १२ ३ १ २
वृत्रेषु शत्रून्त्सहना कृधी नः ॥११॥

भावार्थः—(**इन्द्र**) हे परमेश्वर ! (**नः**) हमारे लिये (**सहः**) शत्रुओं का दमन करने वाला (**तत्**) वह (**ओजः**) बल (**वद्धि**) दीजिये (**विरप्शिन्**) हे महान् ! (**हि**) क्योंकि (**अस्य महतः**) इस बड़े बल वा ब्रह्माण्ड के (**ईशे**) आप ईश्वर हैं (**च**) और (**क्रतुं न**) कर्मानुसार (**नृम्णम्**) धन (**च**) और (**स्थविरं वाजम्**) स्थिर धान्यादि [दीजिये] (**नः**) हमको (**वृत्रेषु**) पापियों में (**शत्रून्**) शत्रुओं का (**सहना**) साथ घातक (**कृधि**) कीजिये ॥

निघण्टु ३ । ३ ॥ २ । १० के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥११॥

अथ द्वादश्याः- वामदेव ऋषिः । गौर्देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

६२६—सहर्षभाः सहवत्सा उदेत
विश्वा रूपाणि बिभ्रतीर्द्व्यूध्नीः ।
उरुः पृथुरयं वो अस्तु लोक
इमा आपः सुप्रपाणा इह स्त ॥१२॥

भावार्थः—गौवो ! तुम (**विश्वा**) सब (**रूपाणि**) रूपों को (**बिभ्रतीः**) धारण करती हुई (**द्व्यूध्नीः**) सायं प्रातःकाल दूध देने वाली (**सहर्षभाः**) सांडों सहित (**सहवत्साः**) बछड़ों सहित (**उदेत**) उच्च भाव से प्राप्त होओ (**वः**) तुम्हारे लिये (**अयम्**) यह (**लोकः**) स्थान (**उरुः**) लम्बा (**पृथुः**) चौड़ा (**अस्तु**) होवे (**इमाः**) ये (**आपः**) जल (**सुप्रपाणाः**) सुन्दर पीने योग्य होवें । इस प्रकार (**इह**) इस लोक में (**स्त**) सुखयुक्त होओ ॥

जडसम्बोधन वैदिक परिपाटी मात्र है । तात्पर्य यह है कि गौवों को सांडों, बैलों, बछड़ों सहित,दो काल दुग्ध देने वाली रखनी चाहिये और उनके गोष्ठ(खरक) लम्बे चौड़े विशाल हों, पीने को सुन्दर स्वच्छ जल हो ॥

यह छठे अध्याय में चौथी दशति पूर्ण हुई ॥४॥

अथ पञ्चमी दशतिः

तत्र प्रथमायाः—वैश्वानर ऋषिः । अग्निः पवमानो देवता । गायत्री छन्दः ॥

६२७—अग्न आयूंषि पवस आसुवोर्जमिषं च नः ।
आरे बाधस्व दुच्छुनाम् ॥१॥

भावार्थः—(**अग्ने**) प्रकाशस्वरूप ! परमात्मन् ! वा भौतिकाग्ने ! (**आयूंषि**) हमारी आयुओं को (**पवसे**) तू पवित्र करता है, वह तू (**नः**) हमारे लिये (**ऊर्जम्**) रस (**च**) और (**इषम्**) अन्न को (**आसुव**) प्रेरित कर प्राप्त करा । तथा (**दुच्छुनाम्**) दुष्ट कुत्तों के समान राक्षसों को (**आरे**) हम से दूर (**बाधस्व**) हटा ।

[निघण्टु ३ । २६] (**बाधस्व**) बाध=भगा ॥ यजुः १९ । ३८ तथा ३५ । १६ में और ऋ० ९ । ६६ । १९ में भी ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—विभ्राट् सूर्यपुत्र ऋषिः । सूर्योदेवता । जगती छन्दः ॥

६२८—विभ्राड् बृहत्पिबतु सोम्यं
मध्वायुर्दधद्यज्ञपतावविह्रुतम् ।
वातजूतो यो अभिरक्षति त्मना
प्रजाः पिपर्ति बहुधा वि राजति ॥२॥

भावार्थः—(**विभ्राट्**) प्रकाशमान सूर्यलोक (**बृहत्**) बहुत (**सोम्यम्**) सोमयुक्त (**मधु**) मधुर रस को (**पिबतु**) पीवे=खींचे (**यः**) जो सूर्य (**यज्ञपतौ**) यजमान के निमित्त (**अविह्रुतम्**) अकण्टक (**आयुः**) आयु वा अन्न का (**दधत्**) धारण करता हुआ (**वातजूतः**) वायु के चलाने वाला (**त्मना**) अपने आपसे (**प्रजाः**) प्रजाओं को (**पिपर्ति**) पालता है (**अभिरक्षति**) सब ओर से रक्षा करता है और (**बहुधा**) बहुत सा (**विराजति**) प्रकाश करता है ॥

यजु: ३३ । ३० और ऋ० १० । १७० । १ का पाठभेद और अष्टाध्यायी ८ । ३ । १२७ ॥ ८ । ३ । १३८ ॥ ७ । २ । २१ ॥ ६ । ४ । १४१ निघण्टु १ । १५ ॥ २ । ७ के प्रमाण संस्कृत भाष्य में देखिये ॥२॥

अथ तृतीयायाः कुत्स ऋषयः । सूर्यो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

६२९—चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं
सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥३॥

भावार्थः—(**सूर्यः**) सूर्यलोक वा परमात्मा (**देवानाम्**) देवों=तारागणों वा ज्योतिर्गणों के (**चित्रम्**) विचित्र (**अनीकम्**) समूह को (**उदगात्**) लांघ कर उदय होता है अर्थात् सर्वोपरि प्रकाशमान है । तथा (**मित्रस्य**) प्राण (**वरुणस्य**) अपान और (**अग्नेः**) अग्नि का (**चक्षुः**) प्रकाशक प्रेरक है । तथा (**जगतः**) चलने वाले (**च**) और (**तस्थुषः**) स्थावर=न चलने वाले जगत् का (**आत्मा**) आत्मा है ! वही (**द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्**) द्युलोक भूलोक अन्तरिक्षलोक इन तीनों को (**आप्राः**) सब ओर से पालित पोषित करता और प्रकाश से भरपूर करता है ॥

सम्पूर्ण स्थावर जंगम का आत्मा सूर्य को इसलिये कहा है कि जैसे जीवात्मा शरीरेन्द्रियों का जीवनहेतु है, वैसे ही सूर्य चराचर का जीवनहेतु है । सूर्य के उदय होते ही मृतसमान चराचर फिर चेतन हो जाते हैं ।

निरुक्त १२ । १६ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ यजुः ७ । ४२ और १३ । ४६ में तथा ऋग्वेद १ । ११५ । १ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थ्याः—सार्पराज्ञी ऋषिः । सूर्यो देवता । गायत्री छन्दः ॥

६३०—आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः ।
पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥४॥

भावार्थः—(**अयम्**) यह (**गौ**) अपनी कक्षा में गमनशील वा रसों का चलाने वाला (**पृश्निः**) सूर्यलोक (**प्रयन्**) स्वस्थान में घूमता हुआ (**असदत्**) स्थित है । तथा (**मातरम्**) पृथिवी माता (**पितरम्**) द्युलोक पिता (**च**) और (**स्व**) मध्यस्थ अन्तरिक्ष लोक को (**पुरः**) सामने (**आअक्रमीत्**) आक्रान्त करता है ॥

अर्थात् सूर्य अपने स्थान में स्थित होकर घूमता हुआ ही लोकत्रय को प्रकाशित करता है ॥ निरुक्त २ । १४ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

यजुर्वेद ३ । ६ और ऋ० १० । १८९ । १ में भी ॥४॥

अथ पञ्चम्याः—ऋष्यादयः पूर्ववत् ॥

३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ २
६३१—अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती ।
२र ३ १ २र
व्यख्यन्महिषो दिवम् ॥५॥

भावार्थः—(अस्य) इस सूर्य की (रोचना) चमक (अन्तः) शरीर के भीतर वा द्युलोक और भूगोल के बीच में (प्राणात्) वायु के ऊर्ध्वं गमन से (अपानती) वायु का अधोगमन कराती हुई अथवा उदय से अस्त करती हुई (चरति) विचरती है । ऐसे (महिषः) पृथिवी से बड़ा सूर्य (दिवम्) अन्तरिक्ष को ((व्यख्यत्) प्रकाशित करता है ॥

मुख्य प्राण की प्राण अपान उदान समान व्यान नामक पांच वृत्तियें हैं, उन में से प्राण को सूर्य की चमक प्रेरित करती तब स्थावर जंगमों के शरीरों में वायु का नीचे ऊपर जाना आदि व्यवहार होता है । शेष स्पष्ट है ॥

अष्टाध्यायी ३ । २ । १२४ ॥ ४ । १ । ६ ॥ ६ । १ । १७३ ॥ ३ । २ । १४६ ॥ ३ । ४ । ६ ॥ ३ । १ । ५२ उणादि १ । ८५ निघण्टु ३ । ३ निरुक्त ३ । १३ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

यजुर्वेद ३ । ७ ऋग्वेद १० । १८९ । २ में भी ॥५॥

अथ षष्ठ्याः—ऋष्यादय उक्ताः ॥

३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
६३२—त्रिंशद्धाम वि राजति वाक्पतङ्गाय धीयते ।
२ ३ २ ३ २ ३ १ २
प्रति वस्तोरह द्युभिः ॥६॥

भावार्थः—(पतंगाय) सूर्य के लिये (वाक्) वेदवचन (धीयते) धारण किया जाता है (अह) अहो (प्रतिवस्तोः) प्रतिदिन (द्युभिः) किरणों से [सूर्य] (त्रिंशद्धाम) ३० घटीपरिमित दिनपर्यन्त (विराजति) प्रकाशता है ॥

अष्टाध्यायी २ । ३ । ५ निघण्टु १ । ९ निरुक्त १ । ६ ॥ १ । ५ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ यजुः ३ । ८ ऋ० १० । १८९ । ३ में भी ॥६॥

अथ सप्तम्याः—काण्वः प्रस्कण्व ऋषिः । सूर्यो देवता । गायत्री छन्दः ॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
६३३—अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः ।
१ २ ३ १ २
सूराय विश्वचक्षसे ॥७॥

भावार्थः—(विश्वचक्षसे) सबके प्रकाश (सूराय) सूर्य के लिये (यथा) जैसे (नक्षत्रा) नक्षत्र=तारागण (अक्तुभिः) रात्रियों के साथ (अपयन्ति) भाग जाते हैं, ऐसे ही (त्ये) वे भी जो कि (तायवः) चोर हैं, भाग जाते हैं ॥

अर्थात् यदि सूर्य न हो तो सदा रात्रि रहे और तस्कर लोग संसार की लूट मार किया करें। अथवा परमात्मा न हो तो संसार में वेदोपदेश के अभाव से धर्माऽधर्म का ज्ञान प्रवृत्त न हो और ऐसा होने पर सब, सबको लूटें खसोटें और बड़ी दुरवस्था हो जावे ॥ ऋ० १। ५०। २ में भी ॥७॥

अथाष्टम्याः—ऋष्यादिकमुक्तवत् ॥

६३४—अदृश्रन्नस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु ।
भ्राजन्तो अग्नयो यथा ॥८॥

भावार्थः—(अस्य) इस सूर्य की (केतवः) प्रकाशक (रश्मयः) किरणें (जनान्) प्राणियों को (अनु) लक्ष्य करके (वि अदृश्रन्) विविधप्रकार से दीखती हैं (यथा) जैसे (भ्राजन्तः) दहकते हुए (अग्नयः) अंगारे ॥

निघण्टु ३। ६ का प्रमाण और यजुः ८। ४० तथा ऋ० १। ५०। ३ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥८॥

अथ नवम्याः—अपि ऋष्यादय उक्ता एव ॥

६३५—तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य ।
विश्वमाभासि रोचनम् ॥९॥

भावार्थः—(सूर्य) हे सूर्य ! तू (तरणिः) अन्धकारादि से तिराने वाला है (विश्वदर्शतः) क्योंकि सबको दिखाने वाला है। क्योंकि (ज्योतिष्कृत्) प्रकाश करने वाला (असि) है, (विश्वम्) सब (रोचनम्) चमकते पदार्थ को (आभासि) तू ही चमकाता है ॥

इस पर सायणाचार्य ने भी लिखा है कि "रात्रि में सूर्यास्त होने पर चन्द्रादि पर सूर्य की किरणें गिरकर लौटतीं और अन्धकार को निवृत्त करती हैं। जैसे गृह के द्वार पर दर्पण में सूर्य की किरणें पड़तीं और वहां से लौट कर गृह के भीतर का अन्धकार हटाती हैं, तद्वत्" इससे जाना जाता है कि सूर्य के प्रकाश से चन्द्रादि का प्रकाशित होना विदेशीय आधुनिक विद्वानों का नवीन आविष्कार (ईजाद) नहीं है, किन्तु वैदिक विज्ञान है और सायणाचार्य के समय तक लोग इसको जानते रहे ॥

यद्वा—हे (सूर्य) अन्तर्यामी होने से सबके प्रेरक ! परमात्मन् ! (तरणिः) आप संसार समुद्र से तिराने वाले और (विश्वदर्शतः) सब मुमुक्षुवों को देखने=साक्षात् करने योग्य और (ज्योतिष्कृत्) सूर्य चन्द्रादि ज्योतियों के बनाने वाले (असि) हैं। यजुः ३१ । १२ में भी लिखा है कि सूर्य चन्द्रादि को परम पुरुष ने उत्पन्न किया। (विश्वम्) सब (रोचनम्) प्रकाशमान जगत् को (आभासि) आप ही प्रकाशित करते हैं। जैसा कि मुण्डकोपनिषद् २।१० और श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।१४ में कहा है कि उसी के प्रकाश से सब चमकते हैं" इत्यादि ॥ सायणभाष्य, यजुः ३१ । १३, मुण्डक २ । १०, श्वेताश्व० ६ । १४, उणादि २ । १०२ ॥ ३ । ११० के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ यजुः ३३ । ३६ और ऋ० १ । ५० । ४ में भी ॥९॥

अथ दशम्याः—अपि ऋष्यादय उक्तवत् ॥

६३६—प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषान् ।
प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे ॥१०॥

भावार्थः—सूर्य वा परमात्मन् ! [पूर्व मन्त्र से अनुवृत्ति लेकर] आप (दृशे) सब को सब कुछ दिखाने वा देखने के लिये (देवानां विशः) देवतों की प्रजा अर्थात् मरुत=वायु के स्थान अन्तरिक्षलोकस्थों के (प्रत्यङ् उदेषि) सामने उदय होते वा वर्त्तमान रहते हैं तथा (मानुषान्) मनुष्यलोक=पृथिवी लोकस्थों के भी (प्रत्यङ्) सामने वर्त्तमान होते हैं और (विश्वम्) समस्त (स्वः) द्युलोकस्थों के भी (प्रत्यङ्) सामने हैं ॥

अर्थात् सूर्य सदा सबके सामने ही उदय होता है, सायणाचार्य भी कहते हैं कि इसी से सब कोई सूर्य को यह जानता है कि मेरे सामने उदित हुआ है ॥ तथा परमात्मा भी तीनों लोकों की प्रजा के सामने हैं, कोई उससे छिपाकर कुछ नहीं कर सकता। ऋ० १ । ५० । ५ में भी ॥१०॥

अथैकादश्याः—अपि ऋषि देवता छन्दांस्युक्तानि वेद्यानि ॥

६३७—येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु ।
त्वं वरुण पश्यसि ॥११॥

भावार्थः—(पावक) सबके शोधक ! (वरुण) वरणीय वा अनिष्ट के रोकने वाले ! सूर्य ! वा परमात्मन् ! (जनान्) प्राणियों को (भुरण्यन्तम्) धारण वा पोषण करते हुए इस लोकत्रय को (येन) जिस (चक्षसा) प्रकाश से

(अनु) क्रमपूर्वक (पश्यसि) आप प्रकाशित करते वा देखते हैं [उस प्रकाश की हम प्रशंसा करते हैं] यह अध्याहारवाक्य जानिये। यद्वा–अगली ऋचा में "उदेषि" क्रिया से अन्वय करके [उस प्रकाश से आप उदय को प्राप्त होते हैं] वह अर्थ जानिये ॥ यास्क मुनि ने निरुक्त में इस मन्त्र के अगले पिछले दोनों मन्त्रों को मिला कर तीनों की व्याख्या जो कुछ की है वह निरुक्त अ० १२ के २२। २३। २४। २५ खण्डों के प्रमाण संस्कृतभाष्य में सम्पूर्ण उद्धृत हैं, वहीं देखिये। यजु० ३३।३२ और ऋ० १। ५०। ६ में भी ॥११॥

अथ द्वादश्याः ऋष्यादय उक्ता एव ॥

६३८—उद्द्यामेषि रजः पृथ्वाहा मिमानो अक्तुभिः।
पश्यञ्जन्मानि सूर्य ॥१२॥

भावार्थः—(सूर्य) सूर्य ! वा परमात्मन् ! तू (अहा) दिनों को (अक्तुभिः) रात्रियों से (मिमानः) मापता हुआ और (जन्मानि) प्राणियों को (पश्यन्) दिखलाता वा देखता हुआ (पृथु) विस्तृत (द्याम्) आकाश (रज) लोक को (उदेषि) उदय वा प्राप्त हो रहा है ॥

दिन रात्रि का विभाग स्पष्ट सूर्याधीन वा परमात्माधीन तो है ही। और तीन लोक के रहने वाले प्रत्येक प्राणी को देखने की सहायता भी वही देता है ॥

निरुक्त १२। २३ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋ० १। ५०। ७ में भी ॥१२॥

अथ त्रयोदश्याः—ऋष्यादयः पूर्ववत् ॥

६३९—अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः।
ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः ॥१३॥

भावार्थः—(सूरः) सूर्य (रथस्य) अपने रमणीयस्वरूप के (नप्त्यः) न गिराने वाली (शुन्ध्युवः) शुद्ध करने वाली (सप्त) सात रंग की किरणों को (अयुक्त) जोड़ता है और (ताभिः) उन (स्वयुक्तिभिः) अपनी जोड़ी हुई किरणों से (याति) अपने स्थान में घूमता है ॥

शुद्ध करने से सूर्य और उसकी किरणों को शुन्ध्यु कहते हैं। निरुक्त ४।१६॥ ४। २६ और मुण्डकोपनिषद् २। १ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋ० १। ५०। ९ में भी ॥१३॥

अथ चतुर्दश्याः—ऋष्यादयः पूर्ववत् ॥

६४०—सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य ।
शोचिष्केशं विचक्षण ॥१४॥

इति षष्ठाध्याये पञ्चमी दशतिः ॥५॥

इति—चतुर्थमारण्यं पर्वाऽऽरण्यं काण्डं वा ॥

इति

सामवेदसंहितायां छन्दआर्चिको नाम पूर्वार्धः समाप्तः ॥१॥

भावार्थः—(**देव**) दिव्यगुणयुक्त! (**विचक्षण**) सब के प्रकाशक !(**सूर्य**) सूर्य ! (**शोचिष्केशम्**) तेज रूपी केशों वाले (**त्वा**) तुझको (**सप्त**) सात (**हरितः**) हारक किरणें (**वहन्ति**) प्राणियों तक पहुँचाती है ॥

यद्यपि सूर्य एकत्र स्थित है, परन्तु अपनी ७ रंग की किरणों से हमें तथा अन्य लोकों को प्राप्त समझा जाता हैं ॥

निघण्टु १ । १५ ॥ १ । ५ ॥ १ । १७ निरुक्त २ । २७ ॥ २ । १५ ॥ १२ । २५ निरुक्तपरिशिष्ट २ । २१ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋ० १ । ५० । ८ में भी ॥१४॥

यह छठे अध्याय में पांचवीं दशति पूर्ण हुई ॥५॥

यह

चौथा आरण्य काण्ड वा आरण्य पर्व समाप्त हुआ ॥

और यह

श्रीमत्कण्ववंशावतंस पण्डित हजारीलाल स्वामी के पुत्र,
परीक्षितगढ़ (जिला—मेरठ) निवासी,
तुलसीराम स्वामी
के रचित सामवेदभाष्य में छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥६॥

तथा

सामवेदसंहिता का छन्दआर्चिक नाम पूर्वार्धं समाप्त हुआ ॥१॥

ओं शन्नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवत्वर्यमा ।
शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुरुरुक्रमः ॥

ओ३म्

अथ महानाम्न्यार्चिकः

:——:

अब—"महानाम्न्यार्चिक" का आरम्भ किया जाता है । ये महानाम्नी ऋचायें न तो पिछले छन्दआर्चिक में अन्तर्गत हैं और न अगले उत्तरार्चिक में गिनी जाती हैं । किन्तु छन्दआर्चिक के अन्त और उत्तरार्चिक के आदि में बिचला एक महानाम्न्यार्चिक नाम भिन्न ही तीसरा आर्चिक है । इसी प्रकार आरण्यगान समाप्त होने पर ही महानाम्नी ऋचों का सामगान पाठ गानग्रन्थ में भी सब पुस्तकों में पाया जाता है और सायणभाष्य में भी ऐसा ही है । परन्तु न जाने श्री सत्यव्रत सामश्रमी जी ने किस कारण इसको परिशिष्ट समझा है !

ऐन्द्रय एता महानाम्न्यः शक्वर्यो वा विकर्षिताः ।
पञ्चभिः सहिता अन्ते पुरीषपदनामभिः ॥१॥
एताः प्रकृतितस्तिस्र उपसर्गैस्तु संयुताः ।
नवसंख्या इति प्राहुर्वेदाध्ययनशालिनः ॥२॥
ऐतरेयब्राह्मणेऽपि शस्त्रे षोडशिनामके ।
तिस्रः प्रोक्ता महानाम्न्यस्त्रैलोक्यात्मविवर्णनात् ॥३॥

श्लोकार्थ—ये महानाम्नी एक प्रकार से शक्वरी छन्द की ऋचा हैं, जिन का इन्द्र देवता है और जिनके अन्त में पुरीष पद नाम से प्रसिद्ध ५ पद हैं ॥ १ ॥ ये मूल में तीन ३ ऋचा हैं परन्तु उपसर्गों के सहित वेदपाठी लोग इन्हें ९ नव करके पढ़ते हैं ॥२॥ ऐतरेय ब्राह्मण षोडशी शस्त्र में भी तीन ३ ही महानाम्नी कही हैं, त्रैलोक्यात्मा के विशेष वर्णन से ॥३॥

प्रथमं द्विपदा त्रीणि शाक्वराणि पदान्यतः ।
पञ्चार्णाष्टाक्षरो चोपसर्गाविकश्च शाक्वरः ॥१॥
पञ्चार्णउपसर्गोऽथ त्रयस्ते बहिरन्तिमाः ।
इयमाद्या, द्वितीयैवं, तृतीया पुनरन्तिमाः ।
अधिकोऽष्टाक्षरः पाद उपसर्ग इति स्थितिः ॥२॥

अब प्रश्न यह है कि यदि ये शक्वरी छन्द की ऋचा हैं तो इनमें छप्पन-छप्पन अक्षर होने चाहियें। क्योंकि चतुर्विंशति २४ अक्षरों से लेकर चार-चार अक्षर बढ़ाते हुए जो पिंगलानुसार गायत्री से अतिधृति पर्यन्त २१ छन्द हमने भूमिका भाष्यारम्भ पृष्ठ (४०) में लिखे हैं, तदनुसार ५६ अक्षर की शक्वरी होती है। परन्तु इन महानाम्नियों में तो ५६ से अधिक अक्षर पाये जाते हैं !

उत्तर यह है कि स्वतः तो इन में भी ५६ ही अक्षर हैं । परन्तु बीच-बीच में "उपसर्ग" नामक पाद मिल रहे हैं, जिनसे अधिक अक्षर जान पड़ते हैं। यही बात सायणाचार्य ने भी स्वीकार की है ॥

अब प्रश्न यह है कि बताओ कौन-कौन से शक्वरी के पाद हैं ? और कौन-कौन से उपसर्ग हैं ?

उत्तर—प्रथम ऋचा में (विदामघवन्विदा०) इत्यादि द्विपदा ऋचा उपसर्ग है। फिर (शिक्षा शचीनां पते) इत्यादि आठ-आठ अक्षरों के तीन शक्वरी के पाद हैं। फिर (स्वर्णावृः) यह पाँच अक्षर का पाद है [यहां अक्षर=व्यंजनों को पृथक्-पृथक् करके पञ्चाक्षर माने गये हैं] और (प्रचेतन प्रचेतय) यह आठ अक्षर का पाद, ये दो उपसर्ग हैं । (इन्द्र द्युम्नाय न इषे) यह आठ अक्षरों की शक्वरी का पाद है। (एवाहि शक्रः) इत्यादि तीन शक्वरी के पाद हैं। (आयाहि पिब मत्स्व) यह आठ अक्षर का पाद उपसर्ग है ॥

दूसरी महानाम्नी में:—(विदा राये सुवीर्यम्०) इत्यादि द्विपदा उपसर्ग है। (मंहिष्ठ वज्रिन्नृञ्जसे) इत्यादि तीन पाद आठ-आठ अक्षरों वाले शक्वरी के हैं। फिर (अंशुर्न शोचिः) यह पाँच अक्षर का पाद और (चिकित्वो अभि नोनय) यह पाद, ये दोनों उपसर्ग हैं। (इन्द्रो विदे तमु स्तुहि) यह आठ अक्षर का शाक्वर पाद है। (ईशे हि शक्रः) यह पाँच अक्षरों का उपसर्ग पाद है। (तमूतये हवामहे) इत्यादि आठ-आठ अक्षरों के तीन पाद शाक्वर हैं। (ऋतुश्छन्द ऋतं बृहत्) यह पाद उपसर्ग है ॥

तीसरी में:—(इन्द्रं धनस्य सातये हवामहे०) इत्यादि द्विपदा उपसर्ग है। (स नः स्वर्षदति द्विषः) इत्यादि आठ-आठ अक्षरों के ३ तीन शाक्वर पाद हैं। (अंशुर्मदाय) यह पांच अक्षरों का पाद, तथा (सुम्न आधेहि नो वसो) यह आठ अक्षर का पाद, ये दो उपसर्ग हैं। (पूर्तिः शविष्ठ शस्यते) यह आठ अक्षरों का शाक्वर पाद है। (वशी हि शक्रः) यह पांच अक्षरों का उपसर्ग है। (नूनं तमव्यं संन्यसे) इत्यादि आठ-आठ अक्षरों के तीन पाद शाक्वर हैं । (शूरो यो गोषु गच्छति०) इत्यादि दो उपसर्ग हैं ॥

इस प्रकार पहिली महानाम्नी में आठ-आठ अक्षरों के सात शक्वरी के पाद होकर ५६ अक्षरों का शक्वरी छन्द हुआ, शेष पांच पाद उपसर्ग हैं। ऐसे ही दूसरी में भी। तीसरी में सात शक्वरी के पाद और छः उपसर्ग हैं ॥

इसी तात्पर्य को निदानकल्प में सूत्रादि को भले प्रकार से विचारने वाले पूर्वाचार्यों ने दो श्लोकों में संग्रह करके दिखलाया है । जैसा कि—(देखो श्लोक संस्कृतभाष्य पृष्ठ २५६ पं० २१ में) ।।

इस प्रकार इन तीनों में उपसर्गाक्षरों को छोड़कर प्रत्येक में शाक्वरी छन्द के आठ-आठ अक्षरों के सात-सात पादों से छप्पन-छप्पन अक्षर ही बचते हैं, जितना कि एक शक्वरी छन्द होता है ।।

एतासु गीयते साम यत्तच्छाक्वरमुच्यते ।
तत्पंचमेह्नि पृष्ठेषु होतुः पृष्ठं विधीयते ॥१॥
उपसर्गैस्संयुतानामासामिन्द्रोऽधिदेवता ।
माध्यंदिनं यत्सवनं सर्वमैन्द्रमिति स्थितम् ॥२॥

श्लोकार्थः—इन महानाम्नियों में जो साम गाया जाता है वह भी शाक्वर साम ही कहा जाता है । वह (यज्ञ के) पञ्चम दिन में पृष्ठों में होता का पृष्ठ विधान किया गया है ॥१॥ इन उपसर्गसहितों का इन्द्र देवता है । (यज्ञ का) माध्यन्दिन जो सवन है वह सब इन्द्र देवता वाला है । यह मर्यादा है ॥२॥

"प्रचेतन प्रचेतयायाहि पिब मत्स्व ।
क्रतुश्छन्द ऋतं बृहत् सुम्न आधेहि नोवसो" इत्यनुष्टुप् ॥
"चिकित्वो अभि नो नय शूरो यो गोषु ।
गच्छति सखा सुशेवो अद्वयुः" इति गायत्री ॥

परन्तु आश्वलायन ने अपने ब्राह्मण के अनुसार कोई एक अनुष्टुप् और गायत्री का सम्पादनादि दिखाया है । जैसा कि "प्रचेतन प्रचे०" इत्यादि (देखो पूरे श्लोक संस्कृतभाष्य पृष्ठ ८३३ पं० १४ में) अनुष्टुप् और "चिकित्वो०" इत्यादि गायत्री ।। इस प्रकार जहाँ तहाँ के पद छोड़कर उसने यज्ञ सम्बन्धी प्रयोग की सुगमता के लिये कल्पना की है । और हमने मूल का अर्थ समझने की सुगमता के विचार से पूर्वोक्त छन्द का निश्चय किया है ।।

अथ प्रथमास्तिस्रः सर्वासां प्रजापतिर्ऋषिः ।।

३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ १ २
६४१—विदा मघवन् विदा गातुमनुशंसिषो दिशः ।
१ २ ३ १ २
शिक्षा शचीनांपते पूर्वीणां पुरूवसो ॥१॥

३ २३ ३ १ २ ३ २ २
६४२—आभिष्ट्वमभिष्टिभिः स्वाऽ३र्न्नांशुः ।
१२ ३ १ २३१ २ ३ १ २ ३२
प्रचेतन प्रचेतयेन्द्र द्युम्नाय न इषे ॥२॥

३ २उ ३ २ ३ १ २र
६४३—एवा हि शक्रो राये वाजाय वज्रिवः ।
१ २ ३ २ ३
शविष्ठ वज्रिन्नृञ्जसे ।
१ २ ३ २ ३ २ २ ३ २ ३ १ २
मंहिष्ठ वज्रिन्नृञ्जस आ याहि पिब मत्स्व ॥३॥

भावार्थः—प्रथम उपसर्गभाग द्विपदा का अर्थ कहते हैं—(**मघवन्**) हे यज्ञवाले ! परमेश्वर ! (**विद्वाः**) आप सब जानते हैं (**गातुम्**) यजमान उपासक के गन्तव्य देश को (**विद्वाः**) जानते हैं । इस लिये (**दिशः**) मार्गों का (**अनुशंसिषः**) उपदेश कीजिये=बताइये । अब शक्वरी छन्द का भाग कहते हैं—(**पुरूवसो**) हे बहुत विद्यादि धन वाले ! (**पूर्वीणां शचीनां पते**) हे सनातन बुद्धियों के स्वामिन् ! (**आभिः**) इन (**अभिष्टिभिः**) स्तुतियों से (**त्वम्**) आप (**शिक्ष**) विद्यादि धन दीजिये क्योंकि आप बहुधन हैं । अब फिर उपसर्ग भाग कहते हैं—(**स्वः**) सूर्य के (**न**) तुल्य (**अंशुः**) व्यापने वाले आप हैं । (**प्रचेतन**) हे प्रकाशकारक ! (**प्रचेतय**) कृपया हमें चेताइये । अब दोनों भाग कहते हैं—(**हि**) क्योंकि (**त्वम्**) आप (**नः**) हमारे लिये (**इषे**) अन्न (**द्युम्नाय**) और यश के लिये (**शक्रः**) समर्थ (**एव**) निश्चय हैं । अब शक्वरी का भाग कहते हैं—(**वज्रिवः**) हे दुष्टों के ऊपर दण्डधारक ! (**राये**) धन के लिये और (**वाजाय**) आत्मिक बल के लिये [प्रसन्न हूजिये] (**शविष्ठ**) हे बलिष्ठ ! (**वज्रिन्**) दण्डधर ! (**ऋञ्जसे**) आप को प्रसन्न किया जाता है । (**मंहिष्ठ**) हे पूजनीयतम ! (**वज्रिन्**) वज्र वाले ! (**ऋञ्जसे**) आपको प्रसन्न किया जाता है ॥ अब उपसर्ग भाग द्वारा पूर्वोक्त प्रार्थित परमात्मा प्रसन्न होकर आशीर्वाद देते हैं कि (**आयाहि**) आ, और (**पिब**) अमृत को पी, और (**मत्स्व**) आनन्दित हो ॥

अष्टाध्यायी ३ । ४ । ७ ॥ ३ । ४ । ६४ निघण्टु १ । १ ॥ ३ । ६ ॥ ३ । २० ॥ २ । १८ ॥ ३ । ५ निरुक्त ४ । २ ॥ २ । १४ ॥ ५ । ५ के प्रमाण संस्कृत-भाष्य में देखिये ॥३॥

अथ द्वितीयास्त्रिः

६४४—विदा राये सुवीर्यं भवो वाजानां पतिर्वशाँ अनु ।
मंहिष्ठ वज्रिन्नृञ्जसे यः शविष्ठः शूराणाम् ॥४॥

६४५—यो मंहिष्ठो मघोनामंशुर्न्न शोचिः ।
चिकित्वो अभि नो नय इन्द्रो विदे तमु स्तुहि ॥५॥

६४६—ईशे हि शक्रस्तमूतये हवामहे जेतारमपराजितम् ।
स नः स्वर्षदति द्विषः क्रतुश्छन्द ऋतं बृहत् ॥६॥

भावार्थः—प्रथम द्विपदा उपसर्ग कहते हैं—(**वाजानाम्**) सेनाओं के (**पतिः**) पति (**वशान्**) स्वाधीन और (**अनु**) अनुकूल (**भुवः**) बनाइये और (**राये**) धनप्राप्ति के लिये (**सुवीर्यम्**) सुन्दर पुरुषार्थ को (**विदाः**) प्राप्त कराइये ।। अब शाक्वर भाग कहते हैं—(**मंहिष्ठ**) हे अतिसत्कारयोग्य ! (**वज्रिन्**) शस्त्रों अस्त्रों के धर्ता ! (**ऋञ्जसे**) आप प्रसन्न किये जाते हैं। (**यः**) जो कि आप (**शूराणाम्**) शूरवीरों में (**शविष्ठः**) बलिष्ठ हैं (**यः**) और जो आप (**मघोनाम्**) धनवानों में (**मंहिष्ठः**) अतिदानी हैं ।।

अब उपसर्ग भाग कहते हैं—(**चिकित्वः**) हे ज्ञानवान् ! (**अंशुः**) सूर्य के (**न**) तुल्य (**शोचिः**) प्रकाशयुक्त आप (**नः**) हमको (**अभि**) सब ओर से (**नय**) ले चलिये ।। अब उपसर्ग और शाक्वर दोनों भाग मिलाकर कहते हैं—(**इन्द्रः**) परमैश्वर्ययुक्त (**विदे**) प्राप्त होता है (**तम्**) उस को (**उ**) ही (**स्तुहि**) हम स्तुत करते हैं (**हि**) क्योंकि (**शक्रः**) वह शक्तिमान् (**ईशे**) सब को दबा सकता है ।। अब शाक्वर भाग कहते हैं—(**तम्**) उस (**अपराजितम्**) न हारने वाले किन्तु (**जेतारम्**) जीतने वाले को (**ऊतये**) रक्षार्थ (**हवामहे**) हम पुकारते हैं (**सः**) वह (**द्विषः**) शत्रुओं को (**अति**) लांघकर (**नः**) हम को (**स्वर्षत्**) ले जावे ।। अब उपसर्ग फिर कहते हैं—जिससे (**क्रतुः**) यज्ञ (**छन्दः**) वेद और (**ऋतम्**) सत्य (**महत्**) बहुत हो ।।

अर्थात् सेनापति अन्यों को स्वाधीन करे, धनादि ऐश्वर्य के लिये उत्तम पुरुषार्थ को बढ़ावे, शस्त्रास्त्रों का धारक, सत्कारयोग्य, सबको प्रसन्न करने योग्य,

बलियों में बलिष्ठ, धनियों में सर्वोत्तम धनी और दाता, ज्ञानवान्, सूर्य के समान तेजस्वी, सेना के पुरुषों का नायक और रक्षक, स्तुतियोग्य, शक्तिमान्, विजयी, न हारने वाला, जहाँ उपद्रव हो वहीं रक्षार्थ जाने वाला और शत्रुओं का भगाने वाला होना चाहिये ॥

अष्टाध्यायी ७ । ३ । ८८ ॥ ८ । ३ । १ ॥ ३ । २ । १३४-१३५ निघण्टु ३ । २० ॥ २ । १० ॥ २ । १४ ॥ ३ । १० निरुक्त १०।८ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥६॥

अथ तृतीयास्तित्रः

६४७—इन्द्रं धनस्य सातये हवामहे जेतारमपराजितम् ।
स नः स्वर्षदति द्विषः । स नः स्वर्षदति द्विषः ॥७॥

६४८—पूर्वस्य यत्ते अद्रिवोंऽशुर्मदाय । सुम्न आ धेहि नो वसो ।
पूर्त्तिः शविष्ठ शस्यते । वशी हि शक्रो नूनं तन्नव्यं संन्यसे ॥८॥

६४९—प्रभो जनस्य वृत्रहन्त्समर्येषु ब्रवावहै ।
शूरो यो गोषु गच्छति सखा सुशेवो अद्वयुः ॥९॥

भावार्थः—द्विपदा उपसर्ग को प्रथम कहते हैं—हम उपासक लोग (**धनस्य**) विद्यादि धन के (**सातये**) लाभार्थ (**अपराजितम्**) न हारने वाले किन्तु (**जेतारम्**) विजय करने वाले (**इन्द्रम्**) परमैश्वर्ययुक्त को (**हवामहे**) पुकारते हैं। शक्वरी छन्द का पाद कहते हैं—(**सः**) वह परमात्मा (**नः**) हमारे (**द्विषः**) द्वेष करने वालों को (**अति स्वर्षत्**) दूर करे (**सः**) वह (**नः**) हमारे (**द्विषः**) द्वेषपात्रों को (**अतिस्वर्षत्**) दूर करे। इसलिये वेद में ऐसी परिपाटी प्रायः है, जैसा कि [योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः] इत्यादि से द्वेष्टा और द्वेष्य दोनों के नाश की प्रार्थना आया करती है। (**अद्रिवः**) हे अखण्डवज्रवर ! (**पूर्वस्य ते**) सनातन आपके [उपासक हम हैं]। (**अंशुः**) आपकी किरणरूप ध्यानानन्द का लेश (**मदाय**) अत्यन्त आनन्द के लिये होता है। वह आप (**नः**) हमको (**सुम्ने**) सुख में (**आधेहि**) स्थिर करें। अब शक्वरी और उपसर्ग भाग को साथ-साथ कहते हैं—(**शविष्ठ**) हे बलिष्ठ ! (**पूर्तिः**) आप का किया पालन पोषण (**शस्यते**) प्रशंसित है (**हि**) क्योंकि (**शक्रः**) आप सर्वशक्तिमान् (**वशी**) लोकत्रय को वश में रखने वाले हैं।

अब शाक्वर भाग कहते हैं—(**प्रभो**) हे प्रभो ! (**वृत्रहन्**) हे दुष्टनिवारक ! (**तत्**) इस कारण (**नूनम्**) निश्चय (**नव्यम्**) नूतन क्षणभंगुर सांसारिक सुख को (**संन्यसे**) में त्याग करके संन्यासी होता हूँ। जिससे (**अर्येषु**) संन्यासि स्वामियों में (**संब्रवावहै**) भले प्रकार एक दूसरे से संवाद करें। अब उपसर्ग भाग में यह कहते हैं कि किस विषय का संवाद करें (**यः**) जो (**शूरः**) ज्ञानी (**सखा**) सबका मित्र (**सुशेवः**) आनन्दस्वरूप और (**अद्वयुः**) अद्वितीय है वही (**गोषु**) पृथिवी आदि सब लोकों में (**गच्छति**) व्यापक होकर वर्त्तमान है। उसके विषय में संवाद करें, यह सम्बन्ध जानिये ॥

निघण्टु २ । ६ ॥ ३ । २८ अष्टाध्यायी ३ । १ । ८५ ॥ २ । १।४ ॥ ८ । १ । ३८ ॥ ३ । १ । १०३ उणादि २ । २५ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥९॥

अथ पञ्च पुरीषपदानि ॥

६५०—एवाह्यऽ३ऽ३ऽ३ व एवा ह्यग्ने । एवाहीन्द्र ।
एवा हि पूषन् एवा हि देवाः ॥१०॥

इति महानाम्न्यार्चिकः समाप्तः ॥२॥

भावार्थ - अब पांच पुरीष पदों की व्याख्या करते हैं। ये सब इन्द्र देवता के हैं। क्योंकि इन्द्र का सम्बन्ध पीछे से चला आता है और यहां भी तीसरे पद में इन्द्र शब्द आया है। शेष अग्नि आदि नाम भी इस कारण इन्द्र=परमेश्वर के ही समझने चाहियें जैसा कि निरुक्त ७ । १८ में लिखा है कि "इसी महान् अग्नि महान् आत्मा एक आत्मा को विद्वान् लोग इन्द्र मित्र वरुण अग्नि दिव्य गरुत्मान् आदि नामों में बहुत प्रकार वर्णन करते हैं।" उनमें से प्रथम पद—(**एव, हि, एव**) जैसा कि पूर्वार्ध में वर्णन कर आये, वह ठीक है। द्वितीय पद—(**अग्ने, एव, हि**) हे प्रकाश-स्वरूप और प्रकाशकर्त्ता ! ऐसा ही आपका वर्णन है जैसा पूर्व कहा। तृतीय पद—(**इन्द्र एव हि**) हे परमैश्वर्यवन् ! ऐसा ही है। चतुर्थ पद—(**पूषन्, एव, हि**) हे पालक पोषक ! ऐसा ही है। पञ्चम पद=(**देवाः**) हे पूर्वोक्त देवो ! (**एव हि**) यथोक्त ही आपके गुण कर्म स्वभाव और प्रशंसा है।

यह समस्त छन्दआर्चिक और महानाम्न्यार्चिक का उपसंहार है॥१०॥

श्रीमान् कण्ववंशावतंस पं० हजारीलाल स्वामी के पुत्र,
परीक्षितगढ़ जिला मेरठ निवासी
तुलसीरामस्वामिकृत
सामवेदभाष्य में महानाम्न्यार्चिक नाम
दूसरा आर्चिक सम्पूर्ण हुआ ॥२॥

ओ३म्

तृतीय उत्तरार्चिकः प्रथमोध्यायः

इस उत्तरार्चिक में बहुत सी छन्द आर्चिक की ऋचायें पुनर्वार आई हुई भी देखी जाती हैं, इसका कारण यह भी है कि छन्दआर्चिक में गानग्रन्थ के साम सिद्ध होने के लिये एक-एक ऋचा आई थी, परन्तु यहां उत्तरार्चिक में स्तोमों की सिद्धि के लिए दो ऋचाओं के द्वयृच वा प्रगाथ और तीन ऋचाओं के तृच आदि सूक्तों के प्रकार से कहने की आवश्यकता थी, जिन स्तोमों का विस्तारपूर्वक वर्णन ताण्ड्यमहाब्राह्मण के दूसरे तीसरे अध्यायों में है और जिसमें से लेकर थोड़ा सा वर्णन हम पूर्व छन्दःआर्चिक अध्याय २, दशति ५, ऋचा १०वीं पर लिख आये हैं। "पन्द्रह आज्य और सत्रह पृष्ठ होते हैं" इत्यादि अन्य ग्रन्थों में कहे आज्यों और पृष्ठों में वे वे स्तोम काम में आते हैं। इस प्रकार के स्तोमों की सिद्धि के लिए यह उत्तरार्चिक का क्रम है॥

अथ प्रथमप्रपाठके प्रथमार्धम्

अथ प्रथमाध्याये प्रथमसूक्तस्य तृचस्य-असितः काश्यपो देवलो वा ऋषिः।

सोमो देवता। गायत्री छन्दः॥

तत्र प्रथमा

६५१—उपास्मै गायता नरः पवमानायेन्दवे।
अभि देवाँ इयक्षते॥१॥

भाषार्थः—(नरः) हे मनुष्यो! (अस्मै) इस (पवमानाय) पावन शुद्धिकारक (इन्दवे) परमैश्वर्यवान् (देवान्) देवतों को (अभि इयक्षते) लक्ष्य करके अपना ज्ञानप्रदानरूप यजन करना चाहते हुए परमात्मा के लिए (उप गायत) उपगान करो। इस क्रिया में स्तोमगान की भी ध्वनि ध्वनित है॥

अथवा—(इन्दवे) सोम ओषधि के लिए । शेष पूर्ववत् जानो ॥ ऋग्वेद ६ । ११ । १ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

६५२—अभि ते मधुना पयोऽथर्वाणो अशिश्रयुः ।
देवं देवाय देवयु ॥२॥

भावार्थः—(ते) वे (अथर्वाणः) स्थिरात्मा ज्ञानी लोग (देवाय) ईश्वर-प्राप्ति के लिए (देवम्) दिव्यगुणयुक्त (देवयु) परमात्मदेव को चाहने वाले (पयः) प्राणरूपी अन्न को (मधुना) आत्मज्ञानानन्द रूपी मिठाई से (अभि-अशिश्रयुः) संस्कृत करते हैं ॥

अथवा—(ते अथर्वाणः) वे ऋत्विज् अध्वर्यु आदि लोग (देवाय) वायु आदि देवगण के लिए (देवम्) दिव्य (पयः) सोम रस को (मधुना) मिठाई से (अभि अशिश्रयुः) संस्कृत करते हैं ॥

शतपथ ब्राह्मण १४ । ५ । ५ । १४, १६, १७, १८, १६ ॥ १२ । ८ । १ । २० निघण्टु ५ । ५ निरुक्त ११ । १८ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद ६ । ११ । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

६५३—स नः पवस्व शं गवे शं जनाय शमर्वते ।
शं राजन्नोषधीभ्यः ॥३॥

भावार्थः—(राजन्) हे प्रकाशमान परमेश्वर ! वा ओषधिराज सोम (सः) वह तू (नः) हमारे (गवे) गौ आदि पशुओं के लिए (शम्) सुख (जनाय) पुत्रादि वर्ग के लिए (शम्) सुख (अर्वते) प्राण के लिए (शम्) सुख और (ओषधीभ्यः) गेहूँ आदि ओषधियों के लिए (शम्) सुख (पवस्व) वर्षावो ॥

निघण्टु १ । १४ शतपथ ब्राह्मण ५ । २ । ४ । ६ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिए ॥ ऋग्वेद ६ । ११ । ३ में भी ॥३॥

अथ द्वितीयतृचस्य—कश्यपोमारीच ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

६५४—दविद्युतत्या रुचा परिष्टोभन्त्या कृपा ।
सोमाः शुक्रा गवाशिरः ॥१॥

भावार्थः—(**शुक्राः**) श्वेत (**गवाशिरः**) दूध मिले (**सोमाः**) सोम (**दविद्युतत्या**) देदीप्यमान (**परिष्टोभवन्त्या**) बार-बार अभ्यास की जाती हुई (**कृपा**) समर्थ (**रुचा**) दीप्ति से [चमकते हैं] । ऋ० ९ । ६४ । २८ में भी ॥४॥

अथ द्वितीया

६५५—हिन्वानो हेतृभिर्हित आ वाजं वाज्यक्रमीत् ।
सीदन्तो वनुषो यथा ॥२॥

भावार्थः—(**यथा**) जिस प्रकार (**हेतृभिः**) प्रेरकों से (**हिन्वानः**) प्रेरित किया हुआ (**वनुषः**) वीर (**हितः**) कहने में चलने वाला (**वाजी**) बलवान् (**आवाजम्**) बल या शक्ति भर (**अक्रमीत्**) दौड़ता है, वैसे ही (**सीदन्तः**) शीघ्र गति से चलते हुए सोम दौड़ते हैं । निघं० २ । १४ में वनुष्यति का अर्थ क्रोध वा वीरता है ॥ ऋ० ९ । ६४ । २९ में भी ॥५॥

अथ तृतीया

६५६—ऋधक्सोम स्वस्तये संजग्मानो दिवा कवे ।
पवस्व सूर्यो दृशे ॥३॥

भावार्थः—(**कवे**) बुद्धितत्त्व के बढ़ाने जगाने वाले ! (**सोम**) सोम ! (**ऋधक्**) बढ़ता बढ़ता हुआ (**दिवा**) और आकाश से संगत होता हुआ (**सूर्यः**) जैसे सूर्य (**दृशे**) दृष्टि की सहायता के लिए चढ़ता है वैसे तू भी (**स्वस्तये**) सुख के लिये (**पवस्व**) हम से ग्रहण किया हुआ आनन्द को प्राप्त हो ॥

जैसे दृष्टि के लिए सूर्य आकाश में चढ़ता है वैसे सुख के लिए सोम का हवन कर आकाश में चढ़ाना चाहिए ॥

विवरणकार की सम्मति, निरुक्त ४। २५ का प्रमाण और ऋ० ६। ६४। ३० का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥६॥

अथ तृतीयतृचस्य— वैखानसा आङ्गिरसा ऋषयः। सोमो देवता। गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

६५७—पवमानस्य ते कवे वाजिन्त्सर्गा असृक्षत।
अर्वन्तो न श्रवस्यवः ॥१॥

भावार्थः—(कवे) विद्वन्! **(वाजिन्)** योगबलैश्वर्ययुक्त! पुरुष! **(पवमानस्य)** योगाभ्यास से आत्मा को शोधने वाले **(ते)** तेरे **(सर्गाः)** प्राणायामान्तर्गत वायुओं के विसर्ग **(श्रवस्यवः)** तेरा यश चाहते हुए **(असृक्षत)** छोड़े जाते हैं **(न)** जैसे **(अर्वन्तः)** अश्व ॥

अथवा—(कवे) बुद्धितत्त्व के जगाने वाले! (वाजिन्) बलदायक! सोम! (पवमानस्य) वायु की शुद्धि करते हुए (ते) तेरी (सर्गाः) धारायें (श्रवस्यवः) यजमान का यश चाहती हुई (असृक्षत) छोड़ी जाती हैं (न) जैसे (अर्वन्तः) अश्वशाला से अश्व छोड़े जाते हैं, तद्वत् ॥ ऋ० ६। ६६। १० में भी ॥७॥

अथ द्वितीया

६५८—अच्छा कोशं मधुश्चुतमसृग्रं वारे अव्यये।
अवावशन्त धीतयः ॥२॥

भावार्थः—(धीतयः) ध्यानी लोग **(अव्यये)** मानससूर्यमय **(वारे)** नाड़ी समूह पर **(मधुश्चुतम्)** मधुर—आनन्द टपकाने वाले **(कोशम्)** घट को **(असृग्रम्)** उघाड़ते हैं और **(अच्छ)** अच्छे प्रकार **(अवावशन्त)** चाहते हैं ॥

अथवा—(धीतयः) ऋत्विजों की अंगुलियें (अव्यये) ऊर्णामय (वारे) दशापवित्र पर (मधुश्चुतम्) मिठास टपकाने वाले (कोशम्) सोमघट को (असृग्रम्) उघाड़ते और (अच्छ) भले प्रकार (अवावशन्त) [illegible] करते हैं। ऋ० ६। ६६। ११ में भी ॥८॥

अथ तृतीया

१ २ ३२३ ३२ ३ २३ २ ३१२
६५६—अच्छा समुद्रमिन्दवोऽस्तं गावो न धेनवः ।
१ २ ३२ ३ २ ३ २
अग्मन्नृतस्य योनिमा ॥३॥

भावार्थः—(**इन्दवः**) शान्तस्वभाव भगवदुपासक लोग (**ऋतस्य योनिम्**) सत्य वेद के धाम (**समुद्रम्**) समुद्रतुल्य गम्भीर परमात्मा को (**अच्छ**) भले प्रकार सानन्द (**आ अग्मन्**) प्राप्त होते हैं । दृष्टान्त (**न**) जैसे (**धेनवः गावः**) दुधार गौवें (**अस्तम्**) घर को [जहां से गई थी] प्राप्त होती हैं ॥

यद्वा—(**इन्दवः**) सोम (**ऋतस्य योनिम्**) यज्ञ के स्थान (**समुद्रम्**) अन्तरिक्ष को (**अच्छ आ अग्मन्**) भले प्रकार सब ओर से प्राप्त होते हैं (**धेनवः**) दुधार (**गावः**) गौवें (**न**) जैसे (**अस्तम्**) दूध देने को घर आती हैं तद्वत् ॥

निघण्टु १ । ३ ॥ ३ । ४ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ९ । १ । १२ में भी ॥

इस अवसर में श्री सत्यव्रत सामश्रमी जी कहते हैं कि "विवरणकार यहां ज्योतिष्टोमसम्बन्धी बहिष्पवमान समाप्त लिखते हैं । और मीमांसा द० ९।४।३ में लिखा है कि यह तीन सूक्तों के गान से साध्य स्तोत्र बहिष्पवमान कहाता है । क्योंकि उनमें की ऋचायें पवमानार्थ हैं और बाहर से सम्बन्ध है । यह स्तोत्र अन्य स्तोत्रों के समान सदस् नामक मण्डप के भीतर उदुम्बर की स्तम्बशाखा के समीप नहीं पढ़ा जाता, किन्तु सदस् से बाहर चलते हुए इसे पढ़ते हैं । बहिष्पवमान नामक वेदी वह है, जहां स्थित होकर इस बहिष्पवमान नाम ९ नव ऋचाओं से साध्य त्रिवृत् नामक स्तोम का पूर्व पाठ करके मार्जन होता है और वह वेदी उदग्वंशा नाम शाला के अन्तर्गत सदोमण्डप के पश्चिम की ओर प्राचीनवंशा नाम शाला के अन्तर्गत ऐष्टिक वेदी से उत्तर की ओर होती है और इस बहिष्पवमान के प्रकृतियाग अग्निष्टोमादि में त्रिवृत् नामक स्तोम होता है ।" इत्यादि ॥

इस त्रिवृत् की व्याख्या ताण्ड्यमहाब्राह्मण प्रपाठक २ के ३ खण्डों के अनुसार हम पूर्व मन्त्र सं० १६४ (पृ० ११२-११३ में) कर चुके हैं ॥९॥

इति प्रथमः खण्डः

अथ द्वितीयखण्डे प्रथमतृचस्य भरद्वाज ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः ।

२ ३ १ २ ३ १२ ३ २ ३ १२
६६०—अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये ।
१ २र ३ १ २
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥१॥

भावार्थः—इसकी व्याख्या छन्द आर्चिक (१) में कर चुके हैं। यहाँ पुनर्वार पाठ, भिन्न प्रकार के सूक्त में समन्वित होने आदि प्रयोजनार्थ जानिये ॥

६६१—तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि ।
बृहच्छोचा यविष्ठय ॥

भावार्थः—(**अंगिरः**) प्रकाशमान ! (**यविष्ठय**) अति बलिष्ठ ! अग्ने ! वा परमात्मन् ! (**तम्**) उस पूर्व मन्त्रोक्त (**त्वा**) आप को (**समिद्भिः**) समिधाओं वा योगाभ्यासादि साधनों से तथा (**घृतेन**) घृत वा स्नेह=प्रीति=आपकी ओर झुकाव से हम (**वर्धयामसि**) अत्यन्त प्रज्वलित, वा हृदय में अत्यन्त साक्षात् करें और आप (**बृहत्**) बहुत (**शोच**) प्रकाश कीजिये ॥

यजु: ३ । ३ । ऋ० ६ । १६ । ११ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

६६२—स नः पृथु श्रवाय्यमच्छा देव विवाससि ।
बृहदग्ने सुवीर्यम् ॥३॥

भावार्थ—(**अग्ने**) प्रकाशमान ! (**देव**) दिव्यगुणयुक्त ! (**सः**) पूर्वोक्त आप (**पृथु**) विस्तृत (**श्रवाय्यम्**) सुनने योग्य प्रशंसनीय (**बृहत्**) बड़े भारी (**सुवीर्यम्**) शोभायुक्त वीर्य को (**नः**) हमें (**विवाससि**) प्राप्त कराते हैं ॥

ऋ० ६ । १६ । १२ में भी ॥३॥

द्वितीयतृचस्य—विश्वामित्रो जमदग्निर्वा ऋषिः ।
मित्रावरुणौ देवते । गायत्री छन्दः ॥

६६३—आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम् ।
मध्वा रजांसि सुक्रतू ॥१॥

भावार्थः—इसका अर्थ मन्त्र संख्या (२२०) पर कर चुके हैं, वहीं मित्र वरुण का निरुक्त भी लिख आये हैं ॥४॥

अथ द्वितीया

६६४—उरुशंसा नमोवृधा मह्ना दक्षस्य राजथः ।
द्राघिष्ठाभिः शुचिव्रता ॥२॥

भावार्थः—(**उरुशंसा**) बहुत वर्णनीय गुण कर्म स्वभाव वाले (**नमोवृधा**) हव्यरूपी अन्न से बढ़ने वाले (**शुचिव्रता**) शुद्धिकारक मित्र और वरुण नामक मध्यस्थान वृष्टिकारक देव (**दक्षस्य मह्ना**) बल की बड़ाई से (**द्राघिष्ठाभिः**) अत्यन्त लम्बी बिजुलियों के साथ (**राजथः**) विराजते हैं ॥

निघण्टु २।७॥ २।६॥ २।१॥ ३।१ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ३।६२।१७ में भी ॥५॥

अथ तृतीया

३ २ ३१२ ३ १ २३१ २
६६५—गृणाना जमदग्निना योनावृतस्य सीदतम् ।
३ १ २९
पातं सोममृतावृधा ॥३॥

भावार्थः—मित्र और वरुण संज्ञक आकाशगत देव=वायुविशेष वा अवस्था-विशेषापन्न सूर्यकिरण (**गृणाना**) वेदमन्त्रों से वर्णित किये जाते हुए (**ऋतस्य**) जल के (**योनौ**) स्थान=गगनमण्डल में (**सीदतम्**) स्थित हों तथा (**जमदग्निना**) जाज्वल्यमान दहकते अग्नि से हूयमान (**सोमम्**) सोमादि ओषधिरस को (**पातम्**) पीवें। उससे (**ऋतावृधा**) वृष्टिजल के बढ़ाने वाले हों ॥

ऋ० ३।६२।१८ में भी ॥६॥

अथ तृतीयतृचस्य—इरिमिढ ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१ २ ३२३ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३२
६६६—आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम् ।
२ ३ ३ १ २ ३ १२
एदं बर्हिः सदो मम ॥१॥

इस की व्याख्या (१६१) मन्त्र संख्या में देखिये ॥७॥

अथ द्वितीया

१ २ ३ २३ २ ३ १२ ३ १ २
६६७—आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना ।
२ ३ १ २
उप ब्रह्माणि नः शृणु ॥२॥

भावार्थः—(**इन्द्र**) परमेश्वर ! (**केशिना**) वृत्तिरूप केशों वाले (**ब्रह्मयुजा**) ब्रह्म में योग करने वाले (**हरी**) आत्मा और मन दोनों (**त्वा**) आपको (**आवहताम्**) प्राप्त हों (**नः**) हमारे (**ब्रह्माणि**) वेदोक्त स्तोत्रों को (**उप शृणु**) स्वीकार कीजिये ॥

यद्वा—(**इन्द्र**) विद्युत् ! (**केशिना**) किरणरूपी केशों वाले (**ब्रह्मयुजा**) ब्रह्म परमात्मा के जोड़े हुए (**हरी**) धारण और आकर्षण अश्व (**त्वा**) तुझे (**आवहताम्**) प्राप्त हों (**नः**) हमारे (**ब्रह्माणि**) बड़े हवियों को (**उपशृणु**) ग्रहण कर ॥

निघण्टु १ । १५ ॥ निरुक्त १२ । २५ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋ० ८ । १७ । २ में भी ॥८॥

अथ तृतीया

६६८—ब्रह्माणस्त्वा युजा वयं सोमपामिन्द्र सोमिनः ।
सुतावन्तो हवामहे ॥३॥

भावार्थः—(**इन्द्र**) परमेश्वर ! (**सोमिनः**) सौम्य भाव वाले (**सुतावन्तः**) हृदय शुद्ध कर चुकने वाले (**ब्रह्माणः**) वेदवेत्ता (**वयम्**) हम योगी लोग (**युजा**) योग से (**सोमपां त्वा**) सौम्य भाव वालों के ग्राहक आपको (**हवामहे**) पुकारते हैं ॥

यद्वा—(**इन्द्र**) विद्युत् ! (**सोमिनः**) सोमरसवाले (**सुतावन्तः**) अभिषव कर चुकने वाले (**ब्रह्माणः**) ब्रह्मा आदि (**वयम्**) हम ऋत्विज् लोग (**युजा**) सम्बन्ध से (**सोमपाम्**) सोमरस शोधने वाले (**त्वा**) तुझको (**हवामहे**) वर्णित करते हैं ॥

ऋ० ८ । १७ । ३ में "वयं युजा" ऐसा उलट कर पाठ है ॥९॥

अथ चतुर्थतृचस्य विश्वामित्रो गाथिन ऋषिः । इन्द्राग्नी देवते ॥

गायत्री छन्दः

६६९—इन्द्राग्नी आ गतं सुतं गीर्भिर्नभो वरेण्यम् ।
अस्य पातं धियेषिता ॥१॥

भावार्थ—(**इन्द्राग्नी**) इन्द्र और अग्नि दोनों भौतिक देव (**नभः**) आकाश में वर्तमान (**धिया**) यज्ञ कर्म से (**इषिता**) प्रेरित (**आगतम्**) प्राप्त हों और (**गीर्भिः**) वेदमन्त्रों से (**सुतम्**) अभिषुत किये हुए (**वरेण्यम्**) उत्तम (**अस्य**) इस सोम का (**पातम्**) पान करें ॥

ऋग्वेद ३ । १२ । १ यजुः ७ । ३१ में भी ॥१०॥

अथ द्वितीया

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
६७०—इन्द्राग्नी जरितुः सचा यज्ञो जिगाति चेतनः ।
३ १ २ ३२ ३ २
अया पातमिमं सुतम् ॥२॥

भावार्थः—(यज्ञः) विष्णु परमात्मा (चेतनः) सबका चेताने वाला (जिगाति) उपदेश करता है कि (इन्द्राग्नी) पूर्वमन्त्र में कहे इन्द्र और अग्नि (जरितुः) प्राण के (सचा) सहायक हैं । (अया) इस वेदवाणी के साथ (इमम्) इस (सुतम्) अभिषुत किये सोम को (पातम्) शोषण करें=पीवें ॥

शतपथ १४ । ६ । १ । ८ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद ३ । १२ । २ में भी ॥११॥

अथ तृतीया

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३१ २ ३ १ २
६७१—इन्द्रमग्निं कविच्छदा यज्ञस्य जूत्या वृणे ।
१ २ ३ १ २
ता सोमस्येह तृम्पताम् ॥३॥

भावार्थः—(यज्ञस्य) यज्ञ के (जूत्या) सेवन के लिये (कविच्छदा) बुद्धिमानों की अनुकूलता करने वाले (इन्द्रम्, अग्निम्) इन्द्र और अग्नि इन दोनों का (वृणे) वरण=स्वीकार करता हूँ । (ता) वे दोनों (इह) इस यज्ञ में (सोमस्य) सोम के पान से (तृम्पताम्) तृप्त हों ॥

यह ऐन्द्राग्न आज्य है और "यह प्रातः सवन समाप्त हुआ" ऐसा विवरणकार का मत है ॥ "ये प्रातः सवन में गायत्र साम से गाये हुए चार आर्यस्तोत्र कहाते हैं" मीमां० जै० ६ । ४।३ "जो कि आजि को प्राप्त होते हैं यह आज्यों का आज्यत्व है" यह आज्य का निर्वचन ताण्ड्यमहाब्राह्मण ७ । २ में देखिये ॥ इन आज्यस्तोत्रों में पञ्चदशनात्मक स्तोम बनता है जिसका बताने वाला ताण्ड्यब्राह्मण २।४।५।६ में देखिये ॥ यह स्तोम द्वितीय पृष्ठ्य भी कहाता है ॥ ऋ०३ । १२ । ३ में भी ॥१२॥

इति प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ॥२॥

तृतीयखण्डस्य प्रथमतृचे प्रथमा

३ १ २ ३१ २ ३ १ २
६७२—उच्चा ते जातमन्धसो दिवि सद्भूम्या ददे ।
३ २ ३ १ २
उग्रं शर्म महि श्रवः ॥१॥

इसकी व्याख्या (४६७) ऋचा के तुल्य है ॥१॥

२ ३ १ २ ३ १ २३ १२ ३१२
६७३—स न इन्द्राय यज्यवे वरुणाय मरुद्भ्यः ।
३ १ २र
वरिवोवित्परि स्रव ॥२॥

इसकी व्याख्या (५१२) मन्त्र पर देखिये ॥२॥

३ १ २र ३२उ ३ २ ३ १ २
६७४—एना विश्वान्यर्य आ द्युम्नानि मानुषाणाम् ।
१ २
सिषासन्तो वनामहे ॥३॥

इसका व्याख्यान भी (५१३) में आ गया । इस सूक्त में "आमहीयव" से लेकर "सौभित्र" तक २४ साम निकले हैं ॥३॥

अथ प्रगाथे द्वितीयसूक्ते प्रथमा

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र
६७५—पुनानः सोम धारयापो वसानो अर्षसि ।
१ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
आ रत्नधा योनिमृतस्य सीदस्युत्सो देवो हिरण्ययः ॥१॥

भावार्थः—इसकी व्याख्या (५१२) ऋचा पर देखिये ॥ प्रगाथ का अर्थ मीमां० ६ । ३ । ६ अधि० १ वर्ण चिह्न पर माधवाचार्य की व्याख्यानुसार संस्कृत-भाष्य में देखिये ॥४॥

अथ द्वितीयायाः—अमहीयुरांगिरस ऋषिः । सोमो देवता । बृहती छन्दः ॥

३ १ २र ३ १ २र ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
६७६—दुहान ऊधर्दिव्यं मधु प्रियं प्रत्नं सधस्थमासदत् ।
३ १ २ ३ १ २ ३क २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २
आपृच्छ्यं धरुणं वाज्यर्षसि नृभिर्धौतो विचक्षणः ॥२॥

भावार्थः—(विचक्षणः) चतुर बुद्धिमान् (धौतः) शुद्धान्तःकरण (वाजी) योगबलयुक्त पुरुष, (ऊधः) आनन्द के स्रोत परमात्मा से (दिव्यम्) अलौकिक (प्रियम्) प्यारे (प्रत्नम्) सनातन (सधस्थम्) वास्तव में सदा साथ रहने वाले (मधु) माधुर्य रस को (दुहानः) दुहता हुआ (आसदत्) पाता है । फिर (आपृच्छ्यम्) बूझने योग्य (धरुणम्) धारक परमात्मा को (नृभिः) योग सिखाने वाले नेताओं के साथ वह शिष्य (अर्षसि) प्राप्त होता है ॥

यद्वा—(विचक्षणः) चतुर (धौतः) स्नानादि से शुद्ध शरीर वाला (वाजी)

हव्य भरा युक्त यजमान, (ऊधः) सोमलता से (दिव्यम्) उत्तम (प्रियम्) प्यारे (प्रत्नम्) पुराने पके हुए (सधस्थम्) लता के साथ रहने वाले (आपृच्छ्यम्) उसके जानने वालों से बूझने योग्य (धरुणम्) स्थिरता करने वाले (मधु) मधुर रस को (दुहानः) निचोड़ता हुआ (आसदत्) पाता और (नृभिः) ऋत्विजों सहित (अपंसि) हवन करता है ।।

रौरव से लेकर कण्वबृहत् पर्यन्त ४२ साम इस सूक्त में से निकले हैं ।। ऋ० ९ । १०७ । ५ में (धूतः) पाठ है ।। गौओं के वाम को ऊधः कहते हैं क्योंकि रसमें से दूध दुहा जाता है । इसी प्रकार यहां परमात्मा को आनन्द के स्रोत होने से तथा सोमलता को रस का स्रोत होने से ऊधः कहा है ।।५।।

अथ तृतीयतृचस्य—अमहीयुराङ्गिरस ऋषिः । सोमो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ।।

६७७—प्र तु द्रव परि कोशं नि षीद
नृभिः पुनानो अभि वाजमर्ष ।
अश्वं न त्वा वाजिनं मर्जयन्तो-
ऽच्छा बर्ही रशनाभिर्नयन्ति ।।१।।

इसकी व्याख्या (५२३) मन्त्र में देखिये ।।६।।

अथ द्वितीया

६७८—स्वायुधः पवते देव इन्दु-
रशस्तिहा वृजना रक्षमाणः ।
पिता देवानां जनिता सुदक्षो
विष्टम्भो दिवो धरुणः पृथिव्याः ।।२।।

भावार्थः—(**स्वायुधः**) नजस्त्र व स्रुक् सम्पातादि अच्छे यज्ञायुधों वाला वा सुशासन (**देवः**) प्रकाशमान (**अशस्तिहा**) दुःखविनाशक (**वृजना**) उपद्रवों से (**रक्षमाणः**) बचाता हुआ (**देवानाम्**) इन्द्रियों का (**जनिता**) उत्पादक और (**पिता**) रक्षक (**सुदक्षः**) उत्तम बलयुक्त पुष्टिदायक (**दिवः**) अन्तरिक्षलोकस्थ पदार्थों का (**विष्टम्भः**) थाम्भने वाला (**पृथिव्याः**) पृथिवीस्थ पदार्थों वा जनों का (**धरुणः**) धरन=धारण करने वाला (**इन्दुः**) सोम वा ईश्वर (**पवते**) अग्नि में होमा हुआ जाता वा पवित्र करता है ॥

मनु० ३ । ७६ का प्रमाण और ऋ० ६ । ८७ । २ का पाठान्तर संस्कृत-भाष्य में देखिये ॥७॥

अथ तृतीया

२ ३ १२ ३ १ २र

६७६—**ऋषिर्विप्रः पुर एता जनाना-**

३ १ २र ३ २ ३ १ २

मृभुर्धीर उशना काव्येन ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २

स चिद्विवेद निहितं यदासा-

३ २ २ ३ २ ३ १ २

मपीच्यां३गुह्यं नाम गोनाम् ॥३॥

भावार्थः—(**ऋषिः**) वेदों का उपदेशक (**विप्रः**) मेधावी (**जनानां पुर-एता**) मार्ग दिखाने से प्राणियों का अगुवा (**ऋभुः**) सर्वेश्वर (**धीरः**) सबका धारक दृढ़ अचल (**उशना**) सर्वहितेच्छु (**चित्**) चेतनस्वरूप (**सः**) वह परमात्मा (**काव्येन**) वेद द्वारा (**विवेद**) जतलाता है (**यत्**) कि (**आसाम्**) इन (**गोनाम्**) किरणों में (**अपीच्यम्**) निर्णय किया हुआ और छिपा हुआ (**गुह्यम्**) अज्ञानियों से अज्ञात (**नाम**) प्रसिद्ध सोमनामक वस्तु (**निहितम्**) निधि होकर वर्त्त-मान है ॥

निघण्टु ३ । १५ ॥ ३ । २५ ॥ १ । ४ निरुक्त ४ । २५ उणादि ४ । १२० ॥ २ । २४ ॥ ४ । २३६ अष्टाध्यायी ७ । १ । ५७ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये । यह तीसरा मध्यन्दिन पवमान है ॥ "मध्यन्दिन पवमान कहा गया" यह विवरणकार के मत से श्री सत्यव्रत जी का कथन है ॥ ऋ० ६ । ८७ । ३ में भी ॥ ८ ॥

इति उत्तरार्चिके प्रथमाध्यायस्य तृतीयः खण्डः ॥३॥

अथ चतुर्थखण्डे प्रथमप्रगाथस्य–वसिष्ठ ऋषिः । इन्द्रोदेवता । बृहती छन्दः ॥

६८०—अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः ।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥१॥

इसकी व्याख्या (२३३) मन्त्र में की गई ॥१॥

अथ द्वितीया

६८१—न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते ।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे ॥२॥

भावार्थः—(**मघवन्**) यज्ञवाले ! (**इन्द्र**) परमेश्वर ! (**त्वावान्**) आप के तुल्य (**अन्यः**) और कोई (**दिव्यः**) द्युलोकस्थ (**न**) नहीं है (**न**) और न (**पार्थिवः**) पृथिवीलोकस्थ है (**न**) न तो (**जातः**) पूर्व उत्पन्न हुआ और (**न**) न (**जनिष्यते**) आगे उत्पन्न होगा (**अश्वायन्तः**) प्राण चाहते हुए (**वाजिनः**) अन्न वा बल चाहते हुए और (**गव्यन्तः**) इन्द्रियां चाहते हुए हम (**त्वा**) आपको (**हवामहे**) स्तुति प्रार्थना करके पुकारते हैं ॥

श्री सत्यव्रत जी विवरणकार के मत से कहते हैं कि यह "रथन्तर पृष्ठ" कहा गया ॥ ऋ० ७ । ३२ । २३ में भी ॥२॥

अथ द्वितीयस्य तृचसूक्तस्य–वामदेव ऋषिः । सर्वा देवताः । गायत्री छन्दः ॥

६८२—कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा ।
कया शचिष्ठया वृता ॥१॥

इसका व्याख्यान (१६९) में हो चुका है ॥३॥

अथ द्वितीया

६८३—कस्त्वा सत्यो मदानां मंहिष्ठो मत्सदन्धसः ।
दृढा चिदारुजे वसु ॥२॥

भावार्थः—परमात्मा राजा को उपदेश करता है कि - हे राजन् ! इन्द्र ! (**इदा**) दृढ (**चित्**) भी (**वसु**) शत्रु के वास करने की जगह दुर्गादि के (**आरुजे**) तोड़ने को (**मदानाम्**) हृष्टिकारक पदार्थों में (**मंहिष्ठः**) उत्तम (**सत्यः**) सच्चा हृष्टिकारक (**कः**) क्या पदार्थ (**त्वा**) तुझको (**मत्सत्**) हृष्ट करे ? उत्तर—(**अन्धसः**) अन्न का [निघं० २ । ७] ॥

अर्थात् राजा वा राजपुरुषों को शत्रु के दुर्गादि तोड़ने के योग्य हृष्टि-पुष्टि की प्राप्ति के लिये केवल अन्न का ही सच्चा मद=हर्ष ग्रहण करना चाहिये, कोई अन्य मद्यादि वस्तु नहीं ॥ पूर्व मन्त्र में जो परमात्मा से प्राण और इन्द्रियों का बल पुरुषार्थ मांगा गया था उसका यह उत्तर परमात्मा की ओर से है कि अन्न से ही यह सब कुछ प्राप्त करो ॥

ऋ० ४ । ३१ । २ में भी ॥४॥

अथ तृतीया

६८४—अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम् ।
शतं भवास्यूतये ॥३॥

भावार्थः—(**नः**) मेरी सृष्टि में स्थित (**जरितॄणाम्**) बूढ़े निर्बल और (**सखीनाम्**) तुझ से शत्रुभाव न करके मित्रभाव रखने वालों को (**शतम्**) बहुत (**सु**) अच्छे (**अभि**) सर्वतः (**ऊतये**) रक्षा के लिये हे राजन् ! तू (**अविता**) रक्षक (**भवासि**) हो ॥

विवरण के मत से श्री सत्यव्रत कहते हैं कि यह "मैत्रावरुण पृष्ठ" कहाता है ॥ ऋग्वेद ४ । ३१ । ३ में "ऊतिभिः" पाठ है ॥५॥

अथ प्रगाथस्य तृतीयसूक्तस्य—नोधाः काक्षीवत ऋषिः ।
इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

६८५—तं वो दस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः ।
अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे ॥१॥

इसकी व्याख्या (२३६) में आ चुकी ॥६॥

अथ द्वितीया

६८६—द्युक्षं सुदानुं तविषीभिरावृतं गिरिं न पुरुभोजसम् ।
क्षुमन्तं वाजं शतिनं सहस्रिणं मक्षू गोमन्तमीमहे ॥२॥

भावार्थः—हे इन्द्र ! परमेश्वर ! (**द्युक्षम्**) प्रकाश वाले (**सुदानुम्**) सुन्दरदानी (**तविषीभिः**) सेनाओं से (**आवृतम्**) युक्त भरपूर (**गिरिं न**) मेघ के समान (**पुरुभोजसम्**) बहुत पालन करने वाले (**क्षुमन्तम्**) अन्न वाले (**शतिनं वाजम्**) बहुबलयुक्त (**सहस्रिणं गोमन्तम्**) बहुत गौ आदि पशुयुक्त और उनके पालक राजा को (**मक्षू**) शीघ्र (**ईमहे**) हम आपसे मांगते हैं ॥

निघण्टु २ । ६ ॥ १ । १० ॥ २ । ७ ॥ ३ । १६ उणादि ३।३२ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ८ । ८८ । २ में भी ॥७॥

अथ चतुर्थसूक्ते प्रगाथे—प्रथमा

६८७—तरोभिर्वो विदद्वसुमिन्द्रं सबाध ऊतये ।
बृहद्गायन्तः सुतसोमे अध्वरे हुवे भरं न कारिणम् ॥१॥

इसकी व्याख्या (२३७) में हो चुकी है ॥८॥

अथ तृतीयायाः—कलिः प्रागाथ ऋषिः । इन्द्रो देवता । निचृत्पंक्तिश्छन्दः ॥

६८८—न यं दुध्रा वरन्ते न स्थिरा मुरो मदेषु शिप्रमन्धसः ।
य आदृत्या शशमानाय सुन्वते दाता जरित्र उक्थ्यम् ॥२॥

भावार्थः—(**यम्**) जिस (**उक्थ्यम्**) स्तुतियोग्य (**शिप्रम्**) जैसे नासिका सुगन्ध-दुर्गन्ध का ज्ञान कराती है तद्वत् इष्ट-अनिष्ट का बोध कराने वाले इन्द्र परमात्मा को (**न स्थिराः**) चञ्चल चित्त वाले (**दुध्राः**) दुर्धर (**मुरः**) मनुष्य (**न**) नहीं (**वरन्ते**) स्वीकार करते और (**यः**) जो परमात्मा (**आदृत्य**) आदर पूर्वक (**सुन्वते**) यज्ञार्थ सोम का अभिषव करने वाले (**शशमानाय**) गान रहित शस्त्र मन्त्रों से स्तुति करने वाले और (**जरित्रे**) गानयुक्त स्तोत्रों से स्तुति करने वाले के लिये (**अन्धसः**) अन्नादि का (**दाता**) देने वाला है [उसको पुकारता हूँ] यह पूर्व मन्त्र से सम्बन्ध जानिये ॥

निरुक्त ६ । १७ और निघण्टु ३ । १६ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ संहिता में "मदेषु, शिप्रम्" ऐसा पाठ है और पदपाठकार ने भी इसी प्रकार पदच्छेद किया है, परन्तु सायणाचार्य और उनका विना सोचे अनुकरण करने वाल। में ऋग्वेद ८ । ६६ । २ में "मदे, सुशिप्रम्" पाठ है उसी के अनुसार यहाँ भी मूल से विरुद्ध की व्याख्या कर दी है ॥९॥

इति प्रथमाध्याये चतुर्थः खण्डः ॥४॥

उक्तो माध्यंदिनः पवमानः ॥

अथ पञ्चमखण्डे प्रथमसूक्ते तृचे—प्रथमा

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
६८९—**स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया ।**
१ २ ३ १ २ ३ २
इन्द्राय पातवे सुतः ॥१॥

इसकी व्याख्या (४६८) में देखिये ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—मधुच्छन्दाः ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

३ ६ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २
६९०—**रक्षोहा विश्वचर्षणिरभि योनिमयोहते ।**
१ २ ३ २ ३ १ २
द्रोणे सधस्थमासदत् ॥२॥

भावार्थः—(**रक्षोहा**) आयु आदि के दुर्विकार रूप राक्षसों का नाशक (**विश्वचर्षणिः**) विश्व में फैलने वाला सोम (**अयोहते**) सुवर्णमय (**द्रोणे**) द्रोण कलश में (**सधस्थम्**) यज्ञरूप (**योनिम्**) घर को (**अभि**) व्याप कर (**आसदत्**) विद्यमान होता है ॥

निरुक्त ५ । २४ निघण्टु १ । २ ॥ ३ । ३० के प्रमाण और ऋ० ९ । १ । २ के पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ तृतीयायाः—ऋष्यादिकं पूर्ववत् ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
६९१—**वरिवोधातमो भुवो मंहिष्ठो वृत्रहन्तमः ।**
२ ३ १ २ ३ २ १
पर्षि राधो मघोनाम् ॥३॥

भावार्थः—सोम ! (**वरिवोधातमः**) श्रेष्ठ पेय पदार्थों में उत्तम कक्षा का (**मंहिष्ठः**) सत्कार=आदर के योग्य (**वृत्रहन्तमः**) दुष्ट शत्रुनिवारण के लिये अत्यन्त सामर्थ्यदायक (**भुवः**) है और (**मघोनाम्**) यज्ञ करने वालों के (**राधः**) धन आदि ऐश्वर्य को (**पर्षि**) पूरित करता है ।। ऋग्वेद ९ । १ । ३ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ।।३।।

अथ प्रगाथरूपे द्वितीयसूक्ते प्रथमा

१२ ३ १२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२
६९२—पवस्व मधुमत्तम इन्द्राय सोम क्रतुवित्तमो मदः ।
१ २ ३ १ २ ३ १२
महि द्युक्षतमो मदः ।।१।।

इसकी व्याख्या (५७८) में कर आये हैं ।।१।।

अथ द्वितीयायाः— गौरिवीतिर्ऋषिः । सोमो देवता । निचृद्बृहती छन्दः ।।

१ २ २ १ २३ २ ३ २३ २ ३ २ ३ १ २
६९३—यस्य ते पीत्वा वृषभो वृषायतेऽस्य पीत्वा स्वर्विदः ।
२ ३ १ २ ३क २र ३ २ ३ ३ २ ३ १ २
स सुप्रकेतो अभ्यक्रमीदिषोऽच्छा वाजं नैतशः ।।२।।

भावार्थः (**वृषभः**) वीर्यवान् पुरुष वा इन्द्र [वर्षा करने वाला विद्युत्] (**यस्य ते**) जिस तुझ सोम का (**पीत्वा**) पान करके (**वृषायते**) वृष के तुल्य पौरुष करता वा सिञ्चन करता है (**अस्य स्वर्विदः**) इस सुखदायक का (**पीत्वा**) पान करके (**सुप्रकेतः**) सुन्दर बुद्धियुक्त वा प्रकाशयुक्त (**सः**) वह पुरुष या इन्द्र (**इषः**) अन्नों वा खेतियों को (**अभ्यक्रमीत्**) सब ओर से प्राप्त होता वा पकाता है । (**न**) जैसे (**एतशः**) अश्व (**वाजम्**) बल को (**अच्छ**) प्राप्त होता अर्थात् बलिष्ठ हो जाता है ।।

सोमपान से पुरुष का पुरुषत्व बढ़ता है, उससे वह सन्तानोत्पत्ति में भले प्रकार समर्थ होता है । परन्तु मद्यपान के समान बुद्धि भ्रष्ट नहीं होती किन्तु सुधरती है । इसमें मादकता (नशा) नहीं है । इस सुखदायक पदार्थ के सेवन से अन्न पचाने का सामर्थ्य बढ़कर बल बढ़ता है । यह पुरुष पक्ष का भाव है । दूसरे इन्द्रपक्ष में—होमयज्ञ से तृप्त हुआ इन्द्र भले प्रकार बलिष्ठ होता और वृष्टि आदि पुष्कल करता है । यह भाव है ।।

निघण्टु १ । १४ का प्रमाण और ऋ० ९ । १०८ । २ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ।।२।।

अथ तृचात्मके तृतीयसूक्ते प्रथमा

६६४—इन्द्रमच्छ सुता इमे वृषणं यन्तु हरयः।
श्रुष्टे जातास इन्दवः स्वर्विदः ॥१॥

इसकी व्याख्या (५६६) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—अग्निश्चाक्षुष ऋषिः । पवमानः सोमो देवता ।
उष्णिक्छन्दः ॥

६६५—अयं भराय सानसिरिन्द्राय पवते सुतः।
सोमो जैत्रस्य चेतति यथा विदे ॥२॥

भावार्थः—(**सानसिः**) सेवनीय (**सुतः**) अभिषुत किया हुआ (**अयं सोमः**) यह सोम (**भराय**) संग्राम वा मेघविजय के लिये (**इन्द्राय**) राजा वा विद्युत् के लिये (**पवते**) प्राप्त होता है (**यथा**) जिस प्रकार (**विदे**) चेतन ज्ञानी के लिये चेतना करते हैं तद्वत् (**जैत्रस्य**) जयशील इन्द्र को (**चेतति**) उत्तेजित करता है ॥ ऋ० ९ । १०६ । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीयायाः—ऋषिदेवते चोक्ते । निचृदुष्णिक्छन्दः ॥

६६६—अस्येदिन्द्रो मदेष्वा ग्राभं गृभ्णाति सानसिम्।
वज्रं च वृषणं भरत्समप्सुजित् ॥३॥

भावार्थः—(**इन्द्रः**) बिजुली वा राजा (**अस्य**) इस सोम के (**इत्**) ही (**मदेषु**) हर्षों के होने पर (**सानसिम्**) सेवनीय (**ग्राभम्**) दाव को (**आ गृभ्णाति**) सर्वतः ग्रहण करता है । (**च**) और (**अप्सुजित्**) अन्तरिक्ष में, वा युद्धकर्म में जीतने वाला पूर्वोक्त इन्द्र=बिजुली वा राजा (**वृषणम्**) वृष्टिकारक, वा शत्रुओं पर प्रहारों की वर्षा करने वाले (**वज्रम्**) आकाश में दीखने वाले धनुष् चिह्न को, वा शस्त्रास्त्रसमूह को (**संभरत्**) अच्छे प्रकार धारण करता है ॥

निघण्टु १ । ३ ॥ २ । १ के प्रमाण और ऋ० ९ । १०६ । ३ का पाठान्तर संस्कृत भाष्य में देखिये ॥३॥

अथ चतुर्थसूक्ते प्रथमा

६६७—पुरोजिती वो अन्धसः सुताय मादयित्नवे ।
अपश्वानं श्नथिष्टन सखायो दीर्घजिह्व्यम् ॥१॥

इसकी व्याख्या (५४५) में देखिये ॥

अथ द्वितीयायाः—अन्धीगुः श्यावाश्विर्ऋषिः । सोमः पवमान देवता ॥
निचृद्गायत्री छन्दः ॥

६६८—यो धारया पावकया परिप्रस्यन्दते सुतः ।
इन्दुरश्वो न कृत्व्यः ॥२॥

भावार्थः—पूर्वोक्त सोम का विशेष वर्णन करते हैं कि - (**यः**) जो (**सुतः**) अभिषुत किया हुआ (**इन्दुः**) सोम (**कृत्व्यः**) सुशिक्षित (**अश्वो न**) अश्व वा विद्युत् के समान (**पावकया**) पवित्र करने वाली (**धारया**) धारा से (**परि प्रस्यन्दते**) सब ओर फैलता वा वेग से जाता है ।

ऋ० ६ । १०१ । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीयायाः—देवता ऋषिश्च पूर्वोक्तौ । विराड्गायत्री छन्दः ॥

६६९—तं दुरोषमभी नरः सोमं विश्वाच्या धिया ।
यज्ञाय सन्त्वद्रयः ॥३॥

भावार्थः—(**तम्**) पूर्वोक्त विशेषणों वाले (**यज्ञाय दुरोषम्**) यज्ञ के लिये कठिनाई से फुंकने वाले (**सोमम्**) सोमरस को (**नरः**) यज्ञ के नेता ऋत्विज् लोग (**विश्वाच्या**) विश्वव्यापिनी (**धिया**) क्रिया [होम] से (**अभि**) सब ओर [फैलावें] (**अद्रयः सन्तु**) जिससे मेघ होवें ॥

घृतादि की अपेक्षा गीला सोमरस कठिनाई से फुंकता है, इसलिये उसका "दुरोषम्" विशेषण प्रयुक्त किया गया है ॥ ऋ० ६ । १०१ । ३ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥३॥

अथ पञ्चमसूक्ते प्रथमा

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
७००—अभि प्रियाणि पवते चनोहितो
१ २ ३ २उ ३ २३ १२
नामानि यह्वो अधि येषु वर्धते ।
१ २ ३ २ ३१उ ३
आ सूर्यस्य बृहतो बृहन्नधि
२३ १ २ ३२
रथं विश्वञ्चमरुहद्विचक्षणः ॥१॥

इसकी व्याख्या (५५४) में आ गई ॥

अथ द्वितीयायाः—आन्धीगव ऋषिः । सोमो देवता । पादनिचृज्जगती छन्दः ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १२ ३२
७०१—ऋतस्य जिह्वा पवते मधु प्रियं
३ १ २र ३ २ ३ १ २र
वक्ता पतिर्धियो अस्या अदाभ्यः ।
१ २ ३ २ ३१ २३ २
दधाति पुत्रः पित्रोरपीच्यां३
१ २ ३ २ ३१ २ ३ २ ३ २
नाम तृतीयमधि रोचनं दिवः ॥२॥

भाषार्थः—इस मन्त्र में सोम को सुपुत्र के समान यशस्कर होने से वर्णन किया गया है कि—(**ऋतस्य**) सत्यभूत यज्ञ की (**जिह्वा**) जिह्वा=अग्नि की लपट से (**वक्ता**) चटाचट शब्द करने वाला, (**अस्याः धियः पतिः**) इस यज्ञ कर्म का पालक (**अदाभ्यः**) नष्ट न करने योग्य सोम (**प्रियम्**) प्यारे (**मधु**) रस को (**पवते**) प्राप्त कराता है । [इससे] (**दिवः**) द्युलोक के (**अधिरोचनम्**) अधिकता से प्रकाश (**नाम**) ख्याति=यश को (**दधाति**) धारण करता है । जैसे—(**पुत्रः**) बेटा (**पित्रोः**) माता पिता के बीच (**तृतीयम्**) तीसरे (**अपीच्यम्**) छिपे हुए नाम को धारण करता है ॥

जिस प्रकार माता का एक नाम, पिता का दूसरा और पुत्र का तीसरा जो कि विख्यात होने से पूर्व अन्य साधारणों को ज्ञात नहीं है, होता है । फिर जब पुत्र अपने गुणों को जतलाता हुआ प्रकाश करता है, तब प्रसिद्ध होता है । इसी प्रकार अन्तरिक्ष लोक और पृथिवी लोक का पुत्रतुल्य यह सोम भी सोमयाग से पूर्व ऐसा

होता है, जिसके गुणों की महिमा लोगों को प्रकट नहीं होती, परन्तु सोमयाग में होम किया जाता है, तब अन्तरिक्ष और पृथिवी के मध्य में प्रकाशमान अपने तीसरे नाम को प्राप्त हुआ प्रकाशित होता है। यह अग्नि की लपट से गीला होने के कारण चट-चटाता है, तो श्रोताओं को ऐसा प्रिय प्रतीत होता है, जैसा बालक का ललित भाषण सुखदायक होता है ॥

ऋ० ८ । ७५ । २ में रोचने=रोचनं पाठ है ॥२॥

अथ तृतीयायाः—ऋषिर्देवता चोक्ते एव । निचृज्जगती छन्दः ॥

७०२—अव द्युतानः कलशाँ अचिक्रदन्नृभिर्येमाणः
कोश आ हिरण्यये । अभी ऋतस्य दोहना
अनूषताधि त्रिपृष्ठ उषसो वि राजसि ॥३॥

भावार्थः—फिर सोम का वर्णन है कि—(**द्युतानः**) प्रकाशमान, (**नृभिः**) ऋत्विजों द्वारा (**कलशान्**) कलशों में से (**अव येमानः**) लौटा जाता हुआ—निकाला जाता हुआ, (**हिरण्यये कोशे**) सुवर्णमय कोश स्रुवादि में (**आ**) चारों ओर से विराजमान, (**त्रिपृष्ठे अधि**) प्रातः सवनादि तीनों सवनों में अधिकृत सोम, (**उषसः**) सूर्य किरणों को (**विराजसि**) विराजित करता है (**अचिक्रदत्**) और शब्द करता है [उस सोम की] (**दोहनाः**) दुहने वाले ऋत्विज् (**अनूषत**) प्रशंसा करते हैं ॥

"सोमकण्डन के पत्थर मानो बछड़े हैं और कण्डन करने वाले ऋत्विज् मानो दुहने वाले हैं" यह तैत्तिरीयक ब्राह्मण में ऋत्विजों को दोग्धा बताया गया है [सायण] अन्य व्याकरण के प्रमाण और ऋ० ९ । ७५ । ३ के पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥३॥

अथ षष्ठे खण्डे प्रगाथस्य प्रथमसूक्तस्य—अग्निर्वैश्वानर ऋषिः । अग्निर्देवता । बृहती छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

७०३—यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरागिरा च दक्षसे ।
प्र प्रवयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम् ॥१॥

इसकी व्याख्या ३५ वीं में देखिये ॥१॥

अथ द्वितीया

७०४—ऊर्जो नपातं स हिनायमस्मयु र्दाशेम हव्यदातये ।
भुवद्वाजेष्वविता भुवद्वृध उत त्राता तनूनाम् ॥२॥

भाषार्थः—(सः) वह प्रसिद्ध अग्नि, वा परमेश्वर (अस्मयुः) जाठराग्न्यादि भेद से वा भक्ति देखकर तुष्ट हो, हमको चाहने वाला (यम्) जिस (ऊर्जो नपातम्) बल के न गिराने वाले का [हम (प्रशंसिषम् प्रशंसामः) वर्णन करते हैं, यह पूर्व मन्त्र से अनुवृत्ति है] और (हव्यदातये) वायु आदि देव निमित्त हव्य पहुँचाने वा कर्मफल पहुंचाने के लिये (दाशेम) हविष्य वा आत्मा का अर्पण करते हैं । वह अच्छे प्रकार हवन किया हुआ अग्नि वा ध्यान किया हुआ परमात्मा (वाजेषु) अन्न जो भोजन किये गये उनके पच्यमान होते हुए (अविता) रक्षक (भुवत्) हो, (वृधे) शरीरादि की वृद्धि के लिए (भुवत्) हो, (उत) और (तनूनाम्) देहों का (त्राता) रक्षक हो ।

भावार्थः— जो मनुष्य अग्नि का भले प्रकार से उपयोग करना जानते हैं और होमादि में काम में लाते हैं वा परमेश्वर की उपासना करते हैं, उनका बल क्षीण नहीं होता, उनके अन्न का पचना, शरीरादि की वृद्धि और रक्षा होती है ।।

ऋ० ६ । ४८ । २ में भी ।।२।। [२०]

अथ द्वितीयसूक्तस्य शाकामश्व ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः ।।

तत्र प्रथमा

७०५—एह्यू षु ब्रवाणि तेऽग्न इत्थेतरा गिरः ।
एभिर्वर्द्धास इन्दुभिः ॥१॥

इसकी व्याख्या (७) पर की जा चुकी है ।।१।।

अथ द्वितीया

७०६—यत्र क्व च ते मनो दक्षं दधस उत्तरम् ।
तत्र योनिं कृणवसे ॥२॥

भावार्थः—हे अग्ने ! [पूर्व मन्त्र से अनुवृत्ति] परमात्मन् (**ते**) आप की (**मनः**) इच्छा [जीवात्मा को कर्मानुकूल फल देने की रुचि] (**यत्र, क्व च**) जिस किसी लोक में वा देश में होती है (**तत्र**) उसी देश वा लोक में (**योनिम्**) मनुष्यादि योनि (**कृणवसे**) जीवों को नियत कर देते हैं (**उत्तरम्**) उत्तम और (**दक्षम्**) बल भी (**दधसि**) धारण करते हो ॥

प्राणिजन कर्मानुसार परमेश्वर के वश में रहकर अपने किये कर्मों के भोगार्थ उस-उस योनि को प्राप्त होते हैं यह भाव है ॥ यद्यपि परमात्मा सर्वेन्द्रिय विवर्जित होने से मन रहित है तथापि सर्वेन्द्रिय गुणाभास० इत्यादि श्वेताश्वतरोपनिषत् के वचनानुसार मन शब्द का प्रयोग शुद्ध है कुछ दोष नहीं ॥

ऋग्वेद ६ । १६ । १७ पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ।

अथ तृतीया

१ २र ३१ २ ३१ २र
७०७—न हि ते पूर्तमक्षिपद्भुवन्नेमानां पते ।
२ ३ १ २
अथा दुवो वनवसे ॥३॥

भावार्थः—पूर्व मन्त्र से [अग्ने] हे ज्ञानप्रकाशक ! (**ते**) आप का (**पूर्तम्**) पूर्ण और पूरक तेज (**अक्षिपत्**) हमारी आंख आदि ज्ञानेन्द्रियों का पतन कराने वाला (**नहि**) न (**भुवत्**) होवे, किन्तु ज्ञान का वर्धक होवे (**नेमानाम् पते**) हे हम अल्पज्ञों के पालक वा स्वामिन् ! (**अथ**) इस प्रयोजन के लिये (**दुवः**) हमारी की हुई भक्ति को (**वनवसे**) स्वीकार कीजिये ॥

(दुवः) यह परिचर्या भक्ति सेवा का नाम है । निघं० ३ । ५ ॥ ऋ० ६ । १४ । १८ में भी ॥३॥ [२१]

अथ प्रगाथस्य तृतीयसूक्तस्य सौभरिऋषिः । इन्द्रो देवता । ककुप्छन्दः ।

तत्र प्रथमा

३२३ १ २ ३२३ ३ १२ ३ १२
७०८—वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद्भरन्तोऽवस्यवः ।
१ २ ३ १ २
वज्रिं चित्रं हवामहे ॥१॥

इसकी व्याख्या (४०८) पर हो चुकी ॥

अथ द्वितीया

७०६—उप त्वा कर्मन्नूतये स नो युवोग्रश्चक्राम यो धृषत् ।
त्वामिध्यवितारं ववृमहे सखाय इन्द्र सानसिम् ॥२॥

भावार्थः—(**इन्द्र**) हे राजन् ! हम (**कर्मन्**) व्यवहार [मुकद्दमे] में (**त्वा**) आपके (**उप**) शरण में आते हैं । (**यः**) जो आप (**धृषत्**) हम पर अन्याय करने वालों का दण्डादि से दमन करते हैं (**सः**) वह आप (**उग्रः**) असह्य तेजस्वी (**युवा**) वीर पुरुष दृढांग (**नः**) हमारी (**ऊतये**) रक्षा के लिये (**चक्राम**) दौरा करते हैं । अतः (**सखायः**) हम एक दूसरे के मित्र बनते हुए (**सानसिम्, अवितारम्, त्वाम्, इत् हि**) संभजनीय रक्षक आप का, ही (**ववृमहे**) [राज्य के लिये] वरण करते हैं ॥

प्रजावर्ग को चाहिए कि राजगद्दी के लिये ऐसे पुरुष का वरण करें जो कि व्यवहारों को सुने, देखे, दृढाङ्ग और दृढव्यवसाय हो, जिसकी उग्रता शत्रुओं को असह्य हो, जो राजभक्तों का सेवनीय और सबका रक्षक हो ॥

अष्टाध्यायी २ । ४ । ७३ ॥ ३ । १ । ८५ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ८ ॥ २१ । २ में भी ॥२॥

अथ तृचस्य चतुर्थसूक्तस्य—नृमेध ऋषिः । इन्द्रो देवता । ककुप्छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

७१०—अधा हीन्द्र गिर्वण उप त्वा काम ईमहे ससृग्महे ।
उदेव ग्मन्त उदभिः ॥१॥

इसकी व्याख्या (४०६) में हो चुकी ॥

अथ द्वितीया

७११—वार्ण त्वा यव्याभिर्वर्धन्ति शूर ब्रह्माणि ।
वावृध्वांसं चिदद्रिवो दिवेदिवे ॥२॥

भावार्थः—(**अद्रिवः**) हे वज्रादिधारी ! (**शूर**) वीर ! राजन् !

(न) जैसे (यव्याभिः) नदियों से [निघं० १ । १३] वा नहरों से (वाः) जल को (वर्धन्ति) बढ़ाते हैं (चित्) इसी प्रकार (ब्रह्माणि) वेदोक्तकर्म वा वेद (वावृध्वांसम्) वृद्धि चाहते हुए (त्वा) आपको (दिवे दिवे) प्रतिदिन बढ़ाते हैं । इसलिये आपको वेदोक्त कर्मानुष्ठान करना चाहिए । यह भाव है ।। ऋ० ८ । ९८ । ८ में भी ।।२।।

अथ तृतीया

७१२—युञ्जन्ति हरी इषिरस्य गाथयोरौ रथ उरुयुगे वचोयुजा ।
इन्द्रवाहा स्वर्विदा ।।३।।

इति प्रथमोऽध्यायः ।।

भावार्थः—(इषिरस्य) कहीं जाना चाहते हुए राजा के (उरु युगे, उरौ, रथे) बड़े जुए वाले, रथ में (वचोयुजा, स्वर्विदा, इन्द्रवाहा) वचन से ही जुतवाने वाले, सुखदायक, राजवाहन (हरी) घोड़ों को (गाथया) राजा की प्रशंसा के साथ (युञ्जन्ति) सारथि आदि जोतते हैं ।।

ऋ० ८ । ९८ । ९ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ।।३।।

यह श्रीमत्कण्ववंशावतंस पं० स्वामी हजारीलाल के पुत्र
परीक्षितगढ़ (जिला—मेरठ) निवासी तुलसीराम
स्वामीकृत सामवेदभाष्य उत्तरार्चिक में
प्रथमाध्याय समाप्त हुआ ।।१।।

ओ३म्

अथ द्वितीयाध्यायः ॥

तत्र प्रथमे खण्डे, प्रथमे तृचे सूक्ते, प्रथमायाः श्रुतकक्ष ऋषिः। इन्द्रो देवता। अनुष्टुप् छन्दः ॥

७१३—पान्तमा वो अन्धस इन्द्रमभि प्र गायत।
विश्वासाहं शतक्रतुं मंहिष्ठं चर्षणीनाम् ॥१॥

इसकी व्याख्या (१५५) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—ऋषिर्देवता च पूर्ववत्। गायत्री छन्दः ॥

७१४—पुरुहूतं पुरुष्टुतं गाथान्यां३ स सनश्रुतम्।
इन्द्र इति ब्रवीतन ॥२॥

भाषार्थः—हे ऋत्विजो ! तुम (**पुरुहूतम्**) बहुतों से वा बहुत पुकारे हुए (**पुरुष्टुतम्**) बहुत स्तुत किये हुए (**गाथान्यम्**) गान कीर्त्तन करने योग्य (**सनश्रुतम्**) सदा से सनातन भाव से प्रसिद्ध परमात्मदेव को (**इन्द्र इति**) इन्द्र नाम से विख्यात (**ब्रवीतन**) कहो ॥

ऋ० ८। ९२। २ में भी ॥

अथ तृतीयायाः—ऋष्यादय उक्ताः ॥

७१५—इन्द्र इन्नो महोनां दाता वाजानां नृतुः।
महाँ अभिज्ञ्वा यमत् ॥३॥

भाषार्थः—(**इन्द्रः इत्**) परमात्मा ही (**नः**) हमारे लिये (**महोनां**

वाजानाम्) बड़े बलों का (**दाता**) देने वाला है, (**नृतुः**) वही हमारा कर्मानुकूल नचाने वाला है (**महान्**) वही अनन्त (**अभिज्ञु**) घुटनों के बल (**आयमत्**) हमको कर्ममय बन्धनों से बांधता है ॥

ऋ० ८ । ९२ । ३ में भी ॥३॥

अथ द्वितीयस्य तृचसूक्तस्य—वसिष्ठ ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

२ ३ १ २ ३ १ २र १ २
७१६—प्र व इन्द्राय मादनं हर्यश्वाय गायत ।
१ २ ३ १ २
सखायः सोमपाव्ने ॥१॥

इसकी व्याख्या (१५६) में हो चुकी है । १।

अथ द्वितीया

२उ ३ २ ३ १ २ ३२ ३ २उ ३ १ २
७१७—शंसेदुक्थं सुदानव उत द्युक्षं यथा नरः ।
३ २ ३ १ २
चकृमा सत्यराधसे ॥२॥

भावार्थ—(**यथा**) जिस प्रकार (**नरः**) हम कर्मकाण्ड के नायक लोग (**सत्यराधसे, सुदानवे**) सत्य जिसका धन है, जो शोभन दानी है उस इन्द्र=परमात्मा के लिये (**द्युक्षम्**) प्रकाश का साधनभूत (**उक्थम्**) स्तोत्र (**चकृम**) करते हैं (**उत**) ऐसे ही (**शंस**) तू भी उच्चारण कर (**इत्**) पादपूरणार्थ है ॥

अर्थात् मनुष्यों को परस्परोपदेश से परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना उपासना का प्रचार करना चाहिये, जिससे ज्ञानप्रकाश बढ़े ॥

निरु० १ । ६ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ७ । ३१ । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१ २ ३ २उ ३ १ २
७१८—त्वं न इन्द्र वाजयुस्त्वं गव्युः शतक्रतो ।
१ २ ३ १ २
त्वं हिरण्ययुर्वसो ॥३॥

भावार्थः—अब स्तोत्र कहा जाता है—(**इन्द्र**) हे परमेश्वर ! (**त्वम्**) आप (**नः**) हमारे लिये (**वाजयुः**) अन्न की इच्छा वाले और (**शतक्रतो**) हे

अनन्तज्ञान ! (**त्वम्**) आप (**गव्युः**) गौ आदि पशु की इच्छा वाले तथा (**वसो**) हे वास देने वाले ! (**त्वम्**) आप (**हिरण्ययुः**) सुवर्णादि धन चाहने वाले हूजिये ।।

अर्थात् आप हमारे लिये ऐसी इच्छा करें कि हमारे पास अन्न पशु लक्ष्मी आदि सब सुखसामग्री विद्यमान हो ।। व्याकरण का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।।

ऋ० ७ । ३१ । ३ में भी ।।३।।

अथ तृतीयस्य तृचसूक्तस्य—मेध्यातिथिप्रियमेधावृषी । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ।।

तत्र प्रथमा

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
७१९—वयमु त्वा तदिदर्था इन्द्र त्वायन्तः सखायः ।
१ २ ३ १ २
कण्वा उक्थेभिर्जरन्ते ।।१।।

इसकी व्याख्या (१५७) में हो चुकी है ।।१।।

अथ द्वितीया

१ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ २३ १ २
७२०—न घेमन्यदा पपन वज्रिन्नपसो नविष्टौ ।
२उ ३ १ २
तवेदु स्तोमैश्चिकेत ।।२।।

भावार्थः—(**वज्रिन्**) हे दुष्टनिबर्हण ! नियन्तः ! परमेश्वर ! मैं (**अपसः**) कर्मकाण्ड के (**नविष्टौ**) नवीन यज्ञ [आरम्भ] में (**अन्यत्**) आप को छोड़ अन्य की (**न घ ईम्**) नहीं ही (**आपपन**) स्तुति करता हूँ (**उ**) क्योंकि (**तव इत्**) आपके ही (**स्तोमैः**) स्तोत्रों से (**चिकेत**) ज्ञान पाता हूँ ।।

ज्ञानलाभ के लिये मनुष्यों को परमात्मा का परित्याग करके अन्य की स्तुति नहीं करनी चाहिये ।। व्याकरण और निघण्टु ३ । १४ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।। ऋग्वेद ८ । २ । १७ में भी ।।२।।

अथ तृतीया

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २र
७२१—इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति ।
१ २ ३ २ ३ १ २
यन्ति प्रमादमतन्द्राः ।।३।।

भाषार्थः—हे इन्द्र ! परमेश्वर ! (**देवः**) विद्वान् लोग (**सुन्वन्तम्**) अपने साक्षात् कराते हुए आपकी (**इच्छन्ति**) इच्छा करते हैं, और (**स्वप्नाय**) निद्रा के लिये (**न स्पृहयन्ति**) नहीं इच्छा करते। किन्तु (**अतन्द्राः**) निरालस होकर (**प्रमादम्**) अत्यन्तानन्द को (**यन्ति**) प्राप्त होते हैं ॥

अर्थात् परमात्मा का साक्षात्कार चाहने और यत्न करने वालों के निद्रा आलस्यादि तमोगुण दूर हो जाते हैं, निरन्तर आनन्द प्राप्त होता है ॥

अष्टाध्यायी १ । ४ । २६ आदि प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद ८ । २ । १८ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थतृचसूक्तस्य श्रुतकक्ष ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

७२२—इन्द्राय मद्वने सुतं परिष्टोभन्तु नो गिरः ।
अर्कमर्चन्तु कारवः ॥१॥

इसकी व्याख्या (१५८) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

७२३—यस्मिन्विश्वा अधि श्रियो रणन्ति सप्त संसदः ।
इन्द्रं सुते हवामहे ॥२॥

भाषार्थः—(**सप्त**) सात ७ (**संसदः**) योगभूमियों में आसन जमाने वाले पुरुष (**यस्मिन्**) जिस परमेश्वर में (**विश्वाः**) सब (**श्रियः**) लोग लक्ष्मियों को (**अधि रणन्ति**) अधिकता से वर्णन करते हैं (**सुते**) मन शुद्ध होने पर (**इन्द्रम्**) उस परमेश्वर को (**हवामहे**) हम पुकारते हैं ॥

अथवा—(**सप्त संसदः**) सात ऋत्विज्=३ उद्गाता, ४ होता, ५ **मैत्रावरुण**, ६ ब्राह्मणाच्छंसी, ७ अच्छावाक (**यस्मिन्**) जिस सोम में (**विश्वाः**) सब (**श्रियः**) सौभाग्यलक्ष्मियों को (**अधिरणन्ति**) अधिकता से बताते हैं (**सुते**) उस सोम के सम्पन्न अभिषुत हो जाने पर (**इन्द्रम्**) वृष्टिकारक भौतिक देवविशेष को (**हवामहे**) हम प्रशंसित करते हैं ॥

ऋ० ८ । ९२ । २० में भी ॥२॥

अथ तृतीया

७२४—त्रिकद्रुकेषु चेतनं देवासो यज्ञमत्नत ।
तमिद्वर्धन्तु नो गिरः ॥३॥

भावार्थः—(**देवासः**) विद्वान् लोग (**त्रिकद्रुकेषु**) त्रिकद्रुकनामक यज्ञ के ३ दिनों में (**चेतनं यज्ञम्**) ज्ञानसाधन यज्ञ का (**अत्नत**) विस्तार करते हैं (**तम् इत्**) उसी यज्ञ को (**नः**) हमारी (**गिरः**) वाणी (**वर्धन्तु**) बढ़ावें ॥

आभिप्लविक ३ दिन त्रिकद्रुक होते हैं । जैसा कि गवामयनादि सत्र (यज्ञ) ३६१ दिन में सिद्ध होता है उसमें १—प्रायणीयोऽतिरात्र, २—चतुर्विंश, ३—उक्थ, ४—ज्योतिर्गौ, ५—आयुर्गौ, ६—आयुर्ज्योति, ये छः ६ दिन आभिप्लविक कहाते हैं, इनमें ४ । ५ । ६ ये अन्त के तीन त्रिकद्रुक हैं । अष्टाध्यायी २ । ४ । ७३ और ६ । ४ । ९९ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋ० ८ । ९२ । २१ में भी ॥३॥

इति द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः खण्डः ॥१॥

अथ द्वितीयखण्डे प्रथमतृचस्य—इरिमिठ ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

७२५—अयं त इन्द्र सोमो निपूतो अधि बर्हिषि ।
एहीमस्य द्रवा पिब ॥१॥

इसकी व्याख्या (१५९) में आ गई ॥

अथ द्वितीया

७२६—शाचिगो शाचिपूजनायं रणाय ते सुतः ।
आखण्डल प्र हूयसे ॥२॥

भावार्थः—(**शाचिगो**) समर्थ किरणयुक्त (**शाचिपूजन**) किरणों के समर्थक (**आखण्डल**) मेघ के अवयवों को खण्ड-खण्ड करने वाले सूर्य ! (**अयम्**)

यह सोम (ते) तेरे (रणाय) मेघों के साथ संग्राम और विजय के लिये (सुतः) खींचकर रक्खा है ।(प्रहूयसे) और आह्वान वा वर्णन किया जाता है ।।

अर्थात् सूर्य की किरणें समर्थ हैं और सूर्य उनका समर्थक है । इसलिये सूर्य और मेघ के युद्ध में सूर्य के विजय अर्थात् वृष्टि के लिये सोम से यज्ञ करना चाहिये ।। ऋ० ८ । १७ । १२ में भी ।।२।।

अथ तृतीया

७२७—यस्ते शृङ्गवृषो णपात् प्रणपात् कुण्डपाय्यः ।
न्यस्मिन् दध्र आ मनः ।।३।।

भावार्थः—(शृंगवृषोणपात्) रश्मियों से वर्षाने वाले इन्द्र=सूर्य का पतन न कराने वाले ! अर्थात् अपने स्थान पर स्थिर रखने वाले इन्द्र ! (यः) जो (प्रणपात्) अतिशय करके न गिराने वाला=रक्षा करने वाला (ते) तेरा (कुण्डपाय्यः) कुण्डपाय्य यज्ञविशेष है (अस्मिन्) इस यज्ञ में [ऋत्विगादि लोग] (मनः) चित्त को (नि आ दध्रे) नितरां धारण करते हैं ।।

अष्टाध्यायी २ । १ । २ ।। ३ । १ । १३० ।। ६ । ४ । ७६ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।।

ऋ० ८ । १७ । १३ में भी ।।३।।

अथ द्वितीयतृचस्य—कुसीद काण्व ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ।।

तत्र प्रथमा

७२८—आ तू न इन्द्र क्षुमन्तं चित्रं ग्राभं संगृभाय ।
महाहस्ती दक्षिणेन ।।१।।

इसकी व्याख्या (१६७) में हो चुकी ।।१।।

अथ द्वितीया

७२९—विद्मा हि त्वा तुविकूर्मिं तुविदेष्णं तुवीमघम् ।
तुविमात्रमवोभिः ।।२।।

भावार्थ:—हे राजन्निन्द्र ! (**अवोभिः**) आपकी की हुई हमारी रक्षाओं से (**त्वा**) आपको (**तुविकूर्मिम्**) बहुकर्मयुक्त पुरुषार्थी (**तुविदेष्णं**) बहुदानी (**तुवीमघम्**) बहुत धनी और (**तुविमात्रम्**) बहुत बड़े परिमाण वाला हम (**विद्म**) जानते हैं (**हि**) निश्चय ।।

निघण्टु ३ । १ ।। २ । १० के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।।

ऋ० ८ । ८१ । २ में भी ।।२।।

अथ तृतीया

७३०—न हि त्वा शूर देवा न मर्त्तासो दित्सन्तम् ।

भीमं न गां वारयन्ते ।।३।।

भावार्थ:—(**शूर**) पराक्रमी राजन् ! (**दित्सन्तम्**) शत्रुओं के शिर काटना चाहते हुए (**गाम्**) बैल के (**न**) तुल्य बली (**त्वा**) आपको (**देवाः**) देवता (**न, हि**) नहीं (**मर्त्तासः**) और मनुष्य (**न**) नहीं (**वारयन्ते**) रोकते ।।

अर्थात् दैवी और मानुषी कोई बाधा विघ्न नहीं कर सकतीं । विज्ञान बल से दैवी और बाहुबल से मानुषी रुकावटों को आप हटा सकते हैं ।

ऋ० ८ । ८१ । ३ में भी ।।३।।

अथ तृतीयतृचस्य—त्रिशोक ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ।।

तत्र प्रथमा

७३१—अभि त्वा वृषभा सुते सुतं सृजामि पीतये ।

तृम्पा व्यश्नुही मदम् ।।३।।

इसकी व्याख्या (१६१) में हो चुकी ।।१।।

अथ द्वितीया

७३२—मा त्वा मूरा अविष्यवो मोपहस्वान आ दभन् ।

मा कीं ब्रह्मद्विषं वनः ।।४।।

भावार्थ:—(**अविष्यवः**) भोजनभट्ट लोग [निघं० २ । ८] जो कि (**उपहस्वानः**) उपहास करने वाले और (**मूराः**) मूढ हैं (**त्वा**) तुझको (**मा दभन्**) न हिंसित करें और तू भी (**ब्रह्मद्विषम्**) वेद के द्वेष करने वाले को (**मा कीम्**) मत (**वनः**) भज ।।

अर्थात् इन्द्रयागादि कर्मानुष्ठान के विरोधी, स्वार्थी, मूढ़ लोग यज्ञ के नाश से वृष्टिकारक इन्द्र के विधायक न हों और इन्द्र से उन्हें आनुकूल्य भी न हो। यह परमात्मा का अनुग्रह प्रार्थित है ॥

ऋ० ८। ४५। २३ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

७३३—इह त्वा गोपरीणसं महे मन्दन्तु राधसे।
सरो गौरो यथा पिब ॥३॥

भावार्थ—(गोपरीणसम्) किरणों से मिले हुए (त्वा) तुझ इन्द्र को (इह) इस यज्ञ में (महे) बड़े (राधसे) अन्नादि धन के लिये [वृष्टि द्वारा] (मन्दन्तु) मनुष्य सोम से हृष्ट अर्थात् वृष्टि आदि स्वकार्य करने में अनुकूल करें॥ और तू (पिब) उस सोम को शोष। दृष्टान्त—(यथा) जैसे (गौरः) गौर मृग (सरः) सोमरस जल को पीता है तद्वत्॥

निघण्टु १। ४॥ २। १० के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥३॥

अथ चतुर्थतृचस्य— काण्वः प्रियमेध ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्री छन्दः॥

तत्र प्रथमा

७३४—इदं वसो सुतमन्धः पिबा सुपूर्णमुदरम्।
अनाभयिन्नरिमा ते ॥१॥

इसकी व्याख्या (१२४) में हो चुकी ॥१॥

अथ द्वितीया

७३५—नृभिर्धौतः सुतो अश्नैरव्या वारैः परिपूतः।
अश्वो न निक्तो नदीषु ॥२॥

अथ तृतीया

७३६—तं ते यवं यथा गोभिः स्वादुमकर्म श्रीणन्तः।
इन्द्र त्वास्मिंत्सधमादे ॥३॥

पदार्थः—(**नृभिः**) कर्म के नेता ऋत्विजों से (**धौतः**) धोया हुआ फिर (**अश्मैः**) अश्मा=पत्थरों से (**सुतः**) छेत कर निचोड़ा हुआ और (**अव्यावारैः**) ऊर्णामय दशापवित्रों से (**परिपूतः**) सर्वथा स्वच्छ किया हुआ सोम है (**न**) जैसा (**नदीषु**) नदियों में (**निक्तः**) स्नान कराया हुआ (**अश्वः**) घोड़ा ॥ (**तम्**) उस सोम को (**ते**) आपके लिये (**श्रीणन्तः**) दुग्धादि में मिलाकर पकाते हुए हम लोग (**स्वादुम्**) स्वादु (**अकर्म**) बनाते हैं। दृष्टान्त=(**यथा**) जैसे (**गोभिः**) गौवों के लिये (**यवन्**) यवादि से सिद्ध किया दलिया आदि भोज्य स्वादु बनाते हैं तद्वत् (**इन्द्र**) हे राजन् ! यजमान ! (**अस्मिन्**) इस (**सधमादे**) यज्ञ में (**त्वा**) आपको 'हम सोम पिलाते हैं' यह शेषार्थ है ॥

जिन घटों में सोम ग्रहण किया गया हो वे घट "ग्रह" कहाते हैं। और वे (ग्रह) प्रातःसवन में "उपांशु" आदि, माध्यन्दिन सवन में "मरुत्वतीयादि", तृतीय-सवन वा सायं सवन में "आदित्यादि" संज्ञक होते हैं। इनके अतिरिक्त षोडशी आदि यज्ञों में बहुत से "षोडशी" संज्ञकादि (ग्रह) घट होते हैं। इन सबके अतिरिक्त एक "अदाभ्य" नामक ग्रह होता है, और यह वह ग्रह है कि जिस गूलर की लकड़ी के पात्र में सोम रखा हो, उसमें होता के चमसे वाले "निग्राभ्या" नामक जल लेकर उसमें तीन सोमलताखण्ड डाल कर "अग्नये त्वा०" (यजुः ८। ४७) इत्यादि तीन मन्त्रों से क्रम से ग्रहण किया जाता है। ऐसा ही कात्यायन ने १२। ५। १३-१५ में कहा गया है कि "अदाभ्यं गृह्णाति०" इत्यादि ॥

अष्टाध्यायी २। ४। ८७ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋ० ८। २। २-३ में (अव्योवारैः) पाठान्तर है ॥२-३॥

अथ तृतीयखण्डे प्रथमतृचसूक्तस्य—विश्वामित्र ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

३१ २१ ३१ २
७३७—इदं ह्यन्वोजसा सुतं राधानां पते।
१ ३ २ १ २
पिबा त्वा३स्य गिर्वणः ॥३॥

इसकी व्याख्या (१६५) में हो चुकी ॥१॥

अथ द्वितीया

२ ३ १ २ ३ १ २१ ३१ २१ ३क२१
७३८—यस्ते अनु स्वधामसत्सुते नि यच्छ तन्वम्।
१ २
स त्वा ममत्त सोम्य ॥२॥

भावार्थः—(**सोम्य**) हे सोमपानयोग्य राजन् ! इन्द्र ! (**सुते**) अभिषुत होने पर (**यः**) जो सोम (**ते**) आपके लिये (**स्वधाम् अनु**) भोजन के साथ (**असत्**) होवे (**सः**) वह सोम (**त्वा**) आपको (**ममत्तु**) हृष्ट करे और आप (**तन्वम्**) शरीर को (**नियच्छ**) नियम से रखिये ॥

मनुष्यों को सोमरस खींचकर राजा के अर्पण करना चाहिए और राजा को उसका सेवन करके व्यायामादि से शारीरिक उन्नति करनी चाहिए ॥

अष्टाध्यायी ८ । १ । ६६ ॥ ४ । ४ । १३७ ॥ ६ । ४ । ८६ और ६ । १ । १६२ के प्रमाण और ऋ० ३।५१।११ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ तृतीया

७३९— **प्र ते अश्नोतु कुक्ष्योः प्रेन्द्र ब्रह्मणा शिरः ।**
प्र बाहू शूर राधसा ॥३॥

भावार्थः—(**शूर**) वीर ! (**इन्द्र**) राजन् ! (**ते**) आपकी (**कुक्ष्योः**) दोनों कोखों में (**प्र, अश्नोतु**) उक्त सोमरस व्याप जावे (**ब्रह्मणा**) भोजन के रस के साथ (**शिरः**) शिर को (**प्र**) व्याप जावे और (**राधसा**) धनैश्वर्य के साथ (**बाहू**) दोनों भुजाओं को (**प्र**) व्याप जावे ॥

निघं० २ । ७ ॥ २ । १० अष्टाध्यायी ३ । १ । ८५ के प्रमाण और ऋ० ३ । ५१ । १२ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥३॥

अथ द्वितीयतृचसूक्तस्य—मधुच्छन्दा ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

७४०—**आ त्वेता नि षीदतेन्द्रमभि प्र गायत ।**
सखाय स्तोमवाहसः ॥१॥

इसकी व्याख्या (१६४) में हो चुकी ॥१॥

अथ द्वितीया

७४१—**पुरूतमं पुरूणामीशानं वार्याणाम् ।**
इन्द्रं सोमे सचा सुते ॥२॥

भावार्थः—हे मित्रो ! [यह पूर्व मन्त्र से लेकर] (पुरूतमम्) बहुत शत्रुओं के नाशक (पुरूणाम्) बहुत (वार्याणाम्) धनादि वरणीय पदार्थों के (ईशानम्) स्वामी (इन्द्रम्) परमात्मा को (सोमे सुते) सोम अभिषुत होने पर (सखा) मिलकर [अभिप्रगायत] गाओ ॥

ऋ० १ । ५ । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

७४२—स घा नो योग आ भुवत्स राय स पुरन्ध्या ।
गमद्वाजेभिरा स नः ॥३॥

भावार्थः—हे मित्रो ! (स घ) वही ईश्वर (नः) हमारे (योगे) योग साधन में (आभुवत्) साक्षात् हो, (सः) वही (राये) धन के लिए अनुकूल हो, (सः) वही (पुरन्ध्या) बुद्धि से अनुकूल हो (सः) वही (नः) हम को (वाजेभिः) बलों वा अन्नों से (आगमत्) प्राप्त हो ॥

ऋ० १ । ५ । ३ में "पुरन्ध्याम्" पाठ है ॥३॥

अथ तृतीयतृचसूक्तस्य—शुनःशेप ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

७४३—योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे ।
सखाय इन्द्रमूतये ॥१॥

इसकी व्याख्या (१६३) में हो चुकी ॥१॥

अथ द्वितीया

७४४—अनु प्रत्नस्यौकसो हुवे तुविप्रतिं नरम् ।
यं ते पूर्वं पिता हुवे ॥२॥

भावार्थः—(प्रत्नस्य) सनातन (ओकसः) मोक्षपद के (अनु) आनुकूल्य से (नरम्) ले जाने वाले (तुविप्रतिम्) बहुत समय के प्रति पहुँचाने वाले

(ते) आप को (हुवे) मैं स्तुत करता हूँ (यम्) जिस आपको (पूर्वम्) इससे पूर्व (पिता) मेरे गुरु ने (हुवे) स्तुत किया है ॥

शिष्य प्रशिष्यों को गुरुपरम्परा से परमात्मा की स्तुति प्रार्थना उपासना करनी चाहिए। यह भाव है ॥ ऋ० १।३०।६ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१ २ ३ २ ३ १२ ३ १ २ ३ १ २

७४५—आ घा गमद्यदि श्रवत्सहस्रिणीभिरूतिभिः ।

१ २ ३ १ २ ३ १२

वाजेभिरुप नो हवम् ॥३॥

भावार्थः—प्रकरण से परमेश्वर (यदि) जो (नः) हमारे (हवम्) स्तोत्र वा पुकार को (श्रवत्) सुन ले स्वीकार कर ले (घ) तो उसी समय (सहस्रिणीभिः) बहुत सी (ऊतिभिः) रक्षाओं और (वाजेभिः) बलों के साथ (उप आ गमत्) हमको प्राप्त होवे ॥

ऋ० १।३०।८ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थतृचसूक्तस्य—नारद ऋषिः। इन्द्रो देवता। उष्णिक्छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ क २ र

७४६—इन्द्र सुतेषु सोमेषु क्रतुं पुनीष उक्थ्यम् ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

विदे वृधस्य दक्षस्य महाँ हि षः ॥१॥

इस की व्याख्या (३८१) में हो चुकी ॥१॥

अथ द्वितीया—

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

७४७—स प्रथमे व्योमनि देवानां सदने वृधः ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

सुपारः सुश्रवस्तमः समप्सुजित् ॥२॥

भावार्थः—(सः) वह परमेश्वर (देवानाम्) सूर्यादि के (सदने) स्थान (प्रथमे) विस्तृत (व्योमनि) आकाश में (वृधः) महिमा से स्थित (सुपारः) भक्तों के कार्य भले प्रकार पूरे करने वाला (सुश्रवस्तमः) अत्युत्तम

यश वाला (समप्सुजित्) कर्मों में [निघं० २ । १] भले प्रकार जीतने वाला=कर्मानुकूल फलदायी है ॥

ऋ० ८ । १३ । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

७४८—तमु हुवे वाजसातय इन्द्रं भराय शुष्मिणम् ।
भवा नः सुम्ने अन्तमः सखा वृधे ॥३॥

भावार्थः—(वाजसातये) बलों का जिस में लाभ है ऐसे (भराय) कामादि शत्रुओं से संग्राम के लिये (तम् उ) उस ही (शुष्मिणम्) महाबली (इन्द्रम्) परमेश्वर को (हुवे) पुकारता हूँ कि हे परमेश्वर ! आप (नः) हमारी (वृधे) वृद्धि (सुम्ने) और सुख के निमित्त (अन्तमः) समीपवर्ती (सखा) मित्र (भव) हूजिये ॥

निघं० २ । १७ ॥ ३ । ६ ॥ २ । १ के प्रमाण और ऋ० ८ । १३ । ३ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥३॥

अथ चतुर्थे खण्डे प्रगाथस्य प्रथमसूक्तस्य वामदेव ऋषिः । अग्निर्देवता । बृहती छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

७४९—एना वो अग्निं नमसोर्जो नपातमा हुवे ।
प्रियं चेतिष्ठमरतिं स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम् ॥१॥

इसकी व्याख्या (४५) में हो चुकी ॥१॥

अथ द्वितीया

७५०—स योजते अरुषा विश्वभोजसा स दुद्रवत्स्वाहुतः ।
सुब्रह्मा यज्ञः सुशमी वसूनां देवं राधो जनानाम् ॥२॥

भावार्थः—(सः) वह पूर्वमन्त्रोक्त अग्नि (जनानाम्) यजमानादि जनों के (वसूनाम्) धनों में (देवम्) उत्तम (राधः) धन को (योजते) युक्त करता

है । (**सः**) वह (**स्वाहुतः**) अच्छे प्रकार आहुति दिया हुआ (**सुब्रह्मा**) उत्तम ब्रह्मावाला (**सुशमी**) शोभन शमी आदि काष्ठ वाला (**यज्ञः**) होम (**विश्व-भोजसा**) संसार के रक्षक (**अवसा**) तेज से (**दुद्रवत्**) दूर तक जाता है ॥

ऋग्वेद ७ । १६ । २ में भी ॥२॥

अथ प्रगाथस्य द्वितीयसूक्तस्य—वसिष्ठ ऋषिः । उषा देवता । बृहती छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

७५१—प्रत्यु अदर्श्यायत्यू३च्छन्ती दुहिता दिवः । अपो
मही वृणुते चक्षुषा तमो ज्योतिष्कृणोति सूनरी ॥१॥

इसकी व्याख्या (३०३) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

७५२—उदुस्रिया सृजते सूर्यः सचा उद्यन्नक्षत्रमर्चिवत् ।
तवेदुषो व्युषि सूर्यस्य च सं भक्तेन गमेमहि ॥२॥

भावार्थः—(**सूर्यः**) सूर्यलोक (**उद्यन्**) सदा उदित (**नक्षत्रम्**) नक्षत्र और (**अर्चिवत्**) किरणों वाला है । और वह (**सचा**) एक साथ ही (**उस्रियाः**) किरणों को (**उत् सृजते**) ऊपर को छोड़ता है । तथा च—(**उषः**) प्रभात वेला! हम (**तव**) तेरे (**च**) और (**सूर्यस्य**) सूर्य के (**व्युषि**) प्रकाश में (**इत्**) ही (**भक्तेन**) अन्न से (**संगमेमहि**) समागम करें ॥

मनुष्यों को सदा सूर्यादि के प्रकाश में ही भोजन करना चाहिए, अन्धकार में नहीं । यह तात्पर्य है ॥ सायणाचार्य ने इसके भाष्य में लिखा है कि "सूर्य के तेज से ही रात्रि में चन्द्रादि नक्षत्र चमकते हैं" इससे पाया जाता है कि सायण तक हमारे देशवासी इस विज्ञान को वेदादि शास्त्रानुसार जानते, मानते रहे ॥

ऋग्वेद ७ । ८१ । २ में "सचाँ" पाठ है ॥२॥

अथ प्रगाथस्य तृतीयसूक्तस्य—वसिष्ठ ऋषिः । अश्विनौ देवते । बृहती छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

७५३—इमा उ वां दिविष्टय उस्रा हवन्ते अश्विना ।
अयं वामह्वेऽवसे शचीवसू विशंविशं हि गच्छथः ॥१॥

इसकी व्याख्या (३०४) में आ गई है ॥१॥

अथ द्वितीया

७५४—युवं चित्रं ददथुर्भोजनं नरा चोदेथां सूनृतावते ।
अर्वाग्रथं समनसा नि यच्छतं पिबतं सोम्यं मधु ॥२॥

भावार्थः—(नरा) सब जगत् के नेता ! (समनसा) समान मन वाले सूर्य और चन्द्रमा ! (युवम्) तुम दोनों (सूनृतावते) वैदिकवाणी वाले यज्ञानुष्ठान सम्पन्न पुरुष के लिए (चित्रम्) अनेक प्रकार का (भोजनम्) भोजन (ददथुः) देते हो, (चोदेथाम्) कर्म में प्रवृत्त करते हो, (अर्वाक्) जगत् के सामने (रथम्) अपने रमणीय स्वरूप को (नियच्छतम्) नियमपूर्वक लाते हो। सो तुम दोनों (सोम्यम्) सोम का (मधु) रस (पिबतम्) शोषण करो ॥

सूर्य चन्द्रमा शीतोष्ण से जगत् के निर्वाहक हैं। ओषधि वनस्पत्यादि रूप भोजन सबके लिये देते हैं। प्रकाश से जगत् को व्यापार में प्रवृत्त करते हैं और सोमादि ओषधियों के रस को पीकर जगत् का उपकार करते हैं। जिस प्रकार मनुष्यादि के भीतरी बलसाधन का नाम मन हैं, इसी प्रकार सूर्य चन्द्र के आन्तरिक बलसाधन को यहां मन जानिये ॥ ऋ० ७। ७४। २ में भी ॥२॥

अथ पञ्चमे खण्डे प्रथमस्य तृचसूक्तस्य अवत्सार ऋषिः। सोमो देवता। गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

७५५—अस्य प्रत्नामनु द्युतं शुक्रं दुदुह्रे अह्रयः ।
पयः सहस्रसामृषिम् ॥१॥

भावार्थः—(अस्य) इस सोम की (प्रत्नाम्) पुरातन (द्युतम्) चमक को (अनु) पहचान कर (अह्रयः) विद्वान् ऋत्विज् (शुक्रम्) श्वेत (सहस्रसाम्) बहुतों के सेवनीय (ऋषिम्) बुद्धिपूर्वक (पयः) दुग्ध को (दुदुह्रे) दुहते हैं ॥

अष्टाध्यायी ३। २। ६७ ॥ ६। ४। ४१ ॥ ६। १। ६७ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ यजुः ३। १६ ऋ० ९। ५४। १ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

७५६—अयं सूर्य इवोपदृगयं सरांसि धावति ।
सप्त प्रवत आ दिवम् ॥२॥

भावार्थः - (**अयम्**) यह सोम (**सूर्य इव**) सूर्यसा (**उपदृक्**) नेत्र सहायक है। (**अयम्**) यह सोम (**सरांसि**) ३० उक्थ पात्रों अथवा महीने के ३० दिनों को तथा (**सप्त**) सात ७ (**प्रवतः**) नदियों रूप भूरादिकों को (**आदिवम्**) द्युलोक पर्यन्त (**धावति**) जाता है।

निरुक्तकार यास्क ५ । ११ में कहते हैं कि —"याज्ञिक लोग तो 'सरांसि' पद से ३० उक्थपात्रों का अर्थ बतलाते हैं जो कि माध्यन्दिन सवन में एक देवता वाले होते हैं और जिनको उस समय में एक प्रतिघान से पीते हैं। तथा नैरुक्तों की यह सम्मति है कि ३० अपरपक्ष के अहोरात्र और ३० पूर्व पक्ष के अहोरात्र हैं। जो कि चन्द्रमा से आने वाले जल हैं, उनको किरणें अपरपक्ष में पीती हैं। तथा हि — (यमक्षि०) यह वेद में कहा है। उसको पूर्व पक्ष में आप्यायित करती हैं, जैसा कि - (यथा देवाः) वेद में कहा है।" ऋ० ९। ५४। २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

३ १ २र ३ १ २र३ १ २
७५७—अयं विश्वानि तिष्ठति पुनानो भुवनोपरि ।
१ २ ३ १ २र
सोमो देवो न सूर्यः ॥३॥

भावार्थः—(**अयम्**) यह सोम (**विश्वानि**) सब (**भुवना**) भुवनों को (**पुनानः**) शुद्ध करता हुआ (**उपरि**) आकाश में (**तिष्ठति**) स्थित होता है (**न**) जैसे (**देवः**) प्रकाशमान (**सूर्यः**) सूर्य सब भुवनों को किरणों से शोधता हुआ स्थित है।

ऋ० ९। ५४। ३ में भी ।३॥

अथ द्वितीयतृचसूक्तस्यः—असितः काश्यपोऽसहीवुर्वा ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

३१ ३ १२ १ २ ३ २ ३१ २ ३२
७५८—एष प्रत्नेन जन्मना देवो देवेभ्यः सुतः ।
१ २ ३ १ २
हरिः पवित्रे अर्षति ॥१॥

भावार्थः—(**हरिः**) हरित वर्ण (**एषः**) यह सोम (**प्रत्नेन**) प्राचीन (**जन्मना**) जन्म से (**सुतः**) अभिषुत किया हुआ (**देवः**) द्योतमान (**पवित्रे**)

दशापवित्र पर रक्खा हुआ (देवेभ्यः) वायु आदि देवों के लिये (अर्षति) प्राप्त होता है ॥

ऋ० ९ । ३ । ९ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

७५९—एष प्रत्नेन मन्मना देवो देवेभ्यस्परि ।
कविर्विप्रेण वावृधे ॥२॥

भावार्थः—(एषः) यह सोम (प्रत्नेन) पुराणे (मन्मना) ज्ञानसाधन से (देवः) प्रकाशमान (कविः) बुद्धि तत्त्व का उभारने वाला (विप्रेण) विद्वान् ऋत्विज् से (देवेभ्यः) वायु आदि के लिये (परि वावृधे) सब ओर बढ़ता है ॥

ऋ० ९ । ४२ । २ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ तृतीया

७६०—दुहानः प्रत्नमित्पयः पवित्रे परि षिच्यसे ।
क्रन्दं देवां अजीजनः ॥३॥

भावार्थः—(प्रत्नम्) पुराणे (इव) ही (पयः) रस को (दुहानः) पूर्ण करता हुआ सोम (पवित्रे) दशापवित्र पर (परिषिच्यसे) सर्वतः सेवन किया जाता है । (क्रन्दन्) अग्नि में पड़ने से चटचट करता हुआ (देवान्) वायु आदि देवों को (अजीजनः) जनता है ।

ऋ० ९ । ४२ । ४ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥३॥

अथ तृतीयतृचसूक्तस्य—ऋष्यादयः पूर्ववत् ॥

तत्र प्रथमा

७६१—उप शिक्षापतस्थुषो भियसमा धेहि शत्रवे ।
पवमान विदा रयिम् ॥१॥

भावार्थः—(पवमान) सोम ! (अपतस्थुषः) विरोध में खड़े होने वालों

को (उपशिक्ष) दण्ड से शिक्षा दे (शत्रवे) शत्रु के लिये (भियसम्) भय (आधेहि) रख (रयिम्) और राज्यलक्ष्मी का (विदाः) लाभ करा ॥

सोम सेवन करने वाले वीरों के शत्रुओं का नाश और राज्यलक्ष्मी की प्राप्ति होती है ॥ ऋ० ६। १९। ६ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

२ ३ २ ३ २३ २२ १ ३ ३ १ २८
७६२—उपो षु जातमप्तुरं गोभिर्भङ्गं परिष्कृतम् ।
१ २ ३१ २
इन्दुं देवा अयासिषुः ॥२॥

इसकी व्याख्या (४८७) में हो चुकी ॥२॥

अथ तृतीया

१ २ ३ १२ ३ १ २
७६३—उपास्मै गायता नरः पवमानायेन्दवे ।
३ २ ३१ २८
अभि देवाँ इयक्षते ॥३॥

इसकी व्याख्या (६५१) में आ गई ॥३॥

अथ षष्ठे खण्डे प्रथमतृचसूक्तस्य – श्यावाश्व ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१ २८ ३ २ ३ १ २ ३१ २
७६४—प्र सोमासो विपश्चितोऽपो नयन्त ऊर्मयः ।
१ २ ३ १ २
वनानि महिषा इव ॥१॥

इसकी व्याख्या (४७८) में हो गई ॥१॥

अथ द्वितीया

३ १ २८ ३ १२ ३ २ ३ २ ३ १ २
७६५—अभि द्रोणानि बभ्रवः शुक्रा ऋतस्य धारया ।
२ ३ १ २
वाजं गोमन्तमक्षरन् ॥२॥

भावार्थः – (**बभ्रवः**) पीतवर्ण पके हुए (**शुक्राः**) चमकीले सोम (**ऋतस्य**) यज्ञ की (**धारया**) परिणामरूप वर्षा से (**गोमन्तम्**) इन्द्रिययुक्त (**वाजम्**) बल वा अन्न को (**द्रोणानि**) धौनों अर्थात् मरणों वा यहूत (**अभिप्रक्षरन्**) सर्वतः वर्षाते हैं ॥

ऋ० ९ । ३३ । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

७६६—सुता इन्द्राय वायवे वरुणाय मरुद्भ्यः ।
सोमो अर्षन्तु विष्णवे ॥३॥

भावार्थः—(**सुताः**) खींचे हुए (**सोमाः**) प्रसिद्ध २४ प्रकार के सोम (**इन्द्राय**) इन्द्र (**वायवे**) वायु (**वरुणाय**) जल (**मरुद्भ्यः**) ऋत्विजों [निघं० ३ । १८] और (**विष्णवे**) व्यापक सूत्रात्मा वायु के लिये (**अर्षन्तु**) यज्ञ द्वारा जावें ॥

ऋ० ९ । ३३ । ३ में "अर्षन्ति" पाठ है ॥३॥

अथ प्रगाथात्मकद्वितीयसूक्तस्य—भरद्वाजादयः सप्त ऋषयः ॥
सोमो देवता । बृहती छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

७६७—प्र सोम देववीतये सिन्धुर्न पिप्ये अर्णसा ।
अंशोः पयसा मदिरो न जागृविरच्छा कोशं मधुश्चुतम् ॥१॥

इसकी व्याख्या (५१४) में हो चुका है ॥१॥

अथ द्वितीया

७६८—आ हर्यतो अर्जुनो अत्के अव्यत प्रियः सूनुर्न मर्ज्यः ।
तमीं हिन्वन्त्यपसो यथा रथं नदीष्वा गभस्त्योः ॥२॥

भावार्थः—(**हर्यतः**) इच्छा करने योग्य (**अर्जुनः**) श्वेत रंग का (**प्रियः**) प्यारा (**मर्ज्यः**) शोधने योग्य (**सूनुः न**) पुत्र सा सोम (**अत्के**) पखालने पर

(**आ अव्यत**) लिपड़ जाता है (**तम् ईम्**) उस इस सोम को (**नदीषु**) नाद करते हुए वसतीवरी नामक जलों में (**गभस्त्योः**) दोनों भुजाओं की अङ्गुलियें (**आहिन्वन्ति**) चलाती हैं । इसमें दृष्टान्त - (**यथा**) जैसे (**अपसः**) शूरवीर लोग (**रथम्**) रथ को संग्रामों में चलाते हैं तद्वत् ॥

सायण, विवरणकार, निघं० २ । ४ ॥ २ । ६ के प्रमाण और ऋ० ९ । १०७ । १३ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ तृतीयतृचसूक्तस्य--श्यावाश्व ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

७६९—प्र सोमासो मदच्युतः श्रवसे नो मघोनाम् ।
सुता विदथे अक्रमुः ॥१॥

इसकी व्याख्या (४७७) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

७७०—आदीं हंसो यथा गणं विश्वस्यावीवशन्मतिम् ।
अत्यो न गोभिरज्यते ॥२॥

भावार्थः—(**आत्**) और (**ईम्**) यह सोम (**यथा**) जैसे (**हंसः**) सूर्य (**गणम्**) लोकसमूह को वश में करता है वैसे (**विश्वस्य**) सबकी (**मतिम्**) बुद्धि को (**अवीवशत्**) वश में करता है । (**अत्यः न**) अश्व के समान (**गोभिः**) लगामों के तुल्य अङ्गुलियों से (**अज्यते**) वश में किया जाता है ॥

विवरणकार, अमर १ । ३ । ३१, निघं० १ । १४ ॥ १ । ५ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ९ । ३२ । ३ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

७७१—आदीं त्रितस्य योषणो हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः ।
इन्दुमिन्द्राय पीतये ॥३॥

भावार्थः—(**आत्**) और (**ईम्**) इस (**हरिम्**) हरे (**इन्दुम्**) सोम को (**त्रितस्य**) १ विद्या २ शिक्षा ३ ब्रह्मचर्य युक्त ऋत्विज् की (**योषणः**) मिलाने वाली अङ्गुलियें (**इन्द्राय**) वृष्टिकारक विद्युद्विशेष के (**पीतये**) पीने = शोषण के लिये (**अद्रिभिः**) पत्थरों से (**हिन्वन्ति**) अभिषुत करती हैं ॥

त्रित शब्द पर व्याकरण, निरुक्त ४ । ६ इत्यादि प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ९ । ३२ । २ में भी ॥३॥

अत्र चतुर्थतृचसूक्तस्य प्रथमायाः श्यावाश्व ऋषिः । सोमो देवता । उष्णिक्छन्दः ॥

७७२—अया पवस्व देवयु रेभन् पवित्रं पर्येषि विश्वतः ।
मधोर्धारा असृक्षत ॥१॥

भावार्थः—(**देवयुः**) देव = वायु आदि को चाहने वाला सोम (**अया**) इस हवन की जाती हुई धारा से (**पवस्व**) टपकता है । फिर (**रेभन्**) शब्द करता हुआ (**विश्वतः**) सब ओर को (**पर्येषि**) फैलता है । अनन्तर (**मधोः**) रस की (**धाराः**) धारों को (**असृक्षत**) छोड़ता है ॥

यहां से लेकर अध्यायान्त ३ ऋचाओं का पदकार, विवरणकार, मूल और गानग्रन्थ के मतों से १ ही सूक्त देखा जाता है, परन्तु सायणाचार्य ने तीनों ऋचाओं के पृथक्-पृथक् एक-एक ऋचा का एक-एक सूक्त करके ३ सूक्त लिखे हैं । ऋ० ९ । १०६ । १४ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥१॥

अत्र द्वितीयायाः प्रजापतिर्ऋषिः । छन्दोदेवते उक्ते ॥

७७३—पवते हर्यतो हरिरति ह्वरांसि रंह्या ।
अभ्यर्ष स्तोतृभ्यो वीरवद्यशः ॥२॥

इसकी व्याख्या (५७६) में हो चुकी है ॥२॥

अत्र तृतीयायाः—अम्बरीष ऋषिः । सोमो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

७७४—प्र सुन्वानायान्धसो मर्त्तो न वष्ट तद्वचः ।
अप श्वानमराधसं हता मखं न भृगवः ॥३॥

इति द्वितीयोऽर्धप्रपाठकः प्रथमश्च प्रपाठकः समाप्तः ॥३॥

इसकी व्याख्या (५५३) में की गई है ॥३॥

द्वितीय अर्धप्रपाठक और प्रथम प्रपाठक समाप्त हुआ ॥१॥

विवरणकार कहते हैं कि त्रिवृत् स्तौमिक नामक प्रथम दिन समाप्त हुआ ॥

यह

कण्ववंशावतंस श्रीमान् पं० स्वामी हजारीलाल के पुत्र
परीक्षितगढ़ (जिला—मेरठ) निवासी तुलसीराम
स्वामिकृत सामवेदभाष्य उत्तरार्चिक में
द्वितीयाध्याय समाप्त हुआ ॥२॥

ओ३म्

अथ द्वितीयः प्रपाठकः

अथ तृतीयाध्यायः ।।

तत्र

पञ्चतृचात्मके प्रथमखण्डे प्रथमतृचसूक्तस्य जमदग्निर्ऋषिः ।
पवमानः सोमो देवता । गायत्री छन्दः ।।

तत्र प्रथमा

७७५—पवस्व वाचो अग्रियः सोम चित्राभिरूतिभिः ।
अभि विश्वानि काव्या ।।१।।

भावार्थः -(सोमः) हे शान्तस्वरूप ! परमात्मन् ! (अग्रियः) सब में मुख्य आप (विश्वानि) सब (काव्या) स्तोत्रों और (वाचः) प्रार्थनाओं को (चित्राभिः) अनेक प्रकार की (ऊतिभिः) रक्षाओं से (अभि) सर्वतः (पवस्व) पवित्र कीजिये ।।

विवरणकार लिखते हैं कि अब द्वितीय दिन का आरम्भ होता है और दूसरे ही प्रपाठक का । पञ्चदश स्तोम का दूसरा दिन होता है ।

ऋ० ९ । ६२ । २५ में भी ।।१।।

अथ द्वितीया

७७६—त्वं समुद्रिया अपोऽग्रियो वाच ईरयन् ।
पवस्व विश्वचर्षणे ।।२।।

भावार्थः—(विश्वचर्षणे) हे सर्वसाक्षिन् ! (अग्रियः) मुख्य (त्वम्)

आप (**समुद्रियाः**) आकाशस्थ मेघ के (**अपः**) जलों और (**वाचः**) वेदवाणियों को (**ईरयन्**) प्रेरित करते हैं। वह आप (**पवस्व**) हमें पवित्र कीजिये ॥

ऋ० ९ । ६२ । २६ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

७७७—तुभ्येमा भुवना कवे महिम्ने सोम तस्थिरे ।
तुभ्यं धावन्ति धेनवः ॥३॥

भावार्थः— (**कवे**) हे ज्ञानिन् ! (**तुभ्यम्**) आपकी (**महिम्ने**) महिमा के लिये (**इमा**) ये (**भुवना**) भुवन (**तस्थिरे**) उपस्थित हैं । (**तुभ्यम्**) आपके लिये (**धेनवः**) वेदवाणियें (**धावन्ति**) दौड़ती हैं ।

शतपथ ६ । १ । २ । १७ का प्रमाण और ऋ० ९ । ६२ । २७ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥३॥

अथ द्वितीयतृचसूक्तस्य—प्रमद्वीयुर्ऋषिः । छन्दोदेवते उक्ते ॥

तत्र प्रथमा

७७८—पवस्वेन्दो वृषा सुतः कृधी नो यशसो जने ।
विश्वा अप द्विषो जहि ॥१॥

इसकी व्याख्या (४७९) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

७७९—यस्य ते सख्ये वयं सासह्याम पृतन्यतः ।
तवेन्दो द्युम्न उत्तमे ॥२॥

भावार्थः - (**इन्दो**) हे परमेश्वर ! (**यस्य**) जिस (**ते**) आप के (**सख्ये**) मित्रभाव में रहने वाले (**वयम्**) हम (**तव**) आप के (**उत्तमे**) श्रेष्ठ (**द्युम्ने**) यश में (**पृतन्यतः**) शत्रुओं को (**सासह्याम**) तिरस्कृत करें वह आप ऐसी कृपा कीजिये ।

निरुक्त ५ । ५ निघण्टु २ । १७ के प्रमाण और ऋ० ९ । ६१ । २९ का पाठभेद और सायणाचार्य के व्याख्यान का मूल, पद, गान से विरुद्ध होना संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२ ।

अथ तृतीया

७८०—या ते भीमान्यायुधा तिग्मानि सन्ति धूर्वणे ।
रक्षा समस्य नो निदः ॥३॥

भावार्थः—हे परमेश्वर ! (**या**) जो (**ते**) तेरे (**तिग्मानि**) तीक्ष्ण (**भीमानि**) भयानक (**आयुधा**) विद्युदादि शस्त्रास्त्र (**धूर्वणे**) दुष्ट नाशार्थ (**सन्ति**) हैं, उन से (**समस्य**) सब दुष्ट गण का (**निदः**) नितरां विदारण कीजिये और (**नः**) आपके भक्त हम लोगों की (**रक्ष**) रक्षा कीजिये ॥

ऋ० ६ । ६१ । ३० में भी ॥३॥

अथ तृतीयतृचसूक्तस्य— कश्यप ऋषिः । छन्दोदेवते उक्ते ॥

तत्र प्रथम

७८१—वृषा सोम द्युमाँ असि वृषा देव वृषव्रतः ।
वृषा धर्माणि दध्रिषे ॥१॥

इसकी व्याख्या (५०४) में हो गई है ॥१॥

अथ द्वितीया

७८२—वृष्णस्ते वृष्ण्यं शवो वृषा वनं वृषा सुतः ।
स त्वं वृषन्वृषेदसि ॥२॥

भावार्थ - (**वृष्णः**) वीर्यकारक (**ते**) तेरा—सोम का (**शवः**) बल (**वृष्ण्यम्**) वीर्यकारक है । (**वनम्**) तेरा सेवन (**वृषा**) वीर्यकारक है । (**सुतः**) तेरा अभिषुत किया हुआ रस भी (**वृषा**) वीर्यकारक है । (**सः**) वह (**त्वम्**) तू (**वृषा**) वीर्यकारक (**इत्**) ही (**असि**) है ॥

यद्वा—(**वृष्णः**) अतिबलिष्ठ (**ते**) आप का (**शवः**) बल (**वृष्ण्यम्**) धर्मार्थकाममोक्ष का वर्षाने वाला है (**वनम्**) आपका सेवन (**वृषा**) धर्मादि वर्धक है । (**सुतः**) आप का साक्षात्कार भी (**वृषा**) धर्मादिपूरक है (**सः त्वम्**) वह आप (**वृषा इत्**) धर्मादिवृष्टिकारक ही (**असि**) हैं ॥

ऋ० ९ । ६४ । २ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ तृतीया

७८३—अश्वो न चक्रदो वृषा सं गा इन्दो समर्वतः ।
वि नो राये दुरो वृधि ॥३॥

भावार्थः—(इन्दो) सोम ! तू (अश्वः) विद्युत् के (न) समान (चक्रदः) शब्द करता और (गाः) गौ आदि पशुओं को (सम्) मिलाता तथा (अर्वतः) अश्वादिकों को (सम्) संगत कराता है (नः) हमारे (दुरः) द्वारों को (राये) ऐश्वर्य के लिये (वि वृधि) खोल ॥

अर्थात् सोमयाजियों को गौ अश्व धन धान्यादि ऐश्वर्य प्राप्त होता है ॥ ऋ० ९ । ६४ । ३ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थतृचसूक्तस्य—भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा ऋषिः । छन्दोदेवते उक्ते ॥

तत्र प्रथमा

७८४—वृषा ह्यसि भानुना द्युमन्तं त्वा हवामहे ।
पवमान स्वर्दृशम् ॥१॥

इसकी व्याख्या (४८०) में हो गई ॥१॥

अथ द्वितीया

७८५—यदद्भिः परिषिच्यसे मर्मृज्यमान आयुभिः ।
द्रोणे सधस्थमश्नुषे ॥२॥

भावार्थः—(यद्) जब (आयुभिः) मनुष्यों से [निघं० २ । ३] (मर्मृज्यमानः) अतिशयता से शोधा जाता हुआ सोम (अद्भिः) वसतीवरीसंज्ञक जलों से (परिषिच्यसे) सर्वतः छिड़का जाता है, तब (द्रोणे) द्रोणकलश में (सधस्थम्) यज्ञ को (अश्नुषे) प्राप्त होता है ।

ऋ० ९ । ६५ । ६ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ तृतीया

७८६—आ पवस्व सुवीर्यं मन्दमानः स्वायुध ।
इहो ष्विन्दवा गहि ॥३॥

भावार्थः—(स्वायुध) सुन्दर यज्ञपात्ररूप आयुधों वाले (इन्दो) सोम ! (इह) इस यज्ञ में [(सु उ) पादपूरणार्थ हैं] (आगहि) प्राप्त हो और (मन्दमानः) हर्ष प्राप्त करता हुआ (सुवीर्यम्) सुन्दर वीर्य को (आपवस्व) सर्वतः प्राप्त करावे ।। ऋ० ६ । ६५ । ५ में भी ।।३।।

अथ पञ्चमतृचसूक्तस्य—अमहीयुर्ऋषिः । छन्दोदेवते उक्ते ।।

तत्र प्रथमा

७८७—पवमानस्य ते वयं पवित्रमभ्युन्दतः ।

सखित्वमा वृणीमहे ।।१।।

भावार्थः—हे परमेश्वर ! (पवित्रम्) प्राण को (अभ्युन्दतः) शुद्ध करते हुए (पवमानस्य) शुद्धिसम्पादक (ते) आप के (सखित्वम्) मित्रभाव का (वयम्) हम (आवृणीमहे) वरण करते हैं ।।

शतपथ १ । १ । ३ । २ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।।

ऋ० ६ । ६१ । ४ में भी ।।१।।

अथ द्वितीया

७८८—ये ते पवित्रमूर्मयोऽभिक्षरन्ति धारया ।

तेभिर्नः सोम मृडय ।।२।।

भावार्थः—(सोम) हे अमृतस्वरूप ! परमात्मन् ! (ये) जो (ते) आप की (ऊर्मयः) अमृत की लहरें (धारया) प्रवाह से (पवित्रम्) प्राण का (अभिक्षरन्ति) अभिषेक करती हैं (तेभिः) उनसे (नः) हमको (मृडय) आनन्दित कीजिये ।। ऋ० ६ । ६१ । ५ में भी ।।२।।

अथ तृतीया

७८९—स नः पुनान आ भर रयिं वीरवतीमिषम् ।

ईशानः सोम विश्वतः ।।३।।

भावार्थः—(सोम) हे अमृतस्वरूप ! परमात्मन् ! (विश्वतः) सबके (ईशानः) स्वामी (पुनानः) पवित्र करते हुए (सः) वह आप (नः) हमारे

लिये (**वीरवतीम्**) पुत्रादिसहित (**रयिम्**) धन और (**इषम्**) अन्न को (**आभर**) प्राप्त कीजिये ॥ ऋ० ६ । ६१ । ६ में भी ॥३॥

उक्तं वहिष्पवमानम्

(इति विवरणकारः)

अथ द्वितीयखण्डे प्रथमतृचसूक्तस्य मेधातिथिः काण्व ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

३ २ ३१ २ ३ १ २ ३ १ २
७६०—**अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् ।**
३ २ ३ १ २ ३ १ २
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥१॥

इसकी व्याख्या (३) में हो चुकी ॥१॥

अथ द्वितीया

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
७६१—**अग्निमग्निं हवीमभिः सदा हवन्त विश्पतिम् ।**
३ १ २ ३ २
हव्यवाहं पुरुप्रियम् ॥२॥

भाषार्थः—(**विश्पतिम्**) प्रजापालक (**हव्यवाहम्**) हव्य वा भोग्य फल पहुँचाने वाले (**पुरुप्रियम्**) बहुतों के प्यारे (**अग्निम् अग्निम्**) अग्नि वा परमेश्वर को (**हवीमभिः**) होमसाधनों वा पुकारने के मन्त्रों से (**सदा**) सर्वदा (**हवन्त**) होम करते वा पुकारते हैं ॥

अष्टाध्यायी ८।१।४॥ ८।१।२॥ ८।१।३॥ ३।२।७५॥ ६।४।३४॥ ६।१।१६७॥ ५।३।१५॥ ५।३।६॥ ३।१।८५॥ ६।२।१८॥ ६।२।१६६ और ३।२।६४ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋ० १।१२।२ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
७६२—**अग्ने देवाँ इहा वह जज्ञानो वृक्तबर्हिषे ।**
२ ३ १ २ ३ १ २
असि होता न ईड्यः ॥३॥

भावार्थ—(**अग्ने**) हे अग्नि ! वा परमेश्वर ! (**देवान्**) वायु आदि देवों वा शीलसन्तोषादि उत्तम दिव्यगुणों को (**इह**) इस यज्ञ में वा ध्यानयोग यज्ञ में (**आवह**) प्राप्त करा । (**वृक्तबर्हिषे**) यथार्थ आसन रचने वाले यजमान वा योगी के लिये (**जज्ञानः**) अरणियों में प्रकट वा हृदयकमल में साक्षात् हुआ (**नः**) हमारा (**होता**) होम का सिद्ध करने वाला वा कर्मफलदाता (**ईड्यः**) प्रशंसनीय (**असि**) है ॥

विवरणकार कहते हैं कि "आग्नेय आज्य कहा गया" ॥ ऋ० १ । १२ । ३ में भी ॥३॥

अथ द्वितीयतृचसूक्तस्य—मेधातिथिः काण्व ऋषिः । मित्रावरुणौ देवते । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
७९३—मित्रं वयं हवामहे वरुणं सोमपीतये ।
२ ३ २ ३ १ २
या जाता पूतदक्षसा ॥१॥

भावार्थः—(**वयम्**) हम याज्ञिक लोग (**सोमपीतये**) सोमपान के लिये (**मित्रम्**) प्राण और (**वरुणम्**) अपान को (**हवामहे**) पुकारते हैं । (**या**) जो दोनों (**पूतदक्षसा**) पवित्रबलयुक्त (**जाता**) हुए हैं "यज्ञ से" यह शेष है ॥

जैसे मनुष्य के देह में देहरक्षार्थ प्राण अपान हैं, वैसे इस ब्रह्माण्ड में भी प्राण अपान हैं । सोमादि के होम से इनकी अवस्था सुधरने और प्रबल होने पर प्राणियों का उत्तम निर्वाह होता है ॥ शतपथ १२ । ४ । ४ । १२ निरुक्त १०।३, १० । २१ निघण्टु ५ । ४ के प्रमाण और ऋ० १ । १३ । ४ का पाठभेद संस्कृत-भाष्य में देखिये ॥१॥

अथ द्वितीया

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
७९४—ऋतेन यावृतावृधावृतस्य ज्योतिषस्पती ।
२ ३ १ २र
ता मित्रावरुणा हुवे ॥२॥

भावार्थः—(**यौ**) जो (**ऋतेन**) यज्ञ से (**ऋतावृधौ**) यज्ञ के बढ़ाने वाले (**ऋतस्य**) सच्ची (**ज्योतिषः**) ज्योति के (**पती**) पालक हैं (**ता**) उन (**मित्रावरुणा**) प्राण और अपान को (**हुवे**) पुकारना = चाहता हूँ ॥

ऋ० १ । १३ । ५ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

७९५—वरुणः प्राविता भुवन् मित्रो विश्वाभिरूतिभिः ।
करतां नः सुराधसः ॥३॥

भाषार्थः—(वरुणः) अपान (अविता) रक्षक (प्र, भुवत्) समर्थ होवे । (मित्रः) प्राण (विश्वाभिः) सब (ऊतिभिः) रक्षाओं से समर्थ होवे । वे दोनों (नः) हम को (सुराधसः) बहुत धनयुक्त (करताम्) करें ॥

अष्टाध्यायी ३ । १ । ८५ ॥ ३ । ४ । ७८ ॥ ३ । ४ । १०१ ॥ ७ । ३ । ८४ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये । ऋ० १ । २३ । ६ में भी ॥३॥

अथ चतुर्ऋचस्य तृतीयसूक्तस्य—मधुच्छन्दा वैश्वामित्र ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

७९६—इन्द्रमिद्गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः ।
इन्द्रं वाणीरनूषत ॥१॥

इसकी व्याख्या (१९८) में हो चुकी है ॥

अथ द्वितीया

७९७—इन्द्र इद्धर्योः सचा सम्मिश्ल आ वचोयुजा ।
इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ॥२॥

भाषार्थः—(इन्द्रः इत्) परमेश्वर ही (वचोयुजा) वेदवचन से बन्धे हुए (हर्योः) ले चलने वाले शुभ और अशुभ कर्मो के मध्य (सचा) साथ-साथ (आ, संमिश्लः) सब जगह व्यापक है और (इन्द्रः) परमेश्वर (हिरण्ययः) ज्योतिःस्वरूप तथा (वज्री) दुष्टों को दण्ड देने वाला है ॥ ऋ० १।७।२ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

७९८—इन्द्र वाजेषु नोऽव सहस्रप्रधनेषु च ।
उग्र उग्राभिरूतिभिः ॥३॥

भावार्थः—(उग्र) हे सर्वोपरि वर्त्तमान ! इन्द्र ! परमेश्वर ! (उग्राभिः) सर्वोपरि वर्त्तमान (ऊतिभिः) रक्षाओं से (वाजेषु) संग्रामों में (च) और (सहस्रप्रधनेषु) असंख्य महाधन वाले महायुद्धों में (नः) हमारी (अव) रक्षा कीजिये ॥ ऋ० १ । ७ । ४ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थी

७९९—इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद्दिवि ।
वि गोभिरद्रिमैरयत् ॥४॥

भावार्थ - (इन्द्रः) परमेश्वर ने (दीर्घाय) बड़ी (चक्षसे) आंख के लिये (दिवि) द्युलोक में (सूर्यम्) सूर्य को (आरोहयत्) चढ़ाया है । वह सूर्य (गोभिः) किरणों से (अद्रिम्) मेघ को (वि, ऐरयत्) इधर उधर फैलाता है ॥ ऋ० १ । ७ । ३ में भी ॥४॥

इत्यैन्द्रमाज्यम्

(इति विवरणकारः)

अथ चतुर्थतृचसूक्तस्य-वसिष्ठ ऋषिः । इन्द्राग्नी देवते । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

८००—इन्द्रे अग्ना नमो बृहत् सुवृक्तिमेरयामहे ।
धिया धेना अवस्यवः ॥१॥

भावार्थः—(इन्द्रे) सूर्य वा विद्युत् और (अग्ना) अग्नि के निमित्त (बृहत्) बहुत (नमः) हव्य का (आ-ईरयामहे) हम होम करते हैं । और (अवस्यवः) अपनी रक्षा चाहते हुए हम (धिया) यज्ञ कर्म के साथ (धेनाः) वेदवाणियों का उच्चारित करते हैं । तथा (सुवृक्तिम्) [ऋत्विज् आदिकों का] भले प्रकार वरण करते हैं ।

अष्टाध्यायी ५ । १ । ३६ निघण्टु २ । ७ ॥ २ । १ ॥ १ । ११ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में दिये ॥ ऋ० ७ । ९४ । ४ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

८०१—ता हि शश्वन्त ईडत इत्था विप्रास ऊतये ।
सबाधो वाजसातये ॥२॥

भावार्थ—(**ता**) उन दोनों इन्द्र और अग्नि की (**वाजसातये**) अन्नलाभ के लिये और (**ऊतये**) रक्षा के लिये (**विप्रासः**) बुद्धिमान् (**शश्वन्तः**) बहुत से (**सबाधः**) ऋत्विज् लोग (**इत्था**) ऐसे (**हि**) जिस कारण (**ईळते**) प्रशंसा करते हैं। इस कारण हम भी प्रशंसा करते हैं। यह अगले मन्त्र से अन्वय है॥

निघण्टु ३। १॥ ३। १५॥ ३। १८॥ २। ७ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये॥ ऋ० ७। ९४। ५ में भी॥२॥

अथ तृतीया

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
८०२—ता वां गीर्भिर्विपन्युवः प्रयस्वन्तो हवामहे।
३ १ २ ३ १ २
मेधसाता सनिष्यवः॥३॥

भावार्थः—(**ता**) उन (**वाम्**) तुम दोनों इन्द्र और अग्नि की (**मेधसाता**) यज्ञसेवनार्थ (**सनिष्यवः**) सेवन को चाहते हुए (**प्रयस्वन्तः**) हव्य अन्न वाले (**विपन्यवः**) बुद्धिमान् हम (**गीर्भिः**) वेदवाणियों से (**हवामहे**) प्रशंसा करते हैं॥

निघण्टु ३। १५॥ २। ७॥ ३। १७ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये॥ ऋ० ७। ९४। ६ में भी॥३॥

उक्तं प्रातःसवनम्
(इति विवरणकारः)

इदानीं माध्यन्दिनं सवनमभिधीयते
(इति च विवरणकारः)

अथ तृतीयखण्डे प्रथमतृचसूक्तस्य भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा ऋषिः।
पवमानः सोमो देवता। गायत्री छन्दः॥

तत्र प्रथमा

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
८०३—वृषा पवस्व धारया मरुत्वते च मत्सरः।
२ ३ १ २ ३ १
विश्वा दधान ओजसा॥१॥

इसकी व्याख्या (४६९) में हो गई है॥१॥

अथ द्वितीया

८०४—तं त्वा धर्त्तारमोण्योऽ३पवमान स्वर्दृशम् ।
हिन्वे वाजेषु वाजिनम् ॥२॥

भावार्थः—(**पवमान**) पवित्रतासंपादक ! सोम ! (**तम्**) पूर्व मन्त्र में वर्णित (**ओण्योः धर्त्तारम्**) द्युलोक और पृथिवी लोक को अपने प्रभाव से धारण करने वाले (**स्वर्दृशम्**) सूर्य्य के समान दृष्टि के सहायक (**वाजिनम्**) बलयुक्त और बलदायक (**त्वा**) तुझको (**वाजेषु**) बलों के निमित्त (**हिन्वे**) प्रसन्न = आत्मानुकूल करता हूँ ॥

निघण्टु ३ । ३० ॥ १ । ४ इत्यादि का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ९ । ६५ । ११ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

८०५—अया चित्तो विपानया हरिः पवस्व धारया ।
युजं वाजेषु चोदय ॥३॥

भावार्थः—पूर्व मन्त्र से अनुवृत्ति लेकर—हे पवमान ! सोम ! तू (**अया**) जाने वाली (**अनया**) इस (**धारया**) धारा से (**विपा**) विद्वान् ऋत्विज् द्वारा हवन किया हुआ (**हरिः**) हरितवर्ण (**चित्तः**) निकला हुआ (**पवस्व**) फैल । और (**युजम्**) सहयोगी इन्द्र को (**वाजेषु**) मेघयुद्धों में (**चोदय**) प्रवृत्त कर ॥

अर्थात् जब विद्वान् ऋत्विज् चलती धार से सोम का हवन करते हैं तब वह हरितवर्ण धूम्ररूप में परिणत होता हुआ मेघों तक पहुँचता और वर्षा का हेतु होता है ॥

अष्टाध्यायी ३ । १ । १३४ ॥ ७ । १ । ३९ और निघण्टु ३ । १५ ॥ २ । १७ के प्रमाण संस्कृत भाष्य में देखिये ॥ ऋ० ९ । ६५ । १२ में भी ॥३॥

अथ द्वितीयतृचसूक्तस्य—उपमन्युर्वासिष्ठ ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

८०६—वृषा शोणो अभि कनिक्रदद्गा नदयन्नेषि पृथिवीमुत द्याम् ।
इन्द्रस्येव वग्नुरा शृण्व आजौ प्रचोदयन्नर्षसि वाचमेमाम् ॥१॥

भावार्थः—(**इव**) जैसे (**वृषा**) सांड या बैल (**गाः**) गौओं को (**अभि**) देखकर (**कनिक्रदत्**) शब्द करता है ऐसे ही सोम ! तू भी (**पृथिवीम् उत द्याम्**) पृथिवी और द्युलोक को (**नदयन्**) शब्द से पूरित करता हुआ (**एषि**) आकाश को जाता है । तब (**इन्द्रस्य**) विद्युत् का (**वग्नुः**) शब्द (**आजौ**) मेघ और सूर्य के संग्राम में (**आशृण्वे**) सब ओर सुना जाता है । इस प्रकार (**हरीणः**) पीतवर्ण सोम (**इमाम्**) इस चटचटा शब्दरूपिणी (**वाचम्**) वाणी को (**प्रचोदयन्**) बोलता हुआ (**आ**) सब ओर (**अर्षसि**) जाता है ।।

अष्टाध्यायी ७ । ४ । ६५ निघण्टु १ । ११ ।। २ । १७ के प्रमाण संस्कृत-भाष्य में देखिये ।। ऋ० ९ । ९७ । १३ में प्रचोदयन् के स्थान में प्रचेतयन् पाठ है और सायणाचार्य ने भ्रान्ति से उसी की व्याख्या यहां भी करदी है ।।१।।

अथ द्वितीया

३२ ३ १२३ १ २ ३ १ २ ३ १२३ ३२
८०७—रसाय्यः पयसा पिन्वमान ईरयन्नेषि मधुमन्तमंशुम् ।
१२ ३ १२ ३ १ २९ ३ १ २
पवमानः सन्तनिमेषि कृण्वन्निन्द्रायसोम परिषिच्यमानः ।।२।।

भावार्थः—(**पवमानः**) शोधे जाते हुए (**सोम**) सोम ! तू (**रसाय्यः**) रसालु और (**पयसा पिन्वमानः**) प्राण से वृद्धि को प्राप्त होता हुआ (**इन्द्राय**) सूर्य के लिये (**ईरयन्**) ऊपर उठता हुआ (**मधुमन्तम्**) मधुरतायुक्त (**अंशुम्**) किरणगत जलकरण को (**एषि**) प्राप्त होता है (**परिषिच्यमानः**) सब ओर वर्षता और (**सन्तनिम्**) विस्तार को (**कृण्वन्**) करता हुआ (**एषि**) जाता है ।।

शतपथ ६ । ५ । २ । १५ उणादि ३ । ९६ इत्यादि प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।। ऋ० ९ । ९७ । १४ में भी ।।२।।

अथ तृतीया

३ १ २ ३२ २९ ३ १ २ ३ १२ ३ २
८०८—एवा पवस्व मदिरो मदायोदग्राभस्य नमयन्वधस्नुम् ।
२ ३ २ ३ १२ २ १२ ३ १ २ ३
परि वर्णं भरमाणो रुशन्तं गव्युर्नो अर्ष
१ २ ३ २
परि सोम सिक्तः ।।३।।

भावार्थः—(**सोम**) ओषधिराज ! (**एवा**) इस प्रकार (**मदिरः**) हर्षदा-यक, (**रुशन्तं, वर्ण, परि, भरमाणः**) प्रकाशित श्वेत, रंग को, सर्वतः, धारण करता हुआ (**सिक्तः**) सींचा=अग्नि में टपकाया हुआ (**गव्युः**) सूर्यकिरणों को

मानो चाहता हुआ (उदप्रामस्य, वधस्नु, नमयन्) मेघ के टपकते सानु को, नमाता हुआ (नः) हमारे (मदाय) हर्ष के लिये (हरि--अर्व) सब ओर फैला ॥ ऋ० ६। ६७। १५ में वधस्नैः पाठ है ॥२॥

अथ चतुर्थखण्डे प्रथमस्य प्रगाथस्य सूक्तस्य शंयुर्बार्हस्पत्य ऋषिः।
इन्द्रो देवता। बृहती छन्दः॥

तत्र प्रथमा

८०९—त्वामिद्धि हवामहे सातौ वाजस्य कारवः।
त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वां काष्ठास्वर्वतः ॥१॥

इसकी व्याख्या (२३४) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

८१०—स त्वं नश्चित्र वज्रहस्त धृष्णुया मह स्तवानो अद्रिवः।
गामश्वं रथ्यमिन्द्र सं किर सत्रा वाजं न जिग्युषे ॥२॥

भावार्थ:— (**चित्र**) हे आश्चर्यमय ! (**वज्रहस्त**) अपने सुखस्वरूप में दुष्टदमनार्थ दण्ड धारण करने वाले ! (**अद्रिवः**) मेघों के स्वामी ! (**इन्द्र**) परमेश्वर ! (**सः**) पूर्ववर्णित (**त्वम्**) आप (**धृष्णुया**) शत्रुओं को दबाने वाले (**महः**) महान् (**स्तवानः**) स्तुति किये जाते हुए (**नः**) हमारे लिये (**गाम् अश्वम्**) गौ बैल घोड़े आदि पशु (**रथ्यम्**) वाहन योग्य (**सत्रा**) सदा (**संकिर**) दीजिये। (**न**) जैसे (**जिग्युषे**) जीतने वाले वीर को (**वाजम्**) अन्नादि उपहार भोगार्थ देते हैं तद्वत् ॥

अष्टाध्यायी ७। १। ३९ उणादि ३। ८६ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ६। ४६। २ में भी ॥२॥

अथ प्रगाथस्य द्वितीय सूक्तस्य—प्रस्कण्वः काण्व ऋषिः।
इन्द्रो देवता। बृहती छन्दः॥

तत्र प्रथमा

८११—अभि प्र वः सुराधसमिन्द्रमर्च यथा विदे।
यो जरितृभ्यो मघवा पुरूवसुः सहस्रेणेव शिक्षति ॥१॥

इसकी व्याख्या (२३५) में हो गई ॥१॥

अथ द्वितीया

८१२—शतानीकेव प्र जिगाति धृष्णुया हन्ति वृत्राणि दाशुषे ।
गिरेरिव प्र रसा अस्य पिन्विरे दत्राणि पुरुभोजसः ॥२॥

भावार्थः—(धृष्णुया) तेजस्वी वीर (शतानीकेव) बहुत सी शत्रुसेनाओं को जीतता और नष्ट करता है वैसे ही परमेश्वर (वृत्राणि) पापों को (प्रजिगाति) जीतता और (हन्ति) नष्ट करता है। तथा (पुरुभोजसः) असंख्य धन वाले (अस्य) इस परमेश्वर के (दत्राणि) दान (दाशुषे) दान यज्ञादि करने वाले यजमान के लिए (प्रपिन्विरे) प्रवाह से बहते हैं। दृष्टान्त—(गिरेरिव रसाः) जैसे पर्वत के जल बहते हैं तद्वत् ॥

ऋ० ८ । ४९ । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीय प्रगाथस्य—नृमेधा ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥
तत्र प्रथमा

८१३—त्वामिदा ह्यो नरोऽपीप्यन् वज्रिन् भूर्णयः ।
स इन्द्र स्तोमवाहस इह श्रुध्युप स्वसरमा गहि ॥१॥

इसकी व्याख्या (३०२) में हो चुकी ॥१॥

अथ द्वितीया

८१४—मत्स्वा सुशिप्रिन्हरिवस्तमीमहे त्वया भूषन्ति वेधसः ।
तव श्रवांस्युपमान्युक्थ्य सुतेष्विन्द्र गिर्वणः ॥२॥

भावार्थ—(सुशिप्रिन्) हे उत्तम व्याप्ति वाले ! (हरिवः) कर्मों की धरोहर रखने वाले ! (उक्थ्य) स्तुत्य ! (गिर्वणः) वाणियों से भजनीय ! (इन्द्र) परमेश्वर ! (तम्) पूर्वोक्त गुणगरिष्ठ आप से (ईमहे) हम मांगते हैं प्रार्थना करते हैं कि (त्वया) आपकी सहायता से (वेधसः) बोधयुक्त उपासक लोग (भूषन्ति) शोभमान होते हैं। (तव) आपके (श्रवांसि) यश (उपमानि)

उपमान हैं, न कि किसी से उपमेय । वह आप (सुतेषु) पुत्रतुल्य भक्तों पर (मत्स्व) प्रसन्न हूजिये ॥

उणादि २ । १३ इत्यादि के प्रमाण और ऋ० ८ । ९९ । २ के पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ पंचमखण्डे प्रथम तृचसूक्तस्य—प्रमहीयुर्ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

८१५—यस्ते मदो वरेण्यस्तेना पवस्वान्धसा ।
देवावीरघशंसहा ॥३॥

इसकी व्याख्या (४७०) में हो गई ॥१॥

अथ द्वितीया

८१६—जघ्निर्वृत्रममित्रियं सस्निर्वाजं दिवे दिवे ।
गोषातिरश्वसा असि ॥२॥

भावार्थः— सोम (अमित्रियं वृत्रं जघ्निः) अमित्रकर्मकारक शत्रु का घातक (वाजं सस्निः) बल का दायक, (गोषातिः) इन्द्रियों का दाता और (अश्वसाः) प्राणप्रद (असि) है ॥ ऋ० ९ । ६१ । २० में "गोहा उ अश्वसाः" ऐसा पाठ है ॥२॥

अथ तृतीया

८१७—सम्मिश्लो अरुषो भुवः सूपस्थाभिर्न धेनुभिः ।
सीदञ्छ्येनो न योनिमा ॥३॥

भावार्थः—सोम (सूपस्थाभिः) सुन्दर उपस्थान वाली (धेनुभिः) गौओं के (न) समान वेदवाणियों के साथ (संमिश्लः) मिला हुआ (योनिम्) वेदी में (आसीदन्) होम होते हुए स्थित हुआ (श्येनः) श्येन पक्षी (न) सा (अरुषः) तीव्रगामी (भुवः) होता है ॥

शतपथ ६ । १ । २ । १७ उणादि ४ । ७३ निघण्टु १।११ इत्यादि प्रमाण और ऋ० ६ । ६१ । २१ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ।।३।।

अथ द्वितीयतृचस्य नहुषोमानव ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ।।

तत्र प्रथमा

८१८—अयं पूषा रयिर्भगः सोमः पुनानो अर्षति ।
पतिर्विश्वस्य भूमनो व्यख्यद्रोदसी उभे ।।१।।

इसकी व्याख्या (५४६) में हो चुकी है ।।१।।

अथ द्वितीया

८१९—समु प्रिया अनूषत गावो मदाय घृष्वयः ।
सोमासः कृण्वते पथः पवमानास इन्दवः ।।२।।

भावार्थः - (उ) प्रसिद्ध है कि (प्रियाः) प्रीतिकरी (घृष्वयः) अत्यन्त दीप्त (गावः) वाणियें (मदाय) हर्ष के लिए (सम् अनूषत) सोम का भले प्रकार वर्णन करती हैं और (पवमानासः) शुद्ध करते हुए (इन्दवः) दीप्तिमान् (सोमासः) सोम (पथः) मार्गों को (कृण्वते) आकाशगमनार्थ करते हैं ।। ऋ० ६ । १०१ । ८ में भी ।।२।।

अथ तृतीया

८२०—य ओजिष्ठस्तमा भर पवमान श्रवाय्यम् ।
यः पञ्च चर्षणीरभि रयिं येन वनामहे ।।३।।

भावार्थः —(पवमान) सोम ! वा शुद्धस्वरूप परमात्मन् ! (यः) जो (ओजिष्ठः) अति बलवान् तेरा रस वा आपके आनन्द का रस है और (यः) जो (पञ्च) पांच (चर्षणीः) १ यजमान और ४ होता आदि ऋत्विज् इन ५ मनुष्यों को वा पञ्च ज्ञानेन्द्रियों को (अभि) व्यापकर वर्त्तमान है और (येन) जिससे (रयिम्) धनादि ऐश्वर्य को (वनामहे) हम संभजन करते हैं (तम्) उस (श्रवाय्यम्) श्रवण करने योग्य प्रशंसनीय रस वा आनन्दरस को (आभर) हमें प्राप्त करा, वा कराइये ।। ऋ० ६ । १०१ । ६ में भी ।।३।।

अथ तृतीयतृचस्य—आद्ययोर्द्वयोः सिकतानिवावरी, तृतीयायाः पृष्णयोऽजा ऋषयः । पवमानः सोमो देवता । जगती छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१ २   ३ १ २   २ २उ   ३ १ २
८२१—वृषा मतीनां पवते विचक्षणः सोमो अह्नां
३ १ २र ३ २
प्रतरीतोषसां दिवः ।
३ १   २र   ३ १ २   ३ १ २ ३
प्राणा सिन्धूनां कलशां अचिक्रददिन्द्रस्य
१ २ ३ १ २ ३ १ २
हार्द्याविशन्मनीषिभिः ॥१॥

इसकी व्याख्या (५५६) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

३ १ २   ३ २ ३ १
८२२—मनीषिभिः पवते पूर्व्यः कवि-
२र ३ २उ   ३ १ २
र्नृभिर्यतः परि कोशां असिष्यदत् ।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
त्रितस्य नाम जनयन्मधु क्षरन्निन्द्रस्य
३ २ ३ १ २ ३ १ २
वायुं सख्याय वर्धयन् ॥२॥

भावार्थः—यह सोम (**मनीषिभिः**) विद्वानों द्वारा (**पवते**) शुद्ध किया जाता है । फिर (**पूर्व्यः**) पुराना (**कविः**) बुद्धि तत्त्व वाला (**नृभिः यतः**) धर्मकर्त्ता पुरुषों से यत्नपूर्वक प्रयोग में लाया जाता हुआ (**कोशान्**) द्रोणकलशों को (**परि**) छोड़ कर—उनसे निकलकर (**त्रितस्य**) तीनों लोकों में फैले हुए [यहाँ सायणाचार्य ने भी यही अर्थ किया है, त्रित नामक ऋषि अर्थ नहीं किया] (**इन्द्रस्य**) वायुविशेष के (**नाम**) नमाने वाले जल को (**जनयन्**) उत्पन्न करता हुआ (**मधु**) मधुर रस को (**क्षरन्**) वर्षाता हुआ (**सख्याय**) स्नेह वा मित्रता (**वर्धयन्**) बढ़ाता हुआ (**असिष्यदत्**) वर्षता है ॥ ऋ० ९ । ८६ । २० के पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ तृतीया

८२३—अयं पुनान उषसो अरोचयदयं
सिन्धुभ्यो अभवदु लोककृत् ।
अयं त्रिः सप्त दुदुहान आशिरं
सोमो हृदे पवते चारु मत्सरः ॥३॥

भावार्थः—(**अयम्**) यह सोम (**पुनानः**) पवित्र करता हुआ (**उषसः**) प्रभातसमयों को (**अरोचयत्**) प्रकाशित करता है (**उ**) और (**अयम्**) यह सोम (**सिन्धुभ्यः**) नदियों से (**लोककृत्**) लोकों का कर्त्ता (**अभवत्**) है (**अयम्**) यह (**सोमः**) सोम (**त्रिःसप्त**) एक मन, १० इन्द्रियें, १० प्राण=सब इक्कीसों को (**आशिरम्**) रस से (**प्रपूरयन्**) भरता हुआ (**हृदे**) हृदय के लिये (**चारु**) उत्तम (**मत्सरः**) हर्षकारक (**पवते**) पवन के समान बहता है ॥

अर्थात् सोमयाग से सुवृष्टि आदि होकर सुन्दर प्रभात समय होते हैं, नदियों के प्रवाह बढ़कर लोक की ऋद्धि होती है, सोमसेवन से प्राणादि का बल बढ़ता है। यह सोम वायु को व्याप कर चित्त को हर्षदायक होता हुआ वायु के समान बढ़ता है ॥ ऋ० ९ । ८६ । २१ में विरोचयत् पाठ है ॥३॥

अथ षष्ठे खण्डे प्रथमतृचस्य आङ्गिरसः श्रुतकक्षो वा ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

८२४—एवा ह्यसि वीरयुरेवा शूर उत स्थिरः ।
एवा ते राध्यं मनः ॥१॥

इसकी व्याख्या (२३२) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

८२५—एवा रातिस्तुवीमघ विश्वेभिर्धायि धातृभिः ।
अधा चिदिन्द्र नः सचा ॥२॥

भावार्थः—(**तुवीमघ**) हे बहुत कोष धन वाले ! (**इन्द्र**) राजन् ! (**विश्वेभिः**) सब (**धातृभिः**) कर्मधारक राजपुरुषों से [आप का] (**रातिः**) [वेतनादि] देना (**धायि**) धारण किया जाता है (**अध**) और आप (**नः**) हम प्रजाजनों के (**चित्**) भी (**सचा**) धनादि देने से (**एव**) ही व्यापार सहायक हूजिये ॥ ऋ० ८ । ६२ । २९ में—इन्द्र में सचा—पाठ है ॥२॥

अथ तृतीया

८२६—मो षु ब्रह्मेव तन्द्रयुर्भुवो वाजानां पते ।
मत्स्वा सुतस्य गोमतः ॥३॥

भावार्थः—(**वाजानां पते**) हे सेना वा बलों के रक्षक ! राजन् ! तू (**गोमतः**) इन्द्रियों की शक्ति के उत्तेजक (**सुतस्य**) अभिषुत सोम के, पान से (**सुमत्स्व**) अच्छे प्रकार हृष्ट जो (**उ**) और (**तन्द्रयुः**) धनादि सम्पत्ति के प्रमाद से आलस्ययुक्त (**मा**) मत (**भुवः**) हो । दृष्टान्त—(**ब्रह्मेव**) जैसे ब्राह्मण लोग प्रायः धनादि भोगसाधनों में रति न होने से उनका सञ्चय नहीं करते और इसी से प्रमाद नहीं करते, तद्वत् ॥ ऋ० ८ । ६२ । ३० में भी ॥३॥ [१८]

अथ द्वितीयतृचस्य–जेता माधुच्छन्दस ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

८२७—इन्द्रं विश्व अवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः ।
रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिम् ॥१॥

इसकी व्याख्या (३४३) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

८२८—सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते ।
त्वामभि प्र नोनुमो जेतारमपराजितम् ॥२॥

भावार्थः—(**इन्द्र**) हे परमेश्वर ! वा हे राजन् ! (**ते**) तेरी (**सख्ये**) मित्रता=अनुकूलता में हम (**वाजिनः**) अन्न और बल वाले होते हुए (**मा भेम**) किसी से न डरें । (**शवसस्पते**) हे बलपते ! (**जेतारम्**) जीतने वाले (**अपरा-**

जितम्) किसी से भी न हारने वाले (त्वाम्) तुझ को (अभि प्र नोनुमः) सर्वतः अत्यन्त स्तुत करते हैं ।।

अष्टाध्यायी ६ । १ । ६५ ।। २ । ४ । ७४ ।। १ । १ । ६२ ।। ६ । १ । ६ ।। ७ । ४ । ८२ ।। ३ । १ । ३२ ।। ३ । ४ । ७८ ।। २ । ४ । ७२ के प्रमाण और ऋ० १ । ११ । २ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ।।२।।

अथ तृतीया

८२६—पूर्वीरिन्द्रस्य रातयो न वि दस्यन्त्यूतयः ।
यदा वाजस्य गोमत स्तोतृभ्यो मंहते मघम् ।।३।।

भाषार्थः—(यदा) जब (गोमतः) गौ के सहित (वाजस्य) अन्न का (मघम्) धन (स्तोतृभ्यः) ऋत्विजों को (मंहते) कोई यजमान श्रद्धा से दान करता तब (इन्द्रस्य) परमात्मा की (ऊतयः) रक्षायें और (रातयः) दानक्रियायें जो (पूर्वीः) सनातन हैं (न विदस्यन्ति) उस यजमान पर क्षीण नहीं होतीं ।।

अर्थात् श्रद्धा और विधि से यज्ञ करते हुए गौ आदि धन-धान्य की दक्षिणा देने वाले यजमान को परमात्मा कृपया अनेक प्रकार के धनधान्यादि दानसे उपस्कृत करता है और उसकी रक्षा करता है ।।

ऋ० १ । ११ । ३ का पाठान्तर और निघण्टु २ । १० ।। ३ । १० अष्टाध्यायी ६ । १ । १०६ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।।३।।

इति द्वितीयप्रपाठके प्रथमोऽर्धः ।।

इति श्रीमत्कण्ववंशावतंस पण्डित हजारीलाल स्वामिसूनुना
हस्तिनापुर पार्श्ववर्ति परीक्षितगढ़ निवासिना
तुलसीरामस्वामिना कृते सामवेदभाष्य उत्तरार्चिके
तृतीयाध्यायस्य षष्ठः खण्डः समाप्तः ।।

तृतीयोऽध्यायश्च समाप्तः ।।३।।

ओ३म्

अथ चतुर्थाध्यायः

द्वितीयप्रपाठके द्वितीयोऽर्धः

तत्र

प्रथमखण्डे एते असृग्रमिति प्रथम तृचस्य—जमदग्निऋर्षिः । पवमानः सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

८३०—एत असृग्रमिन्दवस्तिरः पवित्रमाशवः ।
विश्वान्यभि सौभगा ॥१॥

भावार्थः—(**तिरः पवित्रम्**) तिरछे दशापवित्र के प्रति (**आशवः**) शीघ्र जाने वाले (**एते**) ये (**इन्दवः**) सोम (**विश्वा**) सब (**सौभगा**) सौभाग्यों को (**अभि**) लक्ष्य में रख कर (**असृग्रम**) [अग्नि में] छोड़े जाते हैं ॥

विवरणकार कहते हैं कि "अब तृतीय दिन का आरम्भ किया जाता है।"

ऋ० ६ । ६२ । १ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

८३१—विघ्नन्तो दुरिता पुरु सुगा तोकाय वाजिनः ।
त्मना कृण्वन्तो अर्वतः ॥२॥

भावार्थः—[प्रकरण से] सोम (**दुरिता**) दुःखों को (**विघ्नन्तः**) नष्ट करते हुए (**वाजिनः**) बलयुक्त और बलदायक हैं तथा (**तोकाय**) सन्तान के लिये (**पुरु**) बहुत (**सुगा**) सुगम (**अर्वतः**) प्राणों के [शतपथ ५ । २ । ४ । ६] (**त्मना**) आत्मा के सहित (**कृण्वन्तः**) करने वाले हैं इसलिये सोम सेवनीय हैं ॥

ऋ० ६ । ६२ । २ के पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ तृतीया

८३२—कृण्वन्तो वरिवो गवेऽभ्यर्षन्ति सुष्टुतिम् ।
इडामस्मभ्यं संयतम् ॥३॥

भावार्थः—(गवे) इन्द्रियों के लिये (इडाम्) अन्न के रस को (संयतं कृण्वन्तः) सम्बद्ध करते हुए और (अस्मभ्यम्) हम सोमसेवियों के लिये (वरिवः) धनैश्वर्य करते हुए सोम (सुष्टुतिम्) शोभन प्रशंसा को (अभ्यर्षन्ति) सर्वतः प्राप्त होते हैं ॥

ऋ० ६ । ६२ । ३ में भी ॥

अथ द्वितीय तृचस्य—भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा ऋषिः ।
पवमानः सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

८३३—राजा मेधाभिरीयते पवमानो मनावधि ।
अन्तरिक्षेण यातवे ॥१॥

भावार्थः—(पवमानः) शुद्धि करता हुआ [(राजा) सोम [सायणाचार्य ने भी "सोमं राजानम्" इत्यादि देखने से यही अर्थ किया है] (अन्तरिक्षेण) आकाश मार्ग से (यातवे) जाने के लिये (मनो अधि) यज्ञ में (मेधाभिः) बुद्धितत्त्वों के सहित (ईयते) प्राप्त होता है ॥

ऋ० ६ । ६५ । १६ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

८३४—आ नः सोम सहो जुवो रूपं न वर्चसे भर ।
सुष्वाणो देववीतये ॥२॥

भावार्थः—(सोम) सोम (देववीतये) देवतों को देने=होम के लिये (सुष्वाणः) अभिषुत किया हुआ (नः) हमारे लिये (वर्चसे) तेज के निमित्त (सहः) शत्रुदमन योग्य (जुवः) बल (न) और (रूपम्) सौन्दर्य (आभर) देता है ॥ ऋ० ६ । ६५ । १८ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१ २ ३ २३ २३ २ ३ १ २
८३५—आ न इन्दो शातग्विनं गवां पोषं स्वश्व्यम् ।
२३ १२ ३१२
वहा भगत्तिमूतये ॥३॥

भावार्थः—(इन्दो) सोम (नः) हमारे लिये (शातग्विनम्) बहुत सी इन्द्रियों की शक्ति वाली [इसी से] (गवाम्) इन्द्रियों की (पोषम्) पुष्टि, (स्वश्व्यम्) उत्तम अश्वों के भाव और (भगत्तिम्) ऐश्वर्य का दान (ऊतये) रक्षा के लिये (आ–वह) प्राप्त कराता है ॥

ऋ० ६ । ६५ । १७ में भी ॥३॥

तन्त्वा नृम्णानीति पञ्चर्चस्य तृतीयसूक्तस्य --कविर्भार्गव ऋषिः ।; छन्दो देवते उक्ते ॥

तत्र प्रथमा

१ २ ३ २ ३ १२ ३१ २ ३ २ ३२
८३६—तं त्वा नृम्णानि बिभ्रतं सधस्थेषु महो दिवः ।
१ २ ३ १ २
चारुं सुकृत्ययेमहे ॥१॥

भावार्थः—हे शान्तस्वरूप ! सोम ! परमात्मन् ! (महोदिवः) अनन्त आकाश के (सधस्थेषु) साथ वाले सब लोकों में और उससे भी बाहर व्यापक, (नृम्णानि) धनों वा बलों को (बिभ्रतम्) धारते हुए (चारुम्) आनन्दस्वरूप (तम्) उस अनेक वैदिक स्तोत्रों से स्तुत (त्वा) आपको (सुकृत्यया) सुकर्म से (ईमहे) हम पाते हैं ॥

निघण्टु २ । ६, १० के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋ० ६ । ४८ । १ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

१ २ ३क २र ३ १ २ ३ १ २
८३७—संवृक्तधृष्णुमुक्थ्यं महामहिव्रतं मदम् ।
३१ २र ३ १ २
शतं पुरो रुरुक्षणिम् ॥२॥

भावार्थः—हे सोम ! परमात्मन् ! (संवृक्तधृष्णुम्) शत्रुविनाशक (उक्थ्यम्) स्तुतियोग्य (महामहिव्रतम्) प्रशंसनीय अनन्त कर्मों के कर्त्ता, (मद

आनन्दस्वरूप, (शतम्) असंख्य (पुरः) प्राणिदेहों के (रुरुक्षणिम्) मृत्यु द्वारा विनाशक [आपको हम पाते हैं] यह पूर्व मन्त्र से अनुवृत्ति है ॥

महामहिव्रतम्—यहां महान् अर्थ के लिये दो शब्दों के प्रयोग से अत्यन्त महान् अर्थ लिया जाता है ॥

ऋ० ६ । ४८ । २ भी ॥२॥

अथ तृतीया

८३८—अतस्त्वा रयिरभ्ययद्राजानं सुक्रतो दिवः ।
सुपर्णो अव्यथी भरत् ॥३॥

भावार्थः—(सुक्रतो) हे उत्तम कर्मों के अधिष्ठाता ! सोम ! शान्त-स्वरूप ! परमात्मन् ! क्योंकि (सुपर्णः) सुन्दर पालनादि गुणों वाले (अव्यथी) दुःखरहित निरञ्जन आप (भरत्) त्रिलोकी का पोषण करते हैं (अतः) इससे (रयिः) ऐश्वर्य और उसका चाहने वाला पुरुष (दिवः) आकाशगत लोक लोकान्तरों के (राजानम्) राजा (त्वा) आपको (अभ्ययत्) सब ओर से शरण लेता है ॥ ऋ० ६ । ४८ । ३ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥३॥

अथ चतुर्थी

८३९—अधा हिन्वान इन्द्रियं ज्यायो महित्वमानशे ।
अभिष्टिकृद्विचर्षणिः ॥४॥

भावार्थः—(अध) और (अभिष्टिकृत्) अभीष्टफलदाता (विचर्षणिः) विविध मनुष्यों का स्वामी, वा विशेष द्रष्टा जगत् का साक्षी परमात्मा (इन्द्रियम्) अपने आप से व्याप्त जगत् को (हिन्वानः) प्रेरित करता हुआ (ज्यायः) बड़े उत्तम (महित्वम्) महत्त्व को (आनशे) प्राप्त है ॥

अष्टाध्यायी ५ । २ । ९३ इत्यादि प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋ० ६ । ४८ । ५ में भी ॥४॥

अथ पञ्चमी

८४०—विश्वस्मा इत्स्वर्दृशे साधारणं रजस्तुरम् ।
गोपामृतस्य विर्भरत् ॥५॥

भावार्थः—(**रजस्तुरम्**) सूर्यादि लोकों के घुमाने वाले, (**ऋतस्य**) यज्ञ के (**गोपाम्**) रक्षक, (**विश्वस्मै**) सर्व (**स्वर्दृशे**) आनन्द दिखाने के लिये (**साधारणम्**) साधारण (**इत्**) ही वर्त्तमान सोम शान्तस्वरूप परमात्मा का (**विः**) पक्षी जीवात्मा (**भरत्**) ध्यान करे ।।

निरुक्त ४ । १९ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।। लोकों को रज इसलिये कहा जाता है कि धूलिकण के समान परमात्मा ने धार रखे हैं ।।

ऋ० ९ । ४८ । ४ में भी ।।५।।

अथ तृचात्मकस्य चतुर्थसूक्तस्य—कश्यप ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । गायत्री छन्दः ।।

तत्र प्रथमा

३१२ ३ १२ ३ १२ ३ १२
८४१—इषे पवस्व धारया मृज्यमानो मनीषिभिः ।
१ २ ३ १ २र
इन्दो रुचाभि गा इहि ।।१।।

इसकी व्याख्या (५०५) में हो चुकी है ।।१।।

अथ द्वितीया

३ १ २र ३ २३ १ २
८८२—पुनानो वरिवस्कृध्यूर्जं जनाय गिर्वणः ।
१२ ३ २ ३ १२
हरे सृजान आशिरम् ।।२।।

भावार्थः—(**गिर्वणः**) वाणियों से प्रशंसनीय ! सोम ! परमात्मन् ! वा ओषधि ! (**हरे**) जगद्धर्ता ! वा हरित वर्ण हुआ सोम (**पुनानः**) शुद्धि करता हुआ और (**आशिरम्**) प्राण को (**सृजानः**) देता हुआ (**जनाय**) ध्यानयज्ञ वा देवयज्ञ के यजमान के लिए (**वरिवः**) धन वा सुख और (**ऊर्जम्**) बल सम्पादन (**कृधि**) कीजिये वा करता है ।।

ध्यान स्मरण किया परमात्मा वा हवन किया हुआ सोम यजमान के धन धान्य बल पौरुषादि को बढ़ाता है ।।

शतपथ १२ । ३ । ५ । २० निघण्टु २ । १० के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।। ऋ० ९ । ६४ । १४ में भी ।।२।।

अथ तृतीया

८४३—पुनानो देववीतय इन्द्रस्य याहि निष्कृतम् ।
द्युतानो वाजिभिर्हितः ॥३॥

भावार्थः—हे सोम ! शान्तस्वरूप ! निरुपद्रव ! परमात्मन् ! (**पुनानः**) अपवित्रों को पवित्र करने वाले, (**द्युतानः**) अन्धियारे को उजियाला करने वाले, (**वाजिभिः**) प्राणायामों के साथ (**हितः**) ध्यान=धारण किये हुए आप (**देववीतये**) विद्वान् भक्त जनों को प्राप्त होने के लिए (**इन्द्रस्य**) इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव के (**निष्कृतम्**) शुद्ध किये हुए अन्तःकरण स्थान में (**याहि**) सर्वग होने से वर्त्तमान भी साक्षात् अनुभूत हूजिये ।।

ओषधि के पक्ष में सोम ! (**पुनानः**) पवित्रता और (**द्युतानः**) प्रकाश करता हुआ (**वाजिभिः**) हविष् वाले होता आदि से (**हितः**) धारण किया हुआ (**देववीतये**) वायु आदि देवों को प्राप्त होने के लिये (**इन्द्रस्य**) बिजुली के (**निष्कृतम्**) स्थान अन्तरिक्ष को (**याहि**) प्राप्त हो [होमद्वारा] ।।

शतपथ ५ । २ । ४ । ६ का प्रमाण और ऋ० ६ । ६४ । १५ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ।।३।।

अथ द्वितीयखण्डे प्रथमतृचस्य—मेधातिथिः काण्व ऋषिः ।
अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः ।।

तत्र प्रथमा

८४४—अग्निनाग्निः समिध्यते कविर्गृहपतिर्युवा ।
हव्यवाड् जुह्वास्य ॥१॥

भावार्थ—विवरणकार कहते हैं कि—बहिष्पवमान कहा गया, अब सप्तदश स्तोम के भेद कहते हैं कि यहाँ से आज्यों का वर्णन है, जिसमें यह आग्नेय आज्य का आरम्भ है ।। (**कविः**) मेधातत्त्वोद्बोधक (**गृहपतिः**) यज्ञानुष्ठान सम्पन्न घर का रक्षक (**युवा**) कभी वृद्ध न होने वाला (**हव्यवाड्**) हव्य पहुँचाने वाला (**जुह्वास्यः**) यज्ञपात्र जुहू जिसका का मुख है (**अग्निः**) वह आहवनीय अग्नि (**अग्निना**) अरणिमन्थन से उत्पन्न हुए अग्नि द्वारा (**समिध्यते**) भले प्रकार सुलगाया जाता है

अध्यात्मपक्ष में—(**कविः**) ज्ञानी (**गृहपतिः**) गृहरूप देह का स्वामी (**युवा**) वास्तविक स्वरूप से अजर अमर (**हव्यवाट्**) कर्म फल का भोक्ता (**जुह्वास्यः**) वाणीरूप मुख वाला (**अग्निः**) चेतन जीवात्मा (**अग्निना**) अनन्त ज्ञान वाले परमात्मा से (**समिध्यते**) भले प्रकार तेज प्राप्त करता है ॥

शतपथ ११ । ५ । ६ । ३ अष्टाध्यायी ३ । २ । ६४ ॥ ७ । २ । ११५ ॥ ३ । २ । ६६ ॥ ६ । २ । १३९ ॥ ३ । २ । १७८ ॥ ६ । १ । १० ॥ ७ । ४ । ६२ ॥ ८ । ४ । ५४ ॥ ६ । २ । १ ॥ ८ । २ । १ ॥ ६ । १ । ६७ ॥ ८ । २ । ४ उणादि २ । ६१ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० १ । १२ । ६ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

८४५—यस्त्वामग्ने हविष्पतिर्दूतं देव सपर्यति ।
तस्य स्म प्राविता भव ॥२॥

भावार्थः—(**देव**) दिव्यगुणयुक्त ! (**अग्ने**) अग्ने ! (**हविष्पतिः**) सामग्री वाला (**यः**) जो यज्ञकर्त्ता (**दूतम्**) हव्य पहुँचाने वाले (**त्वा**) तेरा (**सपर्यति**) होम करता है, (**तस्य**) उसका (**स्म**) [पादपूरणार्थ है] (**प्राविता**) अत्यन्त रक्षक (**भव**) हो ॥

ईश्वर पक्ष में— (**देव**) हे देव ! (**अग्ने**) हे ज्ञानस्वरूप ! (**हविष्पतिः**) सुकर्म वासना रूप कर्मफल का भागी (**यः**) जो उपासक भक्त (**दूतम्**) कर्मफल पहुँचाने वाले (**त्वा**) आपकी (**सपर्यति**) पूजा=उपासना करता है (**तस्य स्मप्राविता भव**) उसके रक्षक हूजिये ॥ ऋ० १ । १२ । ८ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

८४६—यो अग्निं देववीतये हविष्माँ आविवासति ।
तस्मै पावक मृडय ॥३॥

भावार्थः—(**यः**) जो (**हविष्मः**) हव्य सामग्री वाला (**देववीतये**) देवयजन के लिये (**अग्निम्**) अग्नि को (**आविवासति**) होमता है (**तस्मै**) उसके लिये (**पावक**) शोधक ! अग्ने ! (**मृडय**) सुख कर ॥

ईश्वरपक्ष में—(**यः**) जो (**हविष्मान्**) सुकर्मानुष्ठानी उपासक (**देववीतये**)

दिव्य गति के लिये (**अग्निम्**) ज्ञानस्वरूप परमात्मा की (**आविवासति**) उपासना=पूजा करता है [निघं० ३ । ५] (**तस्मै**) उसके लिये (**पावक**) हे अपवित्रों को पवित्र करने वाले ! (**मृडय**) आनन्द दीजिये ॥ ऋ० १ । १२ । ६ में भी ॥३॥

अथ मैत्रावरुणमाज्यम्

(इति विवरणकारः)

अथ द्वितीयतृचस्य—मधुच्छन्दा वैश्वामित्र ऋषिः । मित्रावरुणौ देवते । गायत्री छन्दः ॥ तत्र प्रथमा—

८४७—मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम् ।
धियं घृताचीं साधन्ता ॥१॥

भावार्थः—मैं यज्ञकर्त्ता यजमान (**पूतदक्षम्**) पवित्र बल वाले (**मित्रम्**) प्राणवायु (**च**) और (**रिशादसम्**) हिंसक दुःखदायक वायु आदि के अणुओं के नाश करने वाले (**वरुणम्**) अपानवायु को (**हुवे**) उद्देश्य करके होम करता हूं। जो कि प्राण और अपान (**घृताचीं, धियम्**) जल वर्षाने वाले कर्म को (**साधन्ता**) साधने वाले हैं।

जिस प्रकार मनुष्यादि प्राणियों के शरीर में प्राण अपान वायु हैं इसी प्रकार अन्तरिक्ष में भी प्राण और अपान व्याप्त हैं, जो कि निरुक्त के अनुसार अन्तरिक्ष स्थान देवतों में गिने गये हैं। उनका दूसरा नाम यहां मित्र और वरुण है। वे ही अन्तरिक्ष में फैले हुए मित्रावरुण=प्राणाऽपान मनुष्यादिदेहस्थ प्राणाऽपान का आप्यायन करते हैं, उनके उत्तम शुद्ध तृप्त बनाने के लिये इस मन्त्र में होम करने का विधान सिद्धानुवाद से वर्णित है। शतपथ ६।३।६।५ में मित्र=प्राण और श० १२ । ४ । ४ । १२ में वरुण=अपान का नाम है। निरुक्त अ० १० खण्ड १ और ३ में मध्यस्थान देवतों के शीर्षक (हैडिङ्ग) में वरुण का व्याख्यान है और ऋ० ५ । ८५ । ३ का प्रमाण देकर निरुक्तकार ने वरुण=अपान वायु के काम बताये हैं कि वह मेघ को वर्षाता है, नीचा करता है, वह द्युलोक, पृथ्वीलोक और अन्तरिक्ष लोक को तर करता है, इससे वह सब भुवनों का राजा कहाता है, वह जैसे वृष्टि खेती को तर करती है, वैसे पृथ्वी को गीला और तर करता है। फिर उसी अ० १० खण्ड २१ । २२ में मित्र=प्राण वायु का व्याख्यान करते हुए ऋ० ३ । ५९ । १ का प्रमाण देकर मित्र=प्राण के काम बताये हैं कि वह शब्द करता

है, प्राणियों को जीवित रखता—मृत्यु से बचाता है, इसलिये प्राण पृथ्वी और द्युलोक के प्राणिवर्ग का धारक है, प्राण प्रतिक्षण मनुष्यादि प्राणियों पर अपना प्रभाव रखता है, जिससे मनुष्यादि कर्म करने में समर्थ होते हैं। उस प्राण के लिये घृत मिले चरु से होम करो इत्यादि ॥

अष्टाध्यायी ३ । १ । ८५ ॥ ३ । १ । ४ ॥ ६ । १ । १६२ ॥ ७ । १ । ३६ इत्यादि के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋ० १ । २ । ७ और यजुः ३३ । ५७ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

८४८—ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा ।
क्रतुं बृहन्तमाशाथे ॥२॥

भावार्थः—(ऋतावृधौ) यज्ञ से बढ़ने और (ऋतस्पृशौ) यज्ञ को स्पर्श करने के स्वभाव वाले (मित्रावरुणौ) प्राण और अपान (ऋतेन) अनुष्ठित किये यज्ञ से (बृहन्तं क्रतुम्) बड़े कर्म को (आशाथे) व्यापते हैं ॥

निरुक्त २ । २५, ४ । १६ और निघण्टु १ । १२ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० १ । २ । ८ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

८४९—कवी नो मित्रावरुणा तुविजाता उरुक्षया ।
दक्षं दधाते अपसम् ॥३॥

भावार्थः—(कवी) बुद्धिवर्धक (तुविजाता) बहुतों के उपकारक होकर उत्पन्न (उरुक्षया) बहुत निवास वाले (मित्रावरुणा) प्राण और अपान (नः) हमारे (दक्षम्) बल और (अपसम्) कर्म का (दधाते) धारण करते हैं ॥

अष्टाध्यायी ६ । ३ । २६ ॥ ६ । १ । १९७ ॥ ६ । १ । १६३ ॥ ६ । १ । २०१ ॥ ६ । १ । २२३ ॥ ६ । २ । १४४ ॥ ६ । २ । १९९ फिट्सूत्र १ । १ निघण्टु ३ । १ ॥ २ । १ ॥ २ । ९ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋ० १ । २ । ९ में भी ॥३॥

अथैन्द्रमाज्यम्

(इति विवरणकारः)

अथ तृतीयतृचस्य—मधुच्छन्दा वैश्वामित्र ऋषिः। मरुद्गण इन्द्रश्च देवता। गायत्री छन्दः॥ तत्र प्रथमा—

१ २ ३ १ २१ ३ १ २१
८५०—इन्द्रेण सं हि दृक्षसे संजग्मानो अबिभ्युषा।
३ १ २ ३ १२
मन्दू समानवर्चसा ॥१॥

भावार्थः—हे जीवात्मन्! तू (**अबिभ्युषा**) भयरहित निर्भय (**इन्द्रेण**) परमात्मा से (**हि**) ही (**संजग्मानः**) मिला हुआ [मुक्त हुआ] (**संदृक्षसे**) जब जाना जाता है तब (**मन्दू**) तुम परमात्मा और जीवात्मा दोनों आनन्दयुक्त (**समानवर्चसा**) समान तेज वाले होते हो। वह समानता चेतनत्वधर्म को लेकर कही गई है, सर्वांश में नहीं॥

भौतिक पक्ष में:—मरुद्गण (**हि**) निश्चय करो कि (**अबिभ्युषा**) अधृष्य (**इन्द्रेण**) बिजुली से (**संजग्मानः**) संगत हुआ जब (**संदृक्षसे**) चमकता है तब (**मन्दू**) मरुद्गण और बिजुली दोनों खिले हुए (**समानवर्चसा**) समतेज जान पड़ते हैं॥

इससे यह उपदेश किया गया है कि यह जो आकाश में बिजुली (मेघों में) चमकती है सो वायुओं (मरुतों) की रगड़ से चमकती है। यह ऋचा ऋ० १। ६। ७ में भी आई है सो निरुक्त ४। १२ में यास्कमुनि से इस प्रकार व्याख्यात है कि "अधृष्य गण बिजुली से मिलता हुआ दीखता (चमकता) है, दोनों प्रकाशमान होते हैं वा 'समानवर्चसा' को तृतीया का १ वचन मानकर यह व्याख्या समझो कि सम तेज वाले, (मन्दू=मन्दुना) प्रकाशयुक्त विद्युत्तत्त्व से मरुद्गण प्रकाशित होता है"॥१॥

अथ द्वितीया

१ २१ ३२७ ३ १२ ३ १ २ ३२
८५१—आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
दधाना नाम यज्ञियम् ॥२॥

भावार्थः—जीवात्मन्! इन्द्र! (**स्वधाम्**) पृथिवी और द्युलोक को

लक्ष्य करके (आत् अह) मोक्षानन्द के अनुभव के अनन्तर आश्चर्य के साथ (यज्ञियम्) यज्ञ सम्बन्धी (नाम) नमाने वाले बल को (दधानाः) धारण करते हुए मरुद्गण वायु तुझको (पुनः) फिर (गर्भत्वम्) गर्भभाव को (एरिरे) प्राप्त करते हैं ॥

भौतिक पक्ष में—(यज्ञियम्) यज्ञ से सम्पन्न (नाम) नमाने वाले जल को (दधानाः) धारण करते हुए मरुद्गण (स्वधाम्) जल वा अन्न को (अनु) लक्ष्य करके (आत् अह) वर्षा ऋतु के पश्चात् आश्चर्य के साथ (पुनः) पुनः पुनः प्रतिवर्ष (गर्भत्वम्) इन्द्र और बिजुली के गर्भभाव को (एरिरे) प्राप्त करते हैं ॥

निघण्टु ३। ३०॥ १। १२ फिट्सूत्र ४। १२ निरुक्त १। ५ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० १। ६। ४ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

८५२—वीलु चिदारुजत्नुभिर्गुहा चिदिन्द्र वह्निभिः।
अविन्द उस्रिया अनु ॥३॥

भावार्थः—(इन्द्र) इन्द्रियों के प्रवर्त्तक जीवात्मन्! इस [पूर्वमन्त्रोक्त] रीति से जन्म ग्रहण करता हुआ तू (गुहा) छिपी जगह में (चित्) भी और (वीळु) दृढ़ को (चित्) भी (आरुजत्नुभिः) भेदन करने वाले (वह्निभिः) मार्गदर्शक ज्ञानाग्नियों से (उस्रियाः) पञ्चज्ञानेन्द्रियों के (अनु) अनुसार होकर (अविन्दः) प्राप्तव्य विषय को प्राप्त होता है ॥

भौतिक पक्ष में—(इन्द्र) बिजुली वा सूर्य (गुहाचित्) गह्वरस्थानों में भी (वीळु चित्) दृढ़ महल आदि को भी (आरुजत्नुभिः) भंग कर डालने वाले (वह्निभिः) अग्नियों वा किरणों से (उस्रिया) पृथिव्यादि लोकों को (अनु अविन्दः) प्राप्त होता है ॥

निघण्टु २। ९॥ २। ११॥ १। १ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० १। ६। ५ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थतृचस्य—भरद्वाज ऋषिः। इन्द्राग्नी देवते। गायत्री छन्दः॥

तत्र प्रथमा

८५३—ता हुवे ययोरिदं पप्ने विश्वं पुरा कृतम्।
इन्द्राग्नी न मर्धतः ॥१॥

भावार्थ:—अब इन्द्राग्नि के उद्देश का आज्य कहते हैं—(ययोः) जिन दोनों की (पुरा) सृष्टि के आरम्भकाल में (कृतम्) सहायता से बना (इदं विश्वम्) यह चराऽचर जगत् (पप्ने) प्रशंसित किया जाता है (ता) उन इन्द्र और अग्नि को (हुवे) उद्देश करके होम करता हूँ, जिससे (इन्द्राग्नी) वे सूर्य और अग्नि (न मर्धतः) दुःखदायक न हों॥

ऋ० ६।६०।४ में भी॥१॥

अथ द्वितीया

८५४—उग्रा विघनिना मृध इन्द्राग्नी हवामहे।
ता नो मृळात ईदृशे॥२॥

भावार्थः—(उग्रा) बलिष्ठ (मृधः विघनिना) रोगादि शत्रुओं को नष्ट करने वाले (इन्द्राग्नी) सूर्य और अग्नि को (हवामहे) उद्दिष्ट करके हम होम करें। (ईदृशे) ऐसा यज्ञ करने पर (ता) वे दोनों (नः) हम को (मृळातः) सुखदायक हों॥

ऋ० ६।६०।५ में भी॥२॥

अथ तृतीया

८५५—हथो वृत्राण्यार्या हथो दासानि सत्पती।
हथो विश्वा अप द्विषः॥३॥

भावार्थः—(सत्पती) यज्ञानुष्ठानी सत्पुरुषों के रक्षक सूर्य और अग्नि (आर्या) आर्यों के (वृत्राणि) रोकने वाले द्रव्यों का (हथः) नाश करें। (दासानि) उनके उपलक्षयकारक पदार्थों का (हथः) निवारण करें और उनकी (विश्वाः द्विषः) सब हानिकारिणी प्रजाओं को (अप हथः) दूर करें।

अन्नादि दिव्य पदार्थों की अनुकूलता से रोगादि की निवृत्ति द्वारा हमको सुख हो, यह भाव है॥

ऋ० ६।६०।६ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये॥३॥

उक्तं प्रातःसवनम्॥

(इति विवरणकारः)

विवरणकार कहते हैं कि "अब माध्यन्दिन सवन का आरम्भ किया जाता है"।

अथ तृतीयखण्डे प्रथमतृचस्य—विश्वामित्र ऋषिः ।
सोमो देवता । बृहती छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

८५६—अभि सोमास आयवः पवन्ते मद्यं मदम् ।
समुद्रस्याधि विष्टपे मनीषिणो मत्सरासो मदच्युतः ॥१॥

इसकी व्याख्या ५१८ में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

८५७—तरत्समुद्रं पवमान ऊर्मिणा राजा देव ऋतं बृहत् ।
अर्षा मित्रस्य वरुणस्य धर्मणा प्र हिन्वान ऋतं बृहत् ॥२॥

भावार्थः—(राजा) प्रकाशमान (देवः) दिव्यस्वरूप (पवमानः) स्वयं पवित्र और दूसरों को पवित्र शिक्षा देने वाला पुरुष (ऊर्मिणा) तरंगसहित (बृहत्) बड़े (ऋतम्) सत्यसंकल्प (समुद्रम्) मन को (तरत्) पार हो जाता है=मन का निग्रह कर लेता है और (मित्रस्य) प्राण और (वरुणस्य) अपान के (धर्मणा) धारण=प्राणायाम द्वारा (हिन्वानः) उन्नति करता हुआ (बृहत्) बड़े (ऋतम्) सत्य ब्रह्म को (प्रार्ष) प्राप्त हो जाता है ॥

शतपथ ७ । ४ । २ । ५२ का प्रमाण, जिसका अर्थ यह है कि "मन ही समुद्र है, मनरूपी समुद्र में से विद्वानों ने वाणीरूप फावड़े से त्रयीविद्या को खोदा" और ऋ० ६ । १०७ । १५ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथाऽध्यास्यारूपा तृतीया

८५८—नृभिर्येमाणो हर्यतो विचक्षणो । राजा देवः समुद्र्यः ॥३॥

भवार्थः—(नृभिः) योगशिक्षकों से (येमानः) शिक्षा पाया हुआ पुरुष (हर्यतः) मनभावना (विचक्षणः) तीव्रबुद्धि (राजा) प्रकाशमान (देवः) दिव्यस्वरूप (समुद्र्य) मन को हित "हो जाता है" ॥

ऋ० ६ । १०७ । १६ में भी ॥३॥













































अथ तृतीया

१००१—युवं हि स्थः स्वःपती इन्द्रश्च सोम गोपती ।
ईशाना पिप्यतं धियः ॥३॥

भावार्थः—(सोम) सोम ! तू (च) और (इन्द्रः) सूर्य (हि) ही (स्वःपति) सुख के स्वामी और (गोपती) इन्द्रियों के पोषक (स्थः) हो (ईशाना) शक्तिमान् (युवम्) तुम दोनों (धियः) कर्मों वा बुद्धियों को (पिप्यतम्) समृद्ध करो ॥

ऋ० ६ । १६ । २ में भी ॥३॥

उक्तो माध्यन्दिनः पवमानः इति विवरणकृत् ॥

सत्यव्रत सामश्रमी जी लिखते हैं कि "इससे आगे विवरणकार ने शक्वरी रख कर उन्हीं की व्याख्या की है। जैसा कि "अब पृष्ठों का वर्णन है, उसमें पांचवें दिन शक्वरियां पृष्ठ हैं सो कही जाती हैं—छन्द, देवता, ब्राह्मण परिभाषानुसारी जानो। 'विदा मघवन्' सर्वज्ञ इन्द्र ! तू इत्यादि, पर विवरणकार की सम्मति में महानाम्न्यार्चिक उत्तरार्चिक के ही अन्तर्गत है, अन्य ग्रन्थ के अनुसार छन्दआर्चिक का परिशिष्ट नहीं। परन्तु यह बड़ा आश्चर्य है कि यह मूल पुस्तक देखने के विपरीत है" ॥

अथ पञ्चमखण्डे प्रथमतृचस्य—गोतमो राहूगण ऋषिः । इन्द्रो देवता । पङ्क्तिश्छन्दः ॥ तत्र प्रथमा

१००२—इन्द्रो मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभिः ।
तमिन्महत्स्वाजिषूतिमर्भे हवामहे स वाजेषु प्र नोऽविषत् ॥

इसकी व्याख्या (४११) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१००३—असि हि वीर सेन्योऽसि भूरि पराददिः ।
असि दभ्रस्य चिद्वृधो यजमानाय शिक्षसि
सुन्वते भूरि ते वसु ॥२॥

भाषार्थः—(वीर) इन्द्र ! राजन् ! आप (सैन्यः) सेना के योग्य (असि) हैं। आप (हि) ही (भूरि) बहुत से (परादविः) शत्रुओं के पकड़ने वाले (असि) हैं। (दभ्रस्य) थोड़ों को (चित्) भी (वृधः) बढ़ाने वाले (असि) हैं। (ते) आपके लिये (सुन्वते) सोमाभिषव करने वाले (यजमानाय) यजमान को (भूरि) बहुत (वसु) धन (शिक्षसि) देते हैं ॥

निघं० ३। २॥ ३। २० के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये॥ ऋ० १। ८१। २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१००४—यदुदीरत आजयो धृष्णवे धीयते धनम्।
युङ्क्ष्वा मदच्युता हरी कं हनः कं वसौ
दधोऽस्मां इन्द्र वसौ दधः ॥३॥

इसकी व्याख्या (४१४) में हो चुकी है ॥३॥

अथ रायोवाजीयमच्छावाकसामेति विवरणकारः॥
अथ द्वितीयतृचस्य—ऋषिदेवताछन्दांसि पूर्ववत्॥ तत्र प्रथमा

१००५—स्वादोरित्था विषूवतो मध्वः पिबन्ति गौर्यः।
या इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णा मदन्ति
शोभथा वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥१॥

इसकी व्याख्या (४०६) में हो गई है ॥१॥

अथ द्वितीया

१००६—ता अस्य पृशनायुवः सोमं श्रीणन्ति पृश्नयः।
प्रिया इन्द्रस्य धेनवो वज्रं हिन्वन्ति
सायकं वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥२॥

भाषार्थः—(प्रियाः) संसार का हित करने वाली, (ताः) वे, (पृशना-

युवः) सबको छूना चाहने वाली, (पृश्नयः) अनेक रंगतों वाली, (वस्वीः) जगन्निवासहेतुभूता, (अस्य) इस (इन्द्रस्य) सूर्य की (धेनवः) किरणें (स्वराज्यम्) स्वप्रकाश सूर्य के (अनु) साथ-साथ (वज्रं सायकं हिन्वन्ति) वज्र वाण सा छोड़तीं अर्थात् वज्रवत् प्रहारयुक्त वाण के समान फैलतीं और (सोमम्) सोमादि ओषधियों को (श्रीणन्ति) पकाती हैं ।।

ऋ० १ । ८४ । ११ में भी ।।२।।

अथ तृतीया

१००७—ता अस्य नमसा सहः सपर्यन्ति प्रचेतसः ।
व्रतान्यस्य सश्चिरे पुरूणि पूर्वचित्तये
वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥३॥

भावार्थः—(वस्वीः) वसाने वाली (अस्य) इस सूर्य की (ताः) वे किरणें (प्रचेतसः) बुद्धितत्त्व की जगाने वालीं (स्वराज्यम्) सूर्य के (अनु) साथ-साथ (नमसा) उत्पादित अन्न से (सहः) लोक के बल को (सपर्यन्ति) बढ़ाने से सत्कृत करती हैं और (अस्य) इस सूर्य के (पुरूणि) बहुत से (व्रतानि) अन्नोत्पादनादि कर्मों को (पूर्वचित्तये) पूर्व जगाने के लिये (सश्चिरे) सेवित करती हैं ।। ऋ० १ । ८४ । १२ में भी ।।३।।

उक्तं माध्यंदिनं सवनमिदानीं तृतीयं सवनमुच्यते इति विवरणकारः ।।
अथ षष्ठे खण्डे प्रथमतृचस्य —जमदग्नि ऋषिः । पवमानः सोमो देवता ।
गायत्री छन्दः ।। तत्र प्रथमा

१००८—असाव्यंशुर्मदायाप्सु दक्षो गिरिष्ठाः ।
श्येनो न योनिमासदत् ॥१॥

इसकी व्याख्या (४७३) में हो गई है ।।१।।

अथ द्वितीया

१००९—शुभ्रमन्धो देववातमप्सु धौतं नृभिः सुतम् ।
स्वदन्ति गावः पयोभिः ॥२॥

भावार्थ—(**गावः**) सूर्यकिरणें (**शुभ्रम्**) उज्ज्वल (**अन्धः**) अन्नरूप (**देववातम्**) देवों के भोजन (**अप्सु धौतम्**) वसतीवरीनामक जलों में धोये हुए (**नृभि. सुतम्**) ऋत्विजों द्वारा अभिषुत किये हुए सोम को (**पयोभिः**) जलों सहित (**स्वदन्ति**) चूसती हैं। ऋ० ९। ६२। ५ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१०१०—आदीमश्वं न हेतारमशूशुभन्नमृताय ।
मधो रसं सधमादे ॥३॥

भावार्थः—ऋत्विज् लोग (**सधमादे**) यज्ञ में (**ईम्**) इस (**मधोः**) सोम के (**रसम्**) रस को (**अमृताय**) अमृतत्व के लिये (**आत् अशूशुभन्**) शोभित करते हैं (**न**) जैसे (**हेतारम्**) शीघ्रगामी (**अश्वम्**) अश्व को सजाते हैं तद्वत् ॥ ऋ० ९। ६२। ६ के पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥३॥

अथ प्रगाथस्य द्वितीयसूक्तस्य—ऊर्ध्वसद्माङ्गिरसऋषिः क्रमेणर्षी। पवमानः सोमो देवता। ककुप् सतो बृहती च क्रमेणच्छन्दसी।

तत्र प्रथमा

१०११—अभि द्युम्नं बृहद्यश इषस्पते दिदीहि देव देवयुम् ।
वि कोशं मध्यमं युव ॥१॥

इसकी व्याख्या (५७९) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१०१२—आ वच्यस्व सुदक्ष चम्वोः सुतो विशां वह्निर्न विश्पतिः ।
वृष्टिं दिवः पवस्व रीतिमपोजिन्वन् गविष्टये धियः ॥२॥

भावार्थ—(**सुदक्ष**) शोभनबलवन्! सोम! (**चम्वोः**) अभिषव के फलकों में (**सुतः**) अभिषुत किया हुआ (**विश्पतिः**) राजा (**न**) सा (**विशाम्**) प्रजाओं का (**वह्निः**) ले चलने वाला होकर (**आवच्यस्व**) प्राप्त हो और (**गविष्टये**) आत्मार्थ गौ आदि धनार्थी यजमान के लिए (**धियः**) कर्मों को (**जिन्वन्**)

प्रेरित करता हुआ (अपः) जलों की (रातिम्) वर्षा को (पवस्व) कर ॥ ऋ० ६ । १०८ । १० का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ तृतीयतृचस्य—त्रितऋषिः । पवमानः सोमो देवता । उष्णिक्छन्दः ॥
तत्र प्रथमा

१०१३—प्राणा शिशुर्महीनां हिन्वन्नृतस्य दीधितिम् ।
विश्वा परि प्रिया भुवदध द्विता ॥१॥

इसकी व्याख्या (५७०) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१०१४—उप त्रितस्य पाष्योऽ३ रभक्त यद् गुहा पदम् ।
यज्ञस्य सप्त धामभिरध प्रियम् ॥२॥

भावार्थः- (त्रितस्य) विद्या शिक्षा धर्म विषयों को विस्तृत करने वाले विद्वान् ऋत्विज् के यहां [निरुक्त ४ । ६] (गुहा) हविर्धान में वर्त्तमान (पाष्योः) पाषाण के समान कठिन दो-दो अधिषवण फलकों में (यत् पदम्) जिस सोम पद को (उप अभक्त) अध्वर्यु सामीप्य से सेवित करता है (अध) फिर उस (प्रियम्) प्यारे सोम को (सप्त) सात (धामभिः) धारक गायत्र्यादि छन्दों से प्रशंसित करते हैं ॥ ऋ० ६ । १०२ । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१०१५—त्रीणि त्रितस्य धारया पृष्ठेष्वैरयद्रयिम् ।
मिमीते अस्य योजना वि सुक्रतुः ॥३॥

भावार्थः— (त्रितस्य) विद्वान् की यज्ञ में अनुष्ठित (धारया) सोमरस की धारा से (पृष्ठेषु) पृष्ठसंज्ञक सामों में (त्रीणि) तीन सवन होते हैं । (अस्य) इस सोम की (योजना) योजनाओं को जो (सुक्रतुः) शोभन कर्म वाला विद्वान् (वि मिमीते) मानपूर्वक अनुष्ठित करता है वह (रयिम्) धनधान्य को (ऐरयत्) प्राप्त करेगा ॥ ऋग्वेद ६ । १०२ । ३ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥३॥

अथ चतुर्थतृचस्य—रेभसूनू काश्यपौ ऋषी । पवमानः सोमो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥ तत्र प्रथमा

१०१६—पवस्व वाजसातये पवित्रे धारया सुतः ।
इन्द्राय सोम विष्णवे देवेभ्यो मधुमत्तरः ॥१॥

भावार्थः—(**सोम**) सोम ! (**पवित्रे**) दशापवित्र पर (**धारया**) धारा से (**सुतः**) अभिषुत किया हुआ (**मधुमत्तरः**) अतिमाधुर्ययुक्त, (**वाजसातये**) अन्नोत्पत्तिलाभ के लिये (**इन्द्राय**) इन्द्र, (**विष्णवे**) विष्णु इत्यादि नामक (**देवेभ्यः**) वायुविशेषों के लिये (**पवस्व**) पवित्रता कर वा करता है ॥ ऋ० ६ । १०० । ६ के पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥१॥

अथ द्वितीया

१०१७—त्वां रिहन्ति धीतयो हरिं पवित्रे अद्रुहः ।
वत्सं जातं न मातरः पवमान विधर्मणि ॥२॥

भावार्थः—(**पवमान**) सोम ! (**न**) जैसे (**जातम्**) जातमात्र (**वत्सम्**) बछड़े को (**मातरः**) उसकी माता गौवें (**रिहन्ति**) चाटती हैं [ऐसे ही प्रेम से] (**अद्रुहः**) द्रोहरहित पुरुष के (**विधर्मणि**) विविध हव्यों के धारक यज्ञ में (**धीतयः**) ऋत्विज् की अंगुलियें (**हरिम्**) हरे (**त्वाम्**) तुझ सोम को (**पवित्रे**) दशापवित्र पर स्पर्श करती हैं ॥ ६ । १०० । ७ के पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ तृतीया

१०१८—त्वं द्यां च महिव्रत पृथिवीं चाति जभ्रिषे ।
प्रति द्रापिममुञ्चथाः पवमान महित्वना ॥३॥

भावार्थः—(**महिव्रत**) बड़े काम वाले ! (**पवमान**) सोम ! (**त्वम्**) तू (**द्याम् च**) द्युलोक और (**पृथिवीं**) पृथिवी लोक का (**अति**) अत्यन्त (**जभ्रिषे**)

धारण पोषण करता है और (**महित्वना**) बड़प्पन से (**द्रापिम्**) कवच को (**अति-अमुञ्चथाः**) उकसा लेता है ॥ ऋ० ९ । १०० । ९ में भी ॥३॥

अथ पञ्चमतृचस्य—मन्युर्वासिष्ठ ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥ तत्र प्रथमा

१०१९—इन्दुर्वाजी पवते गोन्योघा इन्द्रे सोमः सह इन्वन्मदाय ।
हन्ति रक्षो बाधते पर्यरातिं वरिवस्कृण्वन्वृजनस्य राजा ॥

इसकी व्याख्या (५४०) में की गई है ॥१॥

अथ द्वितीया

१०२०—अध धारया मध्वा पृचानस्तिरो रोम पवते अद्रिदुग्धः ।
इन्दुरिन्द्रस्य सख्यं जुषाणो देवो देवस्य मत्सरो मदाय ॥

भावार्थः—(**अध**) फिर (**अद्रिदुग्धः**) पत्थरों से अभिषुत (**इन्दुः**) सोम (**मध्वा**) मधुर (**धारया**) धारा से (**पृचानः**) चिपकता हुआ (**रोम**) दशा-पवित्र को (**तिरः**) बीच में करके (**पवते**) द्रोणकलश में जाता और (**इन्द्रस्य**) वृष्टिकारक वायु का (**सख्यम्**) हित (**जुषाणः**) सेवन करता हुआ (**देवः**) प्रकाशमान (**मत्सरः**) हृष्टिकारक सोम (**देवस्य**) उसी वृष्टिकारक देव वायु के (**मदाय**) वृद्धयर्थ (**पवते**) होम द्वारा जाता है । ऋ० ९ । ९७ । ११ में भी ॥१॥

अथ तृतीया

१०२१—अभि व्रतानि पवते पुनानो देवो देवांत्स्वेन रसेन पृञ्चन् ।
इन्दुर्धर्माण्यृतुथा वसानो दश क्षिपो अव्यत सानो अव्ये ॥

भावार्थ—(**धर्माणि**) धारक पोषक (**व्रतानि**) कर्मों को (**ऋतुथा**) ऋतु के अनुसार (**वसानः**) धारता हुआ (**इन्दुः**) सोम (**पुनानः**) शुद्धि करता हुआ (**अभिपवते**) सब ओर जाता और (**देवः**) प्रकाशमान सोम (**स्वेन**) अपने (**रसेन**) रस से (**देवान्**) वायु आदि देवों को (**पृञ्चन्**) चिपकाता हुआ है ।

(**दश**) १० (**क्षिपः**) अंगुलियें (**सानौ**) ऊँचे (**अव्ये**) ऊन के दशापवित्र पर (**अव्यत**) उसको पहुँचाती हैं ॥

ऋ० ९ । ९७ । १२ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥३॥

अथ सप्तमे खण्डे प्रथमतृचस्य—वसुश्रुतआत्रेय ऋषिः । अग्निर्देवता । पङ्क्तिश्छन्दः ॥ तत्र प्रथमा

१०२२—आ ते अग्न इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम् ।
यद्ध स्या ते पनीयसी समिद्दीदयति द्यवीषं स्तोतृभ्य आ भर॥

इसकी व्याख्या (४१९) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१०२३–आ ते अग्न ऋचा हविः शुक्रस्य ज्योतिषस्पते ।
सुश्चन्द्र दस्म विश्पते हव्यवाट् तुभ्यं हूयत इषं स्तोतृभ्य
आ भर ॥२॥

भाषार्थः—(**अग्ने**) अग्ने ! (**शुक्रस्य**) वीर्यवान् वा शुक्ल (**ते**) तेरे (**ऋचा**) याज्यानुवाक्यादि मन्त्र के साथ (**तुभ्यम्**) तेरे लिये (**हविः**) पुरोडाशादि हव्य (**आ हूयते**) होमा जाता है सो (**ज्योतिषस्पते**) ज्योति के स्वामिन् ! (**हव्यवाट्**) हव्य पहुँचाने वाले ! (**विश्पते**) प्रजापालक ! (**सुश्चन्द्र**) भले प्रकार आह्लादन करने वाले ! (**दस्म**) दाहक ! अग्ने ! (**स्तोतृभ्यः**) ऋत्विगादि के लिये (**इषम्**) अन्न (**आभर**) प्राप्त करा ॥

ऋ० ५ । ६ । ५ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ तृतीया

१०२४--ओभे सुश्चन्द्र विश्पते दर्वी श्रीणीष आसनि ।
उतो न उत्पुपूर्या उक्थेषु शवसस्पत इषं स्तोतृभ्य आ भर ।३।

भावार्थः—(**सुश्चन्द्र**) शोभनाह्लादक ! अग्ने ! (**उभे**) दोनों (**दर्वी**) हव्य भरे जुहू आदि पात्रों को (**आसनि**) मुख में (**आश्रीणीषे**) पकाता है (**उतो**) और (**नः**) हम को (**उक्थेषु**) यज्ञों में (**उत्पुपूर्याः**) बलों से भर (**शवसस्पते**) बलपते ! (**स्तोतृभ्यः इषमाभर**) ऋत्विगादि के लिये अन्न प्राप्त करा ।।

ऋग्वेद ५ । ६ । ६ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ।।३।।

अथ द्वितीयतृचस्य—नृमेध ऋषिः । इन्द्रो देवता । उष्णिक्छन्दः ।।

तत्र प्रथमा

१०२५—इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत् ।
ब्रह्मकृते विपश्चिते पनस्यवे ।।१।।

इसकी व्याख्या (३८८) में हो चुकी है ।।१।।

अथ द्वितीया

१०२६—त्वमिन्द्राभिभूरसि त्वं सूर्यमरोचयः ।
विश्वकर्मा विश्वदेवो महाँ असि ।।२।।

भावार्थः—(**इन्द्र**) परमेश्वर ! (**त्वम्**) तू (**अभिभूः**) सब को दबा सकने वाला (**असि**) है (**त्वम्**) तू ही (**सूर्यम्**) सूर्य को (**अरोचयः**) प्रकाश देता है । तू (**विश्वकर्मा**) जगत्स्रष्टा, (**विश्वदेवः**) जगत् का देव (**महान्**) सर्वव्यापी (**असि**) है ।।

ऋग्वेद ८ । ९८ । २ में भी ।।२।।

अथ तृतीया

१०२७—विभ्राजं ज्योतिषा स्व३रगच्छो रोचनं दिवः ।
देवास्त इन्द्र सख्याय येमिरे ।।३।।

भावार्थः—(**इन्द्र**) परमेश्वर ! तू (**ज्योतिषा**) अपने ज्योतिःस्वरूप से (**विभ्राजन्**) जगत् को प्रकाश पहुँचाता हुआ (**दिवः**) द्युलोक के (**रोचनम्**)

प्रकाशक (**स्वः**) अपने आनन्द स्वरूप को (**अगच्छः**) प्राप्त है (**देवाः**) विद्वान् लोग (**ते**) तेरी (**सख्याय**) मित्रता के लिये (**येमिरे**) यत्न करते हैं ॥

ऋग्वेद ८ । ९८ । ३ में भी ॥३॥

अथ तृतीयतृचस्य—गोतमो राहूगण ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥ तत्र प्रथमा

१०२८—असावि सोम इन्द्र ते शविष्ठ धृष्णवा गहि ।
आ त्वा पृणक्त्विन्द्रियं रजः सूर्यो न रश्मिभिः ॥१॥

इसकी व्याख्या (३४७) में हो गई ॥१॥

अथ द्वितीया

१०२९—आ तिष्ठ वृत्रहन्रथं युक्ता ते ब्रह्मणा हरी ।
अर्वाचीनं सु ते मनो ग्रावा कृणोतु वग्नुना ॥२॥

भाषार्थः—(**वृत्रहन्**) हे शत्रुविनाशक ! (**ते**) आपके लिये (**ब्रह्मणा**) चढ़ाई के समयोचित ईश्वर प्रार्थना विषयक मन्त्र से (**हरी**) दो घोड़े (**युक्ता**) जोड़े हैं। उस घोड़े जुड़े (**रथम्**) रथ में (**आतिष्ठ**) बैठिये । (**ग्रावा**) सोमाभिषव करने का पत्थर (**ते**) आप के (**मनः**) हृदय को (**वग्नुना**) शब्द से [निघं० १ । ११] (**अर्वाचीनम्**) नवीन (**सुकृणोतु**) अच्छे प्रकार करे ॥

ऋग्वेद १ । ८४ । ३ तथा यजुः ८ । ३३ पूर्वार्ध में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१०३०—इन्द्रमिद्धरी वहतोऽप्रतिधृष्टशवसम् ।
ऋषीणां सुष्टुतिरुप यज्ञं च मानुषाणाम् ॥३॥

भाषार्थः—(**अप्रतिधृष्टशवसम्**) किसी से न दबने वाले बलयुक्त (**इन्द्रम्**) राजा को (**इत्**) ही (**हरिः**) उक्त अश्व (**वहतः**) ले चलते हैं । (**ऋषीणाम्**)

द्रष्टाओं की स्तुतियों (च) और (मानुषाणाम्) मनुष्यों के (यज्ञम्) यज्ञ को भी इन्द्र ही (उप) प्राप्त होता है ।

ऋ० १ । ८४ । २ यजु: ८ । ३५ पूर्वार्ध का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ।। ३ ।।

इति षष्ठाध्यायस्य सप्तमः खण्डः ।।

इति तृतीयः प्रपाठकः

यह

कण्ववंशाऽवतंस श्रीमान् पं० हजारीलाल स्वामी के पुत्र
परीक्षितगढ़ (जिला—मेरठ) निवासी
तुलसीराम स्वामिकृत

उत्तरार्चिक सामवेदभाष्य में छठा अध्याय समाप्त हुआ ।।६।।

ओ३म्

अथ सप्तमाध्यायः ॥

अथ चतुर्थः प्रपाठकः

तत्र

प्रथमखण्डे प्रथमतृचस्य सिकतानिवारी ऋषिगणः । सोमो देवता ।
जगती छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
१०३१—ज्योतिर्यज्ञस्य पवते मधु प्रियं
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२
पिता देवानां जनिता विभूवसुः ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३क २र
दधाति रत्नं स्वधयोरपीच्यं
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र
मदिन्तमो मत्सर इन्द्रियो रसः ॥१॥

भावार्थः—(**यज्ञस्य**) यज्ञ की (**ज्योतिः**) ज्योति, (**देवानां पिता**) वायु आदि देवों का पालक, (**जनिता**) उनको संस्कारापक्षेया जन्म देने वाला, (**विभूवसुः**) बहुत धनवान्, (**मदिन्तमः**) अतिशय हर्षदायक, (**मत्सरः**) हर्षयुक्त, (**इन्द्रियः**) इन्द्र से सेवित (**रसः**) सोमरस (**प्रियं मधु**) प्यारे माधुर्य को (**पवते**) टपकाता और (**स्वधयोः**) द्युलोक और पृथिवी में (**अपीच्यम्**) गूढ़ (**रत्नम्**) सारवस्तु को (**दधाति**) याज्ञिकों को धारण कराता है ॥ सोम को उत्पादक इसलिए कहा है कि वह होम में हुत होकर मनु के लेखानुसार वृष्टि, अन्न और प्रजा को उत्पन्न करता है । मनु का श्लोक देखो । ऋ० ६ । ८६ । १० में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

१०३२—अभिक्रन्दन् कलशं वाज्यर्षति
पतिर्दिवः शतधारो विचक्षणः ।
हरिर्मित्रस्य सदनेषु सीदति
मर्मृजानोऽविभिः सिन्धुभिर्वृषा ॥२॥

भावार्थः (**वाजी**) वेग वा बल वाला, (**विचक्षणः**) दृष्टि को प्रसन्न करने वाला, (**हरिः**) हरा (**वृषा**) वृष्टि करने का हेतु, (**सिन्धुभिः अविभिः**) टपकाने के साधन दशापवित्रों से (**मर्मृजानः**) शोधा जाता हुआ (**अभिक्रन्दन्**) शब्द करता हुआ (**कलशम्**) द्रोणकलश में (**अर्षति**) जाता और (**शतधारः**) फिर होम से अनेक धारों वाला होकर (**मित्रस्य**) सूर्य के (**सदनेषु**) द्युलोकों में (**सीदति**) उपस्थित होता है । तब (**दिवः**) द्युलोक का (**पतिः**) पालक होता है ॥ ऋ० ९ । ८६ । ११ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१०३३—अग्रे सिन्धूनां पवमानो अर्षस्य-
ग्रे वाचो अग्रियो गोषु गच्छसि ।
अग्रे वाजस्य भजसे महद्धनं
स्वायुधः सोतृभिः सोम सूयसे ॥३॥

भावार्थः—सोम तू (**सिन्धूनाम्**) बादल जलों के (**अग्रे**) आगे (**पवमानः**) शोधा हुआ "(**अर्षसि**) जाता है अर्थात् वृष्टि से जल उत्पन्न करने आहुति द्वारा अन्तरिक्ष में जाता है ।" यही अर्थ सायणाचार्य ने किया है । तथा (**वाचः**) वाणी का भी (**अग्रयः**) मुखिया होता हुआ और (**गोषु**) किरणों में उनके (**अग्रे**) आगे जाता है । तथा (**वाजस्य**) बल के उपयोगी (**महत् धनम्**) उत्तम धन का

(भक्षते) सेवन कराता है तथा (स्वायुधः) भले सिलबट्टों वाला (सोतृभिः) ऋत्विजों द्वारा (सूयते) अभिषुत किया जाता है ।।

तात्पर्य यह है कि सोम होम से वर्षा और पान से बल सुस्वर वाणी और धन का उपयोगी है ।। ऋ० ९ । ८६ । १२ के पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ।।३।।

अथ द्वितीय तृचस्य—कश्यप ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ।।

तत्र प्रथमा

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ २

१०३४—असृक्षत प्र वाजिनो गव्या सोमासो अश्वया ।

३ १ २ ३ १ २र

शुक्रासो वीरयाशवः ।।१।

इसकी व्याख्या (४८२) में हो चुकी है ।।१।।

अथ द्वितीया

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

१०३५—शुम्भमाना ऋतायुभिर्मृज्यमाना गभस्त्योः ।

१ २ ३ १ २ ३ १२

पवन्ते वारे अव्यये ।।२।।

भावार्थः—(ऋतायुभिः) यज्ञ चाहने वाले ऋत्विजों से (शुम्भमानाः) शोभित किये जाने वाले और (गभस्त्योः) अंगुलियों में (मृज्यमानाः) शोधे जाते हुए सोम (अव्यये) ऊनी (वारे) बालों से बने दशापवित्र पर (पवन्ते) स्वच्छ किये जाते हैं ।। ऋ० ९ । ६४ । ५ में भी ।।२।।

अथ तृतीया

१ २र ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

१०३६—ते विश्वा दाशुषे वसु सोमा दिव्यानि पार्थिवा ।

१ २ ३ १ २र

पवन्तामान्तरिक्ष्या ।।३।।

भावार्थः—(ते सोमाः) वे सोम (दाशुषे) इस सूक्त की प्रथमा ऋचा के अनुकूल यज्ञानुष्ठानी के लिये (विश्वा) सब (दिव्यानि, पार्थिवा, आन्तरिक्ष्या) तीनों लोकों के (वसु) गवाश्वादि धन (पवन्ताम्) सर्वतः वर्षावें ।। ऋग्वेद ९ । ६४ । ६ में भी ।।३।।

अथ तृतीयदशर्चसूक्तस्य–मेधातिथिर्ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१०३७—पवस्व देववीरति पवित्रं सोम रंह्या ।
इन्द्रमिन्दो वृषा विश ॥१॥

भावार्थः (इन्दो) गीले ! (सोम) सोम ! (देववीः) देवों का चाहा (वृषा) वृष्टिकारक तू (रंह्या) वेग से (पवित्रम्) पवित्रता के लिये (अति पवस्व) वर्ष और (इन्द्रम्) वृष्टिकारक वायु में (आविश) प्रवेश कर ॥

अर्थात् गीला सोम अग्नि में होम कर वृष्टि चाहने वाले यजमान को वृष्टि-कारक वायु में प्रविष्ट कराना चाहिये ॥ ऋ० ६ । २ । १ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

१०३८—आ वच्यस्व महि प्सरो वृषेन्दो द्युम्नवत्तमः ।
आ योनिं धर्णसिः सदः ॥२॥

भावार्थः—(इन्दो) सोम ! (वृषा) वृष्टिकारक, इसी से (द्युम्नवत्तमः) अत्यन्त धन-धान्यवान् और इसी से (धर्णसिः) विश्व का धारक तू (महि) बहुत (प्सरः) जल और (अन्धः) अन्न को (आवच्यस्व) हमें प्राप्त करा और तू (योनिम्) अपने स्थान आकाश में (आसदः) विराज ॥

भावार्थ—यह है कि यज्ञ में प्रयुक्त आहुति को प्राप्त हुआ सोम आकाशस्थ होकर धन धान्यादि का समृद्धिकारक हो जाता है ॥ ऋ० ६ । २ । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१०३९—अधुक्षत प्रियं मधु धारा सुतस्य वेधसः ।
अपो वसिष्ट सुक्रतुः ॥३॥

भावार्थः—जिस (सुतस्य) अभिषुत, (वेधसः) वृष्ट्यादि के विधाता, (सोमस्य) सोम की (धारा) धार (प्रियं मधु) प्यारे मधु रस को (अधुक्षत)

दुहती है। वह (सुक्रतुः) सुकर्मा सोम (अपः) मेघस्थ जलों को (वसिष्ट) आच्छादित करे ॥ ऋ० ६ । २ । ३ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थी

१०४०—महान्तं त्वा महीरन्वापो अर्षन्ति सिन्धवः ।
यद्गोभिर्वासयिष्यसे ॥४॥

भावार्थः—सोम ! तू (यद्) जब (गोभिः) किरणों के साथ (वासयिष्यसे) आच्छादन करेगा तब (महान्तम्) गुणों में बड़े (त्वा) तुझ को (अनु) लक्ष्य करके (सिन्धवः) बहने वाली (महीः) बड़ी (आपः) वर्षायें (अर्षन्ति) आवेंगी ॥

अर्थात् सोमयाग से पर्याप्त वर्षा होती है ॥ ऋ० ६ । २ । ४ में भी ॥४॥

अथ पञ्चमी

१०४१—समुद्रो अप्सु मामृजे विष्टम्भो धरुणो दिवः ।
सोमः पवित्रे अस्मयुः ॥५॥

भावार्थः—(समुद्रः) रस भरा (विष्टम्भः) आधार और इसी से (दिवः धरुणः) द्युलोक का धारक (अस्मयुः) हमारा हितकामुक (सोमः) सोम (अप्सु) वसतीवरी नामक जलों में (मामृजे) दशापवित्र पर अभिषिक्त किया जाता है ॥ ऋ० ६ । २ । ५ में भी ॥५॥

अथ षष्ठी

१०४२—अचिक्रदद्वृषा हरिर्महान्मित्रो न दर्शतः ।
सं सूर्येण दिद्युते ॥६॥

इसकी व्याख्या (४९७) में हो चुकी है ॥६॥

अथ सप्तमी

१०४३—गिरस्त इन्द ओजसा मर्मृज्यन्ते अपस्युवः ।
याभिर्मदाय शुम्भसे ॥७॥

भावार्थः—(**इन्दो**) सोम ! (**ते**) तेरे किये (**ओजसा**) बल के साथ वे (**अपस्युवः**) कर्म=पुरुषार्थ चाहने वाली (**गिरः**) वाणियें (**मर्मृज्यन्ते**) शोधी जाती हैं (**याभिः**) जिन वाणियों सहित (**मदाय**) हर्ष के लिये (**शुम्भसे**) शुद्ध किया जाता है ।। तात्पर्य यह है कि सोमदान से ओज, बल, हृष्टि, पुष्टि और वाणी सुधरती है एतदर्थ इसका अभिषव करना चाहिये ।। ऋ० ९ । २ । ७ में भी ।।७।।

अथाऽष्टमी

१०४४—तं त्वा मदाय घृष्वय उ लोककृत्नुमीमहे ।
तव प्रशस्तये महे ।।८।।

भावार्थः—हम यजमान लोग (**लोककृत्नुम्**) दृष्टि से सहायक (**तम्**) उस पूर्वोक्त वाणी सुधारने वाले बल पराक्रमादि वर्धक (**त्वा**) तुझ सोम को (**उ**) निश्चय (**तव**) तुझ सोम की (**महे प्रशस्तये**) बड़ी प्रशंसा के लिये तथा (**घृष्वये**) शत्रुओं को रगड़ डालने में समर्थ (**मदाय**) हृष्टि पुष्टि के लिये (**ईमहे**) चाहते हैं ।। अर्थात् मनुष्यों को हृष्टि, वाणी, बल, शत्रुनाश इत्यादि प्रयोजनों के लिये सोम रस की इच्छा करनी चाहिये ।। ऋ० ९ । २ । ८ के पाठभेद संस्कृत-भाष्य में देखिये ।।८।।

अथ नवमी

१०४५—गोषा इन्दो नृषा अस्यश्वसा वाजसा उत ।
आत्मा यज्ञस्य पूर्व्यः ।।९।।

भावार्थः—(**इन्दो**) सोम ! (**गोषाः**) गौ वा इन्द्रियों का दाता (**अश्वसाः**) घोड़े वा प्राणों का दाता (**वाजसाः**) अन्न वा बल का दाता (**नृषाः**) वीर पुत्रादि का दाता (**उत**) और (**यज्ञस्य**) यज्ञ का (**पूर्व्यः**) सनातन (**आत्मा**) आत्मा [रूह] (**असि**) है ।। ऋ० ९ । २ । १० में भी ।।९।।

अथ दशमी

१०४६—अस्मभ्यमिन्दविन्द्रियं मधोः पवस्व धारया ।
पर्जन्यो वृष्टिमाँ इव ।।१०।।

भावार्थः—(**इन्दो**) सोम ! (**इन्द्रियम्**) इन्द्र से सेवित वा वीर्यवर्धक रस को (**मधोः**) मधुराप्लुत की (**धारया**) धार से (**वृष्टिमान् पर्जन्य इव**) वर्षा वाले बादल सा (**अस्मभ्यम्**) हम यजमानों के लिये (**पवस्व**) वर्षा ॥ ऋ० ९। २। १० में भी ॥१०॥

इति सप्तमाऽध्यायस्य प्रथमः खण्डः ॥१॥

अथ द्वितीये खण्डे प्रथमस्य दशर्चसूक्तस्य —हिरण्यस्तूप ऋषिः।
पवमानः सोमो देवता। १।३।४।१० गायत्री २।५।८।९
निचृद्गायत्री ६।७ विराड् गायत्री च छन्दः॥

तत्र प्रथमा

१०४७—सना च सोम जेषि च पवमान महिश्रवः।
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥१॥

भावार्थः—(**महिश्रवः**) हे महाकीर्ते ! (**पवमान**) पवित्र ! (**सोम**) वा परमेश्वर ! (**सना च**) धनादि दान का अनुग्रह करो (**जेषि च**) और विजय करो (**अथ**) और (**नः**) हम को (**वस्यसः**) श्रेष्ठ (**कृधि**) करो ॥

सोम के पक्ष में:—दानादि के अनुग्रहादि की संगति, वैद्यक के वातपित्तादि के अनुग्रह कथन के समान जानिये॥ यह पूरा सूक्त ऋग्वेद ९। ४। १—१० में दशों ऋचाओं का आया है। केवल ८वीं में "वाजिन्=रयिम्" इतना पाठभेद है ॥१॥

अथ द्वितीया

१०४८—सना ज्योतिः सना स्व३र्विश्वा च सोम सौभगा।
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥२॥

भावार्थः—(**सोम**) वा परमेश्वर ! (**ज्योतिः**) प्रकाश (**सन**) देओ (**स्वः**) सुख (**सन**) देओ (**च**) और (**विश्वा**) सब (**सौभगा**) सौभाग्य देओ। (**अथ०**) इत्यादि पूर्वमन्त्र के तुल्यार्थ जानिये ॥२॥

अथ तृतीया

१०४९—सना दक्षमुत क्रतुमप सोम मृधो जहि।
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥३॥

भावार्थः—(सोम) वा परमेश्वर ! (दक्षम्) बल (उत) और (क्रतुम) कर्म=पुरुषार्थ (सन) दीजिये तथा (मृधः) शत्रुओं का (अपजहि) नाश कीजिये ॥३॥

अथ चतुर्थी

१०५०—पवीतारः पुनीतन सोममिन्द्राय पातवे।
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥४॥

भावार्थः—(पवीतारः) हे सोम के अभिषुत करने वालो ! वा परमेश्वर के उपासको ! तुम (इन्द्राय) वायु विशेष, वा परमेश्वर के लिये (पातवे) शोषणार्थ वा स्वीकारार्थ (सोमम्) सोम वा कोमल हृदय को (पुनीतन) शुद्ध करो ॥४॥

अथ पञ्चमी

१०५१—त्वं सूर्ये न आ भज तव क्रत्वा तवोतिभिः।
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥५॥

भावार्थः—सोम ! वा परमेश्वर ! (त्वम्) तू (तव) तेरी (क्रत्वा) स्वाभाविकी क्रिया से तथा (तव) तेरी की हुई (ऊतिभिः) रक्षाओं से (नः) हमको (सूर्ये) कर्मण्यलोक में (आभज) पहुँचा दे ॥५॥

अथ षष्ठी

१०५२—तव क्रत्वा तवोतिभिर्ज्योक् पश्येम सूर्यम्।
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥६॥

भावार्थः—सोम ! वा परमेश्वर ! (**तव क्रत्वा**) तेरी स्वाभाविकी क्रिया से तथा (**तव ऊतिभिः**) तेरी की हुई रक्षाओं से हम (**ज्योक्**) चिरकाल तक (**सूर्यम्**) कर्मण्यलोक को (**पश्येम**) देखें ॥६॥

अथ सप्तमी

३क २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २
१०५३—अभ्यर्ष स्वायुध सोम द्विबर्हसं रयिम् ।
१ २ ३ १ २
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥७॥

भावार्थः—हे (**स्वायुध**) भले धर्मानुकूल युद्ध के साधनभूत ! (**सोम**) सोम ! वा परमेश्वर ! (**द्विबर्हसम्**) दोनों=द्युलोक और पृथिवीलोक स्थानों में चढ़ा-बढ़ा (**रयिम्**) धनैश्वर्य (**अभ्यर्ष**) प्राप्त करा ॥७॥

अथाऽष्टमी

३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
१०५४—अभ्य३र्षानपच्युतो वाजिन्त्समत्सु सासहिः ।
१ २ ३ १ २
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥८॥

भावार्थः—(**वाजिन्**) बलदायक सोम ! (**अनपच्युतः**) अन्यों से न दबने वाला और (**सासहिः**) अन्यों को स्वयं दबाने में समर्थ तू (**समत्सु**) संग्रामों में (**अभ्यर्ष**) सर्वतः प्रभाव जमा ॥

अथवा—(वाजिन्) अनन्तबल ! परमेश्वर ! (अनपच्युतः) अक्षर अविनाशी (सासहिः) दुष्टदमन ! (समत्सु) कामादि शत्रुओं के साथ संग्रामों में हमारी (अभ्यर्ष) सहायता को प्राप्त हूजिये ॥८॥

अथ नवमी

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१०५५—त्वां यज्ञैरवीवृधन् पवमान विधर्मणि ।
१ २ ३ १ २
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥९॥

भावार्थः— (**पवमान**) पावन स्वरूप ! सोम वा परमेश्वर ! (**विधर्मणि**) कर्मयज्ञ वा योगयज्ञ में (**त्वाम्**) तुझ को (**यज्ञैः**) आहुतियों वा स्तुतियों से (**अवीवृधन्**) यजमान बढ़ाते वा उपासक स्तुत करते हैं ॥९॥

अथ दशमी

३ २ २ २ ३ २ ३ २ उ ३ १ २ ३ १ २
१०५६—रयिं नश्चित्रमश्विनमिन्दो विश्वायुमा भर ।
१ २ ३ १ २
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥१०॥

भावार्थः—(इन्दो) सोम ! वा परमेश्वर ! (चित्रम्) अनेक प्रकार के (अश्विनम्) प्राण को हित और (विश्वायुम्) पूर्णायुरूप (रयिम्) धन (आभर) प्राप्त कराओ ॥१०॥

तरत्स मन्दीति चतुर्ऋचस्य द्वितीयसूक्तस्य उचथ्य ऋषिः ।
सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

२३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३१ २र
१०५७—तरत्स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः ।
२ ३ २ ३ १ २
तरत्स मन्दी धावति ॥१॥

इसकी व्याख्या (५००) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

३ २ २३ १ २ ३ १२ ३ १ २
१०५८—उस्रा वेद वसूनां मर्तस्य देव्यवसः ।
२ ३ २ ३ १ २
तरत्स मन्दी धावति ॥२॥

भावार्थः—(वसूनाम्) धनों की (उस्रा) देने वाली (देवी) प्रकाशमाना [सोमधारा] (मर्तस्य) मनुष्य की (अवसः) रक्षा करना (वेद) जानती है (सः) वह (मन्दी) हृष्टिपुष्टिकारक सोम (तरत्) त्वरा करता हुआ (धावति) गमन करता है ॥ ऋ० ९ । ५८ । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
१०५९—ध्वस्रयो पुरुषन्त्योरा सहस्राणि दद्महे ।
२३ २ ३ १ २
तरत्स मन्दी धावति ॥३॥

भावार्थः—(ध्वस्रयोः) चलने वाली (पुरुषन्त्योः) पुरुषार्थवती दो सोमधाराओं के (सहस्राणि) असंख्य समूहों को (आदद्महे) हम ऋत्विज् लोग ग्रहण करते हैं। तरत्स० पूर्ववत् ऋ० ९। ५८। ३ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थी

१ २र ३ २ ३ १ २ ३१ २ ३ १२
१०६०—आ ययोस्त्रिंशतं तना सहस्राणि च दद्महे ।
२ ३ २ ३ १ २
तरत्स मन्दी धावति ॥४॥

भावार्थः—(ययोः) जिन दो सोम की उक्त धाराओं के (त्रिंशतं सहस्राणि च) ३०००० संख्योपलक्षित (तना) विस्तृत सुखों को (आ—दद्महे) हम ग्रहण करते हैं "वह त्वरा करता सोम गमन करता है" यह पूर्ववत् ॥ ऋ० ९। ५८। ४ में भी ॥४॥

एते सोमा इति तृचस्य तृतीयसूक्तस्य—जमदग्निर्ऋषिः। सोमो देवता। गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

३ २ २र ३ १ २र ३ २
१०६१—एते सोमा असृक्षत गृणानाः शवसे महे ।
३ १ २ ३ १ २
मदिन्तमस्य धारया ॥१॥

भावार्थः—(मदिन्तमस्य) अत्यन्त हृष्टिकारक सोम की (धारया) धारा (एते) ये (सोमाः) सोमरस (गृणानाः) प्रशंसित किये जाते हुए (महे) बड़े (शवसे) बल के लिये (असृक्षत) अग्नि में छोड़े जाते हैं ॥ ऋ० ९। ६२। २२ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥१॥

अथ द्वितीया

३ १ २र ३ १२ ३ १ २ ३ १ २
१०६२—अभि गव्यानि वीतये नृम्णा पुनानो अर्षसि ।
३ १ २ ३ १ २
सनद्वाजः परि स्रव ॥२॥

भावार्थः—(सनद्वाजः) अन्नोत्पादन से अन्नदाता (पुनानः) शुद्धिकारक सोम (नृम्णा) धन के समान अतिप्रिय (गव्यानि) सूर्य किरणगत भागों में



































अथ द्वितीया

१ २ ३ २ ३ १ २र ३ १ २
११४७—इन्द्रा याहि धियेषितो विप्रजूतः सुतावतः ।
२३ १ २ ३ १२
उप ब्रह्माणि वाघतः ॥२॥

भावार्थः—(इन्द्र) वायो ! (विप्रजूतः) मेधावी लोगों—ऋत्विजों से प्रेरित (धिया) कर्म = यजन से (इषितः) प्राप्त हुआ (सुतावतः) अभिषुत सोमयुक्त (वाघतः) ऋत्विजों को [निघण्टु ३ । १८ । ३] जो (ब्रह्माणि) वेदमन्त्रों को उच्चार रहे हैं उनके (उप—याहि) समीप प्राप्त हो । ऋ० १ । ३ । ५ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१ २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २
११४८—इन्द्रा याहि तूतुजानः उप ब्रह्माणि हरिवः ।
३ १ २ ३ १ २
सुते दधिष्व नश्चनः ॥३॥

भावार्थः—हरि शब्द इन्द्र के अश्वों का वाचक है जैसा कि निघं० १।१५। १—२ ऊपर लिखा है। तदनुसार (हरिवः) अश्व = किरणों वाले ! इन्द्र ! वायो ! (ब्रह्माणि) मन्त्रों को उच्चारते हुए हमें (तूतुजानः) शीघ्रता करता हुआ (उप—याहि) समीप प्राप्त हो और (नः) हमारे लिये (सुते) सोम अभिषुत करने पर (चनः) अन्न को (दधिष्व) धारित कर ॥

भावार्थ पूर्ववत् लगा लेना ॥ ऋ० १ । ३ । ६ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थतृचस्य—भरद्वाज ऋषिः । इन्द्राग्नी देवते । गायत्री छन्दः ॥
तत्र प्रथमा

१ २ ३ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
११४९—तमीडिष्व यो अर्चिषा वना विश्वा परिष्वजत् ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
कृष्णा कृणोति जिह्वया ॥१॥

भावार्थः—हे मनुष्य ! तू (तम्) उस अग्नि की (ईडिष्व) प्रशंसा कर (यः) जो (अर्चिषा) लपट से (विश्वा) सब (वना) जंगलों को (परिष्व-

नत्) लपेटता और उन को फूंक कर (कृष्णा) काले (कृणोति) कर देता है ॥ ऋ० ६ । ६० । १० में भी॥१॥

अथ द्वितीया

१ ३२ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २
११५०—य इद्ध आविवासति सुम्नमिन्द्रस्य मर्त्यः।
३ १ २ ३ १ २ ३ २
द्युम्नाय सुतरा अपः ॥२॥

भावार्थः—(यः) जो (मर्त्यः) मनुष्य (इन्द्रस्य) इन्द्र के (सुम्नम्) रुचिर हव्य को (इद्धे) समिद्ध अग्नि में (आविवासति) होम करके परिचर्या करता है, उस (द्युम्नाय) प्रकाशमान मनुष्य के लिये (सुतराः, अपः) अत्युत्तम जल इन्द्र वर्षाता है ॥ ऋ० ६ । ६० । ११ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
११५१—ता नो वाजवतीरिष आशून् पिपृतमर्वतः ।
१ २ ३ २ ३ १ २
एन्द्रमग्निं च वोढवे ॥३॥

भावार्थः—(ता) वे दोनों (अग्निम्) अग्नि (च) और (इन्द्रम्) इन्द्र (नः) हमारे लिये (वाजवती, इषः) बलवान् अन्न और (आशून्) शीघ्रगामी (अर्वतः) घोड़े (आ—पिपृतम्) देते हैं । ऋ० ६ । ६० । १२ में भी ॥३॥

इति अष्टमाध्यायस्य तृतीयः खण्डः ॥३॥ चतुर्विंशस्तोमिकं प्रातः सवनमुक्तम् ।

इदानीं माध्यंदिनं सवनमिति विवरणकारः ॥

अथ चतुर्थे खण्डे प्रथमतृचस्य —सिकतानिवारी ऋषिगणः । इन्द्रो देवता । जगती छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१ २ ३ २ ३ १ २ ३२उ ३ २ ३ १
११५२—प्रो अयासीदिन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतं सखा सख्युर्न
२र ३ १ २
प्रमिनाति सङ्गिरम् ।
१ २ ३१२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
मर्य इव युवतिभिः समर्षति सोमः कलशे
३ १ २ ३ २
शतयामना पथा ॥१॥

इसकी व्याख्या (५५७) में हो चुकी है ।।१।।

अथ द्वितीया

११५३—प्र वो धियो मन्द्रयुवो विपन्युवः पनस्युवः संवरणेष्वक्रमुः ।
हरिं क्रीडन्तमभ्यनूषत स्तुभोऽभि धेनवः पयसेदशिश्रयुः ॥

भावार्थः – (**मन्द्रयुवः**) हे हर्ष चाहने वालो ! (**पनस्युवः**) स्तुति चाहने वालो ! (**विपन्युवः**) स्तुति करने वालो ! (**स्तुभः**) स्तोताओ ! तुम (**क्रीडन्तम्**) क्रीड़ा करते हुए (**हरिम्**) हरितवर्ण सोम की (**अभ्यनूषत**) प्रशंसा करो (**इत्**) जैसे (**पयसा**) दुग्ध से (**धेनवः**) गौवें (**अभ्यऽशिश्रयुः**) सर्वतः आश्रय करती हैं, तद्वत् । ऐसा करने पर (**वः**) तुम्हारे (**धियः**) कर्म (**संवरणेषु**) यज्ञ गृहों में (**प्र—ऽक्रमुः**) प्रचलित होवें ।। ऋ० ९ । ८६ । १७ के पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ।।२।।

अथ तृतीया

११५४—आ नः सोम संयतं पिप्युषीमिष-
मिन्दो पवस्व पवमान ऊर्मिणा ।
या नो दोहते त्रिरहन्नसश्चुषी
क्षुमद्वाजवन्मधुमत्सुवीर्यम् ।।३।।

भावार्थः—(**इन्दो**) गीले ! (**पवमान**) शोध्यमान ! (**सोम**) सोम ! तू (**नः**) हमारे लिये (**संयतम्**) संग्रह किये हुए (**पिप्युषीम्**) बाहुल्ययुक्त (**इषम्**) अन्न को (**ऊर्मिणा**) लहरी से (**आ—पवस्व**) वर्षाव, (**या**) जो (**असश्चुषी**) निर्विघ्न अन्न (**क्षुमत्**) अन्नयुक्त (**वाजवत्**) बलयुक्त (**मधुमत्**) माधुर्ययुक्त (**सुवीर्यम्**) शोभनवीर्य को (**दोहते**) भरता है ।। ऋग्वेद ९ । ८६ । १८ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ।।३।।

उक्तो माध्यन्दिनः पवमानः इति विवरणकृत् ।।

अथ प्रगाथस्य द्वितीयसूक्तस्य–पुरुहन्मा ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः॥
तत्र प्रथमा

२ ३ १ २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
११५५—न किष्टं कर्मणा नशद्यश्चकार सदावृधम् ।
२ ३ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र
इन्द्रं न यज्ञैर्विश्वगूर्तमृभ्वसमधृष्टं धृष्णुमोजसा ॥१॥

इसकी व्याख्या (२४३) में हो चुकी है ।।१।।

अथ द्वितीया

१ २ ३ १ २र ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २
११५६—अषाढमुग्रं पृतनासु सासहिं यस्मिन्महीरुरुज्रयः ।
१ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
सं धेनवो जायमाने अनोनवुर्द्यावः क्षामीरनोनवुः ॥

भावार्थः – (**अषाढम्**) असह्य (**उग्रम्**) अत्यन्त बलयुक्त (**पृतनासु, सासहिम्**) शत्रु सेनाओं में दबाव डाल सकने वाले इन्द्र वा राजा की प्रशंसा करता हूँ (**यस्मिन्**) जिसके (**जायमाने**) उत्पन्न होने पर (**महीः**) बड़ी (**उरुज्रयः**) बहुवेग वाली (**धेनवः**) सूर्यकिरणें (**समनोनवुः**) भले प्रकार स्तुति करती हैं और (**द्यावः**) द्युलोकस्थ तथा (**क्षामीः**) पृथिवीस्थ लोग (**अनोनवुः**) स्तुति करते हैं । ऋ० ८ । ७० । ४ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ।।२।।

अथ पञ्चमखण्डे प्रथमतृचस्य–नारद ऋषिः । सोमो देवता । उष्णिक् छन्दः॥
तत्र प्रथमा

१ २ ३ १ २र ३ २ ३ १ २
११५७—सखाय आ नि षीदत पुनानाय प्रगायत ।
२ ३ २ ३ १ २र ३ २
शिशुं न यज्ञैः परिभूषत श्रिये ॥१॥

इसकी व्याख्या (५६८) में हो चुकी है ।।१।।

अथ द्वितीया

१ २ ३ १क ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
११५८—समी वत्सं न मातृभिः सृजता गयसाधनम् ।
३ २क १ २ ३ १ २र
देवाव्यं३ मदमभि द्विशवसम् ॥२॥

भावार्थः—हे ऋत्विजो ! तुम (**गयसाधनम्**) प्राण, गृह, धन वा सन्तान के साधन, (**देवाव्यम्**) देवों के रक्षक (**मदम्**) हृष्टि-पुष्टि कारक (**द्विशवसम्**) दोनों लोकों के बल (**ईं**) इस सोम को (**मातृभिः**) माता के समान वसतीवरी नामक जलों से (**अभि – सं – सृजत**) सर्वतः मिलाओ (**न**) जैसे (**वत्सम्**) बछड़े को माताओं—गौवों से मिलाते हैं, तद्वत् ऋ० ९ । १०४ । २ में भी ।।

यद्यपि बंगाल एसियाटिक सुसाइटी के सायण भाष्ययुक्त पुस्तक में "अभि 'प्रि' द्विशवसम्" यह "प्रि" इतना अधिक पाठ छप रहा है और अनुमानतः उसी की देखा देखी विचारे ज्वालाप्रसाद ने भी लिख दिया और व्याख्या भी कर मारी है, तथा वैदिकयन्त्रालय अजमेर ने भी वैसा ही छाप दिया है, तथापि हम इस पाठ का आदर नहीं करते, क्योंकि उसी सायणभाष्य में इस "प्रि" युक्त पाठ की व्याख्या नहीं है, न गान के पुस्तक में है, न ऋक्संहिता में, न जीवानन्द के पुस्तक में, और न पं० गुरुदत्त एम०ए० के संस्कार युक्त लाहौर के पुस्तक में यह पाठ है ।। हमारी समझ में तो यह पाठ लेखकों की भ्रान्ति से ही बन गया है ।।२।।

अथ तृतीया

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
११५९—पुनाता दक्षसाधनं यथा शर्धाय वीतये ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
यथा मित्राय वरुणाय शन्तमम् ।।३।।

भावार्थः– हे ऋत्विजो ! (**शर्धाय**) बल और (**वीतये**) भोजन के लिये (**दक्षसाधनं यथा**) जैसे बल का साधन हो वैसे और (**मित्राय**) प्राण तथा (**वरुणाय**) अपान के लिये (**यथा**) जैसे (**शंतमम्**) सुखदायिक हो वैसे (**पुनाता**) सोम का शोधन करो ।। अष्टाध्यायी ७ । १ । ४५ का प्रमाण और ऋग्वेद ९ । १०४ । ३ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ।।३।।

अथ द्वितीयतृचस्य—अग्नयधिषण्या ऋषयः । सोमो देवता । द्विपदा गायत्री छन्दः ।।

तत्र प्रथमा

२ ३क २र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २३ ३ १ २
११६०—प्र वाज्यक्षाः सहस्रधारास्तिरः पवित्रं वि वारमव्यम् ।।

भावार्थः—(**वाजी**) बलवान् वा वेगवान् (**सहस्रधारः**) बहुत सी धारों वाला सोम (**अव्यम्**) भेड़ की (**वारम्**) ऊर्णामय दशापवित्र को (**तिरः**) अन्तर्हित करके (**वि—प्र—अक्षाः**) विविध प्रकार से वर्षता है ।। ऋग्वेद ९।१०९। १६ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ।।१।।

अथ द्वितीया

११६१—स वाज्यक्षाः सहस्ररेता अद्भिर्मृजानो गोभिः श्रीणानः ॥

भावार्थः (वाजी) बलिष्ठ, (सहस्ररेताः) बहुत वीर्य वाला, (अद्भिः) जलों से (मृजानः) शोधा जाता हुआ, (गोभिः) किरणों से (श्रीणानः) आश्रियमाण (सः) वह सोम (अक्षाः) सिंचता है ॥ ऋ० ९ । १०९ । १७ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

११६२—प्र सोम याहीन्द्रस्य कुक्षा नृभिर्येमानो अद्रिभिः सुतः ॥

भावार्थः—(नृभिः) ऋत्विजों से (येमानः) नियमपूर्वक होम किया जाता हुआ (अद्रिभिः) मेघों से (सुतः) खिंचा हुआ (सोमः) सोम (इन्द्रस्य) इन्द्र के (कुक्षा) उदर में (प्र - याहि) प्रकर्ष से जाता है ॥

ऋग्वेद ९ । १०९ । १८ में भी ॥३॥

अथ तृतीयतृचस्य—वारुणिर्भृगुर्जमदग्निर्वा ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

११६३—ये सोमासः परावति ये अर्वावति सुन्विरे ।
ये वादः शर्यणावति ॥१॥

११६४—य आर्जीकेषु कृत्वसु ये मध्ये पस्त्यानाम् ।
ये वा जनेषु पञ्चसु ॥२॥

११६५—ते नो वृष्टिं दिवस्परि पवन्तामा सुवीर्यम् ।
स्वाना देवास इन्दवः ॥३॥

भाषार्थः— समस्त सूक्त का एकत्र ही अन्वय है कि—(**ये**) जो (**सोमासः**) सोम (**परावति**) दूर देश में (**ये**) और जो (**अर्वावति**) समीप देश में (**ये वा**) और जो (**अदः**) इस (**शर्यणावति**) भूमि में (**ये**) और जो (**आर्जीकेषु**) ऋजु = सरल = सम (**कृत्वसु**) किये हुए स्थानों में (**ये**) और जो (**पस्त्यानां मध्ये**) गृहों के मध्य में (**ये वा**) और जो (**पञ्चसु जनेषु**) ४ ऋत्विज् और ५ वां यजमान इन पांचों में (**सुन्विरे**) अभिषुत किये जाते हैं (**ते**) वे (**स्वानाः**) अभिषूयमाण (**देवासः**) दिव्य (**इन्दवः**) सोम (**नः**) हमारे लिये (**दिवः—परि**) आकाश के सकाश से (**सुवीर्यम्**) जिससे सुन्दर वीर्य होवे (**वृष्टिम्**) वर्षा को (**आ —पवन्ताम्**) सर्वतः वर्षावें ॥

निघण्टु ३ । २६ ॥ २ । १६ ॥ ३ । ४ के प्रमाण संस्कृतमाष्य में देखिये ॥
ऋग्वेद ६ । ६५ । २२—२३—२४ में भी ॥ १ । २ । ३ ॥

इत्यष्टमाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ॥५॥

अथ षष्ठे खण्डे प्रथमतृचस्य —वत्स ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१ २ ३ १ २९ ३ १ २ ३ १ २
११६६—आ ते वत्सो मनो यमत्परमाच्चित्सधस्थात् ।
२ ३ १ २ ३१२
अग्ने त्वां कामये गिरा ॥१॥

इसकी व्याख्या (८) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

३ २उ ३२उ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
११६७—पुरुत्रा हि सदृङ्ङसि दिशो विश्वा अनु प्रभुः ।
३ १ २
समत्सु त्वा हवामहे ॥२॥

भाषार्थः—हे स्वप्रकाशस्वरूप ! अग्ने ! परमात्मन् ! आप (**पुरुत्रा**) सर्वत्र (**हि**) ही (**सदृङ्**) समदर्शी (**असि**) हैं और (**विश्वाः**) सब (**दिशः**) पूर्वादि दिशाओं को (**अनु**) लक्ष्य करके (**प्रभुः**) ईश्वर हैं । इस प्रकार के (**त्वा**) आपको (**समत्सु**) संग्रामों और तत्तुल्य कठिन समयों में (**हवामहे**) हम पुकारते हैं ॥ ऋ० ८।११।८ का पाठ और अर्थ का भेद संस्कृतमाष्य में देखिये ॥२॥

अथ तृतीया

३ २ ३ १ २र ३ १ २
११६८—समत्स्वग्निमवसे वाजयन्तो हवामहे।
१ २ ३ १ २
वाजेषु चित्रराधसम् ॥३॥

भावार्थः—(**समत्सु**) कामादि शत्रुओं के साथ युद्धों में (**वाजयन्तः**) बल चाहते हुए हम (**वाजेषु**) उन संग्रामों में (**चित्रराधसम्**) विचित्र धनी (**अग्निम्**) प्रकाशस्वरूप परमात्मा को (**अवसे**) रक्षार्थ (**हवामहे**) पुकारते हैं ॥

ऋ० ८ । ११ । ६ में भी ॥३॥

अथ द्वितीयतृचस्य—नृमेध ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१ २ ३ १ २३ १ २ ३ १ २
११६९—त्वं न इन्द्रा भर ओजो नृम्णं शतक्रतो विचर्षणे।
२ ३१ २ ३ १ २
आ वीरं पृतनासहम् ॥१॥

इसकी व्याख्या (४०५) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१ २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
११७०—त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
१ २ ३ १ २
अथा ते सुम्नमीमहे ॥२॥

भावार्थ—(**वसो**) सबके अन्तर्यामित्व से सबमें वसने वाले ! (**शतक्रतो**) बहुत कर्मों=सृष्टि उत्पत्ति स्थितियों के कर्ता ! (**त्वम्**) आप (**हि**) ही (**नः**) हमारे (**पिता**) पिता और (**त्वम्**) आप ही (**माता**) माता (**बभूविथ**) सृष्टचारम्भ में हुए थे (**अथ**) इसलिये (**ते**) आपके ही (**सुम्नम्**) सुख आनन्द को (**ईमहे**) हम मांगते हैं ॥ ऋ० ८ । ९८ । ११ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१ २ ३ २ ३ १ २
११७१—त्वां शुष्मिन्पुरुहूत वाजयन्तमुप ब्रुवे सहस्कृत।
१ २ ३ १ २
स नो रास्व सुवीर्यम् ॥३॥

भावार्थः—(**शुष्मिन्**) बलवन् ! (**पुरुहूत**) बहुतों से पुकारे हुए ! (**सहस्कृत**) अतएव बलप्रद ! परमेश्वर ! (**वाजयन्तम्**) बल देते हुए (**त्वाम्**) आप को (**उपब्रुवे**) मैं स्तुत करता हूँ (**सः**) वह आप (**नः**) हमारे लिये (**सुवीर्यम्**) सुन्दर वीर्य को (**रास्व**) दीजिये ।। निघण्टु २।६ में शुष्म, सहस्, वाज ये बल के नाम हैं ।। ऋ० ८ । ६८ । ११ में भी ।।३।।

अथ तृतीयतृचस्य—भौमोऽत्रिऋर्षिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ।।

तत्र प्रथमा

१ २ ३ १ ३ ३ १ २
११७२—यदिन्द्र चित्र म इह नास्ति त्वादातमद्रिवः ।
२ ३ १ २ ३ १ २
राधस्तन्नो विदद्वस उभयाहस्त्या भर ।।१।।

इसकी व्याख्या (३४५) में हो चुकी है ।।१।।

अथ तृतीया

१ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र
११७३—यन्मन्यसे वरेण्यमिन्द्र द्युक्षं तदा भर ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २
विद्याम तस्य ते वयमकूपारस्य दावनः ।।२।।

भावार्थः—(**इन्द्र**) हे परमेश्वर ! (**यत्**) जिसको आप (**वरेण्यम्**) उत्तम (**मन्यसे**) समझें (**तत्**) उस (**द्युक्षम्**) अन्न को (**आभर**) हमें प्राप्त करावें (**ते**) आपके (**तस्य**) उस (**अकूपारस्य**) अनिन्दित परिपाक वाले (**दावनः**) अन्नदान के (**विद्याम**) हम योग्य होवें ।। ऋग्वेद ५ । ३९ । २ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ।।२।।

अथ तृतीया

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३२ ३२
११७४—यत्ते दित्सु प्रराध्यं मनो अस्ति श्रुतं बृहत् ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २
तेन दृढा चिदद्रिव आ वाजं दर्षि सातये ।।३।।

भावार्थ—(**अद्रिवः**) हे वज्रवन् ! इन्द्र ! परमेश्वर ! (**दिक्षु**) दिशाओं में (**श्रुतम्**) विख्यात (**यत्**) जो (**बृहत्**) बड़ा (**प्रराध्यम्**) आराधनीय (**ते**) आप का (**मनः**) ज्ञान (**अस्ति**) है (**तेन**) उस ज्ञान से (**सातये**) दान वा संभजन के लिये (**दृढा**) पुष्ट (**चित्**) भी (**वाजम्**) अन्न को (**आ दर्षि**)

सब ओर से ढहाले [भरमार से देते] हो ॥ ऋ० ५ । २६ । ३ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥३॥

इति चतुर्थः प्रपाठकः ॥४॥

इति श्रीमत्कण्ववंशाऽवतंस श्रीमान् पण्डित हजारी लाल स्वामी के पुत्र

परीक्षितगढ़ (जिला मेरठ) निवासी तुलसीराम स्वामिकृत

उत्तरार्चिक सामवेदभाष्य में आठवाँ अध्याय

समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

ओ३म्

अथ नवमाध्यायः ॥

तत्र

प्रथमे खण्डे प्रथमसूक्तस्य—प्रतर्दन ऋषिः। सोमो देवता। त्रिष्टुप्छन्दः॥

तत्र प्रथमा

११७५–शिशुं जज्ञानं हर्यतं मृजन्ति शुम्भन्ति विप्रं मरुतो गणेन।
कविर्गीर्भिः काव्येना कविः सन्त्सोमः पवित्रमत्येत
रेभन् ॥१॥

भावार्थः—(**मरुतः**) सूर्य किरणें वा ऋत्विज् लोग (**गणेन**) अपने समूह से (**शिशुम्**) नवीन (**जज्ञानम्**) उत्पन्न हुए (**हर्यतम्**) मनोहर (**विप्रम्**) बुद्धितत्त्वयुक्त सोम को (**मृजन्ति**) शोधते और (**शुम्भन्ति**) सुशोभित करते हैं। (**कविः**) क्रान्तबुद्धितत्त्वयुक्त (**कविः**) शब्द करने के स्वभाव वाला सोम (**रेभन्**) शब्द करता हुआ (**काव्येन**) वेदपाठ से और उसमें भी (**गीर्भिः**) सोम की प्रशंसायुक्त ऋचाओं की वाणियों के साथ (**पवित्रम्**) दशापवित्र को (**अत्येति**) उल्लङ्घन कर जाता है॥ ऋ० ९।९६।१७ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥१॥

अथ द्वितीया

११७६— ऋषिमना य ऋषिकृत्स्वर्षाः
सहस्रनीथः पदवीः कवीनाम्।
तृतीयं धाम महिषः सिषास-
न्त्सोमो विराजमनुराजति ष्टुप् ॥२॥

भावार्थः—(यः) जो (ऋषिमनाः) ऋषियों का मन है जिसमें, अतएव (ऋषिकृद्) ऋषि बनाने वाला (स्वर्षाः) सुन्दर गति वाला (सहस्रनीथः) बहुत प्रशंसा करने वाला [नीथा=स्तुतिः इति सायणः] (कवीनां पदवीः) कवियों बुद्धिमानों का उन्नति कर्त्ता (महिषः) प्रशंसनीय (स्तुप्) प्रशस्यमान (तृतीयं धाम) द्युलोक को (सिषासन्) विभक्त करना चाहने वाला सा (सोमः) सोम है वह (विराजम्) इन्द्र वायु को (अनुराजति) प्रकाशित करता है ॥ ऋ० ६ । ६६ । १८ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
११७७— चमूषच्छ्येनः शकुनो विभृत्वा
३ २ ३ १ २र ३ १ २
गोविन्दुर्द्रप्स आयुधानि बिभ्रत् ।
३ २ ३ १ २र ३ २
अपामूर्मिं सचमानः समुद्रं
३ २ ३ १ २ ३ १ २
तुरीयं धाम महिषो विवक्ति ॥३॥

भावार्थः –(चमूषत्) द्युलोक और पृथिवी लोक के मध्य में स्थित (श्येनः) शिकरा [बाज] (शकुनः) पक्षी सा बलवान् (विभृत्वा) आकाश विहारी (गोविन्दुः) सूर्य किरणों में गया (द्रप्सः) जल में मिला (आयुधानि, बिभ्रत्) बिजुली रूपी अस्त्रों को, धारण करता हुआ (अपाम्, ऊर्मिं, समुद्रं, सचमानः) जलों की, लहरीयुक्त, अन्तरिक्ष को, सेवन करता हुआ, (महिषः) महान् सोम (तुरीयं धाम) द्युलोक पृथिवी लोक और अन्तरिक्ष लोक इन तीनों में चतुर्थ से अद्भुत स्थान को (विवक्ति) सेवित करता है ॥ ऋ० ६।६६।१६ में भी ॥ सायणाचार्य ने "द्रप्सः" और "आयुधानि" पदों की व्याख्या नहीं की दीखती, या जो दो पुस्तक हमने देखे वे खण्डित हों । इसी से उस भाष्य की संगति भी नहीं बैठती । और आश्चर्य है कि ज्वालाप्रसाद ने उन दोनों पदों के बिना ही अन्वय पूरा कर दिया ॥३॥

अथ नवर्चस्य द्वितीयसूक्तस्य—असितदेवलावृषी । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

३ १ २र ३ २ ३ १ २र ३ १ २
११७८—एते सोमा अभि प्रियमिन्द्रस्य काममक्षरन् ।
१ २ ३क २र
वर्धन्तो अस्य वीर्यम् ॥१॥

भावार्थः—(एते) ये (सोमाः) सोम (अस्य) इस (इन्द्रस्य) इन्द्र के (वीर्यम्) वीर्य वा शक्ति को (वर्धन्तः) बढ़ाते हुए (प्रियम्) प्यारी (कामम्) कामना को (अभि) सर्वतः (अक्षरन्) वर्षाते हैं ॥ ऋग्वेद ९।८।१ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

११७९—पुनानासश्चमूषदो गच्छन्तो वायुमश्विना।
ते नो धत्त सुवीर्यम् ॥२॥

भावार्थः—जो (पुनानासः) अभिषुत किये जाते हुए और फिर (चमूषदः) पृथिवी आकाश के बीच में स्थित हुए (वायुम्) वायु को और उस में के (अश्विना) प्राण अपान को (गच्छन्तः) प्राप्त होते हुए सोम हैं (ते) वे (नः) हमारे लिये (सुवीर्यम्) उत्तम वीर्य को (धत्त) धारण करें ॥ ऋग्वेद ९।८।२ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

११८०—इन्द्रस्य सोम राधसे पुनानो हार्दि चोदय।
देवानां योनिमासदम् ॥३॥

भावार्थः—(सोम) हे सोम ! तू (पुनानः) अभिषुत किया जाता हुआ (इन्द्रस्य) इन्द्रनामक वायु विशेष वृष्टिकारक की (राधसे) सिद्धि के लिये (हार्दि) हृदय के स्थान को (चोदय) उत्तेजित कर । मैं इसीलिये (देवानां-योनिम्) देवों के स्थान=यज्ञ स्थल में (आसदम्) आकर बैठता हूँ ॥ ऋ० ९। ८। ३ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥३॥

अथ चतुर्थी

११८१—मृजन्ति त्वा दश क्षिपो हिन्वन्ति सप्त धीतयः।
अनु विप्रा अमादिषुः ॥४॥

भावार्थः—सोम ! (त्वा) तुझ को (दश) १० (क्षिपः) अंगुलियें (मृजन्ति) शोधती हैं (सप्त) ७ (धीतयः) होता लोग (हिन्वन्ति) अग्नि में

पहुचाते हैं (अनु) फिर (विप्राः) बुद्धिमान् सोम (अमादिषुः) हृष्ट पुष्ट होते हैं ॥ ऋ० ९ । ८ । ४ में भी ॥४॥

अथ पञ्चमी

११८२—देवेभ्यस्त्वा मदाय कं सृजानमति मेष्यः ।
सं गोभिर्वासयामसि ॥५॥

भावार्थः—सोम ! हम (देवेभ्यः) देवों के लिये (मदाय) हर्षार्थ, (मेष्यः) दशापवित्र को (अति सृजानम्) उल्लङ्घन करके छोड़ते हुए (त्वा) तुझ को (कम्) जिससे सुख हो, (गोभिः) सूर्य की किरणों से (सं-वासयामसि) सुवासित करते हैं ॥ ऋ० ९ । ८ । ५ में भी ॥५॥

अथ षष्ठी

११८३—पुनानः कलशेष्वा वस्त्राण्यरुषो हरिः ।
परि गव्यान्यव्यत ॥६॥

भावार्थः—(कलशेषु) द्रोण कलशों में (आ) सर्वतः (पुनानः) अभिषूयमाण (अरुषः) प्रकाशमान और (हरिः) अग्निसम्बन्ध से धूम रूप में परिणत होकर हरा हुआ सोम (गव्यानि) किरणमय (वस्त्राणि) वस्त्रों को (पर्यऽव्यत) पहर लेता है ॥ ऋ० ९ । ८ । ६ में भी ॥६॥

अथ सप्तमी

११८४—मघोन आ पवस्व नो जहि विश्वा अप द्विषः ।
इन्दो सखायमा विश ॥७॥

भावार्थः—(इन्दो) सोम ! (नः) हम सोमयाजियों को (मघोनः) धनी (आपवस्व) बना और (विश्वा) सब (द्विषः) शत्रुओं को (अपजहि) मार तथा (सखायम्) अपने मित्र इन्द्र [वायु] को (आविश) प्रवेश कर ॥ ऋ० ९ । ८ । ७ में भी ॥७॥

अथाऽष्टमी

३ १ २ ३ १ २र ३ १ २
११८५—नृचक्षसं त्वा वयमिन्द्रपीतं स्वर्विदम् ।
३ १ २ ३ १ २र
भक्षीमहि प्रजामिषम् ॥८

भावार्थः—(नृचक्षसम्) ऋतु को हितकारी होने से मनुष्यों को दिखाने वाले (इन्द्रपीतम्) जिसका इन्द्र ने पान किया है उस (स्वर्विदम्) सुख प्रापक (इषम्) अन्न (त्वा) तुझ सोम को (वयम्) हम याज्ञिक (भक्षीमहि) भक्षण करें और (प्रजाम्) सन्तान को पावें ॥ ऋ० ९ । ८ । ९ में भी ॥८॥

अथ नवमी

३ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २र
११८६—वृष्टिं दिवः परिस्रव द्युम्नं पृथिव्या अधि ।
१ २ ३ १ २
सहो नः सोम पृत्सु धाः ॥९॥

भावार्थः—(सोम) ओषधिराज ! तू (पृथिव्या) पृथिवी के (अधि) ऊपर (वृष्टिम्) वर्षा और (द्युम्नम्) अन्न को (परि-स्रव) सर्वतः बर्षाव और (नः) हमारे लिये (पृत्सु) संग्रामों में (सहः) बल को (धाः) धारण करा ॥ ऋ० ९ । ८ । ८ में भी ॥९॥

इति नवमाऽध्यायस्य प्रथमः खण्डः ॥१॥

अथ द्वितीय खण्डे नवर्चस्य सूक्तस्य—असितदेवलावृषी । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
११८७—सोमः पुनानो अर्षति सहस्रधारो अत्यविः ।
३ १ २र ३ २
वायोरिन्द्रस्य निष्कृतम् ॥१॥

भावार्थः—(अत्यऽवि) भेड़ की रोम के दशापवित्र को उल्लंघित करने वाला (पुनानः) शोधा जाता हुआ (सहस्रधारः) बहुत धारायुक्त (सोमः) सोम (इन्द्रस्य, वायोः) इन्द्र जो कि वायु है उसके (निष्कृतम्) स्थान को (अर्षति) जाता है ॥ ऋ० ९ । १३ । १ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

११८८—पवमानमवस्यवो विप्रमभि प्र गायत ।
सुष्वाणं देववीतये ॥२॥

भावार्थः—(अवस्यवः) हे रक्षा को चाहने वालो ! तुम (देववीतये) देवों=वायु आदि के भक्षण यज्ञार्थ (सुष्वाणम्) अभिषुत किये जाते हुए (विप्रम्) मेधातत्त्वयुक्त (पवमानम्) सोम को (अभि—प्रगायत) प्रशंसित करो ॥
ऋ० ९ । १३ । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

११८९—पवन्ते वाजसातये सोमाः सहस्रपाजसः ।
गृणाना देववीतये ॥३॥

भावार्थः—(देववीतये) यज्ञसिद्ध (वाजसातये) और बलप्राप्ति के लिये (गृणानाः) प्रशस्यमान (सहस्रपाजसः) बहुबलयुक्त (सोमाः) सोम (पवन्ते) पवित्रता करते हैं ॥ ऋ० ९ । १३ । ३ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थी

११९०—उत नो वाजसातये पवस्व बृहतीरिषः ।
द्युमदिन्दो सुवीर्य्यम् ॥४॥

भावार्थः—उस प्रशंसा को कहते हैं कि:—(इन्दो) सोम ! (नः) हमारे लिये (वाजसातये) बलदानार्थ (बृहतीः) बहुत बड़े (इषः) अन्नों को (उत) और (द्युमत्) प्रकाशमान (सुवीर्यम्) शोभन वीर्य को (पवस्व) वर्षाव ॥ ऋ० ९ । १३ । ४ में भी ॥४॥

अथ पञ्चमी

११९१—अत्या हियाना न हेतृभिरसृग्रं वाजसातये ।
वि वारमव्यमाशवः ॥५॥

भावार्थः—(न) जैसे (आशवः) बाण (हेतृभिः) चलाने वालों से (हियानाः) चलाये हुए (वाजसातये) संग्राम के लिए छोड़े जाते हैं, वैसे ही (अत्याः) निरन्तर गमनयोग्य सोम भी (अव्यम्) भेड़ के (वारम्) बालमय दशापवित्र को (वि —असृग्रम्) विसृजन किये जाते हैं ॥ पदपाठ में "अत्याः" एक पद होने से जैसा कि सत्यव्रत सामश्रमी जी कहते हैं, सायणाचार्य की "अति —आ" की व्याख्या करना विरुद्ध है ॥

ऋ० ९ । १३ । ६ में भी ॥५॥

अथ षष्ठी

११९२—ते नः सहस्रिणं रयिं पवन्तामा सुवीर्यम् ।
स्वाना देवास इन्दवः ॥६॥

भावार्थः—(स्वानाः) अभिषव किये जाते हुए (ते) वे (देवासः) दिव्य (इन्दवः) सोम (नः) हमारे लिये (सहस्रिणम्) बहुत (रयिम्) धन तथा (सुवीर्यम्) उत्तम वीर्य को (आ—पवन्ताम्) सर्वतः वर्षावें ॥

ऋ० ९ । १३ । ५ में भी ॥६॥

अथ सप्तमी

११९३—वाश्रा अर्षन्तीन्दवोऽभि वत्सं न मातरः ।
दधन्विरे गभस्त्योः ॥७॥

भावार्थः—(इन्दवः) सोम (गभस्त्योः) दोनों बाहुओं में (दधन्विरे) धारण किये जाते और (अभि) सर्वतः (अर्षन्ति) फैलते जाते हैं । (न) जैसे (वाश्राः) शब्द करती हुई (मातरः) माता गौवें (वत्सम्) बछड़े के प्रति दौड़ती हैं तद्वत् ॥

ऋ० ९ । १३ । ७ में भी ॥७॥

अथाऽष्टमी

११९४—जुष्ट इन्द्राय मत्सरः पवमानः कनिक्रदत् ।
विश्वा अप द्विषो जहि ॥८॥

भावार्थः—(इन्द्राय) राजा वा वायुविशेष वा यजमान के लिए (जुष्टः) सेवन किया हुआ (मत्सरः) तृप्तिकारक (पवमानः) सोम (कनिक्रदत्) शब्द करता और (विश्वा) सब (द्विषः) शत्रुओं को (अप जङ्घि) नाशता है ॥ सायण और निरुक्त का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋ० ९ । १३ । ८ में भी ॥८॥

अथ नवमी

११९५—अपघ्नन्तो अराव्णः पवमानाः स्वर्दृशः ।
योनावृतस्य सीदत ॥९॥

भावार्थः—(स्वर्दृशः) सुख दिखाने वाले, (अराव्णः अपघ्नन्तः) अधार्मिकों का नाश करने वाले (पवमानाः) सोम वा सोमपायी लोग (ऋतस्य) यज्ञ के (योनौ) स्थान में (सीदत) ठहरते हैं वा ठहरें ॥

ऋ० ९ । १३ । ९ में भी ॥९॥

इति नवमाऽध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ॥२॥

अथ तृतीयखण्डे नवर्चमेकं सूक्तं तस्य—असितदेवलावृषी ।
सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥
तत्र प्रथमा

११९६—सोमा असृग्रमिन्दवः सुता ऋतस्य धारया ।
इन्द्राय मधुमत्तमा ॥१॥

भावार्थः—(ऋतस्य) यज्ञ के (सुताः) अभिषुत (मधुमत्तमाः) अति माधुर्ययुक्त (इन्दवः) गीले (सोमाः) सोम (इन्द्राय) इन्द्र के लिये (धारया) धार में (सृज्यन्ते) छोड़े जाते हैं ॥

ऋ० ९ । १२ । १ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥१॥

अथ द्वितीया

११९७—अभि विप्रा अनूषत गावो वत्सं न धेनवः ।
इन्द्रं सोमस्य पीतये ॥२॥

भावार्थः - (विप्राः) मेधावी ऋत्विज् लोग (सोमस्य) सोम के (पीतये) पानार्थ (इन्द्रम्) इन्द्र को (अभि अनूषत) आभिमुख्य से स्तुत करते अर्थात् सोम अभिषुत होने पर इन्द्र की स्तुति वाले मन्त्रों को पढ़ते हैं । दृष्टान्त—(न) जैसे (धेनवः) दुधार (गावः) गौवें (वत्सम्) बछड़े को प्रीति से रम्भा कर पुकारती हैं ॥

ऋ० ९ । १२ । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

११९८—मदच्युत्क्षेति सादने सिन्धोरूर्मा विपश्चित् ।
सोमो गौरी अधि श्रितः ॥३॥

भावार्थः—(विपश्चित्) बुद्धितत्त्वयुक्त (मदच्युत्) हर्ष का टपकाने वाला (सोमः) सोम (सिन्धोः) मन रूपी समुद्र की (ऊर्मौ) लहरीरूप (सादने) स्थान में (गौरी अधि) वाणी में (श्रितः) आश्रित हुआ (क्षेति) निवास करता है ॥ शतपथ ७ । ४ । २ । ५२ और निघण्टु १ । ११ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋ० ९ । १२ । ३ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थी

११९९—दिवो नाभा विचक्षणोऽव्या वारे महीयते ।
सोमो यः सुक्रतुः कविः ॥४॥

भावार्थः—(यः) जो (सोमः) सोम (सुक्रतुः) यज्ञ की शोभा और (कविः) क्रान्तबुद्धितत्त्वयुक्त तथा (विचक्षणः) विशेषकर दृष्टि को प्रसन्न करने वाला है वह (अव्याः) भेड़ के (वारे) बालमय ऊनी दशापवित्र पर (दिवः)

आकाश की (नाभा) नाभि=यज्ञ में (महीयते) महिमा पाता है ।। "यह यज्ञ संसार की नाभि है" ऐसा श्रुति में सुनते हैं ।।

ऋ० ६ । १२ । ४ में भी ।।४।।

अथ पञ्चमी

१२ ०—यः सोमः कलशेष्वा अन्तः पवित्र आहितः ।
तमिन्दुः परि षस्वजे ।।५।।

भावार्थः - (यः) जो (सोमः) सोम (कलशेषु) द्रोणकलशों में (आः) भरा रहता और (अन्तः पवित्रे) दशापवित्र के मध्य में (आहितः) रक्खा जाता है (तम्) उस सोम को (इन्दुः) आकाशस्थ चन्द्रमा (परिषस्वजे) किरणों द्वारा आलिङ्गन करता है ।।

ऋ० ६ । १२ । ५ में भी ।।५।।

अथ षष्ठी

१२०१—प्र वाचमिन्दुरिष्यति समुद्रस्याधि विष्टपि ।
जिन्वन्कोशं मधुश्चुतम् ।।६।।

भावार्थः—(इन्दुः) चन्द्रमा (समुद्रस्य) आकाश के (विष्टपि अधि) विष्टब्धस्थान [नियत स्थान] में स्थित हुआ (मधुश्चुतम्) मधु टपकाने वाले (कोशम्) कोश=अपने मण्डल को किरण रूप से (वाचम्) वाणी के प्रति (प्र-इष्यति) भेजता है अर्थात् सोम का प्रभाव वाणी की मधुरता पर पड़ता है ।।

ऋग्वेद ६ । १२ । ६ । में भी ।।६।।

अथ सप्तमी

१२०२—नित्यस्तोत्रो वनस्पतिर्धेनामन्तः सबर्दुघाम् ।
हिन्वानो मानुषा युगा ।।७।।

भावार्थः—(नित्यस्तोत्रः) निरन्तर प्रशंसनीय (वनस्पतिः) ओषधियों का राजा सोम (मानुषा युगा) मनुष्यों के जोड़े स्त्री-पुरुषों के प्रति (सबर्दुघा

धेनाम्) अमृत दुहने वाली वाणीरूप गौ को (हिन्वानः) प्रेरित करता हुआ वर्तमान है ॥

ऋ० ९ । १२ । ७ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥७॥

अथाऽष्टमी

१२०३—आ पवमान धारया रयिं सहस्रवर्चसम् ।
अस्मे इन्दो स्वाभुवम् ॥८॥

भावार्थः—(पवमान) हे शुद्ध किये गये ! वा शुद्धि करने वाले (इन्दो) सोम ! (अस्मे) हम में (सहस्रवर्चसम्) बहुत प्रकाश वाले (स्वाभुवम्) घर की शोभारूप (रयिम्) धन को (आ-धारय) सब ओर से रख ॥

ऋ० ९ । १२ । ९ में भी ॥८॥

अथ नवमी

१२०४—अभि प्रिया दिवः कविर्विप्रः स धारया सुतः ।
सोमो हिन्वे परावति ॥९॥

भावार्थः—(सः) वह (परावति, धारया, सुतः) उत्तम स्थान यज्ञ में, धार से, अभिषुत किया हुआ (कविः) क्रान्तकर्मा (विप्रः) बुद्धितत्त्वयुक्त (सोमः) सोम (दिवः) द्युलोक के (प्रिया) प्यारे स्थानों को (अभिहिन्वे) सर्वतः जाता है ॥

ऋग्वेद ९ । १२ । ८ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥९॥

इति नवमाऽध्यायस्य तृतीयः खण्डः ॥३॥

अथ चतुर्थे खण्डे पञ्चर्चमेकं सूक्तं तस्य—उचथ्य ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१२०५— उत्ते शुष्मास ईरते सिन्धोरूर्मेरिव स्वनः ।
वाणस्य चोदया पविम् ॥१॥

भावार्थः—(सिन्धोः) समुद्र की (ऊर्मेः) लहरी के (स्वनः) शब्द (इव) से (ते) तेरे (शुष्मासः) वेग (उत्-ईरते) ऊपर को उठते हैं, सो तू (बाणस्य) वायु विशेष वृष्टिकारक इन्द्र के धनुष में प्रयुक्त बाणतुल्य वेग के (पविम्) वज्र को (चोदय) प्रेरित कर अर्थात् वर्षा का प्रेरक हो ॥

ऋ० ९ । ५० । १ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

३ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २
१२०६—प्रसवे त उदीरते तिस्रो वाचो मखस्युवः ।
२उ ३ २ ३ १ २
यदव्य एषि सानवि ॥२॥

भावार्थः—सोम ! (यद्) जब कि (सानवि) पर्वतशिखर की आकृति वाले उच्च (अव्ये) ऊनी दशापवित्र पर (एषि) तू जाता है तब (मखस्युवः) यज्ञार्थी यजमानादि की (ते) तेरे (प्रसवे) अभिषवविषयक (तिस्रोवाचः) ३ ऋग्यजुः साम वेदों की वाणियें (उदीरते) उच्चारित होती हैं ॥

अर्थात् जब सोम अभिषुत होकर दशापवित्र में रक्खा जावे तब यजमानादि याज्ञिकों को सोमाभिषवविषयक वेदमन्त्रों का उच्चारण करना होता है ।

ऋ० ९ । ५० । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २
१२०७—अव्या वारैः परि प्रियम् हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः ।
१ २ ३ १ २
पवमानं मधुश्चुतम् ॥३॥

भावार्थः—(प्रियम्) देवतों के प्रसन्न करने वाले (हरिम्) हरे (मधुश्चुतम्) मधुर रस को टपकाने वाले (पवमानम्) सोम को (अव्याः) भेड़ के (वारैः) बालों के बने दशापवित्रों और (अद्रिभिः) पथरेटों से (परिहिन्वन्ति) पीस छेत छान कर करते हैं ॥

ऋ० ९ । ५० । ३ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थी

१ २ ३ २ ३ १ २
१२०८—आ पवस्व मदिन्तम पवित्रं धारया कवे ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
अर्कस्य योनिमासदम् ॥४॥

भावार्थः—(मदिन्तम) हे हृष्टिकारकतम ! (कवे) कान्तकर्मन् ! सोम ! (अर्कस्य) सूर्य के (योनिम्) स्थान आकाश में (आसदम्) पहुँचने को (पवित्रम्) पवित्र किरण समूह को (धारया) धारा से (आपवस्व) शोध ॥

हृष्टिपुष्टिकारक सोम के होम से पवित्र किरणें भी विशेष परिपूरित होती हैं ॥ ऋ० ९ । ५० । ४ में भी ॥४॥

अथ पञ्चमी

१२०९—स पवस्व मदिन्तम गोभिरञ्जानो अक्तुभिः ।
एन्द्रस्य जठरं विश ॥५॥

भावार्थः—(मदिन्तम) अत्यन्त हृष्टिकारक, (अक्तुभिः) गमनशील किरणों से (अञ्जानः) सना हुआ (सोमः) सोम (इन्द्रस्य) सूर्य के (जठरम्) उदर=आकाश में (आविश) घुसता और (पवस्व) शुद्धि करता है ॥

ऋ० ९ । ५० । ५ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥५॥

इति नवमाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ॥४॥

अथ पञ्चमे खण्डे प्रथमसूक्तस्य तृचस्य—अमहीयुर्ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१२१०—अया वीती परि स्रव यस्त इन्दो मदेष्वा ।
अवाहन्नवतीर्नव ॥१॥

इसकी व्याख्या (४९५) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१२११—पुरः सद्य इत्थाधिये दिवोदासाय शंबरम्
अध त्यं तुर्वशं यदुम् ॥२॥

भावार्थः—सोमरस (सद्यः) शीघ्र (इत्थाधिये) सत्यकर्मा (दिवोदासाय) सोमयाजी और सोमपायी यजमान के लिये (त्यम्) उस (शम्बरम्) सुखशान्ति में विघ्नकारक, [शम्बरं पाठ हो तो वज्रपात करने वाले, वा जल] (तुर्वशम्) समीपस्थ (यदुम्) शत्रु पुरुष को (अथ) और (पुरः) उस की पुरियों को "नष्ट करता है" यह पूर्व मन्त्र से अन्वय है ॥

निघण्टु ३ । १० ॥ २ । १ ॥ २ । १६ और २ । ३ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋ० ६ । ६१ । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१२१२—परि नो अश्वमश्वविद्गोमदिन्दो हिरण्यवत् ।
क्षरा सहस्रिणीरिषः ॥३॥

भावार्थः—(इन्दो) सोम ! (अश्वविद्) प्राणों के लाभदायक ! तू (नः) हमारे लिये (गोमद्) इन्द्रियों से युक्त (हिरण्यवत्) तेज से युक्त (अश्वम्) प्राण को तथा (सहस्रिणीः इषः) बहुत से अन्नों को (परि क्षर) अभिवर्षित कर ॥

ऋ० ६ । ६१ । ३ में भी ॥३॥

अथ द्वितीय तृचस्य—अमहीयु ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥
तत्र प्रथमा

१२१३—अपघ्नन्पवते मृधोऽप सोमो अराव्णः ।
गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम् ॥१॥

इसकी व्याख्या (५१०) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१२१४—महो नो राय आ भर पवमान जही मृधः ।
रास्वेन्दो वीरवद्यशः ॥२॥

भावार्थः—(इन्दो) प्रकाशमान ! (पवमान) पवित्रस्वरूप परमात्मन् ! वा सोम ! (नः) हमारे लिये (महः) महा (रायः) धनों को (आभर) दीजिये और (मृधः) शत्रुओं को (जहि) मारिये तथा (वीरवत्) पुत्रादियुक्त (यशः) यश (रास्व) दीजिये ।।

ऋ० ९ । ६१ । २६ में भी ।।२।।

अथ तृतीया

१२१५—न त्वा शतं च न ह्रुतो राधो दित्सन्तमामिनन् ।
यत्पुनानो मखस्यसे ।।३।।

भावार्थः—हे सोम ! वा परमात्मन् ! (यत्) जब कि (पुनानः) शुद्ध-स्वरूप तू (मखस्यसे) धन देना चाहता है तब (शतं चन) बहुत भी (ह्रुतः) हरणशील हमारे शत्रु (राधः दित्सन्तं त्वा) धनादि देना चाहते हुए तुझ को (न आमिनन्) नहीं मार सकते ।।

ऋ० ९ । ६१ । २७ में भी ।।३।।

अथ तृतीय तृचस्य—निध्रुविर्ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ।।
तत्र प्रथमा

१२१६—अया पवस्व धारया यया सूर्यमरोचयः ।
हिन्वानो मानुषीरपः ।।१।।

इसकी व्याख्या (४९३) में हो चुकी है ।।१।।

अथ द्वितीया

१२१७—अयुक्त सूर एतशं पवमानो मनावधि ।
अन्तरिक्षेण यातवे ।।२।।

भावार्थः—(पवमानः) सोम=चन्द्रमा (अन्तरिक्षेण) आकाशमार्ग से (यातवे) प्रकाशित होकर जाने के लिये (सूरः) सूर्य के (एतशम्) किरण को

(मनो अधि) मन रूप माने में (अयुक्त) युक्त करता है । चन्द्रमा का मानस होना तथा सूर्य से प्रकाश पाना संस्कृतभाष्यस्थ श्रुतियों में देखिये ॥

ऋ० ६ । ६३ । ८ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१२१८—उत त्या हरितो रथे सूरो अयुक्त यातवे ।
इन्दुरिन्द्र इति ब्रुवन् ॥३॥

भावार्थः—(उत) और (इन्दुः) चन्द्रमा (यातवे) प्रकाशित होकर जाने के लिये (इन्द्रः) सूर्य मुझ में प्रकाशता है (इति) ऐसे (ब्रुवन्) मानो बोलता हुआ (त्याः) उन (सूरः हरितः) सूर्य की किरणों को (रथे) अपने रमणीय मण्डल में (अयुक्त) जोड़ता है ॥

ऋ० ६।६३।६ का पाठभेद और उपचारोक्ति संस्कृतभाष्य में देखिये ॥३॥

इति नवमाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ॥५॥

अथ षष्ठे खण्डे प्रथमतृचस्य—वसिष्ठ ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१२१६—अग्निं वो देवमग्निभिः सजोषा यजिष्ठं दूतमध्वरे कृणुध्वम् ।
यो मर्त्येषु निध्रुविर्ऋतावा तपुर्मूर्धा घृतान्नः पावकः ॥१॥

भावार्थः—(सजोषाः) हे समानप्रीति सेवायुक्त याज्ञिको ! तुम (यः) जो (मर्त्येषु) मनुष्यों में (निध्रुविः) निरन्तर स्थिर, (ऋतावा) सत्य और यज्ञ वाला, (तपुः) तापयुक्त तपाने वाला, (मूर्धा) सदा ऊपर को लपट रखने वाला, (घृतान्नः) घी खाने वाला (पावकः) शुद्धि करने वाला है, उस (देवम्) प्रकाशमान, (यजिष्ठम्) यजनीयतम (अग्निम्) अग्नि को (अग्निभिः) अंगारों से (वः) तुम अपने (अध्वरे) हिंसा रहित यज्ञ में (दूतम्) दूत (कृणुध्वम्) बनाओ, जिससे उस-उस देवता के उद्देश्य का हव्य पहुंचावे ॥

ऋ० ७ । ३ । १ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

१२२०–प्रोथदश्वो न यवसेऽविष्यन्यदा महः संवरणाद्व्यस्थात् ।
आदस्य वातो अनु वाति शोचिरध स्म ते व्रजनं
कृष्णमस्ति ॥२॥

भावार्थः—पूर्व मन्त्र में अग्नि को सब देवों का दूत कहा था, उसमें यह बताने को कि एकदेश यज्ञवेदि में ही स्थित अग्नि, दूर देशस्थ देवों को भी हव्य भाग पहुँचा सकता है, यह मन्त्र कहता है कि (**यदा**) जब (**यवसे**) घास को (**अविष्यन्**) खाने को तैयार (**प्रोथत्**) हींसते हुए (**अश्वः**) घोड़े के (**न**) समान, (**महः**) भारी (**संवरणात्**) रुकावट [काष्ठ के ढेर] से (**व्यऽस्थात्**) निकलता हुआ स्थित होता है (**आत् स्म**) तब ही (**अस्य**) इस अग्नि की (**शोचिः**) लपट के (**अनु**) साथ (**वातः**) वायु (**वाति**) चल पड़ता है (**अध**) और (**ते**) उस अग्नि का (**व्रजनम्**) मार्ग (**कृष्णम्**) काला (**अस्ति**) है ॥

भाव यह है कि अग्नि की लपट के साथ वायु चल पड़ने से अग्नि को वायु की सहायता प्राप्त हो जाती है जिससे वह दूरस्थ देवभाग भी पहुँचा सकता है ॥

ऋ० ७ । ३ । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१२२१ -उद्यस्य ते नवजातस्य वृष्णोऽग्ने चरन्त्यजरा इधानाः ।
अच्छा द्यामरुषो धूम एषि सं दूतो अग्न ईयसे हि देवान् ॥

भावार्थः—अग्नि की सहायता को साथ ही वायु चल पड़ता है, यह तो पूर्व मन्त्र में कहा परन्तु अब यह बताते हैं कि वायु की सहायता पाकर भी अग्नि दूत, दूरस्थ देवों को किस प्रकार भाग पहुँचाता है —(**अग्ने**) हे अग्ने (**वृष्णः**) वृष्टि के हेतु (**नवजातस्य**) अरणियों में नवोत्पन्न (**यस्य**) जिस वायु से सहायता पाये हुए की (**ते**) तेरी (**अजराः**) बूढ़ी नहीं किन्तु जवान (**इधानाः**) प्रदीप्त लपटें (**उत्**) ऊपर को (**चरन्ति**) चलती हैं (**अग्ने**) हे अग्ने ! तब तू (**अरुषः**) प्रकाशमान और (**धूमः**) यज्ञधूमयुक्त हुआ (**दूतः**) देवदूत (**द्याम्**) आकाश की

(अच्छ) ओर (एषि) जाता है (हि) इस कारण (देवान्) सूर्यादि दूरस्थित देवों से (सम्-ईयसे) मिल जाता है ॥

ऋ० ७ । ३ । ३ में भी ॥३॥

अथ मैत्रावरुणमाज्यम् तद्विषये—
तमिन्द्रमिति तृचस्य द्वितीयसूक्तस्य—सुकक्ष ऋषिः । इन्द्रो देवता ।
गायत्री छन्दः ॥ तत्र प्रथमा

१२२२—तमिन्द्रं वाजयामसि महे वृत्राय हन्तवे ।
स वृषा वृषभो भुवत् ॥१॥

इसकी व्याख्या (११९) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१२२३—इन्द्रः स दामने कृत ओजिष्ठः स बले हितः ।
द्युम्नी श्लोकी स सोम्यः ॥२॥

भावार्थः—(सः) वह (इन्द्रः) वृष्टिकर्त्ता (दामने) अन्नधनादि देने के लिये (कृतः) परमेश्वर ने बनाया है (ओजिष्ठः) वह अतिबलयुक्त है (सः) वह (बले) बलवान् सोम में (हितः) रक्खा गया है (द्युम्नी) अन्न वाला (श्लोकी) इसी से कीर्त्ति वाला (सः) वह (सोम्यः) सोमाहुति के योग्य है ॥

ऋ० ८ । ९३ । ८ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१२२४—गिरा वज्रो न सम्भृतः सबलो अनपच्युतः ।
ववक्ष उग्रो अस्तृतः ॥३॥

भावार्थः—(वज्रः) वज्र (न) सा (सबलः) बलयुक्त (अनपच्युतः) शिथिलतारहित (उग्रः) तीव्र (अस्तृतः) न मारा हुआ इन्द्र (ववक्षे) हमारे लिये जलादि का वहन करना चाहता है । इसलिये (गिरा) वेदवाणी द्वारा (संभृतः) परमात्मा ने धारण किया और कराया है ॥

वायुविशेष इन्द्र के जड़ होने पर भी "वहन करने की इच्छा" कहना ऐसा ही औपचारिक है जैसा कि "दीवार वा भित्ति गिरना चाहती है" इत्यादि में ॥

ऋ० ८ । ६३ । ६ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥३॥

इति नवमाऽध्यायस्य षष्ठः खण्डः ॥६॥

उक्तान्याज्यानि

इदानीं माध्यन्दिनः पवमान इति विव०

अथ सप्तमे खण्डे प्रथमतृचस्य—उचथ्य ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । १ । २ गायत्री, ३ निचृद्गायत्री च छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ २ ३ १ २
१२२५—अध्वर्यो अद्रिभिः सुतं सोमं पवित्र आ नय ।
३ १ २ ३ १ २
पुनाहीन्द्राय पातवे ॥१॥

इसकी व्याख्या (४९९) में हो गई ॥१॥

अथ द्वितीया

२३ १ २ ३ १ २ ३ २उ ३क २र
१२२६—तव त्य इन्दो अन्धसो देवा मधोर्व्याशत ।
१ २ ३ १ २
पवमानस्य मरुतः ॥२॥

भावार्थः—(**इन्दो**) हे सोम ! (**पवमानस्य**) स्वयं शुद्ध और अन्यों के शोधक तथा (**मधोः**) मधुर (**अन्धसः**) अन्न का (**तव**) तेरा (त्ये) वे (**मरुतः**) वायु और तत्रस्थ अन्य (**देवाः**) देवता (**व्याशत**) विविध भोजन करते हैं ॥

ऋ० ९ । ५१ । ३ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ तृतीया

३ २ ३ १२ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २
१२२७—दिवः पीयूषमुत्तमं सोममिन्द्राय वज्रिणे ।
३ २ ३ १२
सुनोता मधुमत्तमम् ॥३॥

भावार्थः—हे अध्वर्यु लोगो ! तुम (मधुमत्तमम्) अति मधुर (दिवः) आकाश के (पीयूषम्) अमृत (उत्तमम्) उत्तम (सोमम्) सोमरस को (वज्रिणे) बिजुली वाले (इन्द्राय) मेघवर्धक वायुविशेष के लिये (सुनोत) अभिषुत करो ॥

ऋ० ६। ५१। २ में भी ॥३॥

अथ धर्त्ता दिव इति द्वितीयतृचस्य—कविर्ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । त्रिष्टुप्, विराड् जगती, निचृज्जगती चेति तिसृणां क्रमेण छन्दांसि ॥

तत्र प्रथमा

१२२८—धर्ता दिवः पवते कृत्व्यो रसो
दक्षो देवानामनुमाद्यो नृभिः ।
हरिः सृजानो अत्यो न सत्वभि-
र्वृथा पाजांसि कृणुषे नदीष्वा ॥१॥

इसकी व्याख्या (५५८) में हो गई ॥१॥

अथ द्वितीया

१२२९—शूरो न धत्त आयुधा गभस्त्योः
स्व३ः सिषासन्रथिरो गविष्टिषु ।
इन्द्रस्य शुष्ममीरयन्नपस्युभि-
रिन्दुर्हिन्वानो अज्यते मनीषिभिः ॥२॥

भावार्थः—(अपस्युभिः) कर्मकाण्डार्थी (मनीषिभिः) बुद्धिमान् ऋत्विजों से (हिन्वानः) हवन किया हुआ (इन्दुः) सोम (इन्द्रस्य) वृष्टिकारक वायु विशेष के (शुष्मम्) बल को (ईरयन्) प्रेरता-बढ़ाता हुआ (अज्यते) सूर्य

किरणों से मिलता है। दृष्टान्त—(न) जैसे (रथिरः) रथी (शूरः) शूरवीर योद्धा (स्वः) स्वाधीनतारूप सुख को (सिषासन्) बांटना चाहता हुआ (गभस्त्योः) दोनों हाथों में (आयुधा) खड्ग, चर्म, परशु, पाश इत्यादि अस्त्र-शस्त्रों को (धत्ते) धारण करके तैयार होता है। ऐसे ही (गविष्टिषु) सूर्य किरणों के यज्ञों में सोम इन्द्र को तैयार करता है ॥

ऋ० ६ । ७६ । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१ २ ३ १२ ३ १ २
१२३०—इन्द्रस्य सोम पवमान ऊर्मिणा
३ १ २ ३ २ ३ १ २
तविष्यमाणो जठरेष्वा विश ।
१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
प्र नः पिन्व विद्युदभ्रेव रोदसी
३ २ ३ २ ३ १२ ३ १ २
धिया नो वाजां उप माहि शश्वतः ॥३॥

भावार्थः—हे (पवमान) शोध्यमान ! (सोम) सोम ! तू (तविष्यमाणः) वृद्धि को प्राप्त होवेगा सो (इन्द्रस्य) वायुविशेष इन्द्र के (जठरेषु) पेटों में (ऊर्मिणा) लहरी द्वारा (आविश) प्रवेश कर (इव) जैसे कि (विद्युत्) बिजुली (अभ्रा) बादलों में प्रवेश करती है और (रोदसी) द्युलोक और पृथिवी लोक को (प्र–पिन्व) दुह अर्थात् वृष्टि तथा खेती को सम्पन्न कर और (धिया) यज्ञ कर्म से (नः) हमारे लिये (शश्वतः) बहुत (वाजान्) अन्न, धन, बल आदि पदार्थों को (उप–माहि) प्राप्त करा ॥ यदि इन्द्र कोई देहधारी विशेष विवक्षित होता तो १ इन्द्र का एक ही जठर=पेट होता, यहां "जठरेषु" इस बहुवचन से स्पष्ट होता है कि आकाशप्रदेश जिस में से वर्षा होती है, बहुत हैं, और इसलिये उसको इन्द्र का जठर=उदर मानकर बहुवचन प्रयुक्त किया है ॥

ऋ० ६ । ७६ । ३ के पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥३॥

उक्तो माध्यन्दिनः पवमानः। इदानीं पृष्ठान्युच्यन्ते इति वि० ॥
अथ प्रगाथस्य द्वितीयसूक्तस्य—देवातिथिः काण्व ऋषिः। इन्द्रो देवता।
क्रमेण भुरिगनुष्टुप्, निचृत्पंक्तिश्च छन्दः ॥ तत्र प्रथमा

१ २ ३ २उ ३ २ ३क२र ३ २ ३ १ २
१२३१—यदिन्द्र प्रागपागुदङ्न्यग्वा हूयसे नृभिः ।
१ २ ३ १ २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
सिमा पुरू नृषूतो अस्यानवेऽसि प्रशर्ध तुर्वशे ॥१॥

इसकी व्याख्या (२७६) में हो चुकी है ।।१।।

अथ द्वितीया

२ ३ २३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२३ १ २
१२३२—यद्वा रुमे रुशमे श्यावके कृप इन्द्र मादयसे सचा ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २
कण्वासस्त्वा स्तोमेभिर्ब्रह्मवाहस इन्द्रा यच्छन्त्या गहि॥२॥

भावार्थः—(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (यद्वा) यद्यपि आप (रुमे) क्या रमणीय देश और क्या (रुशमे) हिंसकदुष्ट, तथा क्या (श्यावके) अन्धियारे और (कृपे) क्या समर्थ, (सचा) सर्वत्र एक साथ ही एकरस (मादयसे) अपने आनन्द-स्वरूप से वर्त्तमान हैं । तथापि (ब्रह्मवाहसः) वेदवाहक (कण्वासः) मेधा=धारणावती बुद्धि वाले लोग जब (त्वा) आपको (स्तोमेभिः) वैदिक स्तुतिमन्त्रों से (आयच्छन्ति) ढूंढते हैं, तब (आगहि) आप प्राप्त होते हैं ।। निघण्टु ३ । १५ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।।

ऋ० ८ । ४ । २ में भी ।।२।।

अथ अच्छावाकं साम—इति विव०

चतुर्थप्रगाथसूक्तस्य—भर्गः प्रगाथ ऋषिः । इन्द्रो देवता । निचृद् बृहती पङ्क्तिश्चेति क्रमेण छन्दसी ।।

तत्र प्रथमा

३ १२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २र
१२३३—उभयं शृणवच्च न इन्द्रो अर्वागिदं वचः ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १२
सत्राच्या मघवान्त्सोमपीतये धिया शविष्ठ आ गमत् ॥१॥

इसकी व्याख्या (२६०) में हो चुकी है ।।१।।

अथ द्वितीया

२३ ३ १२ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २
१२३४—तं हि स्वराजं वृषभं तमोजसा धिषणे निष्टतक्षतुः ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २
उतोपमानां प्रथमो नि षीदसि सोमकामं हि ते मनः ॥२॥

भावार्थः—पूर्व मन्त्र से अनुवृत्ति करके हे इन्द्र ! परमेश्वर ! (तम्)

पूर्वोक्त (**स्वराजम्**) स्वयं राजमान (**तम्**) उस (**वृषभम्**) कामवर्षक आपको (**विवणे**) द्युलोक और पृथिवी लोक के निवासी (**ओजसा**) परमपुरुषार्थ आत्मिक बल से (**निष्टतक्षुः**) ढूंढ पाते हैं (**हि**) क्योंकि (**ते**) आपका (**मनः**) ज्ञान (**सोमकामम्**) हृद्गत सौम्यभाव को चाहता है (**उत**) और आप (**उपमानाम्**) आकाशादि उपमानों में (**प्रथमः**) मुख्य अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म हैं (**निषीदसि**) और व्यापक होने से निरन्तर सर्वत्र वर्तमान हैं ।।

ऋ० ८ । ६१ । २ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ।।२।।

इति नवमाध्यायस्य सप्तमः खण्डः ।।

उक्तानि पृष्ठानि इति विवरणकारः

अथाऽष्टमे खण्डे प्रथमतृचस्य—निध्रुवीः काश्यप ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । आद्ययोर्निचृद् गायत्री, अन्त्याया गायत्री च छन्दः ।।

तत्र प्रथमा

१२३५—पवस्व देव आयुषगिन्द्रं गच्छतु ते मदः ।
वायुमारोह धर्मणा ॥१॥

इसकी व्याख्या (४८३) में हो चुकी है ।।१।।

अथ द्वितीया

१२३६—पवमान नि तोशसे रयिं सोम श्रवाय्यम् ।
इन्दो समुद्रमाविश ॥२॥

भावार्थः—(**पवमान**) शुद्धिकारक ! (**इन्दो**) आर्द्र ! (**सोम**) ओषधिराज ! (**नितोशसे**) वृत्र=मेघ को मारता=वर्षाता है, सो तू (**श्रवाय्यम्**) श्रवणीय प्रशस्त (**रयिम्**) धनधान्यप्रद (**समुद्रम्**) आकाश में (**आविश**) घुस ।।

ऋ० ९ । ६३ । २३ के पाठ का भेद संस्कृतभाष्य में देखिये ।।२।।

अथ तृतीया

१२३७—अपघ्नन् पवसे मृधः क्रतुवित्सोम मत्सरः ।
नुदस्वादेवयुं जनम् ॥३॥

इसकी व्याख्या (४९२) में हो चुकी है ॥३॥

अथ तृतीयतृचस्य—अम्बरीषऋजिष्वा च ऋषी: । पवमानः सोमो देवता । १ । २ । अनुष्टुप्, ३ निचृदनुष्टुप् च छन्दसी ॥

तत्र प्रथमा

१२३७—अभी नो वाजसातमं रयिमर्ष शतस्पृहम् ।
इन्दो सहस्रभर्णसं तुविद्युम्नं विभासहम् ॥१॥

इसकी व्याख्या (५४९) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१२३८—वयं ते अस्य राधसो वसोर्वसो पुरुस्पृहः ।
नि नेदिष्ठतमा इषः स्याम सुम्ने ते अध्रिगो ॥२॥

भावार्थः—(अध्रिगो) हे अचल ! (वसो) सब के निवासहेतो ! परमेश्वर ! (ते) तेरे (सुम्ने) सुख=मोक्षानन्द में (वयम्) हम तेरे सेवक (नि) निरन्तर (नेदिष्ठतमाः) अत्यन्त समीप रहने वाले (स्याम) हों तथा (ते) तेरे (अस्य) इस ऐहिक सुख, (राधसः) धन, और (पुरुस्पृहः, वसोः) बहुत के चाहे हुए, निवास के हेतु (इषः) अन्न के भी समीप रहने वाले होवें ॥

तात्पर्य यह है कि हे परमेश्वर ! ऐसी कृपा हो कि जब तक हम जीवें तब तक धनधान्य आदि सम्पत्ति ऐहिक सुख-साधन पास रहें और अन्त में मोक्ष के आनन्द-भागी हों ॥

निघण्टु २ । १० ॥ २ । ७ ॥ ३ । ६ निरुक्त ५ । ११ के प्रमाण और ऋ० ९ । ९८ । ५ के पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ तृतीया

१२४०—परि स्य स्वानो अक्षरदिन्दुरव्ये मदच्युतः ।
धारा य ऊर्ध्वो अध्वरे भ्राजा न याति गव्ययुः ॥३॥

भावार्थः —(**गव्ययुः**) सूर्यकिरणों का चाहने वाला (**ऊर्ध्वः**) ऊर्ध्वगामी (**यः**) जो सोम (**भासा**) प्रकाशमान दीप्ति के साथ (**न**) जैसे जाता है, तद्वत् दीप्ति के साथ (**अध्वरे**) यज्ञ में (**धारा**) धार के साथ (**याति**) जाता है (**स्वानः**) अभिषूयमाण (**स्वः**) वह (**इन्दुः**) गीला सोमरस (**मदच्युतः**) हर्ष के लिए वेद मन्त्रों से प्रेरित=उपदिष्ट हुआ (**अव्ये**) ऊर्णामय दशापवित्र पर (**परि**) सर्वत: (**अक्षरत्**) टपकता है ।।

ऋ० ९ । ९८ । ३ के पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ।।३।।

अथ तृतीयसूक्तस्य–अग्नयोधिष्ण्या ऐश्वरा ऋषयः । पवमानः सोमो देवता ।
१ आर्ची भुरिग्गायत्री २ । ३ आर्ची स्वराड् गायत्री च छन्दः ।।

तत्र प्रथमा

१२४१—पवस्व सोम महान्त्समुद्रः पिता देवानां विश्वाभि धाम ॥

इसकी व्याख्या (४०९) में हो गई ।।१।।

अथ द्वितीया

१२४२—शुक्रः पवस्व देवेभ्यः सोम दिवे पृथिव्यै शं च प्रजाभ्यः ॥

भावार्थः— (**सोम**) हे शान्तिधाम ! (**शुक्रः**) आशुकारी आप (**देवेभ्यः**) सूर्यादि देवों, (**दिवे**) अन्तरिक्ष (**पृथिव्यै**) पृथिवीलोक (**च**) और (**प्रजाभ्यः**) वहां-वहां की प्रजाओं के लिये (**शम्**) सुख (**पवस्व**) वर्षाइये ।।

ऋ० ९ । १०९ । ५ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ।।२।।

अथ तृतीया

१२४३–दिवो धर्त्तासि शुक्रः पीयूषः सत्ये विधर्मन्वाजी पवस्व ॥३॥

भावार्थः – हे शान्तस्वरूप ! परमेश्वर ! तू (**शुक्रः**) शीघ्र सृष्ट्यादि करने वाला (**पीयूषः**) अमृतस्वरूप (**वाजी**) अतिबलवान् है, सो सर्वशक्तिमत्ता से (**दिवः**) द्युलोकादि का (**धर्त्ता**) धारक (**असि**) है । सो हे पिता ! तू (**सत्ये**) कारण के नाश न होने से सत्य=त्रिकालाऽबाध्य (**विधर्मन्**) विविध धर्म वाले जगत् में (**पवस्व**) हमें पवित्र कर ।।

ऋ० ९ । १०९ । ६ में भी ।।३।।

यज्ञायज्ञीयमग्निष्टोमसाम इति विव०

इति उत्तरार्चिके नवमाध्यायस्याऽष्टमः खण्डः ॥८॥

अथ नवमे खण्डे

प्रथमतृचस्य उशना ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः ॥ तत्र प्रथमा

१२४४—प्रेष्ठं वो अतिथिं स्तुषे मित्रमिव प्रियम् ।
अग्ने रथं न वेद्यम् ॥१॥

इसकी व्याख्या (५) में हो गई ॥१॥

इदानीमुक्थसामानि भवन्ति औशनं प्रथममुक्थम् इति विव०

अथ द्वितीया

१२४५—कविमिव प्रशंस्यं यं देवास इति द्विता ।
नि मर्त्येष्वादधुः ॥२॥

भावार्थः—(**यम्**) जिस अग्नि का (**देवासः**) विद्वान् (**द्विता**) गार्हपत्य और आहवनीयरूप दो प्रकार से (**नि–आ–दधुः**) आधान करते हैं "उस की प्रशंसा कर" यह पूर्व मन्त्र से सम्बन्ध है । जो (**कविमिव**) विद्वान् के समान (**प्रशंस्यम्**) प्रशंसनीय है ॥

ऋ० ८ । ८४ । २ के पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ तृतीया

१२४६—त्वं यविष्ठ दाशुषो नॄँः पाहि शृणुही गिरः ।
रक्षा तोकमुत त्मना ॥३॥

भावार्थः—(**यविष्ठ**) हे अतिबलवत्तम ! ईश्वर ! (**दाशुषः**) दानादि से परोपकाररत (**नॄन्**) मनुष्यों की (**पाहि**) रक्षा कीजिये, (**गिरः**) उन की स्तुतियों को (**शृणुहि**) सुनिये (**उत**) और (**तोकम्**) उनके पुत्रादि सन्तान वर्ग की (**त्मना**) अपने अनन्तसामर्थ्य से (**रक्ष**) रक्षा कीजिये ॥

भौतिक पक्ष में: --(**यविष्ठ**) अति बलवान् अग्नि (**वाशुषः**) हव्यदान से होम करने वाले (**नॄन्**) कर्म के नेता कर्मकाण्डियों की रक्षा करता है और (**गिरः**) उनकी वाणियों को सुनाता अर्थात् जैसा-जैसा वे चाहते हैं वैसा-वैसा उत्तम काम उनका पूर्ण करता है और उनके सन्तानों की भी रक्षा करता है ।।

तात्पर्य यह है कि जो लोग नित्यप्रति होम से वायु आदि देवों को हव्य देकर अग्निदूत के द्वारा तृप्त करते हैं, उनकी कराई तृप्ति से प्रसन्न हुए वे वायु आदि भौतिक देवता उनकी और उनके सन्तानों की आयु की रक्षा करते तथा सब प्रकार उनकी कामना पूरी करते हैं ।।

ऋ० ८ । ८४ । ३ में भी ।।३।।

अथ द्वितीयतृचस्य—नृमेध ऋषिः । इन्द्रो देवता । उष्णिक् छन्दः ।।
तत्र प्रथमा

१२४७—एन्द्र नो गधि प्रिय सत्राजिदगोह्य ।
गिरिर्न विश्वतः पृथुः पतिर्दिवः ।।१।।

इसकी व्याख्या (३९३) में हो चुकी है ।।१।।

अथ द्वितीया

१२४८—अभि हि सत्य सोमपा उभे बभूथ रोदसी ।
इन्द्रासि सुन्वतो वृधः पतिर्दिवः ।।२।।

भावार्थः—(**सत्य ! सोमपाः ! इन्द्र !**) हे सच्चे सोम पीने वाले इन्द्र ! (**हि**) निश्चय तू (**उभे**) दोनों (**रोदसी**) द्युलोक और पृथिवीलोक को (**अभि-बभूथ**) दबा कर वर्त्तमान है, सो तू (**सुन्वतः**) सोमयाजी यजमान का (**वृधः**) बढ़ाने वाला और (**दिवः**) आकाश का (**पतिः**) पालक (**असि**) है ।।

तात्पर्य यह है कि आकाशगत वायुविशेष वृष्टि के हेतु इन्द्र के यज्ञ द्वारा यजन करने से यज्ञ करने वालों की वृद्धि होती है क्योंकि वह आकाशगत सब प्राणी और अप्राणियों का पालक और वर्धक है ।।

ऋ० ८ । ९८ । ५ में भी ।।२।।

अथ तृतीया

१२४९—त्वं हि शश्वतीनामिन्द्र धर्त्ता पुरामसि ।
हन्ता दस्योर्मनोर्वृधः पतिर्दिवः ॥३॥

भावार्थः—(इन्द्र) हे वृष्टिहेतो ! वायुविशेष ! (त्वं हि) तू ही (शश्वतीनाम्) बहुत पुरानी (पुराम्) नगरियों का (धर्त्ता) फाड़ने वाला (दस्योः) असुर मेघ का (हन्ता) हनन करने वाला और (मनोः) यज्ञशील मनुष्य का (वृधः) बढ़ाने वाला (असि) है जो कि (दिवः पतिः) आकाश का पति है ॥

वायुभेद जो इन्द्र कहाता है उससे ही वर्षा होती हैं, इसलिये सोमादि ओषधि द्वारा यज्ञ करने से उसका आप्यायन, उससे वर्षा, उनसे पुरानी भित्ति आदि गिर जाने से पुरों का भेदन और यज्ञ करने वाले मनुष्यों के धान्यादि बढ़ने से उन की वृद्धि होती है ॥

ऋ० ८ । ९८ । ६ में भी ॥३॥

अथ मारुतं सोम इति विव०

तत्र तृतीयतृचस्य—जेता ऋषिः । इन्द्रो देवता । उष्णिक् छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१२५०—पुरां भिन्दुर्युवा कविरमितौजा अजायत ।
इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्त्ता वज्री पुरुष्टुतः ॥१॥

वाजी = वज्रीति पाठान्तरेण ॥

इसकी व्याख्या (३५९) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१२५१—त्वं बलस्य गोमतोऽपावरद्रिवो बिलम् ।
त्वां देवा अबिभ्युषस्तुज्यमानास आविषुः ॥२॥

भावार्थः—(अद्रिवः) हे मेघवाले ! इन्द्र ! सूर्य ! (त्वम्) तू (गोमतः, अबिभ्युषः, बलस्य) किरणयुक्त, तथापि निर्भय, मेघ के (बिलम्) घने समूह को

(**अपाऽवः**) तोड़ कर खोल देता है और तब (**वेधाः**) पृथिव्यादि लोक (**तुज्यमानासः**) मेघ से भीगे हुए (**त्वाम्**) तुझ को (**आविषुः**) प्राप्त होते हैं ॥

निघण्टु १ । १० का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद १ । ११ । ५ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१२५२—इन्द्रमीशानमोजसाभि स्तोमैरनूषत ।
सहस्रं यस्य रातय उत वा सन्ति भूयसीः ॥३॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! तुम (**ओजसा ईशानम्**) धारण आकर्षणादि विविध अद्भुत बल से ऐश्वर्यवान् (**इन्द्रम्**) सूर्य वा परमेश्वर की (**स्तोमैः**) प्रशंसाविषायक वेदमन्त्रों से (**अभि-अनूषत**) सर्वतः प्रशंसा करो ॥

ऋ० १ । ११ । ८ में भी ॥३॥

इति पञ्चमस्याऽर्धः प्रपाठकः ॥

इति श्रीमत्कण्ववंशाऽवतंस श्रीयुत पं० हजारीलाल स्वामी के पुत्र परीक्षितगढ़ (जिला—मेरठ) निवासी तुलसीराम स्वामिकृत उत्तरार्चिक सामवेदभाष्य में नवां अध्याय समाप्त हुआ ॥९॥



ओ३म्

अथ दशमाध्यायः

इदानीं नवममहः इति विवरणकारः

तत्र

अक्रान्त्समुद्र इति प्रथमतृचस्य–पराशर ऋषिः । सोमो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१२५३— अक्रान्त्समुद्रः प्रथमे विधर्मन्
जनयन् प्रजा भुवनस्य गोपाः ।
वृषा पवित्रे अधिसानो अव्ये
बृहत्सोमो वावृधे स्वानो अद्रिः ॥१॥

इसकी व्याख्या (५२६) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१२५४— मत्सि वायुमिष्टये राधसे नो
मत्सि मित्रावरुणा पूयमानः ।
मत्सि शर्धो मारुतं मत्सि देवान्
मत्सि द्यावापृथिवी देव सोम ॥२॥

भावार्थः—(**देव**) दिव्यगुणयुक्त ! (**सोम**) सोम ! तू (**नः**) हमारे (**रायसे**) धन और (**इष्टये**) यज्ञ के लिये (**वायुम्**) साधारण वायु को (**मत्सि**) हृष्ट करता है, तथा (**पूयमानः**) शोध्यमान तू (**मित्रावरुणा**) प्राण और अपान को (**मत्सि**) बल देता है और (**मारुतं, शर्धः**) मरुतों=वायुभेदों के बल को (**मत्सि**) आप्यायित करता है और (**देवान्**) इन्द्रियों को (**मत्सि**) पुष्टि देता है और कहां तक कहा जावे—(**द्यावापृथिवी**) द्युलोक और पृथिवी लोक अर्थात् पृथिवी आकाश के प्राणी अप्राणी सब पदार्थों की (**मत्सि**) हृष्टि-पुष्टि करता और तद्द्वारा हमारे धन धान्यादि बढ़ाता है ॥

ऋ० ६ । ६७ । ४२ में भी ॥८॥

अथ तृतीया

३ १ २९ ३ १ २ ३ १ २९ ३ २
१२५५—महत्तत्सोमो महिषश्चकारापां यद्गर्भोऽवृणीत देवान् ।
१ २ ३ २ ३ १२ ३ १ २९ ३ २ ३ २ ३ १ २
अदधादिन्द्रे पवमान ओजोऽजनयत्सूर्ये ज्योतिरिन्दुः ॥३॥

इसकी व्याख्या (५४२) में हो चुकी है ॥३॥

अथैष देव इति द्वितीयस्य दशर्चसूक्तस्य शुनः शेप ऋषि.। पवमानः सोमो देवता गायत्री छन्दः ॥ तत्र प्रथमा

३ २ ३ १ २९ ३ १ २
१२५६— एष देवो अमर्त्यः पर्णवीरिव दीयते ।
३ १ २९ ३ १ २
अभि द्रोणान्यासदम् ॥१॥

भावार्थः—(**एषः**) यह (**अमर्त्यः**) अमृत (**देवः**) सोम (**द्रोणानि**) द्रोण कलशों में (**आसदम्**) स्थिर होने को (**अभि दीयति**) सर्वतः जाता है, (**पर्णवीरिव**) जैसे पक्षी ॥

ऋ० ९ । ३ । १ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

३ १ २९ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
१२५७— एष विप्रैरभिष्टुतोऽपो देवो विगाहते ।
१ ३१ २ ३ १ २
दधद्रत्नानि दाशुषे ॥२॥

भावार्थः—(**विप्रैः**) मेधावी ऋत्विजों से (**अभिष्टुतः**) प्रशंसित (**देवः**) द्योतमान (**एषः**) यह सोम (**दाशुषे**) हविषों के दाता यजमान के लिये (**रत्नानि**)

रमणीय धनादि पदार्थ (वधत्) देता हुआ (अपः) वसतीवरी नामक जलों को (विगाहते) विलोडित करता है ॥

ऋ० ६ । ३ । ६ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१२५८— एष विश्वानि वार्या शूरो यन्निव सत्वभिः ।
पवमानः सिषासति ॥३॥

भावार्थः—(एषः) यह (पवमानः) सोम (विश्वानि) सब (वार्या) वरणीय धनादि पदार्थों को (सिषासति) विभागपूर्वक देना चाहता है, (इव) जैसे कि (सत्वभि.) सेनाओं के साथ (यन्) चढ़ाई पर जाता हुआ (शूरः) शूरवीर सेनापति ॥

ऋ० ६ । ३ । ४ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थी

१२५९— एष देवो रथर्यति पवमानो दिशस्यति ।
आविष्कृणोति वग्वनुम् ॥४॥

भावार्थः- (एषः) यह सोम (देवः) दिव्य गुणयुक्त है सो वह (रथर्यति) रथ द्वारा जाता है । जैसा कि सोमयाग में आदरार्थ सोम को रथ में ले चलते हैं । (पवमानः) शुद्धि करता हुआ वह सोम (दिशस्यति) यजमानों के लिये धनैश्वर्यादि देना चाहता और सोम पीने वालों की (वग्वनुम्) वाणी को (आविष्कृणोति) प्रकट करता है ॥

सोमयाग से मनुष्यों के धनैश्वर्य बढ़ते और सोमपान से वाणी (आवाज) सुधरती है, इत्यादि दिव्यगुण होने से सोमयाजी लोग यज्ञ में सोम के आदरार्थ सोम को रथ में ले चलते हैं ॥

ऋग्वेद ६ । ३ । ५ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥४॥

अथ पञ्चमी

१२६०— एष देवो विपन्युभिः पवमान ऋतायुभिः ।
हरिर्वाजाय मृज्यते ॥५॥

भावार्थः—(पवमानः) शोध्यमान (हरिः) हरित (एषः) यह (देवः) दिव्यगुण सोम (ऋतायुभिः) यज्ञ की कामना वाले (विपन्युभिः) ऋत्विजों द्वारा (वाजाय) बलप्राप्त्यर्थ (मृज्यते) संस्कृत किया जाता है ।। ऋग्वेद ६ । ३ । ३ में भी ।।५।।

अथ षष्ठी

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
१२६१—एष देवो विपा कृतोऽति ह्वरांसि धावति ।
१ २ ३ १ २
पवमानो अदाभ्यः ।।६।।

भावार्थः—(विपा) अंगुलि से (कृतः) अभिषुत (एषः) यह (देवः) दिव्यगुण (पवमानः) सोम (अदाभ्यः) अहिंसित हुआ (ह्वरांसि) शत्रुओं और रोगों को (अतिधावति) अतिक्रमण करके जाता है अर्थात् दबाता है ।।

भाव यह है कि सोमयाजियों के रोग और सोमपायियों के शत्रु नष्ट होते हैं ।। ऋग्वेद ६ । ३ । २ में भी ।।६।।

अथ सप्तमी

३ २उ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २
१२६२—एष दिवं वि धावति तिरो रजांसि धारया ।
१ २ ३ १ २
पवमानः कनिक्रदत् ।।७।।

भावार्थः—(एषः) यह (पवमानः) सोम (धारया) धाराओं से [अग्नि में हुत हुआ] (कनिक्रदत्) चटपटा शब्द करता हुआ (दिवम्) द्युलोक तथा (रजांसि) अन्य लोकों को (तिरः) छिपा हुआ (विधावति) विविधता से जाता है ।। ऋग्वेद ६ । ३ । ७ में भी ।।७।।

अथाऽष्टमी

३ २क ३ १ २ ३ २क ३ १ २
१२६३—एष दिवं व्यासरत्तिरो रजांस्यस्तृतः ।
१ २ ३ ३ २
पवमानः स्वध्वरः ।।८।।

भावार्थः—(**स्वध्वरः**) यज्ञ सुधारने वाला (**अस्तृतः**) अहिंसित=किसी से न दबने वाला (**एषः पवमानः**) यह सोम (**तिरः**) अदृश्यरूप से (**रजांसि**) लोकान्तरों को (**व्यासरत्**) अनेकधा जाता है ।। ऋ० ९ । ३ । ८ में भी ।।८।।

अथ नवमी

३ २ ३ २३ १ २ ३ २ ३१ २ ३२
१२६४—एष प्रत्नेन जन्मना देवो देवेभ्यः सुतः ।
१ २ ३१२
हरिः पवित्रे अर्षति ।।९।।

इसकी व्याख्या (७५८) में हो चुकी है ।।९।।

अथ दशमी

३२ ३ १ २ ३ १ २३ २ ३ २३ १ २
१२६५—एष उ स्य पुरुव्रतो जज्ञानो जनयन्निषः ।
१२ ३२
धारया पवते सुतः ।।१०।।

भावार्थः—(**एषः**) यह (**उ**) ही (**स्यः**) वह सोम है जो (**पुरुव्रतः**) बहुत कर्म वाला (**जज्ञानः**) उत्पन्न होते ही (**इषः**) अन्नों=धान्यों को (**जनयन्**) उत्पन्न करता हुआ (**धारया**) अपनी धारों से (**पवते**) शुद्ध करता है ।। ऋग्वेद ९ । ३ । १० में भी ।।१०।।

इति दशमाध्यायस्य प्रथमः खण्डः ।।१।।

अथ द्वितीये खण्डे

एष धियेत्यष्टर्चसूक्तस्य—असितदेवलावृषी । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ।।

तत्र प्रथमा

३२ ३ २ ३ २ ३ २३ १२ ३ १ २
१२६६—एष धिया यात्यण्व्या शूरो रथेभिराशुभिः ।
२ ३ १ २ ३२
गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम् ।।१।।

भावार्थ—(**इन्द्रस्य**) वायुविशेष वृष्टिकर्त्ता इन्द्र के (**निष्कृतम्**) स्थान आकाश को (**गच्छन्**) जाता हुआ (**एषः**) यह सोमरस (**अण्व्या**) सूक्ष्मतम (**धिया**) कर्म से (**याति**) पहुँचता है ।। दृष्टान्त—जैसे (**शूरः**) शूरवीर (**आशुभिः**) शीघ्रगामी (**रथेभिः**) रथों से जाता है ।। ऋ० ९ । १५ । १ में भी ।।१।।

अथ द्वितीया

३२ ३१ २ ३२ ३१ २
१२६७—एष पुरू धियायते बृहते देवतातये ।
२ ३ १ २ ३ १ २
यत्रामृतास आशत ॥२॥

भावार्थः—(**एषः**) यह सोम (**बृहते**) बड़े (**देवतातये**) यज्ञ के लिये (**धियायते**) कर्म चाहता है (**यत्र**) जिस यज्ञ में (**अमृतासः**) वायु आदि देवता (**आशत**) खाते हैं ॥ ऋग्वेद ९ । १५ । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

३१ २ ३ २ ३२३ १ २ ३ १२
१२६८— एतं मृजन्ति मर्ज्यमुप द्रोणेष्वायवः ।
३ २ ३१ २र
प्रचक्राणं महीरिषः ॥३॥

भावार्थः—(**आयवः**) ऋत्विज् लोग (**महीः**) बहुत (**इषः**) अन्नों को (**प्र चक्राणम्**) बहुतायत से उत्पन्न करने वाले (**एतम्**) इस (**मर्ज्यम्**) निचोड़ने योग्य सोम को (**द्रोणेषु**) द्रोण कलशों में (**उप मृजन्ति**) निचोड़ते हैं ॥ ऋग्वेद ९ । १५ । ७ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थी

३२ ३१ २र ३ २ ३ १ २ ३ २
१२६९—एष हितो वि नीयतेऽन्तः शुन्ध्यावता पथा ।
१ २ ३ २ ३ १२
यदी तुञ्जन्ति भूर्णयः ॥४॥

भावार्थः—(**यदि**) जब (**भूर्णयः**) भरणशील व बहुत ले चलने वाले याज्ञिक लोग (**तुञ्जन्ति**) देवतों के लिये देते—यज्ञ करते हैं, तब (**एषः**) यह सोम (**हितः**) ढका हुआ (**शुन्ध्यावता**) शुद्धि वाले (**पथा**) मार्ग से (**अन्तः**) अभिषव स्थान से आहवनीय स्थान को दोनों के बीच में (**वि—नीयते**) विशेष सावधानी से ले जाया जाता है ॥ ऋ० ९ । १५ । ३ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥४॥

अथ पञ्चमी

१२७०—एष रुक्मिभिरीयते वाजी शुभ्रेभिरंशुभिः ।
पतिः सिन्धूनां भवन् ॥५॥

भावार्थः—(वाजी) वेग वाला (**एषः**) यह सोम (**सिन्धूनाम्**) रसों का (**पतिः**) पति (**भवन्**) होता हुआ (**रुक्मिभिः**) सुवर्ण की सी चमकीली (**शुभ्रेभिः**) उज्ज्वल (**अंशुभिः**) सूर्य किरणों से (**ईयते**) ले जाया जाता है, वा जाता है ॥

अथवा—सोम को अभिषव स्थान से आहवनीय स्थान तक ले जाने का प्रकार कहते हैं कि सोम (रुक्मिभिः) सुवर्णकंकणादि धारने वाले ऋत्विजों द्वारा (शुभ्रेभिः) स्वच्छ श्वेत (अंशुभिः) वस्त्रों से (ईयते) ले जाया जाता है ॥ ऋ० ९ । १५ । ५ में भी ॥५॥

अथ षष्ठी

१२७१—एष शृङ्गाणि दोधुवच्छिशीते यूथ्यो३वृषा ।
नृम्णा दधान ओजसा ॥६॥

भावार्थः—अब सोम को बलवान् होने से वृषभ के अलंकार में वर्णन करते हैं—(**नृम्णा**) बलों को (**दधान**) धारण किये हुए (**एषः**) यह सोम (**यूथ्यः, वृषा**) यूथ में के वृष के समान (**शिशीते**) तीक्ष्ण (**शृंगाणि**) शृङ्गों को (**दोधुवत्**) कंपाता है अर्थात् बैल के समान उन्नत अंशुओं को फैलाता है ॥

ऋ० ९ । १५ । ४ में भी ॥६॥

अथ सप्तमी

१२७२—एष वसूनि पिब्दनः परुषा ययिवाँ अति ।
अव शादेषु गच्छति ॥७॥

भावार्थः— (**वसूनि**) दुष्ट प्राणियों को (**पिब्दनः**) पीड़ा देता हुआ (**एषः**) यह सोम (**परुषा**) पर्व से (**अति**) अतिक्रमण करके (**ययिवान्**) जाता हुआ (**शादेषु**) नाशनीय राक्षसों में (**अव गच्छति**) पहुँचता है ।।

अर्थात् सोम के हवन से वायु आदि गत दुष्ट प्राणी नष्ट होते हैं, इस लिए कि होमा हुआ सोम उन में पहुँचता है ।। ऋ० ९ । १५ । ६ में भी ।।७।।

अथाऽष्टमी

३ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१२७३—एतमुत्यं दश क्षिपो हरिं हिन्वन्ति यातवे ।
३ २ ३ १ २
स्वायुधं मदिन्तमम् ।।८।।

भावार्थः— (**हरिम्**) हरे (**त्यम्**) उस (**स्वायुधम्**) "उत्तम आयुध वाले" (**मदिन्तमम्**) अत्यन्त हृष्टिपुष्टिकारक (**एतम् उ**) इसी सोम को (**दश**) दस (**क्षिपः**) अंगुलियें (**यातवे**) पहुँचाने को (**हिन्वन्ति**) प्रेरती हैं ।। राक्षसों के हनन का सामर्थ्य दिखाने को "उत्तम आयुध वाले" यह विशेषण अलङ्कारोक्ति है और आयुध शब्द से यज्ञपात्रों का भी ग्रहण है ।।

ऋ० ९ । १५ । ८ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ।।८।।

इति दशमाऽध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ।।२।।

अथ तृतीये खण्डे

एष उ स्य इति षड्ऋचस्य प्रथमसूक्तस्य—रहूगण ऋषिः ।
सोमो देवता । गायत्री छन्दः ।।

तत्र प्रथमा

३२ ३ २उ ३ २उ ३ १२
१२७४—एष उ स्य वृषा रथोऽव्या वारेभिरव्यत ।
२ ३ १ २ ३ १ २
गच्छन् वाजं सहस्रिणम् ।।१।।

भावार्थः— (**स्यः**) वह (**एषः**) यह अभिषुत सोम (**वृषा**) वीर्यवान् और वीर्यवर्धक है, (**रथः**) रपटने के स्वभाव वाला है, सो (**सहस्रिणम्**) बहुत (**वाजम्**) बल को (**गच्छन्**) प्राप्त होता हुआ (**अव्याः**) भेड़ के (**वारेभिः**)

बालों से बने दशापवित्र से (अव्यत) द्रोणकलश में को रपट जाता है ।। ऋग्वेद ९ । ३८ । १ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ।।१।।

अथ द्वितीया

१२७५—एतं त्रितस्य योषणो हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः ।
इन्दुमिन्द्राय पीतये ॥२॥

भावार्थः—(त्रितस्य) विद्या शिक्षा धर्मान्वित उत्तीर्ण विद्वान् ऋत्विज् की (योषणः) अंगुलियें (अद्रिभिः) अभिषव पाषाणों से (एतम्) इस (हरिम्) बिना सूखे=हरे (इन्दुम्) सोम को (हिन्वन्ति) प्रेरित करती हैं ।। ऋग्वेद ९ । ३८ । २ में भी ।।२।।

अथ तृतीया

१२७६—एष स्य मानुषीष्वा श्येनो न विक्षु सीदति ।
गच्छन् जारो न योषितम् ॥३॥

भावार्थः—(एषः) यह (स्यः) वह सोम है जो (योषितम्) व्यभिचारिणी स्त्री से (गच्छन्) समागम करते हुए (जारः) व्यभिचारी पुरुष के (न) समान "गुप्तरूप" से (मानुषीषु) मनुष्य सम्बन्धिनी (विक्षु) प्रजाओं में (श्येनः) श्येन पक्षी (न) सा बलवान् (आ सीदति) प्राप्त हुआ स्थित है ।। ऋग्वेद ९ । ३८ । ४ में भी ।।३।।

अथ चतुर्थी

१२७७—एष स्य मद्यो रसोऽव चष्टे दिवः शिशुः ।
य इन्दुर्वारमाविशत् ॥४॥

भावार्थः—(एष) यह (स्यः) वह (मद्यः) हृष्टिपुष्टिकारक (रसः) सोमरस है (यः) जो (इन्दुः) गीला (वारम्) दशापवित्र को (आविशत्)

लिपट कर घुस जाता है और जो (दिवः) द्युलोक का (शिशुः) पुत्रवत् आह्लादक होकर (प्रचचक्षे) दृष्टिप्रसाद करता है ॥ ऋ० ९ । ३८ । ५ में भी ॥४॥

अथ पञ्चमी

१२७८—एष स्य पीतये सुतो हरिरर्षति धर्णसिः ।
क्रन्दन्योनिमभिप्रियम् ॥५॥

भावार्थः—(एषः) यह (स्य) वह सोम है जो (पीतये) पीने के लिये (सुतः) अभिषुत किया हुआ (हरिः) हरा गीला (धर्णसिः) धारण करने वाला और धैर्य का उत्पादक (प्रियम्) प्यारे (योनिम्) स्थान=द्रोणकलश = एक प्रकार के पात्र में (क्रन्दन्) शब्द करता हुआ [सोडे के सा] उफान भरता हुआ (अभि अर्षति) ठसाठस भर जाता है ॥ ऋ० ९ । ३८ । ६ में भी ॥५॥

अथ षष्ठी

१२७९—एतं त्यं हरितो दश मर्मृज्यन्ते अपस्युवः ।
याभिर्मदाय शुम्भते ॥६॥

भावार्थः—(एतम्) इस (त्यम्) पूर्वोक्त सोम को अध्वर्यु ऋत्विज् की (दश) दश १० (अपस्युवः) कर्म चाहती हुई (हरितः) अंगुलियें (मर्मृज्यन्ते) शोधती हैं (याभिः) जिन अंगुलियों से (मदाय) हृष्टि पुष्टि के लिये (शुम्भते) शोधा जाता है ॥ ऋ० ९ । ३८ । ३ में भी ॥६॥

इति दशमाऽध्यायस्य तृतीयः खण्डः ॥३॥

अथ चतुर्थे खण्डे

एष वाजीति षड्चस्य—प्रियमेध ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१२८०—एष वाजी हितो नृभिर्विश्वविन्मनसस्पतिः ।
अव्यं वारं वि धावति ॥१॥

भावार्थ:—(**एषः**) यह (**वाजी**) बलवान् सोम (**नृभिः**) कर्म के नेता लोगों ऋत्विजों से (**हितः**) धारण किया हुआ (**विश्वविद्**) सब को मिलने वाला (**मनसः**) मन का (**पतिः**) पालन पोषण करने वाला है, सो यह(**अव्यम्**) ऊनी (**वारम्**) दशापवित्र को (**विधावति**) विविध प्रकार से जाता है ।। चन्द्रमा का उत्पत्ति वेद में समष्टि मन से वर्णन की है और सोमरस का चन्द्रमा से बहुत साधर्म्य है, इस लिये यहां व्यष्टिगत मन का भी सोमरस को पोषक बताना युक्त है ।। ऋ० ९ । २८ । १ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ।।१।।

अथ द्वितीया

३२ ३ १२ ३ १ २ ३१ २ ३२
१२८१—एष पवित्रे अक्षरत्सोमो देवेभ्यः सुतः ।
 ५ ३ १ २ ३ २
विश्वा धामान्याविशन् ।।२।।

भावार्थः—(**एषः**) यह (**सोमः**) सोम (**विश्वा**) सब (**धामानि**) स्थानों में (**आविशन्**) प्रवेश करता हुआ (**देवेभ्यः**) वायु आदि देवों के लिये (**सुतः**) अभिषुत हुआ (**पवित्रे**) दशापवित्र पर (**अक्षरत्**) टपकता है ।।
ऋ० ९ । २८ । २ में भी ।।२।।

अथ तृतीया

३२ ३१ २ ३२ ३ २ ३१२
१२८२—एष देवः शुभायतेऽधि योनावमर्त्यः ।
३ १ २३ १२
वृत्रहा देववीतमः ।।३।।

भावार्थः—(**अमर्त्यः**) अमृतरूप (**देववीतमः**) देवतों का सर्वोत्तम भोजन (**वृत्रहा**) रोगादि शत्रुओं का घातक (**एषः**) यह (**देवः**) दिव्यगुणयुक्त सोम (**अधि योनौ**) स्थान में (**शुभायते**) शुभ करता है ।।
ऋ० ९ । २८ । ३ में भी ।।३।।

अथ चतुर्थी

३२३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३२
१२८३—एष वृषा कनिक्रदद्दशभिर्जामिभिर्यतः ।
३ १ २र
अभि द्रोणानि धावति ।।४।।

भावार्थः — (**एषः**) यह सोम (**वृषा**) वीर्यवान् वीर्यप्रद और वृष्टिकर्ता है (**कनिक्रदत्**) शब्द करता हुआ (**दशभिः**) दशों (**जामिभिः**) अंगुलियों से (**यतः**) दबाया=निचोड़ा हुआ (**द्रोणानि**) द्रुम = वृक्षों से बने काष्ठमय द्रोण-कलशनामक यज्ञपात्रों में (**अभि धावति**) अभितः जाता है ।।

ऋग्वेद ९ । २८ । ४ में भी ।।४।।

अथ पञ्चमी

३१ २र ३ १२ ३ २ ३ १ २
१२८४—**एष सूर्यमरोचयत्पवमानो अधि द्यवि ।**

३ १ २ ३ १ २
पवित्रे मत्सरो मदः ॥५॥

भावार्थः (**एषः**) यह (**मत्सरः**) गाढा (**मदः**) हर्षकारक (**पवमानः**) सोम (**पवित्रे**) पवित्र (**द्यवि अधि**) द्युलोक में (**सूर्यम्**) सूर्य को (**अरोचयत्**) प्रकाशित करता है ।।

आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक भेद से ३ प्रकार का सूर्य है । अभिषुत किया, हवन किया और पिया हुआ सोम उन तीनों प्रकार से सूर्य को रुचि देता है । वृष्टि का कारण जो सूर्यांश है, वह सोम के हवन से ऐसी वृद्धि पाता है कि वर्षा करे, सोम के पीने से मानस सूर्य की रुचि बढ़ती है ।।

ऋ० ९।२०।५ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये और तदनुसार अर्थभेद है ।।५।।

अथ षष्ठी

३१ २र ३ १ २ ३ १ २
१२८५—**एष सूर्येण हासते संवसानो विवस्वता ।**

१ २ ३ १ २र
पतिर्वाचो अदाभ्यः ॥६॥

भावार्थः — (**अदाभ्यः**) अनिवार्य वीर्य, (**वाचः पतिः**) वाणी का सुधारक पालक-पोषक, (**संवसानः**) सब का आच्छादन करता हुआ, (**एषः**) यह सोम—(**विवस्वता सूर्येण**) प्रकाशवाले सूर्य से (**हासते**) पृथिवी पर वर्षा के साथ त्यागा=छोड़ा जाता है ।। ऋ० ९ । २७ । ५ में भी ।।६।।

इति दशमाऽध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ।।

अथ पञ्चमे खण्डे

एष कविरिति षड्चस्य—नृमेध ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१२८६—एष कविरभिष्टुतः पवित्रे अधि तोशते ।
पुनानो घ्नन्नप द्विषः ॥१॥

भावार्थः—(अभिष्टुतः) प्रशंसित (कविः) बुद्धितत्त्वयुक्त (पवित्रे अधि) दशापवित्र पर (पुनानः) शोध्यमान (एषः) यह सोम (द्विषः) रोगादि शत्रुओं को (अपघ्नन्) बाधित करता हुआ (तोशते) उन का नाश करता है ॥ ऋ० ९।२७।१ का पाठान्तर और सायण का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥१॥

अथ द्वितीया

१२८७—एष इन्द्राय वायवे स्वर्जित्परि षिच्यते ।
पवित्रे दक्षसाधनः ॥२॥

भावार्थः –(दक्षसाधनः) बलकारी (स्वर्जित्) और सुख का जीतने वाला (एषः) यह सोम (इन्द्राय वायवे) इन्द्रनामक वायु के लिये अभिषुत करके (पवित्रे) दशापवित्र पर (परिषिच्यते) टपकाया जाता है ॥

ऋग्वेद ९ । २७ । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१२८८—एष नृभिर्वि नीयते दिवो मूर्धा वृषा सुतः ।
सोमो वनेषु विश्ववित् ॥३॥

भावार्थः—(दिवः) द्युलोक वा सुख का (मूर्धा) मस्तकतुल्य (वृषा) वृष्टिहेतु (विश्ववित्) विश्व का लाभ (एषः) यह (सोमः) सोम (सुतः) अभिषुत किया हुआ (वनेषु) वसतीवरीसंज्ञक जलों में (नृभिः) कर्म के नेता ऋत्विजों द्वारा (विनीयते) संस्कृत किया जाता है ॥

ऋ० ९ । २७ । ३ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थी

१२८९—एष गव्युरचिक्रदत्पवमानो हिरण्ययुः ।
इन्दुः सत्राजिदस्तृतः ॥४॥

भावार्थः—(गव्युः) सूर्यकिरणों को चाहने वाला और (हिरण्ययुः) तेज चाहने वाला (इन्दुः) प्रकाश करने वाला (सत्राजित्) सदा जीतने वाला और (अस्तृतः) स्वयं अन्यों से न हारने वाला (एषः) यह (पवमानः) सोम (अचिक्रदत्) शब्द करता है ।

ऋ० ९ । २७ । ४ में भी ॥४॥

अथ पञ्चमी

१२९०—एष शुष्म्यसिष्यदद‍न्तरिक्षे वृषा हरिः ।
पुनान इन्दुरिन्द्रमा ॥५॥

भावार्थः—(शुष्मी) बलवान् (वृषा) वृष्टिकर्त्ता (हरिः) हरा (पुनानः) शुद्धि करता हुआ (एषः) यह (इन्दुः) सोम (अन्तरिक्षे) आकाश में (इन्द्रम्) वायुविशेष को (आऽसिष्यदत्) प्राप्त होता है ॥

ऋग्वेद ९ । २७ । ५ में भी ॥५॥

अथ षष्ठी

१२९१—एष शुष्म्यदाभ्यः सोमः पुनानो अर्षति ।
देवावीरघशंसहा ॥६॥

भावार्थः—(शुष्मी) बलवान् (अदाभ्यः) नष्ट न करने योग्य (देवावीः) देवों का उत्तम भोजन (अघशंसहा) पाप का नाशक (एषः) यह (सोमः) सार (पुनानः) शोध्यमान (अर्षति) [आकाश] को जाता है ॥

ऋग्वेद ९ । २८ । ६ में भी ॥६॥

इति दशमाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ॥५॥

अथ षष्ठे खण्डे

स सुत इति षड्चस्य —रहूगण ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ।।

तत्र प्रथमा

१२६२—स सुतः पीतये वृषा सोमः पवित्रे अर्षति ।

विघ्नन्रक्षांसि देवयुः ॥१॥

भावार्थ—(**वृषा**) वीर्यवान् (**देवयुः**) देवकाम (**सः**) वह सोम (**पीतये**) देवतों के पानार्थ (**सुतः**) अभिषुत किया हुआ (**रक्षांसि**) राक्षसों को (**विघ्नन्**) विशेषकर नष्ट करता हुआ (**पवित्रे**) पवित्र अन्तरिक्ष में (**अर्षति**) जाता है ।। ऋग्वेद ६ । ३७ । १ में भी ।।१।।

अथ द्वितीया

१२६३—स पवित्रे विचक्षणो हरिरर्षति धर्णसिः ।

अभि योनिं कनिक्रदत् ॥२॥

भावार्थः—(**धर्णसिः**) धारक (**विचक्षणः**) आंख का हितकारी (**हरिः**) हरा (**सः**) वह सोम (**कनिक्रदत्**) शब्द करता हुआ (**पवित्रे**) पवित्र अन्तरिक्ष वा सूर्यकिरणसमूह में (**योनिम्**) स्थान को (**अभि**) लक्ष्यकरके (**अर्षति**) जाता है ।। ऋग्वेद ६ । ३७ २ में भी ।।२।।

अथ तृतीया

१२६४—स वाजी रोचने दिवः पवमानो वि धावति ।

रक्षोहा वारमव्ययम् ॥३॥

भावार्थः—(**दिवः**) द्युलोक का (**रोचनम्**) रोचक (**वाजी**) बलवान् (**रक्षोहा**) राक्षसहन्ता (**सः**) वह (**पवमानः**) सोम (**अव्ययम्**) ऊनी (**वारम्**) दशापवित्र पर (**विधावति**) विविध प्रकार से जाता है ।। ऋ० ६ । ३७ । ३ में भी ।। ३ ।।

अथ चतुर्थी

२ ३२उ ३ १ १ ३ १२
१२६५—स त्रितस्याधि सानवि पवमानो अरोचयत् ।
३ २ ३ १२ ३२
जामिभिः सूर्यं सह ॥४॥

भावार्थः—(**त्रितस्य**) विद्या शिक्षा और धर्म इन ३ पदार्थों से युक्त **विद्वान्** ऋत्विज् के (**अधिसानवि**) उच्च यज्ञ में (**पवमानः**) शोध्यमान (**सः**) **वह सोम** (**जामिभिः**) जलों के [निघं० १ । १२] (**सह**) साथ (**सूर्यम्**) सूर्य को (**अरोचयत्**) प्रकाशित करता है ॥ ऋ० ६ । ३७ । ४ में भी ॥४॥

अथ पञ्चमी

१ २३ १ २र ३ १ २ ३ १ २
१२६६—स वृत्रहा वृषा सुतो वरिवोविददाभ्यः ।
२ ३ १ २
सोमो वाजमिवासरत् ॥५॥

भावार्थः—(**सः**) वह सोम (**वृत्रहा**) रोगादिशत्रुघातक (**वृषा**) वृष्य वीर्यवान् वीर्यवर्धक वर्षा करने वाला (**सुतः**) अभिषव किया हुआ (**वरिवोवित्**) यजमान को धनादि लाभ कराने वाला (**अदाभ्यः**) नष्ट करने योग्य नहीं है, सो (**वाजमिव**) संग्राम के घोड़ों के समान (**असरत्**) वेग से जाता है ॥ ऋग्वेद ६ । ३७ । ५ में भी ॥५॥

अथ षष्ठी

२ ३२ ३ १ २ ३२ १ २र
१२६७—स देवः कविनेषितोऽ३ऽभि द्रोणानि धावति ।
२ ३ १ २ ३१२
इन्दुरिन्द्राय मंहयन् ॥६॥

भावार्थः—(**सः**) वह सोम (**इन्द्राय**) वायुविशेष को (**मंहयन्**) सत्कृत करता हुआ (**देवः**) द्योतमान और (**इन्दुः**) गीला किया हुआ (**कविना**) मेधावी अध्वर्यु से (**इषितः**) प्रेरित करता हुआ (**द्रोणानि**) द्रोणकलशों के (**अभि**) प्रति (**धावति**) वेग से जाता है ॥ ऋ० ६ । ३७ । ६ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥६॥

इति दशमाध्यायस्य षष्ठः खण्डः ॥६॥

अथ सप्तमे खण्डे

यः पावमानीरिति षडृचस्य—पवित्र ऋषिः । पावमान्यऋचो देवता ।
अनुष्टुप्छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१२९८—यः पावमानीरध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम् ।
सर्वं स पूतमश्नाति स्वदितं मातरिश्वना ॥१॥

भावार्थः—पवमान सोम के प्रकरण को समाप्त करते हुए इस प्रकरण के अध्ययन का फल कहते हैं—(**यः**) जो मनुष्य (**ऋषिभिः**) ऋषियों के (**संभृतम्**) संग्रह किये हुए (**रसम्**) वेद के सार रूप (**पावमानीः**) पवमान सोम देवता सम्बन्धिसूक्त समूह को (**अध्येति**) सांगोपांग पढ़ता है (**सः**) वह मनुष्य (**मातरिश्वना**) वायु से (**स्वदितम्**) स्वादु किये हुए और (**पूतम्**) पवित्र किये हुए (**सर्वम्**) सब भोज्य पदार्थों को (**अश्नाति**) खाता है ॥ ऋग्वेद ९ । ६७ । ३१ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

१२९९—पावमानीर्यो अध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम् ।
तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम् ॥२॥

भावार्थः—(**यः**) जो (**पावमानी**) पवमान देवता की ऋचों के (**ऋषिभिः संभृतं रसम्**) ऋषियों द्वारा संगृहीत वेद के सार रूप सूक्तसमुदाय का (**अध्येति**) पाठ करता है (**सरस्वती**) वेदवाणीरूपिणी देवता (**तस्मै**) उस के लिये (**क्षीरम्**) दुग्ध (**सर्पिः**) घृत और (**मधु**) मीठे (**उदकम्**) जल (**दुहे**) भरपूर देती है ॥ ऋ० ९ । ६७ । ३२ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१३००—पावमानीः स्वस्त्ययनीः सुदुघा हि घृतश्चुतः ।
ऋषिभिः संभृतो रसो ब्राह्मणेष्वमृतं हितम् ॥३॥

भावार्थः—(पावमानीः) सोमप्रकरण की ऋचायें (स्वस्त्ययनीः) कल्याणी हैं,वे (सुदुघाः) सुन्दर फल की देने वाली हैं, वे (घृतश्च्युतः) जल की वर्षाने वाली हैं (ऋषिभिः) ज्ञानी ऋषियों ने (रसः) यह वेद का सार (संभृतः) इकट्ठा किया है (हि) सो यह (ब्राह्मणेषु) ब्राह्मणों में (अमृतम्) अमर बल (हितम्) रक्खा हुआ है ॥

अर्थात् जो पवमानसूक्त पढ़ते हैं, उनको उसके अनुकूल आचरण करने से सब सुख, वर्षा, दीर्घायु आदि फल प्राप्त होते हैं, इसलिये पवमानसूक्त मानो अमृत रूप है और वेद का सार है ॥३॥

अथ चतुर्थी

१३०१—पावमानीर्दधन्तु न इमं लोकमथो अमुम् ।
कामान्त्समर्धयन्तु नो देवीर्देवैः समाहृता ॥४॥

भावार्थः—(देवीः) दिव्यगुणयुक्त (पावमानीः) पवमान देवता की ऋचायें (नः) हमारे (इमम्) इस (लोकम्) लोक (अथो) और (अमुम्) पर लोक को (दधन्तु) धारित करें तथा (देवैः) विद्वानों से (समाहृताः) संगृहीत की हुई वे ऋचायें (नः) हमारे (कामान्) कामों को (समर्धयन्तु) समृद्ध करें ॥४॥

अथ पञ्चमी

१३०२—येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा ।
तेन सहस्रधारेण पावमानीः पुनन्तु नः ॥५॥

भावार्थ – (देवाः) वायु आदि देवता (येन) जिस (सहस्रधारेण) सहस्र किरण सूर्य से (सदा) सर्वदा (आत्मानम्) आपे को (पुनते) शुद्ध करते हैं (तेन) उस सूर्य से (पावमानीः) पवमान देवता की ऋचायें (नः) हम को (पुनन्तु) शुद्ध करें ॥५॥

अथ षष्ठी

१३०३—पावमानीः स्वस्त्ययनीस्ताभिर्गच्छति नान्दनम् ।
पुण्यांश्च भक्षान्भक्षयत्यमृतत्वं च गच्छति ॥६॥

भावार्थः—(पावमानीः) पवमानसम्बन्धिनी ऋचायें (स्वस्त्ययनीः)

स्वस्ति = अविनाश को प्राप्त करने वाली हैं (ताभिः) उनके अध्ययन से मनुष्य (आनन्दम्) आनन्द को (गच्छति) प्राप्त होता है, (च) और (पुण्यान्) पवित्र शुद्ध निर्मल (भक्षान्) भोज्यों का (भक्षयति) भोजन करता है (च) तथा (अमृतत्वम्) अमरभाव को (गच्छति) प्राप्त हो जाता है ॥६॥

इति दशमाऽध्यायस्य सप्तमः खण्डः ॥७॥

अथ

अष्टमे खण्डे अगन्मेति प्रथमतृचस्य-वसिष्ठऋषिः। अग्निर्देवता। त्रिष्टुप्छन्दः॥

तत्र प्रथमा

१३०४—अगन्म महा नमसा यविष्ठं यो दीदाय समिद्धःस्वे दुरोणे।
चित्रभानुं रोदसी अन्तरुर्वी स्वाहुतं विश्वतः प्रत्यञ्चम्॥१॥

भावार्थः—(यः) जो अग्नि (स्वे) अपने (दुरोणे) गृह आहवनीय वेदी में (समिद्धः) सुलगाया हुआ (दीदाय) प्रकाशता है, उस (यविष्ठम्) अति युवा अर्थात् प्रचण्ड, (उर्वी) विस्तृत (रोदसी) द्यावापृथिवी के (अन्तः) बीच अन्तरिक्ष में (चित्रभानुम्) विचित्र ज्वाला वाले, (स्वाहुतम्) भले प्रकार से होम किये हुए, (विश्वतः) सब ओर को (प्रत्यञ्चम्) फैलते हुए अग्नि को (महा) बहुत (नमसा) अन्न = हविः के साथ (अगन्म) हम समीप जावें ॥ ऋ० ७ । १२ । १ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

१३०५—स मह्ना विश्वा दुरितानि साह्वानग्नि-
ष्टवे दम आ जातवेदाः।
स नो रक्षिषद्दुरितादवद्यादस्मान्
गृणत उत नो मघोनः ॥२॥

भावार्थः—(सः) वह (अग्निः) अग्नि (जातवेदाः) जिसके प्रकाश से लोक में घटपटादि पदार्थ दीखते और जान पड़ते हैं वा जिससे समस्त रत्नादि धन उत्पन्न हुए हैं, (मह्ना) अपने महत्व से (विश्वा) सब (दुरितानि) रोगादि दुःखों को (साह्वान्) अभिभूत = तिरस्कृत करता हुआ (दमे) यज्ञशाला गृह में (आ-

स्तवे) सर्वतः स्तुत किया जाता है (सः) वह अग्नि (गृणतः) स्तुति=अग्नि के वेदोक्त गुण कीर्त्तन रूप स्तोत्र पढ़ते हुए (नः) हम लोगों को (उत) तथा (मघोनः) यज्ञ वाले (अस्मान्) हम लोगों को (नः) हमारे (अवद्यात्) निन्द-नीय (दुरितात्) पाप से (रक्षिषत्) बचावे । यह चाहते हैं ॥ ऋग्वेद ७ । १२ । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१ २र ३१ ३१ २३ १ २ ३ २ ३१ २
१३०६—त्वं वरुण उत मित्रो अग्ने त्वां वर्धन्ति मतिभिर्वसिष्ठाः ।
१ २र ३ १ २ ३१ २ ३ २ ३ १ २
त्वे वसु सुषणनानि सन्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥३॥

भावार्थः—(अग्ने) अग्ने ! (त्वम्) तू ही (वरुणः) रोगादि दुःखों का निवारक (उत) और (मित्रः) सुखप्रापक मित्र है (वसिष्ठाः) अत्यन्त वसु सूर्यकिरणें (मतिभिः) मेधातत्त्वयुक्त अपने तेजों से (त्वाम्) तुझ अग्नि को (वर्धन्ति) बढ़ाते हैं (त्वे) तुझ में विद्यमान (वसु) तैजस सुवर्णादि रत्न धन (सुषणनानि) भले प्रकार संविभाग वाले (सन्तु) हों (यूयम्) तुम अग्नि के अन्तर्गत वरुण मित्र आदि देवो ! (स्वस्तिभिः) क्षेम=सुखों से (नः) हमारी (सदा) सर्वदा (पात) रक्षा करो ॥ ऋ० ७ । १२ । ३ में भी ॥३॥

अथ द्वितीयतृचस्य—वत्स ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

३२उ ३ १ २र ३१ २ ३ १ २
१३०७—महाँ इन्द्रो य ओजसा पर्जन्यो वृष्टिमाँ इव ।
१ २३ १ २
स्तोमैर्वत्सस्य वावृधे ॥१॥

भावार्थः—(वत्सस्य) वेदपाठी वक्ता के (स्तोमैः) वैदिक स्तोत्रों के साथ (ओजसा) बल से (महान्) अधिक (वृष्टिमान्) वर्षायुक्त (पर्जन्यः) बादल (इव) सा (यः) जो (इन्द्रः) वायुविशेष (वावृधे) बढ़ता है ॥ ऋग्वेद ८ । ६ । १ तथा यजुः ७ । ४० में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

२ ३ २ ३ १ २र३ १ २ ३ २ ३ १ २
१३०८—कण्वा इन्द्रं यदक्रत स्तोमैर्यज्ञस्य साधनम् ।
३ १ २ ३ १ २
जामि ब्रुवत आयुधा ॥२॥

भावार्थः—(कण्वाः) बुद्धिमान् स्तुतिकर्त्ता लोग (यद्) जबकि (इन्द्रम्) वायुविशेष को वा परमात्मा को (यज्ञस्य) यज्ञ का (साधनम्) साधक (अक्रत) करते=स्तुत करते हैं तब (आयुधा) यज्ञपात्रों को (जामि) निष्प्रयोजन (ब्रुवते) बताते हैं ।। सायणाचार्य ने भी जामि का अर्थ अतिरेकार्थ मानकर 'निष्प्रयोजन' ही बताया है ।। तात्पर्य यह है कि स्तोता लोग स्तुति काल में यज्ञपात्रों का प्रयोग नहीं करते ।। ऋ० ८ । ६ । ३ में भी ।।२।।

अथ तृतीया

१३०६—प्रजामृतस्य पिप्रतः प्र यद्भरन्त वह्नयः ।
विप्रा ऋतस्य वाहसा ।।३।।

भावार्थः—(ऋतस्य) यज्ञ की (प्रजाम्) प्रजारूप इन्द्र=वायु को (यत्) जबकि (पिप्रतः) आकाश में पूर्ण करते हुए (वह्नयः) सूर्य किरणें वा होमकुण्डस्थ अग्निज्वालायें (प्र भरन्त) भरती हैं तब (विप्राः) ऋत्विज् ब्राह्मण लोग (ऋतस्य) यज्ञ के (वाहसा) पहुँचाने वाले मन्त्र पाठ के साथ यजन आरम्भ करते हैं । जिन मन्त्रों द्वारा मनुष्य को यज्ञ का प्रकार और उसका फल ज्ञात हुआ, वे मन्त्र यज्ञ के पहुंचाने वाले समझने चाहियें । ऋग्वेद ८ । ६ । २ में भी ।।३।।

इति दशमाऽध्यायस्याऽष्टमः खण्डः ।।८।।

उक्तान्याज्यानि इति ।

इदानीं माध्यन्दिनः पवमानः इति च विव० ।

अथ नवमे खण्डे प्रथमतृचस्य—वैखानस ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ।।

तत्र प्रथमा

१३१०—पवमानस्य जिघ्नतो हरेश्चन्द्रा असृक्षत ।
जीरा अजिरशोचिषः ।।१।।

भावार्थः—(जिघ्नतः) अभिषूयमाण (हरेः) हरित (अजिरशोचिषः) सर्वत्रगमनशील तेज वाले (पवमानस्य) सोम की (चन्द्राः) आह्लादकरी (जीराः) धारायें (असृक्षत) अग्नि में छोड़ी जाती हैं ।। ऋग्वेद ९ । ६६ । २५ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ।।१।।

अथ द्वितीया

१३११—पवमानो रथीतमः शुभ्रेभिः शुभ्रशस्तमः ।
हरिश्चन्द्रो मरुद्गणः ॥२॥

अथ तृतीया

१३१२—पवमान व्यश्नुहि रश्मिभिर्वाजसातमः ।
दधत्स्तोत्रे सुवीर्यम् ॥३॥

भावार्थः—(**पवमान**) सोम ! (**स्तोत्रे**) प्रशंसा करने वाले यजमान के लिये (**सुवीर्यम्**) सुन्दर वीर्य को (**दधत्**) धारण करता हुआ=देता हुआ, (**वाजसातमः**) अत्यन्त बलदायक, (**पवमानः**) अभिषूयमाण, (**रथीतमः**) यज्ञ में रथ से ले जाया जाता है इसलिये अतिरथी, (**शुभ्रशस्तमः**) अति प्रकाशमान (**हरिश्चन्द्रः**) हरित वर्ण की चमक वाला, (**मरुद्गणः**) मरुत्=वायुभेद जिसके गण=सहायक हैं, (**शुभ्रेभिः**) उज्ज्वल (**रश्मिभिः**) किरणों के साथ (**व्यश्नुहि**) विविध प्रकार से व्यापे ॥ अष्टाध्यायी के प्रमाण और ऋग्वेद ९ । ६६ । २६—२७ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ २—३ ॥

अथ द्वितीय तृचस्य—सप्तर्षय ऋषयः । पवमानः सोमो देवता ।
तत्र प्रथमायाः विराड् बृहती छन्दः ॥ सेयम्—

१३१३—परीतो षिञ्चता सुतं सोमो य उत्तमं हविः ।
दधन्वाँ यो नर्यो अप्स्व३न्तरा सुषाव सोममद्रिभिः ॥

इसकी व्याख्या (५१२) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—भुरिग्बृहती छन्दः ॥

१३१४—नूनं पुनानोऽविभिः परि स्रवादब्धः सुरभिंतरः ।
सुते चित्वाप्सु मदामो अन्धसा श्रीणन्तो गोभिरुत्तरम् ॥

भावार्थः— सोम ! (**अदब्धः**) अहिंसित और (**सुरभिन्तरः**) अतिसुगन्ध-युक्त, (**नूनम्**) निश्चय (**पुनानः**) शोध्यमान, (**अविभिः**) दशापवित्रों से (**परि-स्रव**) टपक, (**सुते-चित्**) अभिषुत होने पर (**अन्धसा**) अन्न के साथ (**गोभिः**) इन्द्रियों से (**श्रीणन्तः**) मिलाते हुए हम (**उत्तरम्**) उत्तम, (**अप्सु**) रसों में वर्त्तमान, (**त्वा**) तुझ हर्षकारक का (**मदामः**) सेवन करते हैं ।।

अर्थात् सोम की हानि न करके सुरक्षित करना, अभिषुत करना, दशा-पवित्र नामक ऊर्णामय पवित्र पर से टपकाना और अन्न के साथ भोजन में परिणत करके उसमें बल उत्पन्न करना हर्ष का उत्पादक है ।।

ऋग्वेद ९ । १०७ । २ में भी ।।२।।

अथ तृतीयायाः पिपीलिकामध्या गायत्री छन्दः ।।

१ २ ३ १ २र ३ १ २३ २३ १ २ ३ २

१३१५—परिस्वानश्चक्षसे देवमादनः क्रतुरिन्दुर्विचक्षणः ।।३।।

भावार्थः—(**स्वानः**) अभिषव किया जाता हुआ (**देवमादनः**) देवों का हृष्टिकारक (**क्रतुः**) यज्ञ का स्वरूप (**इन्दुः**) गीला सोम (**विचक्षणः**) आंखों का हितकारी है, सो (**चक्षसे**) दृष्टिप्रसादार्थ (**परि**) चारों ओर से फैलता है ।।

ऋग्वेद ९ । १०७ । ३ में भी ।।३।।

अथ तृतीयतृचस्य—वसुर्ऋषिः । सोमो देवता । जगती छन्दः ।।

तत्र प्रथमा

१ २ ३ १ २ ३२उ ३ १२

१३१६—असावि सोमो अरुषो वृषा हरी

१ २ ३ २ ३ १ २र

राजेव दस्मो अभि गा अचिक्रदत् ।

२ २उ ३१ २ ३ १२

पुनानो वारमत्येष्यव्ययं

३ १ २ २र ३१२ ३ १ २

श्येनो न योनिं घृतवन्तमासदत् ।।१।।

इसकी व्याख्या (५९२) में हो चुकी है ।।१।।

अथ द्वितीया

३ १ २ ३ १ २ ३१ २ ३ २ ३

१३१७—पर्जन्यः पिता महिषस्य पर्णिनो

१ २ ३ २ ३ २३ १२

नाभा पृथिव्या गिरिषु क्षयं दधे ।

१ २ ३ १ २ ३२ड ३ १२३
स्वसार आपो अभि गाः उदासर-
१ २र ३ १ २ ३२
न्त्सं ग्रावभिर्वसते वीते अध्वरे ॥२॥

भावार्थः—अब यह बताया जाता है कि सोम का होम करने पर पुनः सोम की उत्पत्ति किस के साथ, किस स्थान में, किस से, किस रूप में होती है—(अध्वरे) यज्ञ (वीते) बीत चुकने पर (महिषस्य) बड़े (पर्णिनः) पत्तों वाले सोम का (पर्जन्यः) मेघ (पिता) जनक होता है, और (पृथिव्याः) भूमि के (नाभा) नाभि=मध्य (गिरिषु) पर्वतों में (क्षयम्) निवास को [सोम] (दधे) धारण करता है, तथा (स्वसारः आपः) भगिनी के तुल्य जल (गाः) भूमियों को (अभि) अभिव्याप्त करके(उदासरन्) उच्चभाव से सब ओर जाते हैं और तब सोम(ग्रावभिः) पत्थरों के साथ (सं वसते) वास करता है ।। अर्थात् यज्ञ से मेघ वर्षता है और वह जल तथा सोम को पर्वतों में वर्षा कर वहां सोम ओषधिराज को उपजाता है, क्योंकि सोम और अप् (स्त्रीलिंग)=जलों का उत्पन्न करने वाला एक मेघ ही है, इस लिये सोम और जल का मेघ पिता कहा गया और सोम की बहन=भगिनियें अप् (जल) कही गईं । इस प्रकार सोम पर्वत प्रदेशों में वर्षा ऋतु में पत्ते वाली बूंटी के रूप में पत्थरों में रहता है । ढूंढिये तो पाइयेगा ।।

ऋ० ९ । ८२ । ३ के दो पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ।।२।।

अथ तृतीया

३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ ३
१३१८—कविर्वेधस्या पर्येषि माहिन-
२ ३ २ ३ २ ३ १ २र
मत्यो न मृष्टो अभि वाजमर्षसि ।
३ १२ ३ १ २
अप सेधन् दुरिता सोम नो मृड
३ १ २र ३ १ २ ३ १ २
घृता वसानः परि यासि निर्णिजम् ॥३॥

भावार्थः—(सोम) हे सोम ! (कविः) मेधायुक्त तू (वेधस्या) हमारी यज्ञ करने की इच्छा से (माहिनम्) आदरणीय दशापवित्र को (पर्येषि) सर्वतः प्राप्त होता है (न) जैसे (मृष्टः) स्नानादि से अलंकृत (अत्यः) अश्व (वाजम्) संग्राम को सामना करके जाता है तद्वत् तू भी मृष्टः=शोधित और अभिषुत होकर रोगादि शत्रुविनाशार्थ पान किया हुआ और होम किया हुआ (अभ्यर्षसि) सब ओर जाता है, तथा (दुरिता) दुःखों वा पापों को (अपसेधन्) विनष्ट करता हुआ (नः)

हमको (मृड) सुखी कर । जो तू (घृता) उदकों में (वसानः) वसता हुआ (निर्णिजम्) दशापवित्र पर (परियासि) उतरता है ॥

ऋ० ६ । ८२ । २ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥३॥

इति दशमाऽध्यायस्य नवमः खण्डः ॥९॥

अथ दशमे खण्डे प्रगाथात्मक प्रथमसूक्तस्य नृमेध ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१ २ ३ २२ १ २र
१३१९—आयन्त इव सूर्य विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत ।
१२ ३ १ २र३ १ २ ३ १२ ३ १ २र
वसूनि जातो जनिमान्योजसा प्रति भागं न दीधिमः ॥१॥

इसकी व्याख्या (२६७) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१ २ ३ १ २र ३ १ २र ३ १ २
१३२०—अलर्षिरातिं वसुदामुप स्तुहि भद्रा इन्द्रस्य रातयः ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २र३ १ २ ३ १ २ ३ १२
यो अस्य कामं विधतो न रोषति मनो दानाय चोदयन् ॥

भावार्थः—हे मनुष्य ! तू (**अलर्षिरातिम्**) दोषरहित दानी (**वसुदाम्**) धनदाता परमात्मा की (**उपस्तुहि**) उपासना करके स्तुति कर क्योंकि (**इन्द्रस्य**) परमेश्वर के (**रातयः**) दान (**भद्राः**) कल्याणमय महैश्वर्यकारक हैं (**यः**) जो परमेश्वर (**दानाय**) दान के लिये (**विधतः**) सेवक (**अस्य**) इस भक्त के (**मनः**) मन को (**चोदयन्**) प्रेरित करता हुआ (**कामम्**) इसकी कामना को (न) नहीं (**रोषति**) मारता=पूर्ण करता है ॥

ऋ० ८ । ६६ । ४ का पाठभेद और निरुक्त ६।२३ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ द्वितीयप्रगाथस्य—भर्ग ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२
१३२१—यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि ।
१२ ३ २उ ३ १२ ३२३ २उ ३ १ २र
मघवन् छग्धि तव तन्न ऊतये वि द्विषो वि मृधो जहि ॥१॥

इसकी व्याख्या (२७४) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१३२२—त्वं हि राधसस्पते राधसो महः क्षयस्यासि विधर्ता ।
तं त्वा वयं मघवन्निन्द्र गिर्वणः सुतावन्तो हवामहे ॥२॥

भावार्थः—(राधसस्पते) हे धनपते ! (त्वम्) आप (हि) ही (महः) बड़े (राधसः) धन के और (क्षयस्य) निवास=ब्रह्माण्ड के (विधर्ता) विशेषरूप से धारण करने वाले (असि) हैं । (गिर्वणः) हे वाणी से प्रशंसनीय ! (मघवन्) धनैश्वर्यवन् ! (इन्द्र) परमेश्वर ! (तम्) उस (त्वा) आपको (वयं सुतावन्तः) हम सोमाभिषव कर चुकने वाले (हवामहे) पुकारते=स्तुति करते हैं । इन्द्र=वायु पक्ष में भी ॥

ऋ० ८ । ६१ । १४ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

इति दशमाऽध्यायस्य दशमः खण्डः ॥१०॥

अथैकादशे खण्डे

प्रथमतृचस्य—भरद्वाज ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१३२३—त्वं सोमासि धारयुर्मन्द्र ओजिष्ठो अध्वरे ।
पवस्व मंहयद्रयिः ॥१॥

भावार्थः—(सोम) सोम ! वा परमेश्वर ! (मन्द्रः) आह्लादकारक और (अध्वरे) यज्ञ का ज्ञानयज्ञ में बलप्रदायक होने से (ओजिष्ठः) अतिबलवान् (धारयुः) धारा वा प्रेम भक्ति की धारा चाहने वाला (असि) है । (मंहयद्रयिः) धनदायक सो (त्वम्) तू (पवस्व) शुद्धि कर ॥

ऋ० ९ । ६७ । १ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

१३२४—त्वं सुतो मदिन्तमो दधन्वान्मत्सरिन्तमः ।
इन्दुः सत्राजिदस्तृतः ॥२॥

भावार्थः—हे सोम ! व परमेश्वर ! (त्वम्) तू (सुतः) अभिषुत वा हृदयकमल में ध्यान किया हुआ (मदिन्तमः) अभिषुत करने वालों वा ध्यान करने वालों को तुष्टि वाला वा आनन्द का दाता (दधन्वान्) धारक (सत्राजित्) सब का जेता और (अस्तृतः) अन्यों से अहिंसित (इन्दुः) प्रकाशवान् है ॥ ऋ० ९। ६७। २ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ तृतीया

१३२५—त्वं सुष्वाणो अद्रिभिरभ्यर्ष कनिक्रदत् ।
द्युमन्तं शुष्ममा भर ॥३॥

भावार्थः—हे परमेश्वर ! (अद्रिभिः) सोमाभिषव के पत्थरों [सिल बट्टों] से (सुष्वाणः) अभिषुत किया हुआ सोम (कनिक्रदत्) शब्दायमान है, (त्वम्) आप कृपा करके (अभ्यर्ष) हमें प्राप्त हों और (द्युमन्तम्) दीप्तियुक्त (शुष्मम्) बल को (आभर) इस सोम में भरें ॥ ऋ० ९। ६७। ३ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥३॥

अथ द्वितीयतृचस्य—मनुर्ऋषिः । सोमो देवता । उष्णिक्छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१३२६—पवस्व देववीतय इन्दो धाराभिरोजसा ।
आ कलशं मधुमान्त्सोम नः सदः ॥१॥

इसकी व्याख्या (५७१) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१३२७—तव द्रप्सा उदप्रुत इन्द्रं मदाय वावृधुः ।
त्वां देवासो अमृताय कं पपुः ॥२॥

भावार्थः—(उदप्रुतः) जल के निकालने वाले (तव) तेरे (इन्दवः) रस (मदाय) हृष्टि पुष्टि के उत्पादनार्थ (इन्द्रम्) वर्धक वायुभेद को (वावृधुः) बढ़ाते हैं। तब हे सोम ! (देवासः) आकाश के वायु आदि देव (कम्) बलरूप (त्वाम्) तुझको (अमृताय) अमर होने के लिये (पपुः) पीते=शोषते=अपने में समावेशित करते हैं॥ ऋ० ९। १०६। ८ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१३२८—आ नः सुतास इन्दवः पुनाना धावता रयिम्।
वृष्टिद्यावो रीत्यापः स्वर्विदः ॥३॥

भावार्थः—(सुतासः) अभिषुत किये हुए (इन्दवः) सोम (पुनानाः) पावन, (वृष्टिद्यावः) द्युलोक को वर्षा की ओर झुकाने वाले, (रीत्यापः) जलों को पृथिवी की ओर गिराने वाले, (स्वर्विदः) सुखप्रापक होते हुए (नः) हमारे लिये (रयिम्) धनादि ऐश्वर्य को (आ धावत) प्राप्त करावें॥ ऋग्वेद ९।१०६।९ में भी ॥३॥

अथ तृतीय तृचस्य—अम्बरीष ऋजिश्वा वा ऋषिः। सोमो देवता। अनुष्टुप्छन्दः। ॥

तत्र प्रथमा

१३२९—परि त्यं हर्यतं हरिं बभ्रुं पुनन्ति वारेण।
यो देवान्विश्वाँ इत्परि मदेन सह गच्छति ॥१॥

इसकी व्याख्या (५५२) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१३३०—द्विर्यं पञ्च स्वयशसं सखायो अद्रिसंहतम्।
प्रियमिन्द्रस्य काम्यं प्रस्नापयन्त ऊर्मयः ॥२॥

भावार्थः—(पञ्च) पांच (सखायः) सखा ऋत्विज् लोग (यम्) जिस (अद्रिसंहतम्) ग्रावा=सिलबट्टों से अभिषुत—छिते हुए, (स्वयशसम्) अपनी कीर्ति वाले, (इन्द्रस्य प्रियम्) इन्द्र के प्यारे (काम्यम्) कमनीय सोम को (द्विः)

दो बार (प्रस्नापयन्ते) वसतीवरी नामक जलों में डुबा कर रखते हैं उस को (ऊर्मयः) लहरें "पुनन्ति"=शोधती हैं, यह पूर्वमन्त्र से अनुवृत्ति करके अन्वय है ।। ऋ० ६ । ६८ । ६ के पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ।।२।।

अथ तृतीया

१३३१—इन्द्राय सोम पातवे वृत्रघ्ने परि षिच्यसे ।
नरे च दक्षिणावते वीराय सदनासदे ।।३।।

भावार्थः—(सोम) ओषधिराज ! (सदनासदे) यज्ञासन पर बैठने वाले (वीराय) क्षात्र धर्मयुक्त (दक्षिणावते) यज्ञ करने योग्य दक्षिणा वाले (वृत्रघ्ने) दुष्टशत्रुसंहारकारी (इन्द्राय) ऐश्वर्यवान् (नरे) मनुष्य के लिये (पातवे) पीने को (च) और यज्ञ करने को (परिषिच्यसे) अभिषुत किया जाता है ।। ऋ० ६ । ६८ । १० का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ।।३।।

अथ चतुर्थतृचस्य—ऋणः त्रसदस्युर्वा ऋषिः । सोमो देवता । द्विपदा पङ्क्तिश्छन्दः ।।

तत्र प्रथमा

१३३२—पवस्व सोम महे दक्षायाश्वो न निक्तो वाजी धनाय ।।

इसकी व्याख्या (४३०) में हो चुकी है ।।१।।

अथ द्वितीया

१३३३—प्र ते सोतारो रसं मदाय पुनन्ति सोमं महे द्युम्नाय ।।

भावार्थः—(ते) वे (सोतारः) अभिषुत करने वाले ऋत्विज् लोग (सोमरसम्) सोम रस को (मदाय) हर्ष प्राप्ति के लिये और (महे) बहुत (द्युम्नाय) अन्न के लिये (प्र पुनन्ति) अभिषुत करते हैं ।। ऋ० ६।१०६।११ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ।।२।।

अथ तृतीया

१३३४—शिशुं जज्ञानं हरिं मृजन्ति पवित्रे सोमं देवेभ्य इन्दुम् ।।

भावार्थः—(**शिशुम्**) नये (**जज्ञानम्**) उत्पन्न होते हुए (**हरिम्**) हरे (**इन्दुम्**) गीले (**सोमम्**) सोम को (**पवित्रे**) दशापवित्र पर (**मृजन्ति**) शोधते हैं ।। ऋ० ६ । १०६ । १२ में भी ।।३।।

अथ पञ्चमतृचस्य-अमहीयुर्ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ।।

तत्र प्रथमा

२ ३ २ ३ २३ २३ १ २ ३ १ २र

१३३५—उपो षु जातमप्तुरं गोभिर्भङ्गं परिष्कृतम् ।

१ २ ३ १ २

इन्दुं देवा अयासिषुः ।।१।।

इसकी व्याख्या (४८७) में हो चुकी है ।।१।।

अथ द्वितीया

१ २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २

१३३६—तमिद्वर्धन्तु नो गिरो वत्सं संशिश्वरीरिव ।

१ २र ३ १ २

य इन्द्रस्य हृदं सनिः ।।२।।

भावार्थः—(**यः**) जो सोम (**इन्द्रस्य**) ऐश्वर्यवान् पुरुष का (**हृदंसनिः**) हृदयदायक है (**तम् इत्**) उस ही सोम को (**नः**) हम याज्ञिकों की (**गिरः**) प्रशंसोक्तियें (**सं-वर्धन्तु**) भले प्रकार बढ़ावें । इस में दृष्टान्तः—(**वत्सम्**) प्यारे पुत्र को (**शिश्वरीरिव**) जैसे बच्चों वाली उन की मातायें बढ़ाती हैं, तद्वत् ।। ऋग्वेद ६ । ६१ । १४ में भी ।।२।।

अथ तृतीया

१ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २

१३३७—अर्षा नः सोम शं गवे धुक्षस्व पिप्युषीमिषम् ।

१ २ ३ १ २

वर्धा समुद्रमुक्थ्य ।।३।।

भावार्थः—(**उक्थ्य**) प्रशंसनीय ! (**सोम**) सोम ! (**नः**) हमारे (**गवे**) गौ आदि पशुओं के लिये (**शम्**) जिस से सुख हो उस प्रकार (**अर्ष**) वृद्धि करे और (**पिप्युषीम्**) बहुत सी (**इषम्**) अन्नादि भोजन सम्पदा को (**धुक्षस्व**) पूर्ण करे तथा (**समुद्रम्**) मेघमण्डल को (**वर्ध**) बढ़ावे ।। ऋग्वेद ६ । ६१ । १५ के पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ।।३।।

इति दशमाध्यायस्य एकादशः खण्डः ।।११।।

अथ

द्वादशे खण्डे प्रथमतृचस्य—त्रिशोक ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
१३३८—आ घा ये अग्निमिन्धते स्तृणन्ति बर्हिरानुषक् ।
२ ३ २ ३ २ ३ १ २
येषामिन्द्रो युवा सखा ॥१॥

इसकी व्याख्या (१३३) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
१३३९—बृहन्निदिध्म एषां भूरि शस्त्रं पृथुः स्वरुः ।
२ ३ २ ३ २ ३ १ २
येषामिन्द्रो युवा सखा ॥२॥

भावार्थः—(**येषाम्**) जिन यजमानों का (**युवा**) जवान (**इन्द्रः**) इन्द्र (**सखा**) मित्र है, (**एषाम्**) इन का (**इध्मः**) इन्धन (**बृहन् इत्**) बहुत ही है और (**शस्त्रम्**) स्तोत्र भी (**भूरि**) बहुत है यथा (**स्वरुः**) बिजुली वा वज्र भी (**पृथुः**) विस्तीर्ण है ॥ ऋग्वेद ८ । ४५ । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१३४०—अयुद्ध इद्युधा वृतं शूर आजति सत्वभिः ।
२ ३ २ ३ २ ३ १ २
येषामिन्द्रो युवा सखा ॥३॥

भावार्थः—(**युवा**) जवान (**इन्द्रः**) राजा इन्द्र (**येषाम्**) जिन का (**सखा**) अनुकूलवर्ती सहायक है उनका (**शूरः**) वह वीर राजा इन्द्र (**सत्वभिः**) अपनी सेनाओं सहित (**अयुद्ध इत्**) अवश्य युद्ध करता और (**युधावृतम्**) योद्धाओं से युक्त शत्रु को (**आजति**) नमाता है ॥ ऋग्वेद ८ । ४५ । ३ में भी ॥३॥

अथ द्वितीयसूक्तस्य—गोतम ऋषिः । इन्द्रो देवता । उष्णिक्छन्दः ।।

तत्र प्रथमा

१३४१—य एक इद्विदयते वसु मर्त्ताय दाशुषे ।
ईशानो अप्रतिष्कुत इन्द्रो अङ्ग ॥१॥

इसकी व्याख्या (३८९) में हो चुकी है ।।१।।

अथ द्वितीया

१३४२—यश्चिद्धि त्वा बहुभ्य आ सुतावाँ आविवासति ।
उग्रं तत्पत्यते शव इन्द्रो अङ्ग ॥२॥

भावार्थः—(अंग) हे प्रिय ! परमात्मन् ! (बहुभ्यः) बहुत मनुष्यों में से (यः) जो (चित्) कोई (हि) ही भक्त धर्मात्मा यजमान (सुतावान्) सोमयाजी होकर (त्वा) आप की (आ—विवासति) परिचर्या उपासना करता है (तत्) वह (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् हो जाता और (उग्रम्) भारी (शवः) बल को (पत्यते) प्राप्त होता है ।। ऋ० १ । ८४ । ९ में भी ।।२।।

अथ तृतीया

१३४३—कदा मर्तमराधसं पदा क्षुम्पमिव स्फुरत् ।
कदा नः शुश्रवद्गिरः इन्द्रो अङ्ग ॥३॥

भावार्थः—(अंग) हे प्रिय ! परमेश्वर ! (इन्द्रः) परमेश्वर आप (नः) हमारी (गिरः) वाणी-प्रार्थनाओं को (कदा) कब (शुश्रवत्) अनुकूलता से सुनेंगे ? और (कदा) कब (अराधसम्) यज्ञ के विरोधी (मर्त्तम्) मनुष्य को (पदा) पाव से (क्षुम्पमिव) जैसे अहिच्छत्र=जो लकड़ी गल कर पृथिवी पर छत्राकार फूल जाती है उसको नष्ट कर देते हैं, ऐसे (स्फुरत्) नष्ट करेंगे ? अर्थात् कृपया शीघ्र हमारी प्रार्थना सुनिये ।। निरुक्त ५ । १६—१७ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।। ऋ० १ । ८४ । ८ में भी ।।३।।

अथ तृतीयतृचस्य—मधुच्छन्दा ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१३४४—गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः ।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे ॥१॥

इसकी व्याख्या (३४२) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१३४५—यत्सानोः सान्वारुहो भूर्यस्पष्ट कर्त्वम् ।
तदिन्द्रो अर्थं चेतति यूथेन वृष्णिरेजति ॥२॥

भावार्थः—(यत्) जो कि, यजन करने वाला मनुष्य (सानोः सानु) पर्वत प्रदेश से देशान्तर को सोमवल्ली और समिध् आदि लाने के लिये (आरुहः) चढ़ता है, और (भूरि) बड़े (कर्त्वम्) यज्ञ कार्य को (अस्पष्ट) छूता=अनुष्ठित करता है (तत्) सो यह (वृष्णिः) कामना पूर्ण करने वाला वरदायक (इन्द्रः) परमेश्वर (चेतति) जानता है और (यूथेन) वायु आदि देवगण से (अर्थम्) इस यजमान के इष्ट को (एजति) पूरा करता है ॥ ऋ० १ । १० । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१३४६—युंक्ष्वा हि केशिना हरी वृषणा कक्ष्यप्रा ।
अथा न इन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिं चर ॥३॥

भावार्थः—(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (नः) हमारी (सोमपा) सोमयाजियों की (गिरम्) प्रार्थनारूप वाणियों का (उपश्रुतिं चर) कृपया श्रवण कीजिये (अथ हि) और (केशिना) केश के तन्तु समान प्रतीत होने वाले (हरी) हरण करने वाले (वृषणा) वर्षा करने वाले (कक्ष्यप्रा) रस्सी के समान पुरने वाले सीधे और तिरछे दो प्रकार के सूर्यकिरणों को (युङ्क्ष्व) उपयोग में लाइये ॥ ऋ० १ । १० । ३ का पाठान्तर और अष्टाध्यायी ३ । १ । ३ ॥ ६ । ३ । १३५ ॥ ७ । १ । ३६ ॥ ६ । १ । १६७ ॥ ६ । ४ । ६ ॥ ३ । २ । ३ ॥ ६ । २ । १३६ ॥ ६ । ३ । १३६ ॥ ८ । १ । १८ ॥ ८ । १ । २१ और उणादि १ । १५६ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥३॥

द्वादशाहस्य नवममह इति, अष्टाचत्वारिंशत्
स्तौमिकम् इति च विवरणकारः ॥

इति पञ्चमः प्रपाठकः समाप्तः ॥५॥

इति श्रीमत्कण्ववंशावतंस श्रीयुत पण्डित हजारीलाल
स्वामी के पुत्र परीक्षित गढ़ (जिला—मेरठ)
निवासी तुलसीराम स्वामीकृत उत्तरार्चिक
सामवेदभाष्य में दशम अध्याय
समाप्त हुआ ॥१०॥



अथ द्वितीया

१ २ ३ २ ३१२
१३४८—मधुमन्तं तनूनपाद्यज्ञं देवेषु नः कवे ।
३ १ २ ३ १२
अद्या कृणुह्यूतये ॥२॥

भावार्थः—(कवे) अग्नि के प्रकाश से ज्ञान बढ़ने के कारण हे मेधाविन् ! (तनूनपात्) जलों से उत्पन्न होने वाला तू (अद्य) आज (नः) हमारे (मधुमन्तम्) माधुर्ययुक्त (यज्ञम्) हव्य को (ऊतये) रक्षा के लिये (देवेषु) वायु आदि देवों के समीप (कृणुहि) कर=पहुँचा दे ।। अग्नि का नाम 'तनूनपात्'=जलों से उत्पन्न हुआ होने में नीचे लिखा निरुक्त का भावार्थ प्रमाण है । निरुक्त का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।।

"तनूनपात्, घृत है, "नपात्" यह अनन्तर सन्तान का नाम है,जो कि निर्णततमा होती है, इस अर्थ में तनू नाम गौ का है क्योंकि इसमें भोग विस्तृत है, गौ से दुग्ध और दुग्ध से घृत होता है ।। शाकपूणि आचार्य का मत है कि तनूनपात् अग्नि का नाम है, इस अर्थ में तनू शब्द जलवाचक है क्योंकि जल आकाश में तने (फैले) रहते हैं, उनसे ओषधि वनस्पति उत्पन्न होती हैं, ओषधि वनस्पतियों से यह (अग्नि) उत्पन्न होता है ।।

ऋ० १ । १३ । २ में भी ।।२।।

अथ तृतीया

२३ १ २ ३२ ३२३ २ ३१ २१
१३४९—नराशंसमिह प्रियमस्मिन्यज्ञ उप ह्वये ।
१२ ३ १ २
मधुजिह्वं हविष्कृतम् ॥३॥

भावार्थः—मैं यज्ञकर्त्ता (अस्मिन्) इस (यज्ञे) यज्ञ में (इह) इस वेदी के बीच में (प्रियम्) हितकारक (हविष्कृतम्) द्रव्यों को हव्य बनाने वाले (मधुजिह्वम्) इसी से माधुर्यरस का स्वाद लेने वाली जिह्वा वाले (नराशंसम्) अग्नि की (उपह्वये) स्तुति=प्रशंसा करता हूँ ।।

"नराशंस यज्ञ का नाम है क्योंकि नर=मनुष्य इस (यज्ञ) में बैठे हुए स्तुति पढ़ते हैं, यह कात्थक्यों का मत है और शाकपूणि आचार्य (कहते हैं कि) अग्नि का नाम नराशंस है क्योंकि नरों=ऋत्विगादि से प्रशंसनीय है" ।। निरुक्त ८।२ का मूल संस्कृतभाष्य में देखिये ।।

ऋ० १ । १३ । ३ में भी ।।३।।

अथ चतुर्थी

१ २ ३१ २३ १२ ३१ २३१ २१
१३५०—अग्ने सुखतमे रथे देवाँ ईडित आ वह ।
२ ३ २ ३ १२
असि होता मनुर्हितः ॥४॥

भावार्थः—(अग्ने) हे अग्ने ! (ईडितः) प्रशंसा किया हुआ (मनुः) मन्त्र से वा मनुष्य=यजमानादि से (हितः) स्थापित किया हुआ तू(होता) देवों का आह्वाता (असि) है (सुखतमे) अति सुखदायक (रथे) रमणीय मार्ग में (देवान्) वायु आदि देवों को (आवह) ला ॥

ऋ० १ । १३ । ४ में भी ॥४॥

अथ मैत्रावरुणमाज्यम् इति विवरणकारः

यदद्येति द्वितीयतृचस्य—वसिष्ठ ऋषिः । आदित्यो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

२३ २१ ३ २ ३१ २ ३१ २३२
१३५१—यदद्य सूर उदितेऽनागा मित्रो अर्यमा ।
३ १ २ ३१ २१
सुवाति सविता भगः ॥१॥

भावार्थः (यत्) जो कुछ (सूरे) सूर्य (उदिते) उदय होने पर=प्रातः काल (अनागाः निर्दोष (मित्रः, अर्यमा, सविता, भगः) मित्र, अर्यमा, सविता, भग नामक आकाशस्थ वायुभेद देवविशेष (सुवाति) उत्पन्न करे, वह (अद्य) आज हमें प्राप्त हो ॥

मनुष्यों को चाहिये कि प्रातःकाल सवेरे उठकर परेश की उपासनादि करें और प्रार्थना करें कि प्राणादि वायु जो सर्वसम्पत्तियों के कर्त्ता हैं और जो सूर्योदय के कुछ पूर्व से ही निर्दोष रहते हैं और जगत् का उपकार करते हैं, हमारा भी उपकार करें । इसलिये यह भी ध्वनित हुआ कि मनुष्य को बहुत सवेरे के निर्दोष प्राणादि वायुओं का सेवन करना चाहिये जिससे सम्पत्ति बढ़ती हैं ॥ ऋ०७।६६।४ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

३ १२ ३ २उ ३ १ २१
१३५२—सु प्रावीरस्तु स क्षयः प्र नु यामन्त्सुदानवः ।
२ ३ १२ ३ १२
ये नो अंहोऽतिपिप्रति ॥२॥

भाषार्थः—(ये) जो पूर्व मन्त्र में मित्रादि वायुभेद गिनाये हुए देव (नः) हम को (अंहः) आलस्यादि पाप से (अतिपिप्रति) पार करते हैं उनके साथ (सः) वह (क्षयः) रहना=निवास (यामन्) उस प्रहर में (नु) [वितर्क में] (प्र) प्रत्यन्त (सुप्रावीः) सुरक्षक (अस्तु) होवे ॥

प्रातःकाल उठने और मित्रादि वायुभेद के सेवन करने वाले निरालस्य हम लोगों को वह उस प्रकार रहन-सहन शुभ हो, यह तात्पर्य है ॥

ऋ० ७ । ६६ । ५ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१३५३—उत स्वराजो अदितिरदब्धस्य व्रतस्य ये ।
महो राजान ईशते ॥३॥

भाषार्थः—(उत) और (ये) जो पूर्वोक्त मित्रादि देव (स्वराजः) स्वयंप्रकाशमान हैं (अदितिः) और उनकी माता=प्रकृति, ये सब (अदब्धस्य) रक्षित (महः) बड़े (व्रतस्य) शुभ कर्मानुष्ठान के (राजानः) राजा (ईशते) समर्थ हैं ॥

अर्थात् मित्रादिपदवाच्य प्राणादि वायुभेद=देवों के ही सामर्थ्य से मनुष्य सब शुभ कर्मों के करने में कृतकार्य होते हैं ।

अथैन्द्रमाज्यम् इति विवरणकारः

उत्त्वेति तृतीयतृचस्य—प्रगाथ ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१३५४—उत्त्वा मदन्तु सोमाः कृणुष्व राधो अद्रिवः ।
अव ब्रह्मद्विषो जहि ॥१॥

तत्र प्रथमा

इसकी व्याख्या (१६४) में हो चुकी है ॥१॥



भावार्थः—(**सत्यम्**) सच्चे (**मतीनाम्**) मेधा तत्त्वों का (**विप्रः**) मेधावी (**सोमः**) सोम (**जागृविः**) निद्रा तन्द्रा आलस्यादि का निवारक चेतन करने वाला होने से जागरणशील (**पुनानः**) शोध्यमान (**चमूषु**) यज्ञ पात्र चमसों से (**आऽसवत्**) सब ओर रक्खा जाकर रहता है, (**यम्**) जिस सोम को (**मिथुनासः**) सपत्नीक (**निकामाः**) नितरां कामना करने वाले (**रथिरासः**) यज्ञ ले चलने वाले नेता (**सुहस्ताः**) शोभन हाथों वाले (**अध्वर्यवः**) अध्वर्यु लोग (**सपन्ति**) सत्कृत करते=सुधारते हैं ।।

निघण्टु ३ । १२ और ३ । १४ में सपति क्रिया को परिचरणकर्मा और अर्चतिकर्माओं में गिनाया है और निरुक्त ३ । १३ और ३।१९ में इसका व्याख्यान है, वहां भी इसका स्पर्श अर्थ नहीं किया । इस से निरुक्त प्रमाण का नाम लेकर सायणाचार्य ने जो स्पर्श अर्थ किया है, वह भ्रममूलक ही जान पड़ता है ।। ऋ० ९। ९७ । ३७ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ।।१।।

अथ द्वितीया

१ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २ ३
१३५८—स पुनान उप सूरे दधान
१ २र ३ १ २ ३ १ २र
ओभे अप्रा रोदसी वी ष आवः ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
प्रियाचिद्यस्य प्रियसास ऊती
३ १ २र ३ २ ३ १ २र
सतो धनं कारिणे न प्र यंसत् ॥२॥

भावार्थः—(**सः**) वह सोम (**पुनानः**) शोध्यमान (**सूरे**) सूर्य किरणों में (**उप दधानः**) रक्खा हुआ (**उभे**) दोनों (**रोदसी**) द्यावापृथिवी को (**आऽप्राः**) आपूरित कर देता है, तब (**सः**) वह सोम (**वि आवः**) फैलता है (**सतः**) विद्यमान (**यस्य**) जिस सोम की (**प्रिया**) प्यारी और (**प्रियसासः**) प्रीतिदायिनी धारायें (**चित्**) अवश्य (**ऊती**) रक्षार्थ हैं, वह सोम (**कारिणे न**) जैसे काम करने वालों को धन देते हैं, तद्वत् यज्ञानुष्ठानी को (**धनम्**) धान्यादि उत्पन्न करके (**प्र यंसत्**) दे ।।

अष्टाध्यायी ६ । ३ । १३६ ।। ८ । ३ । १०६ ।। २ । ४ । ८० और ६।४। ७३ के प्रमाण और ऋ० ९।९७।३८ के पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ।।२।।

अथ तृतीया

१ २ ३ १ २र ३१ २ ३
१३५९—स वर्धिता वर्धनः पूयमानः
१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
सोमो मीढ्वाँ अभि नो ज्योतिषावीत्।
१२ ३ १२ ३१२ ३ २
यत्र नः पूर्वे पितरः पदज्ञाः
३ १ २ ३ १ २र ३ २
स्वर्विदो अभि गा अद्रिमिष्णन् ॥३॥

भाषार्थः—(**वर्धिता**) अपने बल से प्राणादि वायुभेद प्रभृति देवों का बढ़ाने वाला और (**वर्धनः**) स्वयं बढ़ने वाला (**पूयमानः**) अभिषव के पश्चात् दशा-पवित्र से शोध्यमान (**मीढ्वान्**) वृष्टिकारक (**सः**) वह (**सोमः**) सोम (**ज्योतिषा**) अपने तेज से (**नः**) हमारी (**अभि आवीत्**) सर्वतः रक्षा करे (**यत्र**) जिस सोम के विषय में (**नः**) हम याज्ञिकों के (**पूर्वे**) पिछले (**पितरः**) पिता पितामहादि लोग जो (**पदज्ञाः**) सोमादि पदार्थों के ज्ञाता और (**स्वर्विदः**) सुख के ज्ञाता थे, वे (**गाः**) सूर्यकिरणों और (**अद्रिम्**) मेघमण्डल को (**इष्णन्**) चाहते थे ॥

भाव यह है कि अभिषव किया हुआ और फिर दशापवित्र से शोधा हुआ और अनन्तर होमा हुआ सोम सूर्यकिरणमण्डल और मेघमण्डल में व्याप कर आप बढ़ता और अन्य प्राणादि वायुभेद इत्यादि देवों को बढ़ाता और वृष्टि आदि सर्व-सम्पदों को बढ़ाकर सब जगत् का उपकारक होता है जिसके द्वारा सब की रक्षा होती है, इसलिये मनुष्यों को योग्य है कि पितृ-परम्परा से जिन्हें सोमादि पदार्थों का ज्ञान है, उन विद्वान् लोगों द्वारा सोमयागादि का अनुष्ठान कराया करें ॥ ऋग्वेद ९ । ९७ । ३९ के दो पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥३॥

अथ प्रगाथात्मकस्य द्वितीय सूक्तस्य–प्रगाथः काण्व ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २
१३६०—मा चिदन्यद्वि शंसत सखायो मा रिषण्यत ।
२ ३ १ २ ३ १२ ३ १ २ ३१ २र ३ १ २
इन्द्रमित्स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत ॥१॥

इसकी व्याख्या (२४२) में हो चुकी है ।१॥

अथ द्वितीया

१३६१—अवक्रक्षिणं वृषभं यथा जुवं गां न चर्षणीसहम् ।
विद्वेषणं संवननमुभयङ्करं मंहिष्ठमुभयाविनम् ॥२॥

भावार्थः—(अवक्रक्षिणम्) सूर्यादिलोकसमूह ब्रह्माण्डकटाहों को अपनी-अपनी मर्यादा खींचने वाले (वृषभम् यथा) वृषभ के समान मेघमण्डलादि से वृष्ट्यादि द्वारा सींचने वाले (जुवम्) शीघ्र उत्पत्ति स्थिति प्रलय को अनायास सहज कर देने वाले (गां न) पृथिवी के समान (चर्षणीसहम्) मनुष्य आदि प्राणिकृत चेष्टाओं के सहनशील (विद्वेषणम्) राग द्वेषरहित (संवननम्) संभजनीय (उभयंकरम्) निग्रह और अनुग्रह दोनों के कर्त्ता (मंहिष्ठम्) बड़े भारी दानी (उभयाविनम्) दोनों लोकों में रक्षा करने वाले परमात्मा को "स्तुत करो" यह पूर्व मन्त्र से अन्वय है ॥ ऋ० ८ । १ । २ के पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

उदुत्य इति प्रगाथस्य तृतीयसूक्तस्य—मेधातिथिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१३६२—उदु त्ये मधुमत्तमा गिरः स्तोमास ईरते ।
सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथा इव ॥१॥

इसकी व्याख्या (२५१) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१३६३—कण्वा इव भृगवः सूर्या इव विश्वमिद्धीतमाशत ।
इन्द्रं स्तोमेभिर्महयन्त आयवः प्रियमेधासो अस्वरन् ॥२॥

भावार्थः—(कण्वा इव) मेधावियों के समान और (भृगवः) फूंकने वाली (सूर्या इव) सूर्य की किरणों के समान तेजस्वी (प्रियमेधासः) जिन को

मेधा प्यारी है, वा जिनको यज्ञ प्यारा है वे (**आयवः**) मनुष्य (**महयन्तः**) पूजते हुए (**स्तोमेभिः**) स्तोत्रों से (**विश्वम्**) व्यापक (**धीतम्**) ध्यान किये हुए (**इन्द्रम्**) परमेश्वर को (**इत्**) ही (**अस्वरन्**) स्तुत करें और (**आशत**) प्राप्त हों, "इत्" शब्दार्थ यह है कि परमेश्वर मान कर किसी अन्य को न पूजें ॥ निघण्टु ३ । १५ और निरुक्त ३ । १७ इत्यादि प्रमाण तथा ऋ० ८ । ३ । १६ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

पर्यू षु इतितृचस्य चतुर्थसूक्तस्य—ऋणस्त्रसद्दस्युर्वा ऋषिः । सोमो देवता । पिपीलिकामध्या त्रिपदा त्रिष्टुप्छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१३६४—पर्यू षु प्र धन्व वाजसातये परि वृत्राणि सक्षणिः ।
द्विषस्तरध्या ऋणया न ईरसे ॥१॥

इसकी व्याख्या (४२८) में हो गई है ॥१॥

अथ द्वितीया

१३६५—अजीजनो हि पवमान सूर्यं विधारे शक्मना पयः ।
गोजीरया रंहमाणः पुरन्ध्या ॥२॥

भावार्थः –(**पवमान**) सोम ! (**सूर्यम्**) सूर्य किरण मण्डल के (**विधारे**) धारक गगनमण्डल में (**शक्मना**) बल से (**रंहमाणः**) वेग करता हुआ तू (**गोजीरिया**) किरणों के वेगयुक्त (**पुरन्ध्या**) दोनों द्यावापृथिवी के मध्य में (**हि**) ही (**पयः**) जल को (**अजीजनः**) उत्पन्न करता है ॥

निघण्टु १ । १४ ॥ २ । १५ अष्टाध्यायी ७।१।३९ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद ९ । ११० । ३ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१३६६—अनु हि त्वा सुतं सोममदामसि महे समर्यराज्ये ।
वाजाँ अभि पवमान प्र गाहसे ॥३॥

इसकी व्याख्या (४३२) में हो चुकी है ॥३॥

अथ पञ्चमस्य तृचसूक्तस्य—ऋणस्त्रसद्दस्युर्वा ऋषिः । सोमो देवता । द्विपदा पङ्क्तिश्छन्दः ।

तत्र प्रथमा

१३६७—परि प्र धन्वेन्द्राय सोम स्वादुर्मित्राय पूष्णे भगाय ॥१॥

इसकी व्याख्या (४२७) में हो गई है ॥१॥

अथ द्वितीया

१३६८—एवामृताय महे क्षयाय स शुक्रो अर्ष दिव्यः पीयूषः ॥२॥

भावार्थः—(**अमृताय**) मेघजल के लिये (**महे**) और बड़े उत्तम (**क्षयाय**) निवास के लिये (**सः**) वह (**दिव्यः**) दिव्य (**पीयूषः**) पानयोग्य (**शुक्रः**) वीर्यदायक सोम (**एव**) निश्चय (**अर्ष**) आकाश को जाता है ॥

अर्थात् आहुति दिया हुआ सोम आकाश को गया हुआ वृष्टिकारक, सुन्दर निवास का हेतु और वीर्यदायक होता है ॥ ऋ० ९ । १०९ । ३ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१३६९—इन्द्रस्ते सोम सुतस्य पेयात् क्रत्वे दक्षाय ।
विश्वे च देवाः ॥३॥

भावार्थः—(**सोम**) सोम ! (**इन्द्रः**) वृष्टिकारक वायुविशेष वा राजा (**क्रत्वे**) यज्ञ के लिये (**च**) और (**दक्षाय**) बल के लिये (**ते**) तेरे रस को (**पेयात्**) पीए और (**विश्वे**) सब (**देवाः**) वायु आदि वा विद्वान् भी पीवें ॥ ऋ० ९ । १०९ । २ में भी ॥३॥

इति एकादशाऽध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ॥२॥

अथ तृतीये खण्डे प्रथमतृचस्य—हिरण्यस्तूप ऋषिः । सोमो देवता । जगती छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१३७०—सूर्यस्येव रश्मयो द्रावयित्नवो
मत्सरासः प्रसुतः साकमीरते ।

तन्तुं ततं परिसर्गास आशवो
नेन्द्राहते पवते धाम किं चन ॥१॥

भावार्थः—(**सर्गासः**) अग्नि में छोड़े जाते हुए (**प्रसुतः**) अत्यन्त अभिषुत (**आशवः**) शीघ्रगामी (**मत्सरासः**) हृष्टिकारक सोम (**सूर्यस्य**) सूर्य की (**रश्मयः**) किरणों के समान (**द्रावयित्नवः**) दौड़ने वाले (**साकम्**) एक साथ (**परि**) सब ओर (**ईरते**) दौड़ जाते हैं । (**इन्द्रात्**) इन्द्र नामक वायु विशेष से (**ऋते**) अतिरिक्त कोई (**किञ्चन**) किसी (**धाम**) स्थान को (**न**) नहीं (**पवते**) शुद्ध करता ॥ ऋ० ९ । ६९ । ६ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

१३७१—उपो मतिः पृच्यते सिच्यते मधु
मन्द्राजनी चोदते अन्तरासनि ।
पवमानः सन्तनिः सुन्वतामिव
मधुमान् द्रप्सः परि वारमर्षति ॥२॥

भावार्थः—अब सोम का मेधा [बुद्धि] जनकत्व निरूपित करते हैं—(**सुन्वताम्**) अभिषव करने वालों के (**सन्तनिः**) सन्तान के (**इव**) तुल्य (**द्रप्सः**) रपटने वाला (**पवमानः**) सोम (**वारम्**) प्रथम दशापवित्र पर (**परि अर्षति**) रपटता है (**उ**) फिर (**मधु**) मिठाई के साथ (**उप पृच्यते**) मिलाया जाता है और (**मधुमान्**) मिठाई से मिला हुआ (**अन्तः आसनि**) मुख के भीतर (**सिच्यते**) सींचा जाता = पिया जाता है तब (**मन्द्राजनी**) हर्ष के प्रेरक (**मतिः**) बुद्धि (**चोदते**) उस से प्रेरित होती हैं ॥ ऋ० ९ । ६९ । २ का पाठ संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ अथ तृतीया

१३७२—उक्षा मिमेति प्रति यन्ति धेनवो
देवस्य देवीरुप यन्ति निष्कृतम् ।
अत्यक्रमीदर्जुनं वारमव्ययमत्कं
न निक्तं परि सोमो अव्यत ॥३॥

भावार्थः—(**उक्षा**) सींचने वाला सोम (**मिमेति**) शब्द करता है (**धेनवः**) सोम की धारायें (**प्रतियन्ति**) द्रोणकलश में जाती हैं (**देवीः**) दिव्य धारायें (**देवस्य**) सोम के (**निष्कृतम्**) स्वच्छ सोमघट रूप स्थान को (**उपयन्ति**) भर देती हैं (**सोमः**) सोम (**अर्जुनम्**) श्वेत वर्ण (**अव्ययम्**) भेड़ के रोमजनित (**वारम्**) ऊनी दशा पवित्र को (**अत्येति**) छान कर चला जाता है (**निक्तम्**) स्वच्छ (**अत्कम्**) वज्र के तुल्य दीप्यमान द्रोणकलश को (**परि-अव्यत**) भर देता है ॥ ऋग्वेद ९ । ९६ । ४ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥३॥

अथ द्वितीयतृचस्य—वसिष्ठ ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

३ २उ ३ १ २ ३२ ३ १ २ ३ २
१३७३—अग्निं नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युतं जनयत प्रशस्तम् ।
३ १२ ३१२ ३ २
दूरे दृशं गृहपतिमथर्व्युम् ॥१॥

इसकी व्याख्या (७२) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

२३ २उ ३ १२३क २र ३ २ ३ १२३ १२
१३७४—तमग्निमस्ते वसवो न्यृण्वन्त्सुप्रतिचक्षमवसे कुतश्चित् ।
३ २ ३ २उ ३ २ ३ १ २
दक्षाय्यो यो दम आस नित्यः ॥२॥

भावार्थः—(**यः**) जो (**दक्षाय्यः**) बलिष्ठ अग्नि (**दमे**) घर-घर में (**नित्यः**) नित्य (**आस**) होवे (**तम्**) उस (**सुप्रतिचक्षम्**) भले प्रकार दर्शन के हेतु (**अग्निम्**) अग्नि का (**कुतश्चित्**) सबसे (**अवसे**) रक्षा के लिये (**वसवः**) बसने वाले गृहस्थ लोग (**अस्ते**) घर के अन्तर्गत अग्न्यागार में (**न्यृण्वन्**) आधान करें ॥

गृहस्थ मनुष्यों का धर्म है कि सब प्रकार की रक्षार्थ अपने-अपने घरों में अग्न्यागार नामक स्थान विशेष में नियम से प्रत्येक समय अग्नि का स्थापन रक्खें । ऋ० ७ । १ । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१ २ ३१ २र ३क २र
१३७५—प्रेद्धो अग्ने दीदिहि पुरो नोऽजस्रया सूर्म्या यविष्ठ ।
१ २र ३ १२ ३ १ २
त्वां शश्वन्त उपयन्ति वाजाः ॥३॥

भावार्थः—(यविष्ठ) अत्यन्त युवा अग्ने (प्रेद्धः) अत्यन्त प्रदीप्त तू (अजस्रया) निरन्तर (सूर्म्या) प्रदीप्त लोहे की कील के समान ज्वाला से (नः) हमारे (पुरः) आगे यज्ञवेदि में (दीदिहि) धधक, क्योंकि (त्वाम्) तुझ को (शश्वन्तः) निरन्तर वा बहुत [निघं० ३ । १] (वाजाः) हव्य अन्न (उपयन्ति) प्राप्त हो रहे हैं ॥

ऋ० ७ । १ । ३ और यजुः १७ । ७६ में भी ॥३॥

उत्क्रमग्निष्टोमसाम ।

इदानीं मानसं स्तोत्रं भवति इत्यादि विवरणकारः ।

तत्र तृतीयतृचस्य—सार्पराज्ञी ऋषिः । सूर्य आत्मा देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१३७६—आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः ।
पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥१॥

इसकी व्याख्या (६३०) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१३७७—अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती ।
व्यख्यन् महिषो दिवम् ॥२॥

इसकी व्याख्या (६३१) में हो चुकी है ॥२॥

अथ तृतीया

१३७८—त्रिंशद्धाम वि राजति वाक्पतङ्गाय धीयते ।
प्रति वस्तोरह द्युभिः ॥३॥

इसकी व्याख्या (६३२) में हो चुकी है ॥३॥

इत्येकादशाध्यायस्य तृतीयः खण्डः ॥

इति षष्ठप्रपाठके प्रथमोऽर्धः

समाप्तश्चायं द्वादशाहः सत्रात्मकोऽहीनात्मकश्चेति विवरणकारः ॥

इति श्रीमत्कण्ववंशाऽवतंस श्रीयुत पं० हजारीलाल स्वामी के पुत्र
परीक्षितगढ़ (जिला - मेरठ) निवासी तुलसीराम स्वामिकृत
उत्तरार्चिक सामवेदभाष्य में ग्यारहवां अध्याय
समाप्त हुआ ॥११॥

ओ३म्

अथ द्वादशाध्यायः ॥

इदानीं गवामयनं संवत्सरं सत्रमुच्यते। तत्रादौ ज्योतिष्टोमेऽतिरात्रः आग्नेयमाज्यम् इति विवरणकारः

तत्र

प्रथमे खण्डे चतुर्ऋचे प्रथमसूक्ते प्रथमयोर्गोतमो राहूगण ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृद् गायत्री छन्दः॥ तत्र प्रथमा

१३७६—उपप्रयन्तो अध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये।
आरे अस्मे च शृण्वते ॥१॥

भावार्थः—(अध्वरं) जो हिंसा से रहित है उस यज्ञ के (उपप्रयन्तः) समीप उत्तम प्रकार से जाते हुए और यज्ञ में पहुँच कर यज्ञारम्भ करते हुए हम (आरे) दूर (च) और (अस्मे) हमारे समीपवर्त्तियों की (शृण्वते) सुनाई करते हुए (अग्नये) ज्ञानस्वरूप परमात्मा के लिये (मन्त्रम्) स्तोत्र को (वोचेम) उच्चारित करें॥

जो परमात्मा दूरस्थों और अस्मदादि के समीपस्थों की सबकी सुनाई करता है उस ज्ञानस्वरूप परमात्मा के लिये उसकी स्तुतिरूप वेदसूक्तों स्तोत्रों का पाठ यज्ञ के आरम्भ में अवश्य करना चाहिये॥

अथवा भौतिक पक्ष में:—(आरे) दूरस्थों (च) और (अस्मे) हमारे समीपवर्त्तियों की—सबकी (शृण्वते) स्वीकार करने वाले (अग्नये) अग्नि के लिये (मन्त्रम्) आग्नेयसूक्तादि वेदमन्त्र का (अध्वरम् उपप्रयन्तः) यज्ञ में जाते हुए हम (वोचेम) उच्चारण करें॥

भौतिक अग्नि भी दूरस्थ और समीपस्थ सब प्राणियों का उपकार कर सकता है जब कि होमा जावे,और अग्नि में होमजनित लाभ वर्णन करने वाले मन्त्रों में कहे





भावार्थः—(भारत) भरण करने वाले (अग्ने) अग्ने ! (अत् शोच) चमक (अजर) जरारहित ! (दविद्युतत्) निरन्तर प्रकाशमान तू (द्युमत् अजस्रेण) दीप्तिमान् अविच्छिन्न तेज से (विभाहि) अन्यों को प्रकाशित कर ॥

ऋग्वेद ६ । १६ । ४५ में भी ॥३॥

अथ तृतीयसूक्तस्य तृचस्य–प्रजापतिर्ऋषिः । सोमो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१३८६—प्र सुन्वानायान्धसो मर्त्तो न वष्ट तद्वचः ।
अप श्वानमराधसं हता मखं न भृगवः ॥१॥

इसकी व्याख्या (५५३) में हो चुकी है और (७७४) में भी हो चुकी है ॥१॥

इदानीमाभिप्लविकमुच्यते इति विव० ॥

अथ द्वितीया

१३८७—आ जामिरत्के अव्यत भुजे न पुत्र ओण्योः ।
सरज्जारो न योषणां वरो न योनिमासदम् ॥२॥

भावार्थः—(जामिः) रसस्वरूप सोम (अत्के) आच्छादक दशापवित्र पर (आ अव्यत) सम्बद्ध होता और फिर (योनिम्) स्थान=द्रोणकलश में (आसदम्) स्थित होने को (सरत्) सरकता है । इसमें ३ दृष्टान्त –१—(न) जैसे (पुत्रः) पुत्र (ओण्योः) द्यावा पृथिवी के समान माता पिता की (भुजे) गोद में और २—(न) जैसे (जारः) कामी पुरुष (योषणाम्) कामिनी स्त्री को और ३—(न) जैसे (वरः) विवाहला पुरुष कन्या को प्राप्त होता है ॥

ऋ० ९।१०१।१४ में भी ॥ यहां से ४ ऋचाओं में मुग्ध पक्षपाती ज्वालाप्रसाद भार्गव ने सब वदिक तन्त्रों से निराला सीताराम का वर्णन करके अनर्थ किया है ॥२॥

अथ तृतीया

१३८८—स वीरो दक्षसाधनो वि यस्तस्तम्भ रोदसी ।
हरिः पवित्रे अव्यत वेधा न योनिमासदम् ॥३॥

भावार्थः— (**यः**) जो (**हरिः**) हरा सोम (**पवित्रे**) दशापवित्र पर (**अव्यत**) सम्बद्ध होता है (**सः**) वही रूपान्तर से (**बलसाधनः**) बल का साधन होकर (**वीरः**) बली सोम (**रोदसी**) द्युलोक पृथिवीलोक को (**वितस्तम्भ**) थाम्भ रहा है (**न**) जैसे (**वेधाः**) विधाता (**योनिम्**) स्थान=ब्रह्माण्ड में (**आसदम्**) आसीन है ॥

स्वभावसिद्ध बात है कि गरमी प्रत्येक वस्तु को विशीर्ण करती बखेरती और सोम शीतल होने से सब पदार्थों को जोड़ता है क्योंकि यह बल का साधन है। बस सोम ने ही रूपान्तर से उस-उस पदार्थ में बलसाधनता से स्थित होकर उस-उस पदार्थ को थांम रखा है। यह भाव है ।

ऋ० ९ । १०१ । १५ में भी ॥३॥

इति उत्तरार्चिके द्वादशाध्यायस्य प्रथमः खण्डः ॥१॥

अथ द्वितीय खण्डे प्रथमप्रगाथस्य—सौभरिकाण्व ऋषिः । इन्द्रो देवता । निचृदुष्णिक् पादनिचृत्पङ्क्तिश्चेति क्रमेण छन्दसी ॥

तत्र प्रथमा

३ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २

१३८९—अभ्रातृव्यो अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषा सनादसि ।

३ १ २ ॥३ १ २

युधेदापित्वमिच्छसे ॥१॥

इसकी व्याख्या (३९९) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१ २ ३१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३क २र

१३९०—नकी रेवन्तं सख्याय विन्दसे पीयन्ति ते सुराश्वः ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २उ३ २उ ३ १ २

यदा कृणोषि नदनुं समूहस्यादित्पितेव हूयसे ॥२॥

भावार्थः—इन्द्र ! हे राजन् ! (**रेवन्तम्**) केवल धनी जो यज्ञादि परोपकार में धन नहीं लगाता उस धनी मानी को आप (**सख्याय**) मित्रता के लिये (**नकिः**) नहीं (**विन्दसे**) रखते क्योंकि (**सुराश्वः**) मद्यादि व्यसनों से बढ़े हुए प्रमत्त नास्तिक वे धनी मानी लोग (**ते**) आपकी (**पीयन्ति**) हिंसा करते हैं। किन्तु—(**नदनुम्**) स्तुति करने वाले राजभक्त प्रजाजन को (**यदा**) जब आप (**आकृणोषि**) बुलाते हैं तब (**समूहसि**) उसका धनादि से सत्कार करते हैं (**आत् इत्**) तब (**पितेव**) पिता के समान (**हूयसे**) उससे स्तुत होते हैं ॥

ऋ० ८ । २१ । १४ में भी ॥२॥

अथ द्वितीयस्य तृचस्य सूक्तस्य—मेधातिथिमेध्यातिथी ऋषी ।
इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ।। तत्र प्रथमा

१३६१—आ त्वा सहस्रमा शतं युक्ता रथे हिरण्यये ।
ब्रह्मयुजो हरय इन्द्र केशिनो वहन्तु सोमपीतये ॥१॥

इसकी व्याख्या (२४५) में चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१३६२—आ त्वा रथे हिरण्यये हरी मयूरशेप्या ।
शितिपृष्ठा वहतां मध्वो अन्धसो विवक्षणस्य पीतये ॥२॥

भावार्थः—इन्द्र ! सूर्य ! (**मयूरशेप्या**) मयूर की पूंछ के समान अनेक वर्ण वाले भी (**शितिपृष्ठा**) एक श्वेतवर्ण की प्रतीति से युक्त (**हरी**) तिरछे सीधे भेद से दो प्रकार के किरणसमूह, (**विवक्षणस्य**) प्रशंसनीय (**मध्वः**) मधुर (**अन्धसः**) अन्न हव्य सोम के (**पीतये**) पानार्थ (**हिरण्यये**) तेजोमय (**रथे** , रमणीय स्वरूप में (**त्वा**) तुझको (**आवहताम्**) सर्वतः ले चलते हैं ॥

तात्पर्य यह है कि सूर्य की किरणें जो सीधी और तिरछी होकर दो प्रकार हम तक आती हैं और जिनमें मोर की पुच्छ के से सात ७ रंग हैं पर सब मिलकर एक श्वेत पृष्ठ जान पड़ते हैं, वे किरणें "अग्नौ प्रास्ताहुतिः०" इत्यादि मनुवचनोक्त रीत्यनुसार सोमादि मधुर प्रशंसनीय हव्य पदार्थ सूर्य में पहुँचाती हैं ॥ अष्टाध्यायी ७ । ३ । ३९ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋग्वेद ८ । १ । २५ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१३६३—पिबा त्वा३स्य गिर्वणः सुतस्य पूर्वपा इव ।
परिष्कृतस्य रसिन इयमासुतिश्चारुर्मदाय पत्यते ॥३॥

भावार्थः—(**गिर्वणः**) हे वाणी से प्रशंसनीय ! (**पूर्वपा इव**) प्रथम पीने वाले वायु के समान वर्त्तमान तू (**अस्य**) इस (**सुतस्य**) अभिषुत और

(परिष्कृतस्य) शोधित (रसिनः) रस वाले सोम का (इयम्) यह (आसुतिः) आसव (मदाय) हर्ष के लिए (चारुः) उत्तम है (तु) अतः (पिब) शोषण कर, जिससे तेरी किरणों से छुए हुए इस सोमरस के सम्पृक्त सब लोक उसके गुणों से सम्पृक्त हो जावें ॥

ऋ० ८ । १ । २६ में भी ॥३॥

अथ तृतीयसूक्तस्य—प्रगाथस्य ऋजिष्वा ऋषिः । पवमानः सोमो देवता । ककुप्छन्दः ॥ तत्र प्रथमा

१३६४—आ सोता परि षिञ्चताश्वं न स्तोममप्तुरं रजस्तुरम् ।
वनप्रक्षमुदप्रुतम् ॥१॥

इसकी व्याख्या (५८०) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१३६५—सहस्रधारं वृषभं पयोदुहं प्रियं देवाय जन्मने ।
ऋतेन य ऋतजातो विवावृधे राजा देव ऋतं बृहत् ॥२॥

भावार्थः—(सहस्रधारम्) बहुत धारा वाले (वृषभम्) इसी से [वृष्टिकर्त्ता (पयोदुहम्) जलों के दोग्धा (प्रियम्) प्यारे सोम को (देवाय) दिव्य (जन्मने) जन्म के लिए [अभिषुत करो]यह पूर्व मन्त्र से अन्वय है (यः) जो सोम (ऋतजातः) जल से उत्पन्न हुआ (ऋतेन) वसतीवरी नामक जल से (विवावृधे) बढ़ता है और जो (राजा) प्रकाशमान (देवः) दिव्य (ऋतम्) द्रवीभूतजलरूप (बृहत्) महान् है ॥ ऋ० ९ । १०८ । ८ में भी ॥२॥

इति द्वादशाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ॥२॥

अथ

तृतीये खण्डे प्रथमतृचस्य–भारद्वाज ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः ॥ तत्र प्रथमा

१३६६—अग्निर्वृत्राणि जंघनद्द्रविणस्युर्विपन्यया ।
समिद्धः शुक्र आहुतः ॥१॥

इसकी व्याख्या (४) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
१३९७—गर्भे मातुः पितुष्पिता विदिद्युतानो अक्षरे ।
१ २ ३ २ ३ २ ३ २
सीदन्नृतस्य योनिमा ॥२॥

भावार्थ—यहां पिता और माता शब्द से द्युलोक और पृथिवीलोक का ग्रहण है। श्रवण करते हैं कि "द्यौः पिता पृथिवी माता"। (**मातुः**) पृथिवी के (**गर्भे**) मध्य (**अक्षरे**) क्षरणरहित वेदिस्थान में (**विदिद्युतानः**) प्रकाशमान (**पितुः**) द्युलोक का [हव्य पहुँचा कर पालन करने से] (**पिता**) पालक अग्नि (**ऋतस्य**) यज्ञ की (**योनिम्**) उत्तर वेदि नामक स्थान में (**आ-सीदन्**) स्थित हुआ "वृत्रों का नाश करता है" यह पूर्व मन्त्र से अन्वय है ॥

ऋग्वेद ६ । १६ । ३५ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१ २ ३ २ ३ १ २३ १ २ ३ १ २
१३९८—ब्रह्म प्रजावदा भर जातवेदो विचर्षणे ।
२ ३ २ ३ १ २ ३ २
अग्ने यद्दीदयद्दिवि ॥३॥

भावार्थः—(**जातवेदः**) ज्ञानोत्पादक ! (**विचर्षणे**) विशेष करके दृष्टि के सहायक ! (**अग्ने**) अग्ने ! (**प्रजावत्**) पुत्रपौत्रादि सन्तानयुक्त (**ब्रह्म**) धन वा अन्न [निघं० २ । १० और २ । ७] (**आभर**) प्राप्त करा (**यत्**) जो अन्न वा धन (**दिवि**) आकाश में (**दीदयत्**) प्रकाशमान होवे ॥

भाव यह है कि होमादि द्वारा अग्नि की परिचर्या करने वाले के धन धान्य सन्तानादि की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है ॥

ऋ० ६ । १६ । ३६ में भी ॥३॥

अथ द्वितीयतृचस्य—वसिष्ठ ऋषिः । सोमो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१३९९—अस्य प्रेषा हेमना पूयमानो
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
देवो देवेभिः समपृक्त रसम् ।

सुतः पवित्रं पर्येति रेभन्

मितेव सद्म पशुमन्ति होता ॥१॥

इसकी व्याख्या (५२६) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१४००—भद्रा वस्त्रा समन्या३वसानो

महान् कविर्निवचनानि शंसन् ।

आ वच्यस्व चम्वोः पूयमानो

विचक्षणो जागृविर्देववीतौ ॥२॥

भावार्थः—(**भद्रा**) भले (**समन्या**) संग्रामयोग्य (**वस्त्रा**) वस्त्रतुल्य तेजों को (**वसानः**) ओढ़े हुए (**महान्**) बड़े (**कविः**) क्रान्तदर्शी विद्वान् (**निवचनानि**) सूक्तों को (**शंसन्**) पढ़ते हुए (**विचक्षणः**) द्रष्टा (**जागृविः**) आलस्य-प्रमाद रहित पुरुष के समान (**पूयमानः**) शोध्यमान सोम (**देववीतौ**) यज्ञ में (**चम्वोः**) द्युलोक और पृथिवी लोक में (**आवच्यस्व**) प्रवेश करता है ॥

निघं० २ । १७ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋ० ६ । ६७ । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१४०१—समु प्रियो मृज्यते सानो अव्ये

यशस्तरो यशसां क्षैतो अस्मे ।

अभि स्वर धन्वा पूयमानो

यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥३॥

भावार्थः—(**यशसाम्**) यशस्वियों में (**यशस्तरः**) अतियशस्वी (**अंतः**) भूमि में उत्पन्न हुआ (**प्रियः**) प्यारा सोम (**सानौ**) ऊंचे (**अव्ये**) ऊनी दशापवित्र पर (**अस्मे**) हमारे लिये (**संमृज्यते**) शोधित किया जाता है (**उ**) और वही (**पूयमानः**) शोध्यमान सोम (**धन्वा**) अन्तरिक्ष में [निघण्टु १ । ३] (**अभिस्वर**) शब्द करता और मेघगर्जन को उत्पन्न करता है । (**यूयम्**) तू वही सोम (**स्वस्तिभिः**) सुखदायक पालनों से (**सदा**) सर्वदा (**नः**) हम को (**पात**) पालता है ॥

ऋ० ९ । ९७ । ३ में भी ॥३॥

अथ तृतीयतृचस्य—तिरश्ची ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१४०२—एतो न्विन्द्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना ।
शुद्धैरुक्थैर्वावृध्वांसं शुद्धैराशीर्वान्ममत्तु ॥१॥

इसकी व्याख्या (३५०) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१४०३—इन्द्र शुद्धो न आ गहि शुद्धः शुद्धाभिरूतिभिः ।
शुद्धो रयिं नि धारय शुद्धो ममद्धि सोम्य ॥२॥

भावार्थः—(**इन्द्र**) हे परमेश्वर ! (**शुद्धः**) पवित्र करने वाले—पावन आप (**नः**) हम को (**आगहि**) प्राप्त हों (**शुद्धः**) पावन आप (**शुद्धाभिः**) पावनी (**ऊतिभिः**) रक्षाओं से हमारी रक्षा करें (**शुद्धः**) पावन आप (**रयिम्**) निश्छल व्यवहार द्वारा प्राप्त धन को (**निधारयः**) निरा धारण करावें (**सोम्य**) हे अमृतस्वरूप !(**शुद्धः**) पावन आप (**ममद्धि**) हम पर प्रसन्न हों ॥

ऋ० ८ । ९५ । ८ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ तृतीया

१४०४—इन्द्र शुद्धो हि नो रयिं शुद्धो रत्नानि दाशुषे ।
शुद्धो वृत्राणि जिघ्नसे शुद्धो वाजं सिषाससि ॥३॥

भावार्थः—(**इन्द्र**) हे परमेश्वर ! (**हि**) क्योंकि आप (**शुद्धः**) पवित्र हैं इस कारण (**रयिम्**) शुद्ध धन को (**नः**) हमारे लिए दीजिये (**शुद्धः**) आप पवित्र हैं सो (**दाशुषे**) दानी पुण्यात्मा पुरुष के लिये (**रत्नानि**) आप पवित्र मणि-मुक्तादि रत्न दीजिये (**शुद्धः**) आप शुद्ध हैं इससे (**वृत्राणि**) दुष्ट अशुद्ध राक्षसों का (**जिघ्नसे**) नाश करते हैं और (**शुद्धः**) शुद्ध आप (**वाजम्**) शुद्ध अन्न को (**सिषाससि**) कर्मानुसार देना चाहते हैं ॥

ऋ० ८ । ९५ । ९ में भी ॥३॥

इति उत्तरार्चिके द्वादशाऽध्यायस्य
तृतीयः खण्डः ॥३॥

अथ चतुर्थे खण्डे प्रथमतृचस्य–सुतंभर ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः॥

तत्र प्रथमा

३ १ २र ३ २ ३१ २ ३ १ २
१४०५—अग्ने स्तोमं मनामहे सिध्रमद्य दिविस्पृशः ।
३ १ २ ३ १ २
देवस्य द्रविणस्यवः ॥१॥

भावार्थः—(**द्रविणस्यवः**) धन चाहने वाले हम मनुष्य (**दिविस्पृशः**) सूर्यरूप से आकाश के छूने वाले (**देवस्य**) द्योतमान (**अग्नेः**) अग्नि के (**सिध्रम्**) पुरुषार्थ साधक (**स्तोमम्**) प्रशंसा के मन्त्रों को (**मनामहे**) उच्चारित करते हैं ॥ ऋ० ५ । १३ । २ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २र ३
१४०६—अग्निर्जुषत नो गिरो होता यो मानुषेष्वा ।
१ २ ३ २ ३ १ २
स यक्षद्दैव्यं जनम् ॥२॥

भावार्थः—(**होता**) वायु आदि देवों का बुलाने वाला वा होमसाधक (**अग्निः**) अग्नि (**मानुषेषु**) मनुष्यों के लोकों में (**आ**) वास करता है (**यः**) जो कि (**नः**) हमारी (**गिरः**) वाणियों को (**जुषत**) सेवित करता है अर्थात् हमारे अभीष्ट पूरे करता है (**सः**) वह अग्नि (**दैव्यम्**) द्युलोक की (**जनम्**) सृष्टि का (**यक्षत्**) यजन करे ॥

ऋ० ५ । १३ । ३ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१४०७—त्वमग्ने सप्रथा असि जुष्टो होता वरेण्यः ।
त्वया यज्ञं वि तन्वते ॥३॥

भावार्थ (अग्ने) हे अग्ने ! तू (जुष्टः) सेवित (होता) देवों को बुलाने वाला होमसम्पादक (वरेण्यः) वरणीय (सप्रथाः) सर्वतः फैलाने वाला (असि) है, और सब यजमान (त्वया) तुझ अग्नि साधन से (यज्ञम्) यज्ञ को (वितन्वते) विस्तृत करते हैं ॥

निरुक्त ६ । ७ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋ० ५ । १३ । ४ में भी ॥३॥

अथ द्वितीयतृचस्य --वसिष्ठ ऋषिः । सोमो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

(पञ्चमस्याह्नः संपत्स्या मध्यंदिनमिति विवरणकारः)

१४०८—अभि त्रिपृष्ठं वृषणं वयोधामङ्गोषिणमवावशंत वाणीः ।
वना वसानो वरुणो न सिन्धुर्वि रत्नधा दयते वार्याणि ॥१॥

इसकी व्याख्या (५२८) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१४०९—शूरग्रामः सर्ववीरः सहावान् जेता पवस्व सनिता धनानि ।
तिग्मायुधः क्षिप्रधन्वा समत्स्वषाढः साह्वान् पृतनासु शत्रून् ॥२॥

भावार्थः—(शूरग्रामः) शूरों का समूह बनाने वाला (सर्ववीरः) सब को वीर करने वाला (सहावान्) सबको दबा सकने वाला (जेता) विजय कराने वाला (धनानि) धनों का (सनिता) देने वाला (तिग्मायुधः) तीक्ष्ण आयुध वाला (क्षिप्रधन्वा) शीघ्रगामी बाणों के धनुष का धारक (समत्सु) संग्रामों में (अषाढः) किसी को न सहने वाला (पृतनासु) सेनाओं में (शत्रून्)

शत्रुओं को (साह्वान्) तिरस्कृत करने वाला [सोम] (पवस्व) अभिषुत होता है ॥

यहां सोमयाजियों और सोमपान करने वालों का आरोप सोम में करके वर्णन है ॥

ऋ० ९ । ९० । ३ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१४१०—उरुगव्यूतिरभयानि कृण्वन्त्समीचीने आ पवस्वा पुरन्धी ।
अपः सिषासन्नुषसः स्व३र्गाः सं चिक्रदो महो अस्मभ्यं
वाजान् ॥३॥

भावार्थः—(उरुगव्यूतिः) विस्तृत मार्गवाला सोम, सोमयाजियों को (अभयानि) दैवी विपत्ति आदि से अभय (कृण्वन्) करता हुआ (पुरन्धी) द्युलोक और पृथिवीलोक को (समीचीने) सुखदायक संगत (आपवस्व) पवित्र करता है तथा (अस्मभ्यम्) हम सोमयाजी मनुष्यों के लिये (महः वाजान्, अपः, उषसः, स्वः, गाः) बड़े अन्न, जल, सुप्रभात, सूर्य और किरणें (सिषासन्) देना चाहता हुआ सा (संचिक्रदः) शब्द करता है ॥

जब कि सोम का होम होता है और वह शब्द करता हुआ आकाश को जाता है तब द्युलोक पृथिवीलोक पवित्र होते हैं और मनुष्यों को जल वायु सूर्य उसकी किरण और सुप्रभात से उत्पन्न सुख प्राप्त होता है ॥

ऋग्वेद ९ । ९० । ४ में भी ॥३॥

अथ प्रगाथात्मकस्य द्वितीयसूक्तस्य—नृमेधपुरुमेधावृषी । इन्द्रो देवता । पादनिचृद्बृहती, निचृत्पङ्क्तिश्च छन्दसी ॥ तत्र प्रथमा

१४११—त्वमिन्द्र यशा अस्यृजीषी शवसस्पतिः ।
त्वं वृत्राणि हंस्यप्रतीन्येक इत्पुर्वनुत्तश्चर्षणीधृतिः ॥१॥

इसकी व्याख्या (२४८) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१४१२—तमु त्वा नूनमसुर प्रचेतसं राधो भागमिवेमहे ।
महीव कृत्तिः शरणा त इन्द्र प्र ते सुम्ना नो अश्नवन् ॥

भावार्थः—(**असुर**) हे प्राणदाता ! (**तम्**) पूर्वोक्तगुणविशिष्ट (**त्वा**) आप (**प्रचेतसम्**) सर्वज्ञ से (**उ**) ही (**नूनम्**) निश्चय (**भागमिव**) पुत्र जैसे पिता से दायभाग को मांगते हैं, वैसे हम (**राधः**) धर्मादि के साधन धन को (**ईमहे**) मांगते हैं । (**इन्द्र**) हे परमेश्वर ! (**ते**) आपका (**कृत्तिः**) यश वा अन्न (**मही**) बड़ा (**इवः**) ही (**शरणा**) शरण हैं (**ते**) आप के (**सुम्ना**) आनन्द (**नः**) हमको (**प्राश्नुवन्**) प्राप्त हों ॥

निरुक्त ५ । २२ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋ० ८ । ६० । ६ में भी ॥२॥

अथ प्रगाथात्मक चतुर्थसूक्तस्य—सौभरिऋंषिः । अग्निर्देवता । ककुप्छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१४१३—यजिष्ठं त्वा ववृमहे देवं देवत्रा होतारममर्त्यम् ।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ।

इसकी व्याख्या (११२) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१४१६—अपां नपातं सुभगं सुदीदितिमग्निमु श्रेष्ठशोचिषम् ।
स नो मित्रस्य वरुणस्य सो अपामा सुम्नं यक्षते दिवि ॥२॥

भावार्थः—(**अपां नपातम्**) जलों को न गिरने देने वाले (**सुभगम्**) शोभन ऐश्वर्यदायक (**सुदीदितिम्**) भले प्रकार प्रकाशमान (**श्रेष्ठशोचिषम्**) पवित्र लपटों वाले (**अग्निम्**) अग्नि को (**उ**) अवश्य [प्रशंसित करता हूँ] (**सः**) वह अग्नि (**वरुणस्य**) अपान का (**मित्रस्य**) प्राण का और (**सः**) वही (**दिवि**) आकाश में वर्त्तमान (**अपाम्**) जलों का (**सुम्नम्**) सुख (**नः**) हमारे लिये (**आ यक्षते**) देता है ॥

ऋ० ८ । १६ । ४ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये और यह भी देखकर आप आश्चर्य करेंगे कि सायणाचार्य के भाष्य में उस ऋग्वेदस्थ "ऊर्जोन पातम्" की ही व्याख्या यहां सामवेदभाष्य में धर दी है, सामवेद के "अपां न पातम्" की नहीं ॥२॥

इति द्वादशाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ॥४॥

अथ पंचमे खण्डे प्रथमतृचस्य-शुनः शेप ऋषिः। अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः॥

तत्र प्रथमा

१४१५—यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु यं जुनाः ।
स यन्ता शश्वतीरिषः ॥१॥

भावार्थः—(अग्ने) हे अग्ने ! (पृत्सु) संग्रामों में (यम्) जिस (मर्त्यम्) मनुष्य को (अवाः) तू रक्षित करता है (यम्) और जिस को (वाजेषु) बल=जीवन=प्राणनों में (जुनाः) तू प्राप्त होता वा रक्षा करता है (सः) वह मनुष्य (शश्वतीः) नित्य =बहुत काल ठहरने वाले (इषः) अन्नों को (यन्ता) नियमन कर सकता है ॥

निघण्टु २।१७ अष्टाध्यायी ६ । ४ । ७५ ॥ ३ । १ । ८१ वार्तिक ६ । १ । १६८ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋ० १ । २७ । ७ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

१४१६—नकिरस्य सहन्त्य पर्येता कयस्य चित् ।
वाजो अस्ति श्रवाय्यः ॥२॥

भावार्थः (सहन्त्य) हे शत्रुओं के तिरस्कृत करने वाले ! अग्ने ! (अस्य) इस अग्नि का उपयोग जानने वाले (कयस्यचित्) किसी भी पुरुष का (पर्येता) आक्रमण करने वाला (नकिः) कोई नहीं, किन्तु इसका (श्रवाय्यः) श्रवण करने योग्य कीर्तिकारक (वाजः) बलविशेष (अस्ति) है ॥

ऋ० १ । २७ । ८ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१४१७—स वाजं विश्वचर्षणिरर्वद्भिरस्तु तरुता ।
विप्रेभिरस्तु सनिता ॥३॥

भावार्थः—(सः) वह (विश्वचर्षणिः) विश्व की दृष्टि का सहायक अग्नि (अर्वद्भिः) प्राणों सहित (वाजम्) अन्न वा बल को (तरुता) पार लगाने वाला (अस्तु) हो, (विप्रेभिः) मेधावी ऋत्विजों से (सनिता) यज्ञफल का दाता (अस्तु) हो ॥

ऋ० १ । २७ । ६ में भी ॥३॥

अथ द्वितीयतृचस्य—नोधा ऋषिः । सोमो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥
तत्र प्रथमा

१४१८—साकमुक्षो मर्जयन्त स्वसारो दश धीरस्य धीतयो धनुत्रीः ।
हरिः पर्यद्रवज्जाः सूर्यस्य द्रोणं ननक्षे अत्यो न वाजी ॥१॥

इसकी व्याख्या (५३८) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१४१९—सं मातृभिर्न शिशुर्वावशानो वृषा दधन्वे पुरुवारो अद्भिः ।
मर्यो न योषामभि निष्कृतं यन्त्सं गच्छते कलश उस्रियाभिः ॥

भावार्थः – (वावशानः) वायु आदि देवों को मानो चाहता हुआ सा (वृषा) वृष्टिकारक (पुरुवारः) बहुतों से वरण किया हुआ सोम (अद्भिः) वसतीवरी नामक मातृतुल्य जलों से (सम् दधन्वे) भले प्रकार धारण किया जाता है । इसमें दृष्टान्तः—(मातृभिः) माताओं से (शिशुः) बच्चा (न) जैसे दुग्धादि देकर धारण किया जाता है तद्वत् (मर्यः) पुरुष (न) जैसे (योषाम्) स्त्री से (अभि यन्) समागम करता है तद्वत् (कलशे) द्रोणकलश में (निष्कृतम्) संस्कृत स्थान को संगत करता हुआ (उस्रियाभिः) गौवों=किरणों से (संगच्छते) मिलता है ॥

ऋ० ६ । ६३ । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

३ १ २९ ३ २ ३१ २ ३
१४२०—उत प्र पिप्य ऊधरघ्न्याया
२ ३ १ २ ३ २
इन्दुर्धाराभिः सचते सुमेधाः ।
३ २३ २ ३ १ २ ३ १ ३
मूर्धानं गावः पयसा चमूष्व-
१ २ ३ १२ ३ २ ३ २
भिश्रीणन्ति वसुभिर्न निक्तैः ॥३॥

भावार्थः—(**उत**) और (**अघ्न्यायाः**) गौ के (**ऊधः**) बाख के समान सरस सोम (**प्रपिप्ये**) ओषध्यादि में प्रविष्ट होकर आप्यायन करता है (**सुमेधाः**) बुद्धि सुधारने वाला (**इन्दुः**) सोम (**धाराभिः**) धारों से (**सचते**) मिलता है तब (**गावः**) किरणें (**चमूषु**) द्युलोक और पृथिवी लोक से नाना प्रदेशों में व्यापकर (**मूर्धानम्**) द्युलोक के मस्तक रूप सूर्य मण्डल को (**पयसा**) मेघजल से (**अभिश्रीणन्ति**) ढक देती हैं। दृष्टान्तः—(**न**) जैसे (**निक्तैः**) धुले उज्ज्वल (**वसुभिः**) वस्त्रों से आच्छन्न करते हैं, तद्वत् ॥

निघण्टु २ । ११ ॥ ३ । ३० ॥ ५ । ५ निरुक्त ११ । ४३ और अष्टाध्यायी ६ । १ । २६ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋग्वेद ९ । ९३ । ३ में भी ॥३॥

अथ प्रगाथात्मकतृतीयसूक्तस्य-मेधातिथिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः॥

तत्र प्रथमा

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१४२१—पिबा सुतस्य रसिनो मत्स्वा न इन्द्र गोमतः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २
आपिर्नो बोधि सधमाद्ये वृधे३स्माँ अवन्तु ते धियः ॥१॥

इसकी व्याख्या (२३९) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

३ १ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २९ ३ १ २
१४२२—भूयाम ते सुमतौ वाजिनो वयं मा न स्तरभिमातये ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अस्माँ चित्राभिरवतादभिष्टिभिरा नः सुम्नेषु यामय ॥२॥

भावार्थः—पूर्वमन्त्र से अनुवृत्ति लाकर हे इन्द्र ! (**ते**) तुम्हारी (**सुमतौ**) उत्तम मति जो वेदोपदेश रूप है उसमें (**वयम्**) हम (**वाजिनः**) बलवान् और अन्नादि साधनवान् (**भूयाम**) होवें (**नः**) हमको (**अभिमातये**) अभिमान के लिए (**मा**) मत (**स्तः**) मारो किन्तु नम्र करके (**चित्राभिः**) अपनी विचित्र (**अभिष्टिभिः**) चाहने योग्य रक्षाओं से (**अस्मान्**) हम को (**अवतात्**) रक्षित करो, तथा (**नः**) हम को (**सुम्नेषु**) सुखों में (**आ—यामय**) निर्वाहित करो [गुजारो] ॥

ईश्वरभक्त मनुष्यों को उसकी कृपा से निरभिमानता, रक्षा और सुख से निर्वाह, बल तथा अन्नादि सर्वसुख के साधन मांगने चाहिए, यह भाव है ॥ ऋग्वेद ८ । ३ । २ में भी ॥२॥

अथ तृचस्य चतुर्थसूक्तस्य—रेणुर्ऋषिः । सोमो देवता । जगती छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१४२३—त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुदुह्रिरे सत्यामाशिरं परमे व्योमनि ।
चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे चारूणि चक्रे यदृतैरवर्धत ॥

इसकी व्याख्या (५६०) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१४२४—स भक्षमाणो अमृतस्य चारुण
उभे द्यावा काव्येना वि शश्रथे ।
तेजिष्ठा अपो मंहना परि व्यत
यदी देवस्य श्रवसा सदो विदुः ॥२॥

भावार्थ—(**अमृतस्य**) अमृतरूप (**चारुणः**) सुन्दर वेद के (**काव्येन**) सस्वर पाठ के साथ (**भक्ष्यमाणः**) भोजन कराया जाता हुआ=होम किया जाता हुआ (**सः**) वह सोम (**उभे**) दोनों (**द्यावा**) द्युलोक पृथिवीलोक को (**विशश्रथे**) भर देता है और (**मंहना**) महत्त्व से (**तेजिष्ठाः**) अत्यन्त प्रकाशमान (**अपः**)

जलों को (**परिव्यत**) आच्छन्न कर देता है (**सदः**) यज्ञ में (**देवस्य**) दिव्य सोम देवता के (**अवसा**) यश से [जो वेद मन्त्रों में वर्णित है] (**विदुः**) वेदज्ञ जानते हैं ।।

ऋ० ९ । ७० । २ में "भिक्षमाणः" पाठ है और सायणाचार्य ने यहां भी इकार को आकार मानकर वही अर्थ रखा है ।।२।।

अथ तृतीया

१४२५—ते अस्य सन्तु केतवोऽमृत्यवो-
ऽदाभ्यासो जनुषी उभे अनु ।
येभिर्नृम्णा च देव्या च पुनत
आदिद्राजानं मनना अगृभ्णत ।।३।।

भावार्थः—(**येभिः**) जिन किरणों से सोम (**नृम्णा च**) बलों को (**च**) और (**देव्या**) देवयजनयोग्य अन्नों को (**पुनते**) शुद्ध करता है (**ते**) वे (**अमृत्यवः**) अमृत तुल्य (**अदाभ्यासः**) न हिंसनीय (**केतवः**) किरणें (**उभे**) दोनों स्थावर जंगम (**जनुषी**) जीवनयोनियों को (**अनु सन्तु**) अनुकूल हों (**आत् इत्**) तब ही (**मननाः**) मन्त्र (**राजानम्**) ओषधिराज सोम को (**अगृभ्णत**) परिगृहीत करते=प्राप्त होते हैं, अर्थात् मन्त्रानुकूल सोम का फल होता है ।।

ऋ० ९ । ७० । ३ में भी ।।३।।

इति द्वादशाऽध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ।।५।।

अथ षष्ठे खण्डे प्रथमतृचस्य—कुत्स ऋषिः । सोमो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ।।

तत्र प्रथमा

१४२६—अभि वायुं वीत्यर्षा गृणानो३ भिमित्रावरुणा पूयमानः ।
अभी नरं धीजवनं रथेष्ठामभीन्द्रं वृषणं वज्रबाहुम् ।।१।।

भावार्थः—प्रकरण से सोम (**गृणानः**) प्रशंसित हुआ (**वीति**) खाने के लिए (**वायुम्**) वायुसामान्य को (**अभि अर्ष**) अभिव्याप्त होता है, (**पूयमानः**) शुद्ध किया हुआ सोम (**मित्रावरुणा**) मित्र प्राण और वरुण अपान को [श० १ । ८ । ३ । १२] (**अभि**) अभिव्यापता है और (**धीजवनम्**) बुद्धि दौड़ाने वाले (**रथेष्ठाम्**) देहस्थ (**नरम्**) पुरुष को (**अभि**) प्राप्त होता है, तथा (**वज्रबाहुम्**) बिजुली की किरण वाले (**वृषणम्**) वृष्टिकारक (**इन्द्रम्**) वायुविशेष वा सूर्य को (**अभि**) प्राप्त होता है ॥

ऋ० ६ । ६७ । ४६ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

१४२७—अभि वस्त्रा सुवसनान्यर्षाभि धेनूः सुदुघाः पूयमानः ।
अभि चन्द्रा भर्तवे नो हिरण्याभ्यश्वान्रथिनो देव सोम ॥

भावार्थः—(**देव**) दिव्य (**सोम**) सोम (**सुवसनानि**) भले प्रकार पहरने के (**वस्त्रा**) वस्त्रों को (**अभि—अर्ष**) प्राप्त कराता है (**पूयमानः**) सोम (**सुदुघाः**) सुन्दर दूध देने वाली (**धेनूः**) दुधार गौओं को (**अभि**) प्राप्त कराता है, (**नः**) हमारे (**भर्त्तवे**) धारणार्थ (**चन्द्रा**) चांदी और (**हिरण्या**) सोने को (**अभि**) प्राप्त कराता है और (**रथिनः**) रथ वाले (**अश्वान्**) घोड़ों को (**अभि**) प्राप्त कराता है ॥

ऋ० ६ । ६७ । ५० में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१४२८—अभी नो अर्ष दिव्या वसून्य-
भि विश्वा पार्थिवा पूयमानः ।
अभि येन द्रविणमश्नवामाभ्यार्षेयं जमदग्निवन्नः ॥३॥

भावार्थः—(**पूयमानः**) सोम (**नः**) हमारे लिये (**दिव्या**) आकाशी

(**वसूनि**) धनों को (**अभि अर्ष**) सर्वत: प्राप्त कराता है और (**विश्वा**) सब (**पार्थिवा**) पृथिवी सम्बन्धी धनों को भी (**अभि**) प्राप्त कराता है तथा (**येन**) जिस बल वा नीरोगता से (**द्रविणम्**) उस आकाशीय और पार्थिव धन को हम (**अश्नुवाम**) भोग सकें वह भी (**अभि**) प्राप्त कराता है और (**नः**) हमारे लिये (**जमदग्निवत्**) आँख के समान [श० ८ । १ । २ । ५] (**आर्षेयम्**) अन्य ज्ञानेन्द्रियों के तेज को भी (**अभि**) प्राप्त कराता है ।।

ऋ० ६ । ६७ । ५१ में भी ।।३।।

अथ द्वितीयतृचस्य नृमेधपुरुमेधावृषी । इन्द्रो देवता । विराडनुष्टुप्, निचृदनुष्टुप्, बृहती च क्रमेण छन्दः ।।

तत्र प्रथमा

१४२९—यज्जायथा अपूर्व्य मघवन् वृत्रहत्याय ।
तत्पृथिवीमप्रथयस्तदस्तभ्ना उतो दिवम् ।।१।।

भावार्थः—(**अपूर्व्य**) हे अनादि ! (**मघवन्**) ईश्वर ! (**वृत्रहत्याय**) अन्धकार के नाशार्थ (**यत्**) जब कि आप (**जायथाः**) जगत् को उत्पन्न करते हैं (**तत्**) तब (**पृथिवीम्**) भूमिको (**अप्रथयः**) विस्तीर्ण बनाते हैं (**उतो**) और (**तत्**) तभी (**दिवम्**) द्युलोकस्थ चराचर को भी (**अस्तभ्नाः**) थांमते हैं ।।

ऋ० ८ । ८९ । ५ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ।।१।।

अथ द्वितीया

१४३०—तत्ते यज्ञो अजायत तदर्क उत हस्कृतिः ।
तद्विश्वमभिभूरसि यज्जातं यच्च जन्त्वम् ।।२।।

भावार्थः—(**तत्**) तभी (**ते**) तुम्हारा (**हस्कृतिः**) दिनकर (**अर्कः**) सूर्य (**अजायत**) उत्पन्न हुआ (**उत**) और (**तत्**) तभी (**यज्ञः**) सूर्य से सधने वाला तुम्हारा होमादि उत्पन्न हुआ, कहां तक कहा जाय (**यत्**) जो कुछ (**जातम्**)

उत्पन्न हो चुका (यत् च) और जो कुछ (जन्त्वम्) उत्पन्न होगा (तत्) उस (विश्वम्) सब को (अभिभूः असि) तुम दबाये हो ॥

ऋ० ८ । ८६ । ६ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१४३१—आमासु पक्वमैरय आ सूर्यं रोहयो दिवि ।
घर्मं न सामं तपता सुवृक्तिभिजुष्टं गिर्वणसे बृहत् ॥३॥

भावार्थः—परमेश्वर ने (आमासु) कच्ची ओषधियों में (पक्वम्) पके रस को (ऐरयः) प्रेरित किया और (सूर्यम्) सूर्य को (दिवि) द्युलोक में (आ रोहयः) ऐसे चढ़ाया कि (न) जैसे (सामम्) वर्ष भर के (घर्मम्) ताप को (सुवृक्तिभिः) ऋतुरूप विभागों से (तपत) तपे । इसलिए हे ईश्वरभक्तो ! तुम (गिर्वणसे) वाणी से सेवनीय इन्द्र=परमेश्वर के लिए (जुष्टम्) प्रीतिपूर्वक (बृहत्) बड़े साम को "गाओ" यह परिशेष है ॥

परमेश्वर ने आकाश में सूर्य को ऐसी युक्ति से रखा है कि वह सब ऋतुओं में क्रम और विभागपूर्वक ऐसा तपे कि जिससे सब ओषधि वनस्पति आदि भले प्रकार कच्ची से पकी हो जावें । यह अद्भुत परन्तु ज्ञानपूर्वक महाकार्य है जिससे उस परमात्मा का महत्त्व सूचित होता है, जिसके लिए हमको उसकी महती स्तुति साम-गान द्वारा करनी चाहिए ॥

ऋ० ८ । ८६ । ७ में भी ॥३॥

अथ तृतीय तृचस्य—अगस्त्य ऋषिः । इन्द्रो देवता । १—स्वराडनुष्टुप्, २—विराडनुष्टुप्, ३—निचृत्त्रिष्टुप् चेति क्रमेण छन्दांसि ॥

तत्र प्रथमा

१४३२—मत्स्यपायि ते महः पात्रस्येव हरिवो मत्सरो मदः ।
वृषा ते वृष्ण इन्दुर्वाजी सहस्रसातमः ॥१॥

भाषार्थः—(**हरिवः**) हे सर्वशक्तिमन्निन्द्र परमेश्वर ! (**ते**) आप (**वृष्णः**) कामपूरक का पूर्वसूक्तोक्त रीति से उत्पन्न किया (**महः**) सब ओषधि वनस्पत्यादि में उस-उस रूप से परिणत भारी (**मत्सरः**) हर्षकारक (**मदः**) तृप्तिकारक (**वाजी**) बलवान् बलदायक (**सहस्रसातमः**) अपरिमित अत्यन्त दाता वा सहस्रों पुरुषों के बांटने को पर्याप्त शक्ति की बहुतायत वाला महानुभाव (**इन्दुः**) सोम (**ते**) आपके ही प्रसाद से (**पात्रस्येव**) मानो पात्र से पी रहे हों ऐसे (**अपायि**) हमने पिया । (**गसि**) आप इस प्रकार हम को हृष्ट और पुष्ट करते हैं, इसलिए पूर्वोक्त प्रकार स्तुत्य हैं ॥

ऋ० १ । १७५ । १ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

१ २ ३२उ ३ २ ३ १२
१४३३—आ नस्ते गन्तु मत्सरो वृषा मदो वरेण्यः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र
सहावां इन्द्र सानसिः पृतनाषाडमर्त्यः ॥२॥

भाषार्थः—(इन्द्र) हे ईश्वर ! (**मत्सरः**) हर्षकारक (**वृषा**) वृष्टिकारक (**मदः**) तृप्तिकारक (**वरेण्यः**) स्वीकरणीय (**सहावान्**) मर्षणशील (**सानसिः**) संभजनीय (**पृतनाषाड्**) शत्रुसेनाओं को तिरस्कृत करने वाला (**अमर्त्यः**) अमृत (ते) आप का सोम (**नः**) हम को (**आ—गन्तु**) प्राप्त हो ॥

ऋ० १ । १७ । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

२३ ३ १२ ३२३ १२३ १२
१४३४—त्वं हि शूरः सनिता चोदयो मनुषो रथम् ।
३२३ १ २ ३२उ ३ २३ २ ३ १२
सहावान् दस्युमव्रतमोषः पात्रं न शोचिषा ॥३॥

भावार्थः—हे ईश्वर ! (**त्वं हि**) आप ही (**शूरः**) सच्चे वीर और (**सनिता**) दाता हैं, सो (**मनुषः रथम्**) मनोरथ को (**चोदयः**) सत्कर्मों में लगाइये और आप (**सहावान्**) दुष्टजनशिक्षक हैं सो (**अव्रतम्**) नास्तिक (**दस्युम्**) उपद्रवी अधर्मी को (**ओषः**) फूंक दीजिए (**न**) जैसे (पात्रम्) अशुद्ध पात्र को (**शोचिषा**) अग्नि से तपाकर शुद्ध करते हैं तद्वत् ॥

ऋ० १ । १७५ । ३ में भी ॥३॥

इति द्वादशाऽध्यायस्य षष्ठः खण्डः ॥

इति श्रीमत्कण्ववंशाऽवतंस श्रीयुत पण्डित हजारीलाल स्वामी के पुत्र
परीक्षितगढ़ (जिला—मेरठ) निवासी तुलसीराम स्वामिकृत
उत्तरार्चिक सामवेदभाष्य में बारहवां अध्याय
समाप्त हुआ ॥१२॥



ओ३म्

अथ त्रयोदशाऽध्यायः ॥

तत्र

प्रथमे खण्डे पञ्चर्चस्य प्रथमसूक्तस्य—कविऋर्षिः । सोमो देवता ।
गायत्री छन्दः ॥ तत्र प्रथमा

१४३५—पवस्व वृष्टिमा सु नोऽपामूर्मिं दिवस्परि ।
अयक्ष्मा बृहतीरिषः ॥१॥

भावार्थः—हे कामपूरक ! परमेश्वर ! वा सोम ! (**नः**) हमारे लिये (**अपाम्, ऊर्मिम्, वृष्टिम्**) जलों की, लहरी, वर्षा को तथा (**अयक्ष्माः, बृहतीः, इषः**) नीरोग, बहुत, अन्नों को (**दिवः**) आकाश से (**आ- परि सु पवस्व**) सर्वतः भले प्रकार वर्षाओ ॥

वर्षा की बहुतायत और उत्तमता से अन्न भी नीरोग और उत्तम तथा बहुतायत से होते हैं और मानो वर्षा रूप से आकाश से ही अन्न वर्षते हैं ॥

ऋग्वेद ९ । ४९ । १ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

१४३६—तया पवस्व धारया यया गाव इहागमन् ।
जन्यास उप नो गृहम् ॥२॥

भावार्थः—हे परमेश्वर ! वा सोम ! (**तया**) उस (**धारया**) धारा से (**पवस्व**) वर्षा द्वारा हमें पवित्र करो (**यया**) जिस से कि (**जन्यासः**) जंगली नहीं किन्तु जनसमुदाय में रहने वाली (**गावः**) गौवें और तदुपलक्षित अन्य अश्वादि पशु (**नः**) हमारे (**गृहम्**) घर को (**इह**) इसी लोक में (**उपाऽऽगमन्**) आवें ॥ ऋग्वेद ९ । ४९ । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

३१ २ ३ १२ ३१२ ३१२
१४३७—घृतं पवस्व धारया यज्ञेषु देववीतमः ।
३ १ २ ३ १ २र
अस्मभ्यं वृष्टिमा पव ॥३॥

भावार्थ: - हे परमेश्वर ! वा सोम ! (**यज्ञेषु देववीतमः**) ब्रह्मयज्ञादि यज्ञों में देवों=उपासकों को प्राप्यतम, वा होमादि में वायु आदि देवों के भक्ष्यतम (**घृतम्**) जल को (**धारया**) मूसलधार से (**पवस्व**) वर्षाओ अर्थात् (**अस्मभ्यम्**) हमारे लिए (**वृष्टिम्**) वर्षा को (**आ—पव**) सर्वतः वर्षाओ ॥

ऋग्वेद ९ । ४९ । ३ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थी

१ २ ३ २ ३क १२ ३१२ ३ १२
१४३८—सः नः ऊर्जे व्या३ऽव्ययं पवित्रं धाव धारया ।
३१२ ३२३ १ २
देवासः शृणवन् हि कम् ॥४॥

भावार्थः - (**देवासः**) विद्वान् (**हि**) ही (**कम्**) प्रजापति परमात्मा को, अथवा रस रूप सोम को (**शृणवन्**) वेद की श्रुतियों से सुनते और सुनकर जानते हैं कि (**सः**) वह (**नः**) हमारे लिये (**ऊर्जे**) रस की उत्पत्ति के लिये (**अव्ययम्**) अविनाशी (**पवित्रम्**) शुद्ध आकाशमण्डल को (**धारया**) मेघवर्षण धारा से (**वि-धाव**) विविध प्रकार प्राप्त है ॥

ऋग्वेद ९ । ४९ । ४ में भी ॥४॥

अथ पञ्चमी

१२ ३१२ ३१२
१४३९—पवमानो असिष्यदद्रक्षांस्यपजङ्घनत् ।
३ २३ २३ १२
प्रत्नवद्रोचयन् रुचः ॥५॥

भावार्थः—(**पवमानः**) पावन परमात्मा, वा सोम (**रक्षांसि**) प्राणघातक दुष्ट जन्तुओं को (**अपजंघनत्**) नष्ट करता हुआ और (**रुचः**) सूर्य किरणों को (**रोचयन्**) प्रकाशित करता हुआ (**असिष्यदत्**) वर्षाता है ॥

ऋग्वेद ९ । ४९ । ५ में भी ॥५॥

अथ चतुर्ऋचस्य द्वितीयसूक्तस्य—भरद्वाज ऋषिः । इन्द्रो देवता ।
अनुष्टुप्छन्दः ।। तत्र प्रथमा

१४४०—प्रन्यस्मै पिपीपते विश्वानि विदुषे भर ।
अरंगमाय जग्मयेऽपश्चादध्वने नरः ॥१॥

इसकी व्याख्या (३५२) में हो चुकी है ।।१।।

अथ द्वितीया

१४४१—एमेनं प्रत्येतन सोमेभिः सोमपातमम् ।
अमत्रेभिर्ऋजीषिणमिन्द्रं सुतेभिरिन्दुभिः ॥२॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! (एनम्) इस (ऋजीषिणम्) बलवान् (सोमपातमम्) अति सोमपान करने वाले (इन्द्रम्) ऐश्वर्यशाली पुरुष राजा के (प्रति) प्रति (सुतेभिः) अभिषुत (इन्दुभिः) गीले (सोमेभिः) सोमरसों और (अमत्रेभिः) सोमपानपात्रों के सहित (ईम्) अवश्य (आ—एतन) आओ ।।

ऋ० ६ । ४२ । २ में भी ।।२।।

अथ तृतीया

१४४२—यदी सुतेभिरिन्दुभिः सोमेभिः प्रतिभूषथ ।
वेदा विश्वस्य मेधिरो धृषत्तन्तमिदेषते ॥३॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! (यदि) यदि तुम (सुतेभिः) अभिषुत (इन्दुभिः) ताजे (सोमेभिः) सोमरसों से [इन्द्र को] (प्रतिभूषथ) सत्कृत करते हो तो वह (मेधिरः) बुद्धिमान् इन्द्र (धृषत्) शत्रुओं का धर्षण करने वाला (विश्वस्य) सब को (वेद) जानता है (इत्) और (तं तम्) उस-उस काम को (एषते) तुम को पहुंचाता है ।।

ऋ० ६ । ४२ । ३ में भी ।।३।।

अथ चतुर्थी

३ १ २ ३ १२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
१४४३—अस्मा अस्मा इदन्धसोऽध्वर्यो प्र भरा सुतम् ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १२ ३ १ २ ३ १२
कुवित्समस्य जेन्यस्य शर्धतोऽभिशस्तेरवस्वरत् ॥४॥

भावार्थः—(अध्वर्यो) हे यज्ञ के अध्वर्यु ! तू (अस्मै अस्मै इत्) इसी इन्द्र राजा के लिये (अन्धसः) सोम रूप अन्न के (सुतम्) अभिषुत रस को (प्रभर) दे। क्योंकि यही (समस्य) सब (शर्धतः) उत्साह करते हुए (जेन्यस्य) जीतने योग्य शत्रु की (अभिशस्तेः) हिंसा से (कुवित्) सर्वशः (अवस्वरत्) तुमको पालता है ॥

ऋ० ६ । ४२ । ४ में भी ॥४॥

इति त्रयोदशाध्यायस्य प्रथमः खण्डः ॥१॥
उक्ताः स्वरसामानः इति विव०

अथ

द्वितीये खण्डे प्रथमस्य षडृचस्य सूक्तस्य—असितो देवलो वा ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥ तत्र प्रथमा

३२३ १ २र ३ १ २ ३ १ २
१४४४—बभ्रवे नु स्वतवसेऽरुणाय दिविस्पृशे ।
१ २ ३ १ २
सोमाय गाथमर्चत ॥१॥

भावार्थः –हे याज्ञिको ! ऋत्विजो ! मनुष्यो ! तुम (बभ्रवे) पिंगल-वर्ण और (अरुणाय) कभी-कभी रक्तवर्ण (स्वतवसे) अपने बल (दिविस्पृशे) गगन मण्डल को छूने वाले हुत (सोमाय) सोम के लिये (गाथम्) गानयुक्त प्रशंसा की (अर्चत) चर्चा करो ॥

ऋ० ६ । ११ । ४ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

१ २ ३ १ २ ३ १ २र
१४४५—हस्तच्युतेभिरद्रिभिः सुतं सोमं पुनीतन ।
२ ३ १ २ ३ १ २
मधावा धावता मधु ॥२॥

भावार्थः हे अध्वर्यु आदि ऋत्विजो ! मनुष्यो ! तुम (**हस्तच्युतेभिः**) हाथ से छूटे (**अद्रिभिः**) बट्टों से (**सुतम्**) अभिषुत (**सोमम्**) सोम को (**पुनीतन**) दशापवित्र पर छान कर शुद्ध करो और (**मधौ**) मधुर सोम में (**मधु**) दुग्ध को (**आधावत**) गेरो ॥

ऋ० ९ । ११ । ५ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१४४६—नमसेदुप सीदत दध्नेदभि श्रीणीतन ।
इन्दुमिन्द्रे दधातन ॥३॥

भावार्थः—हे ऋत्विजो ! (**इन्दुम्**) सोम को (**दध्ना**) दही से (**अभिश्रीणीतन**) मिलावो (**इत्**) अथवा (**नमसा**) भोजनीय अन्न के साथ (**उपसीदत**) सेवन करो, (**इत्**) अथवा (**इन्द्रे**) राजा में (**दधातन**) जमा करो ॥

ऋ० ९ । ११ । ६ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थी

१४४७—अमित्रहा विचर्षणिः पवस्व सोम शंगवे ।
देवेभ्यो अनुकामकृत् ॥४॥

भावार्थः—(**सोम**) सोम (**अमित्रहा**) शत्रुनाशक और (**विचर्षणिः**) विशेषकर चक्षु का सहायक (**देवेभ्यः**) वायु आदि देवों के लिये (**अनुकामकृत्**) आनुकूल्य से काम करने वाला है सो (**गवे**) गौ आदि पशुओं के लिये (**शम्**) जिस प्रकार सुख हो उस प्रकार से (**पवस्व**) वर्षा कर ॥

ऋग्वेद ९ । ११ । ७ में भी ॥४॥

अथ पञ्चमी

१४४८—इन्द्राय सोम पातवे मदाय परि षिच्यसे ।
मनश्चिन्मनसस्पतिः ॥५॥

भावार्थ—(**सोम**) सोम ! (**मनश्चित्**) मन का चिनने वाला =निर्माण करने वाला अर्थात् मनस्वीपने का बढ़ाने वाला और (**मनसः**) मन का (**पतिः**) पालक [चन्द्रमा की उत्पत्ति समष्टि मनस्तत्त्व से वेद में कही है, तदनुसार सोम भी चान्द्रमास होने से अपने कार्य का वर्धक पोषक और पालन करने वाला है] (**मदाय**) हर्ष के लिये (**पातवे**) पानार्थ (**इन्द्राय**) राजा के लिये (**परिषिच्यसे**) सर्वतः पात्रों में सेचन किया जाता है ।।

ऋ० ९ । ११ । ८ में भी ।।५।।

अथ षष्ठी

१४४९—पवमान सुवीर्यं रयिं सोम रिरीहि णः ।
इन्दविन्द्रेण नो युजा ।।६।।

भावार्थः—(**पवमान**) शुद्ध ! शोधक ! (**इन्दो**) प्रकाशक ! (**सोम**) सोम ! तू (**नः**) हमारे (**युजा**) सहायक (**इन्द्रेण**) इन्द्र के साथ (**नः**) हमारे लिये (**सुवीर्यम्**) सुन्दर वीर्य और (**रयिम्**) धान्यादि धन को (**रिरीहि**) दे ।।

ऋग्वेद ९ । ११ । ९ में भी ।।६।।

अथ तृचस्य—द्वितीयसूक्तस्य सुकक्ष ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ।।

तत्र प्रथमा

१४५०—उद्घेदभि श्रुतामघं वृषभं नर्यापसम् ।
अस्तारमेषि सूर्य ।।१।।

इसकी व्याख्या (११५) में हो चुकी है ।।१।।

अथ द्वितीया

१४५१—नव यो नवतिं पुरो बिभेद बाह्वोजसा ।
अहिं च वृत्रहावधीत् ।।२।।

भावार्थः—(**यः**) जो (**वृत्रहा**) मेघहन्ता इन्द्र (**अहिम्**) मेघ को (**अवधीत्**) मारता (**च**) और (**नव नवतिम्**) ९९ (**पुरः**) किलों को (**बिभेद**) ढाता है [वह इन्द्र इत्यादि] अगले मन्त्र से अन्वय है ॥ यहां ९९ संख्या के किलों का व्याख्यान जानने के लिये पूर्व (१७९) संख्या की ऋचा का भाष्य देखकर मिला लेना चाहिये ॥ ऋ० ८ । ९३ । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

२ ३ १ २ ३ १ २र ३ २ ३ १ २
१४५२—स न इन्द्रः शिवः सखाऽश्वावद्गोमद्यवमत् ।
३ १ २
उरुधारेव दोहते ॥३॥

भावार्थः—(**सः**) वह (**शिवः**) सुखस्वरूप और सुखदायक (**सखा**) याज्ञिक और यजनीय सम्बन्ध से मित्र (**इन्द्रः**) इन्द्रनामक वायुविशेष (**नः**) हमारे लिये (**अश्वावत्**) अश्वों या प्राणों से युक्त (**गोमत्**) गौ वा इन्द्रियों से युक्त (**यवमत्**) जौ और अन्य धान्यों से युक्त धन को (**उरुधारा**) बहुत दुधार गौ के (**इव**) समान (**दोहते**) दुहकर पूर्ण करता है ॥ अष्टाध्यायी ८।२।९ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० ८ । ९३ । ३ में भी ॥३॥

इति त्रयोदशाध्याये द्वितीयः खण्डः ॥२॥

"उक्तो विषुवान्"

अथ "महादिवाकीर्त्यं पृष्ठम्"

इति विवरणकृत् ॥

अथ

तृतीये खण्डे प्रथमतृचस्य—विभ्राट्सौर्य ऋषिः । सूर्यो देवता । जगती छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

३ २ ३ १ २ ३ २३ ३१ २ ३१२ ३ १ २
१४५३—विभ्राड् बृहत्पिबतु सोम्यं मध्वायुर्दधद्यज्ञपतावविह्रुतम् ।
१२ ३ १ २३१२३ १२ ३१ २ ३१
वातजूतो यो अभिरक्षति त्मना प्रजाः पिपर्ति बहुधा
२र
वि राजति ॥१॥

इसकी व्याख्या (६२८) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१४५४—विभ्राट् बृहत्सुभृतं वाजसातमं
धर्मं दिवो धरुणे सत्यमर्पितम् ।
अमित्रहा वृत्रहा दस्युहन्तमं
ज्योतिर्जज्ञे असुरहा सपत्नहा ।।२।।

भावार्थः—(**धर्मन्**) धारण करने वाले (**दिवः**) द्युलोक के (**धरुणे**) धरन—स्तम्भ रूप सूर्यमण्डल में (**अर्पितम्**) पिरोही हुई (**विभ्राड्**) जाज्वल्यमान (**बृहत्**) बड़ी भारी (**सुभृतम्**) भले प्रकार पुष्ट (**वाजसातमम्**) अन्न वा बल की वर्षा द्वारा देने वाली (**सत्यम्**) स्थिर (**अमित्रहा**) दुष्ट जन्तुओं की नाशक (**वृत्रहा**) मेघ की विदारक (**दस्युहन्तमम्**) प्रकाश से चोरों की निवारक [जो कि चोर रात्रि को अन्धकार में पड़ते हैं] (**असुरहा**) अन्धकार की नाशक (**सपत्नहा**) दिन में युद्ध के सुगम और सुकर होने से शत्रुओं के नाश की सहायक (**ज्योतिः**) सूर्य की ज्योति (**जज्ञे**) उत्पन्न हुई है ।।

ऋ० १० । १७० । २ में भी ।।२।।

अथ तृतीया

१४५५—इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमं
विश्वजिद्धनजिदुच्यते बृहत् ।
विश्वभ्राड् भ्राजो महि सूर्यो दृश
उरु पप्रथे सह ओजो अच्युतम् ।।३।।

भावार्थः—(**इदम्**) यह (**श्रेष्ठम्**) प्रशंसनीय (**विश्वजित्**) विश्व को जीतने वाली (**धनजित्**) धन को जीतने वाली (**बृहत्**) बड़ी भारी (**विश्वभ्राड्**) विश्व की प्रकाशक (**महि**) बड़ी भारी (भ्राजः) भून देने वाली (**ज्योतिषाम् उत्तमं ज्योतिः**) ज्योतियों में उत्तम ज्योति (**उच्यते**) कहाती है सो इस (**अच्युतम्**)

अविनाशि (सहः) सबको दबाने वाली (ओज) बलदायक ज्योति को (दृशे) देखने के लिये (सूर्यः) सूर्य (उरु) बहुतायत से (पप्रथे) फैलाता है ।। ऋ० १० । १७० । ३ में भी ।।३।।

अथ प्रगाथात्मक द्वितीयसूक्तस्य—शक्ति ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ।।

तत्र प्रथमा

१४५६—इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा ।
शिक्षाणो अस्मिन्पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ।।

इसकी व्याख्या (२५६) में हो चुकी है ।।१।।

अथ द्वितीया

१४५७—मा नो अज्ञाता वृजना दुराध्यो माशिवासोऽवक्रमुः ।
त्वया वयं प्रवतः शश्वतीरपोऽति शूर तरामसि ।।२।।

भावार्थः—(शूर) अनन्तवीर्य ! इन्द्र ! परमेश्वर ! (नः) हम को (अज्ञाता) बिना जाने (वृजना) पाप (मा) न (अवक्रमुः) लगें और (दुराध्यः) हठी दुराराध्य (अशिवासः) पापी पुरुष संगति को (मा) न मिलें किन्तु (त्वया) आप की सहायता से (प्रवतः) प्रणाम करते हुए (वयम्) हम भक्त (शश्वतीः) निरन्तर असंख्य जन्म मरणादि दुःखदायक (अपः) कर्मों को (अति तरामसि) लांघ जावें ।। ऋ० ७ । ३२ । २७ में भी ।।२।।

अथ प्रगाथात्मकतृतीयसूक्तस्य—भर्ग ऋषिः । इन्द्रो देवता । ककुप्छन्दः ।।

तत्र प्रथमा

१४५८—अद्याद्या श्वःश्व इन्द्र त्रास्व परे च नः ।
विश्वा च नो जरितॄन्त्सत्पते अहा दिवा नक्तं च रक्षिषः ।।

भावार्थः—(सत्पते) हे सत्पुरुषों के रक्षक ! पालक ! (इन्द्र) परमेश्वर ! (नः) हमारी (अद्य अद्य) आज (च) और (श्वः श्वः) कल-कल और (परे) परले दिन, इस प्रकार (विश्वा अहा) सब दिन (त्रास्व) रक्षा करो

(च) और (नः) हम (जरितॄन्) स्तोताओं की (दिवा) दिन में (च) और (नक्तम्) रात्रि में भी (रक्षिषः) रक्षा करो ॥

भाव यह है कि आज कल परसों इत्यादि सब दिन परमात्मा से रक्षा-प्रार्थना करनी चाहिये क्योंकि वह सब काल में दिन रात सत्पुरुषों की रक्षा और पालन करने वाला है ॥ ऋ० ८ । ६१ । १७ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

३ १ २र ३ १ २ ३१ २ ३ १ २ ३क २र ३ २

१४५६—प्रभङ्गी शूरो मघवा तुवीमघः सम्मिश्लो वीर्याय कम् ।

३ १ २ ३ १ २र ३ १ २र ३ १ २

उभा ते बाहू वृषणा शतक्रतो नि या वज्रं मिमिक्षतुः ॥

भावार्थः—(**शतक्रतो**) हे असंख्यकर्मा परमेश्वर ! विविधसृष्टिकर ! (**ते**) आपकी (**उभा**) असंख्य होने पर भी बायें दाहिने [अनुकूल प्रतिकूल] भेद से दो प्रकार की (**बाहू**) भुजायें (**वृषणा**) कामनाओं को वर्षाने वाली हैं । (**या**) जो कि (**वीर्याय**) दुष्ट प्राणियों के निग्रहार्थ (**वज्रम्**) विविध शक्ति रूप आयुध को (**नि—मिमिक्षतुः**) धारण कर रही हैं । सो आप (**प्रभंगी**) प्रलयकाल में सर्वसंहारकारक और (**शूरः**) अतिविक्रमी (**मघवा**) परोपकार यज्ञ वाले और (**तुवीमघः**) अनन्तधन और (**संमिश्लः**) सब में रमे सर्वव्यापक (**कम्**) प्रजापति [शतपथ २ । ५ । २ । १३] हैं ॥

इसमें संस्कृतभाष्योक्त "सर्वेन्द्रियगु०" इत्यादि उपनिषदों और "विश्वतश्चक्षुरुत" इत्यादि वेदमन्त्रों के अनुसंधान से जानना चाहिये कि परमात्मा की अनन्तशक्ति ही रूपकालंकार से वर्णित है, न कि उसका मूर्तिमत्त्व, क्योंकि "न तस्य प्रतिमा अस्ति" यजुः ३२ । ३ इत्यादि अन्य श्रुतियों ने उसकी प्रतिमा का निषेध कहा है ॥ ऋग्वेद ८ । ६१ । १८ में भी ॥२॥

इति त्रयोदशाऽध्यायस्य तृतीयः खण्डः ॥३॥

अथ चतुर्थे खण्डे प्रथमस्यैकर्चसूक्तस्य—वसिष्ठ ऋषिः । सरस्वान्देवता । गायत्री छन्दः ॥

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३१ २

१४६०— जनीयन्तो न्वग्रवः पुत्रीयन्तः सुदानवः ।

१ २

सरस्वन्तं हवामहे ॥१॥

भावार्थः—(**जनीयन्तः**) स्त्री चाहते हुए (**पुत्रीयन्तः**) और पुत्र चाहते हुए (**सुदानवः**) यज्ञादि परोपकार करने वाले (**अग्रवः**) उपासक हम (**नु**) आज (**सरस्वन्तम्**) सर्वज्ञ परमात्मा को (**हवामहे**) पुकारते हैं ॥

अर्थात् यज्ञादि परोपकार करने वालों को परमात्मा की यज्ञानुष्ठानजनित कृपा से स्त्री पुत्र आदि सब ऐश्वर्य सुख भोग सम्पत्ति प्राप्त होती है ॥

सामश्रमी जी कहते हैं कि "विवरण के मत में यह एक ऋचा का सूक्त नहीं है, किन्तु दो ऋचा का प्रगाथ है, तथा च अगली "उत नः" यह ऋचा इसी सूक्त की द्वितीया ऋचा है, न कि अन्य सूक्त। और मूल पुस्तकस्थ पाठों के देखने से भी यह अनुकूल जान पड़ता है" परन्तु हमने ऊपर व्याख्या में सायणमत लेकर इसको एकर्च सूक्त कहा है ॥ ऋ० ७ । ९६ । ४ में भी ॥१॥

अथ द्वितीयस्यैकर्चसूक्तस्य—भरद्वाज ऋषिः । सरस्वती देवता । गायत्री छन्दः ॥

३१ २ ३२ ३१२ ३१ २३ १२
१४६१—उत नः प्रिया प्रियासु सप्तस्वसा सुजुष्टा ।
१२ ३ १ २
सरस्वती स्तोम्या भूत् ॥१॥

भावार्थः - (**उत**) और पूर्वोक्त सर्वज्ञ परमात्मा की स्तुति के लिये (**नः**) हमारी (**प्रियासु**) प्यारियों में (**प्रिया**) अतिप्यारी मधुरस्वरयुक्ता (**सप्त स्वसा**) गायत्री आदि सात ७ छन्दोजातिरूप बहनों वाली (**सुजुष्टा**) भले प्रकार अभ्यास से सेवित (**स्तोम्या**) प्रशंसनीय (**सरस्वती**) वाणी [निघ० १ । ११] (**भूत्**) होवे ॥

अर्थात् जब हम वेदसूक्तों से परमात्मा की स्तुति प्रार्थना करें तो हमारी वाणी अतिप्रिय मधुर गायत्री आदि सात ७ छन्दों में विभक्त अच्छे प्रकार अभ्यस्त और प्रशंसनीय हो ॥ ऋ० ६ । ६१ । १० में भी ॥१॥

अथ तृतीयस्यैकर्चसूक्तस्य—विश्वामित्र ऋषिः । सविता देवता । गायत्री छन्दः ॥

१ २३१२१ ३ १२ ३१ २
१४६२—तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
२ ३ १ २ ३१२
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥१॥

भावार्थः—हम उपासक लोग उस (**सवितुः**) सर्वोत्पादक सर्वपिता (**देवस्य**) प्रकाशमान ज्योतिःस्वरूप परमेश्वर के (**तत्**) उस अनिर्वचनीय (**वरेण्यम्**) वरणीय—भजनीय (**भर्गः**) तेज का (**धीमहि**) ध्यान करते हैं (**यः**) जो परमेश्वर (**नः**) हमारी (**धियः**) बुद्धियों को (**प्रचोदयात्**) अत्यन्त प्रेरित करे ॥

अर्थात् जो सर्व जगदुत्पादक सर्वपिता सविता देव ज्योतिःस्वरूप परमात्मा हमारी धर्मादिविषयक बुद्धियों को भले प्रकार प्रेरित करे उस जगदीश्वर के भजनीय और भर्गः=अविद्यादि दुःखदायक विघ्नों के भून डालने वाले ज्ञानस्वरूप का हम ध्यान करते हैं ॥

अथवा – (यः) जो सूर्य (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को (प्रचोदयात्) प्रेरित करता है उस (सवितुः) ओषधि वनस्पत्यादि सब प्राणी जगत् की उत्पत्ति के निमित्तभूत (देवस्य) प्रकाशमान सूर्य के (तत्) उस अनिर्वचनीय इयत्ता से जानने में न आने वाले (वरेण्यम्) सेवनीय (भर्गः) दुर्गन्धादि जनित दुष्ट जन्तु रोगकारकों के भून डालने वाले [धूप] को हम (धीमहि) धारण करते हैं ॥

सूर्य की धूप के सेवन से दुर्गन्धादि दोष दूर होकर नैरोग्यादि की वृद्धि होती है और उसकी धूप तथा प्रकाश से निद्रा आलस्यादि तमोगुण के कार्यों का नाश होकर मनुष्यों की बुद्धियें फुरती हैं । हमको यह सब जानकर सूर्य की धूप का विधिवत् सेवन करके उपकार ग्रहण करना चाहिये ॥

यद्वा – भर्गः शब्द से अन्न का ग्रहण जानिये । सूर्य द्वारा वर्षा और यवगोधूमादि ओषधि और वट पिप्पलादि वनस्पति उगते हैं । जिनसे अन्न होता है । इस लिये भी सूर्यजनित अन्न का विधिपूर्वक धारण सेवन करना इस मन्त्र का उपदेश है । सायणाचार्य ने भर्गः पद से अन्न अर्थ लेने में एक आथर्वणिकों का मत उद्धृत किया है जो हमने संस्कृतभाष्य में लिख दिया है ॥

ये ही तीनों अर्थ सायणाचार्य ने भी किये हैं । भर्गः, धीमहि और प्रचोदयात् पदों की सिद्धि में अष्टाध्यायी ६ । ४ । ४७ ॥ ६ । १ । ३४ ॥ २ । ४ । ७३ और उणादि ४ । १८६ । ४ ॥ २१६ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

इसमें भी सूक्तसंख्या में मतभेद है । सत्यव्रत सामश्रमी जी कहते हैं कि "विवरण के मत और समस्त मूलसंहिताग्रन्थों के देखने से ज्ञात होता है कि यह तीन ऋचा का सूक्त है । तथा च —इससे अगली "सोमानं स्व०" और "अग्न आयूंषि०" ये दो ऋचायें इसी सूक्त की दूसरी और तीसरी ऋचा जाननी चाहियें, न कि अलग अन्य सूक्त । यह विवेक है ।' हमने जो ऊपर इसको एकर्चसूक्त लिखा है सो सायणाचार्य का मत है ॥

ऋग्वेद ३ । ६१ । १० में भी ॥१॥

अथैकर्चस्य चतुर्थसूक्तस्य—मेधातिथिऋर्षिः । (इन्द्राऽपरनामा) ब्रह्मणस्पतिर्देवता । गायत्री छन्दः ।।

३ २ ३ १ २ ३ १ २
१४६३—सोमानां स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २
कक्षीवन्तं य औशिजः ॥१॥

इसकी व्याख्या (१३६) में हो गई है ॥१॥

अथैकर्चस्य पञ्चमसूक्तस्य—वैखानस ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः ॥

२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
१४६४—अग्न आयूंषि पवस आसुवोर्जमिषं च नः ।
३ १ २ ३ १ २
आरे बाधस्व दुच्छुनाम् ॥१॥

इसकी व्याख्या (६२७) में हो चुकी है ॥१॥

अथ तृचस्य षष्ठसूक्तस्य—यजत ऋषिः । मित्रावरुणौ देवते । गायत्री छन्दः ।। तत्र प्रथमा

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
१४६५—ता नः शक्तं पार्थिवस्य महो रायो दिव्यस्य ।
१ २ ३ २ ३ १ २
महि वां क्षत्रं देवेषु ॥१॥

इसकी व्याख्या (११४५) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१४६६—ऋतमृतेन सपन्तेषिरं दक्षमाशाते । अद्रुहा देवौ वर्द्धेते ॥२॥

भावार्थः—(ऋतेन) जल से (ऋतम्) यज्ञ को (सपन्ता) स्पर्श करते हुए (इषिरम्) मनचाहे (दक्षम्) बलको (आशाते) प्राप्त होते और (अद्रुहा) द्रोहरहित (देवौ) दिव्य प्राण और अपान (वर्धते) बढ़ते हैं ॥

ऋ० ५ । ६८ । ४ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

३ १ २ ३क २ ३ २ ३ ३ १ २
१४६७—वृष्टिद्यावा रीत्यापेषस्पती दानुमत्याः ।
३ २ ३ १ २
बृहन्तं गर्तमाशाते ॥३॥

भावार्थः—(**वृष्टिद्यावा**) जिनसे द्युलोक वर्षा करने वाला होता है ऐसे (**रीत्यापा**) जिनसे जलों की प्राप्ति होती है वे दोनों (**वानुमत्याः इव**.) देने योग्य अन्न के (**पती**) पालन करने वाले दोनों प्राण और अपान (**बृहन्तं गर्तम्**) बड़े गर्त=ब्रह्माण्ड को (**आशाते**) व्याप रहे हैं ॥

ऋ० ५ । ६८ । ५ में भी ॥३॥

अथ सप्तमस्य तृचसूक्तस्य–मधुच्छन्दा ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः॥

तत्र प्रथमा

१४६८—युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः ।

रोचन्ते रोचना दिवि ॥१॥

भावार्थः—(**परि**) चारों ओर (**तस्थुषः**) स्थित (**रोचनाः**) प्रकाशमान लोक लोकान्तर (**ब्रध्नम्**) सूर्य और (**अरुषम्**) सूर्याश्रित अग्नि तथा (**चरन्तम्**) अग्न्याश्रित चलने वाले वायु को (**युञ्जन्ति**) आपे में जोड़ते हैं, तब (**दिवि**) अन्तरिक्ष में (**रोचन्ते**) प्रकाशते हैं ।

इन्द्र का इन्द्रत्व परमैश्वर्य के योग से है और सूर्य अग्नि वायु रूप से अवस्थान परमैश्वर्य है । इसलिये यहां इन्द्र की ही प्रशंसा है क्योंकि इन्द्र ही इस ऋचा का देवता है । इसलिये यहां ब्रध्न शब्द से सूर्य, अरुष् से अग्नि और चरन् से वायु का ग्रहण है । तथा च सायणाचार्य ने भी लिखा है कि "उक्तार्थपरक ही इस मन्त्र का व्याख्यान ब्राह्मणान्तर में भी है कि—'युञ्जन्ति ब्रध्नम्० से सूर्य को, अरुषम्०से अग्नि को, और चरन्तम्० से वायु को युक्त करना तात्पर्य है, परितस्थुषः—से इन गगनमण्डल में दृश्यमान लोकलोकान्तरों का तात्पर्य है । रोचन्ते रोचना दिवि —से नक्षत्रों के प्रकाशन का तात्पर्य है ।

भाव यह हुआ कि सूर्य के चारों ओर वर्तमान पृथिवी चन्द्रमा आदि लोक-लोकान्तर सूर्य के तेज से चमकते हैं । ऐसा ही मन्त्र यजुर्वेद अ० २३ में ५वां है, उस का भाष्य करते हुए महीधर ने भी लिखा है कि "प्रकाशित चन्द्र ग्रह तारा आदि सूर्य के तेज से चमकते हैं" फिर महीधर अपने कथन की पुष्टि में कहते हैं कि ज्योति शास्त्र में भी कहा है कि "तेजों का गोला सूर्य है और अन्य नक्षत्रादि अम्बुगोलक हैं", [स्वयंप्रकाश नहीं हैं] ऋग्वेद १ । ६ । १ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२
१४६९—युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे ।
१ २ ३ २ ३ १ २
शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥२॥

भावार्थः—(अस्य) इस [अग्नि और उसके कार्य पदार्थों में उस-उस रूप को प्राप्त] सूर्य के (रथे) रमणीय गोले में वर्त्तमान (काम्या) कामना करने योग्य (विपक्षसा) विविध ७ रंगे पार्श्व जिनमें हैं, तो भी (शोणा) रक्तवर्ण प्रतीत होने वाले (धृष्णू) न सहारे जाने वाले (नृवाहसा) मनुष्यादि प्राणियों के धारक होकर बहने वाले (हरी) शोषक होने से हरण करने वाले सीधे तिरछे दो प्रकार के किरणों को (युञ्जन्ति) पृथिव्यादि लोक जो सूर्य के चारों ओर वर्त्तमान हैं, अपने में युक्त करते हैं ॥ ऋग्वेद १ । ६ । २ और यजुः २३ । ६ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

३ २ ३ १ २३२३ १ २ ३ १ २
१४७०—केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे ।
२३१ २
समुषद्भिरजायथाः ॥३॥

भावार्थः—(मर्याः) हे मनुष्यो ! (अकेतवे) प्रज्ञानरहित रात्रि में सोये हुए प्राणिवर्ग के लिये (केतुम्) प्रज्ञान (कृण्वन्) करता हुआ और (अपेशसे) रूपरहित पदार्थ के लिये (पेशः) रूप करता हुआ यह सूर्य (उषद्भिः) दाहक किरणों से (सम् अजायथाः) उदय होता है ॥

निघण्टु ३ । ७ व ६ के प्रमाण संस्कृत भाष्य में देखिये । सूर्य से ही प्रज्ञा का उद्बोधन होता है और सूर्य से ही उस-उस पदार्थ का रूपवानपना है, सूर्य ही जब प्रातः उदय होता है तब प्रत्येक पदार्थ के रूप की भावना कराता है । वास्तव में सब रूप रंगों की उत्पत्ति ही सूर्य से है । यह मन्त्र में परमात्मा का मनुष्यों के प्रति उपदेश है ॥ ऋ० १।६।३ और यजुः २९ । ३७ में भी ॥४॥

इति त्रयोदशाऽध्यायस्य चतुर्थः खण्डः॥३॥

अथ

पञ्चमे खण्डे प्रथमतृचस्य–उशना ऋषिः । सोमो देवता । १—सतः पङ्क्तिः, २—विराट् त्रिष्टुप्, ३—निचृत् त्रिष्टुप् च छन्दः ॥ तत्र प्रथमा

१४७१—अयं सोम इन्द्र तुभ्यं सुन्वे तुभ्यं पवते त्वमस्य पाहि ।
त्वं ह यं चकृषे त्वं ववृष इन्दुं मदाय युज्याय सोमम् ॥१॥

भावार्थ—(इन्द्र) हे राजन् ! वा सूर्य ! (अयम्) यह (सोमः) सोम (तुभ्यम्) तेरे लिये (सुन्वे) अभिषुत किया जाता है (तुभ्यम्) तेरे लिये (पवते) शोधा जाता है (त्वम्) तू (अस्य) इस सोम की (पाहि) रक्षा वा पान कर (त्वम्) तू (ह) प्रसिद्ध (यम्) जिस सोम को (चकृषे) उत्पन्न करता है (त्वम्) तू (मदाय) हर्ष और (युज्याय) सहाय के लिये उस (इन्दुम्) गीले (सोमम्) सोम को (ववृषे) अंगीकृत कर ॥

"इन्द्रानिलयमार्काणाम्०" इत्यादि मनुप्रोक्त रीति से यहां इन्द्र पद से राजा का भी ग्रहण है ॥ ऋग्वेद ६ । ८८ । १ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

१४७२—स ईं रथो न भुरिषाडयोजि महः पुरूणि सातये वसूनि ।
आदीं विश्वा नहुष्याणि जाता स्वर्षाता वन ऊर्ध्वा
नवन्त ॥२॥

भावार्थः—(महः) महान् (रथः) रथ (न) सा, रक्षक (सः) वह (ईम्) ही, सोम (वने) संग्रामस्थल [मैदान] में (भुरिषाट्) बहुत सहन-शक्तिदायक है, अतः (अयोजि) प्रयुक्त=सेवित किया जाता है । किस लिये ? उत्तर—(पुरूणि) बहुत (वसूनि) युद्धलभ्य धनों को (सातये) देने लिये । (आत्, ईम्) अनन्तर (विश्वा) सब (नहुष्याणि) मानुष (जाता) उत्पन्न हुए (ऊर्ध्वा) ऊंचे=भारी (स्वर्षाता) क्षात्रधर्मोचित युद्ध करने वाले योद्धाओं को स्वर्गप्रद संग्राम (नवन्त) संगत होते हैं ॥

पूर्व मन्त्र में राजा को सोम का उत्पादन, रक्षा, अभिषव और पान का उपदेश था, इस मन्त्र में उसका प्रयोजन वा फल कहा है कि सोम संग्राम में एक बड़े भारी रथ के समान रक्षक है, उसके प्रयोग (सेवन) से चोट के सहने की शक्ति बढ़ती है, जिससे संग्रामों में विजयपूर्वक बहुत धनों की प्राप्ति होती है और मनुष्यों के सब उत्पन्न हुए संग्राम, जो क्षात्रधर्मानुसार हों तो स्वर्गदायक हैं, संगत=सार्थक होते हैं ॥

निघण्टु २ । ३ ॥ २ । १४ के प्रमाण और सायणाचार्य का संमतत्व संस्कृत भाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद ६ । ८८ । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१४७३—शुष्मी शर्धो न मारुतं पवस्वा-
नभिशस्ता दिव्या यथा विट् ।
आपो न मक्षू सुमतिर्भवा नः
सहस्राप्साः पृतनाषाण् न यज्ञः ॥३॥

भावार्थ—(शुष्मी) बलवान् सोम (मारुतं शर्धः न) वायुओं के बल=वेग के समान (पवस्व) शुद्धि करे (यथा) जिससे (दिव्या विट्) देवतों के वैश्य=मरुद्गण [सायणाचार्य कहते है कि "मरुत् देवों के वैश्य हैं" यह ब्राह्मण में लिखा है] (अनभिशस्ता) उत्तम अनिन्द्य प्रशस्त हो, (आप. न) जलों के समान (नः) हमारे लिये (मक्षु) शीघ्र (सुमतिः) सुन्दर बुद्धि करने वाला (भव) हो, (सहस्राप्साः) बहुत रूपों वाला (पृतनाषाड्) सेनाओं में सहनशक्ति का देने वाला (न) जैसे (यज्ञः) अनेक प्रकार से उपकारक है, वैसे अनेक प्रकार का उपकार करने वाला सोम भी हो ॥

सोम का सेवन करने वाले बलवान् हो जाते हैं, इस से सोम का विशेषण (शुष्मी) बलवान् रक्खा है, सोमसेवी लोग बुद्धिमान् भी हो जाते हैं अतः उसको (सुमतिः) उत्तम बुद्धिमान् कहा है । जैसे जल से शीघ्र शान्ति प्राप्त होती है वैसे सोम को भी शान्तिदायक कहने के लिये जल का दृष्टान्त उपयोगी है । और जैसे अनुष्ठान किया हुआ यज्ञ अनेक प्रकार उपकारक है, वैसे ही सेवन और होम

किया हुआ सोम भी अनेक रूप से उपकारक होता है इससे यज्ञ की उपमा कही गई। विशेष कर क्षात्रधर्म का उपयोगी होने से सोम को (पृतनाषाड्) सेना की उपयुक्त सहनशक्ति का दाता बताया गया है॥ सायणाचार्योद्धृत ब्राह्मण का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये॥ ऋ० ६। ८८। ७ में भी ॥३॥

अथ द्वितीयतृचस्य—भरद्वाज ऋषिः। अग्निर्देवता। गायत्री छन्दः॥

तत्र प्रथमा

१४७४—त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः।
देवेभिर्मानुषे जने ॥१॥

इसकी व्याख्या (२) में हो गई ॥१॥

अथ द्वितीया

१४७५—स नो मन्द्राभिरध्वरे जिह्वाभिर्यजा महः।
आ देवान्वक्षि यक्षि च ॥२॥

भावार्थः—(सः) वह अग्नि (नः) हमारे (अध्वरे) यज्ञ में (मन्द्राभिः) हव्य पदार्थों के संसर्ग से हर्षकारी (जिह्वाभिः) लपटों से (महः) बड़े भारी (देवान्) वायु आदि देवों का (यज) यजन करे क्योंकि अग्नि ही देवदूत होने से देवों का (आवक्षि) आवाहन करता (च) और (यक्षि) यजन करता है॥

कोई लोग सूर्य के किरणों के रंगों के समान अग्नि की लपटों में भी ७ अवस्था मानकर ७ नाम धरते हैं कि:—

१—काली=श्याम।
२—कराली=असह्यवर्णा।
३—मनोजवा=मन के समान अत्यन्त चञ्चल।
४—सुलोहिता=पूरी सुर्ख।
५—सुधूम्रवर्णा=धुंधली।
६—स्फुलिंगिनी=चिनगारियों वाली।
७—विश्वरूपा=सब रूपों वाली मिली हुई।

श्री सत्यव्रत सामश्रमी अपनी टिप्पणी में "लीला" नाम आठवीं भी लिखते हैं॥ ऋ० ६। १६। २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१४७६—वेत्था हि वेधो अध्वनः पथश्च देवाञ्जसा ।
अग्ने यज्ञेषु सुक्रतो ॥३॥

भावार्थः—(वेधः) यज्ञ के विधाता ! (सुक्रतो) सुकर्मन् ! (देव) प्रकाशमान !(अग्ने) अग्ने ! तू (यज्ञेषु) दर्शपौर्णमासादि यज्ञों में (हि) निश्चय (अध्वनः) दूरमार्गों (च) और (पथः) समीपमार्गों को (अञ्जसा) अनायास शीघ्र (वेत्थ) जानता=पहुंचाता है ॥

अग्नि को यज्ञ का विधायक होने से विधाता, और यज्ञरूप शोभनकर्म का प्रधान साधन होने से सुकर्मा और प्रकाशमान होने से देव कहा गया। वह देवदूत अग्नि दूरस्थ तथा समीपस्थ सब देवों के मार्गों को पहचानता अर्थात् उस-उस देवता को उसका भाग पहुंचाने में समर्थ है ॥ ऋ० ६ । १६ । ३ में भी ॥३॥

उक्तो विश्वजित् ।
इदानीं महाव्रते भवान्याज्यानि इति विव० ॥

अथ तृतीयतृचस्य—देवश्रवा देववातो वा ऋषिः । अग्निर्देवता ।
गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१४७७—होता देवो अमर्त्यः पुरस्तादेति मायया ।
विदथानि प्रचोदयन् ॥१॥

भावार्थः—(होता) होम का साधक (देवः) प्रकाशमान (अमर्त्यः) अमर अग्नि (मायया) बुद्धि से (विदथानि) ज्ञानेन्द्रियों को (प्रचोदयन्) प्रेरित करता हुआ (पुरस्तात्) आगे आकाश को (एति) जाता है ॥

अग्नि हमारे समान मरणधर्मा न होने से अमर, प्रकाशमान होने से देव, देवों का दूत होने से होता, और प्रकाश से बुद्धि का प्रेरक होने से ज्ञानेन्द्रियों का भी प्रेरक है ॥ ऋग्वेद ३ । २७ । ७ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

१४७८—वाजी वाजेषु धीयतेऽध्वरेषु प्रणीयते ।
विप्रो यज्ञस्य साधनः ॥२॥

भावार्थः—(वाजी) बलवान् अग्नि (वाजेषु) बलसाध्य कार्यों=यानादिकों में (धीयते) रक्खा जाता है । (अध्वरेषु) यज्ञों में (प्रणीयते) अध्वर्यु आदिकों द्वारा प्रतिशयता से आहवनीयादि कुण्ड स्थानों में ले जाया जाता है (विप्रः) वह बुद्धितत्वयुक्त अग्नि (यज्ञस्य) यज्ञ का (साधनः) साधक है ।। ऋग्वेद ३ । २७ । ८ में भी ।।२।।

अथ तृतीया

१४७९—धिया चक्रे वरेण्यो भूतानां गर्भमा दधे ।
दक्षस्य पितरं तना ॥३॥

भावार्थः—अग्नि द्वारा इन्द्रियों की प्रेरणा से क्या फल होता है सो कहते हैं:—(वरेण्यः) वरणीय अग्नि (भूतानाम्) प्राणियों के (गर्भम्) गर्भ का (आदधे) आधान करता है अर्थात् गर्भरूप से स्वयं स्थित होता है और (धिया) बुद्धि तत्व से (दक्षस्य) बल के (पितरम्) पिता=जनक (तना) धन को (चक्रे) उत्पन्न कराता है ।।

अग्नि इसलिये वरण करने योग्य है कि सब प्राणियों में जीवन रूप गर्भ बनकर स्वयं स्थित है और बुद्धितत्त्व की प्रेरणा करके बल के जनक धन को उत्पन्न कराता है ।। ऋग्वेद ३ । २७ । ९ में भी ।।३।।

इति त्रयोदशाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ।।५।।

अथ षष्ठे खण्डे प्रथमतृचस्य—हर्यत ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः ।।

तत्र प्रथमा

१४८०—आ सुते सिञ्चत श्रियं रोदस्योरभिश्रियम् ।
रसा दधीत वृषभम् ॥१॥

भावार्थ:—हे मनुष्यो ! (**वृषभम्**) वर्षा करने वाले होमाग्नि का (**वधीत**) आधान "अन्याधान" की रीति से करो और फिर (**रसा**) सोम रूप अन्न (**सुते**) अभिषुत होने पर (**रोदस्यो:**) द्यावाभूमी का (**अभिश्रियम्**) अभ्याश्रय करने वाले (**श्रियम्**) तपे हुए घृत=आज्य का (**आ सिञ्चत**) आसेचन करो ।।

यहाँ देवतानुक्रमणी के अनुसार इस ऋचा का अग्नि देवता पढ़ते हुए सायणाचार्य और हमने भी अग्निपरक व्याख्यान किया है । होमार्थ अग्नि के वृष्टि-कारक होने से "वृषभम्" यह अग्नि का विशेषण अनुचित नहीं है ।। ऋग्वेद ८ । ७२ । १३ में भी ।।१।।

अथ द्वितीया

१४८१—ते जानत स्वमोक्यांऽ ३ सं वत्सासो न मातृभिः ।
मिथो नसन्त जामिभिः ।।२।।

भावार्थ:—(**ते**) जो सोमाऽन्न से मिश्रित अग्नि में हुत अन्य भाग हैं, वे (**स्वम्**) अपने (**ओक्यम्**) स्थान को (**जानते**) जानते हुए से (**जामिभिः**) मेघजलों से (**मिथः**) परस्पर (**नसन्त**) जा मिलते हैं । दृष्टान्त—(**न**) जैसे (**वत्सासः**) बछड़े (**मातृभिः**) गौवों से (**सम्**) जा मिलते हैं, तद्वत् ।।

निघण्टु १ । १२ में जामि=जल नाम है ।। ऋ० ८ । ७२ । १४ में भी ।।२।।

अथ तृतीया

१४८०—उप स्रक्वेषु बप्सतः कृण्वते धरुणं दिवि ।
इन्द्रे अग्ना नमः स्वः ।।३।।

भावार्थ:—(**स्रक्वेषु**) गलाफुओं के तुल्य लपटों में (**बप्सतः**) भक्षण करते=भस्म करते हुए (**अग्नौ**) अग्नि में, (**इन्द्रे**) मध्यस्थान वायु में और (**दिवि**) द्युस्थान आदित्य में (**स्वः**) सुखदायक (**धरुणम्**) धारण करने वाले स्तम्भरूप (**नमः**) अन्न को (**उप कृण्वते**) उपस्कृत करते हैं [ऋत्विज् लोग] ।

अर्थात् जब होता लोग अग्नि में हव्य छोड़ते हैं तब वे तीनों लोकों को उस से उपकृत करते हैं ॥ ऋ० ८ । ७२ । १५ में भी ॥३॥

अथ द्वितीयतृचस्य—बृहद्दिव ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥
तत्र प्रथमा

१४८३—तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः ।
सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रूननु यं विश्वे मदन्त्यूमाः ॥

भाषार्थः—(**तत्**) वह प्रसिद्ध (**भुवनेषु**) सब भुवनों में (**ज्येष्ठम्**) अत्यन्त बड़ा ब्रह्म (**इत्**) ही (**आस**) था,(**यतः**) जिस निमित्तकारण से (**उग्रः**) तेजस्वी (**त्वेषनृम्णः**) प्रकाश बलवाला इन्द्र=सूर्यः (**जज्ञे**) उत्पन्न हुआ । (**जज्ञानः**) सो उत्पन्न हुआ सूर्य (**सद्यः**) शीघ्र (**शत्रून्**) मनुष्यों के शत्रु सूक्ष्म दुष्ट जन्तुओं को (**नि रिणाति**) निरा नष्ट कर डालता है (**यम्**) जिस सूर्य के (**अनु**) उदय होने के पश्चात् (**विश्वे**) सब (**ऊमाः**) प्राणी (**मदन्ति**) हृष्ट होते हैं ॥

ब्रह्म ही सब भुवनों से बड़ा है, यह बात अथर्व १० । ४ । ७ में कही गई है । उसने तेजोरूप चक्षुःस्थानी सूर्य को उत्पन्न किया, वह भी ऋ०१०।९०।१३,यजुः ३१ । १२, अथर्व० १९ । १ । ६ और ऋ० १० । १९० । ३ में तथा अन्य बहुत स्थलों में प्रसिद्ध है, मूल मन्त्र और अष्टाध्यायी ७ । ४ । ११७ ॥ २ । ४ । ५२ ॥ ६ । ४ । ९८ ॥ १ । १ । ५९ ॥ ८ । १ । ६६ ॥ ७ । ३ । ८० ॥ ६ । ४ । २०॥ ३ । १ । ८५ ॥ २ । ३ । ८ ॥ १ । ४ । ८४ निघण्टु २ । ९ और सायणाचार्य के उद्धृत किये हुए ब्राह्मण का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋ० १० । १२० । १ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

१४८४—वावृधानः शवसा भूर्योजा शत्रुर्दासाय भियसं दधाति ।
अव्यनच्च व्यनच्च सस्नि सं ते नवन्त प्रभृता मदेषु ॥२॥

भाषार्थः— (**वावृधानः**) उदय होकर बढ़ता हुआ, (**भूर्योजाः**) अति बली (**शत्रुः**) दुष्टजन्तुनाशक सूर्य (**शवसा**) बल से (**दासाय**) हानिकारक दुष्ट जन्तु

के लिये (**भियसम्**) भय का (**दधाति**) धारण करता है (**च**) **और** (**अप्राणत्**) अप्राणी (**च**) तथा (**प्राणत्**) प्राणी से सब (**प्रभृता**) पोषित वा धारित भूतमात्र (**सस्नि**) भले प्रकार शोधित हुए (**मदेषु**) हर्षों में (**ते**) उस सूर्य के लिये (**संनवन्त**) संगत होते हैं ।।

सूर्य चराऽचरात्मा होने से सबका धारक पोषक और हानि वा रोगादिकारक वायु वा जल के विकार उत्पन्न जन्तुओं का नाशक उनका शत्रु होकर जगत् का उपकार करता है ।।

निरुक्त ५।१ निघण्टु २ । १४ अष्टाध्यायी ३ । २ । १७१ ।। ६ । १ । ७० के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।। ऋग्वेद १० । १२० । २ में भी ।।२।।

अथ तृतीया

१४८५—त्वे क्रतुमपि वृञ्जन्ति विश्वे द्विर्यदेते त्रिर्भवन्त्यूमाः ।
स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सृजा समदः सु मधु
मधुनाभि योधीः ॥३॥

भावार्थः—(**यत्**) जब कि (**एते**) ये (**ऊमाः**) कर्मानुष्ठानी प्राणी मनुष्य (**द्विः**) पुत्र जन्म से दुहरे और (**त्रिः**) पौत्र जन्म से तीहरे (**भवन्ति**) हो जाते हैं, (**अपि**) तो भी (**त्वे**) उस सूर्य में ही (**विश्वे**) सब लोग (**क्रतुम्**) कर्म को (**वृञ्जन्ति**) समाप्त करते हैं । (**स्वादोः**) स्वादु से (**स्वादीयः**) अति स्वादु (**अदः**) इस रथ को (**स्वादुना**) स्वादु रस से (**संसृज**) सूर्य मिलाता है **और** (**सुमधु**) उत्तम मधु को (**मधुना**) मधुर रस से (**अभियोधीः**) लड़ाता-जुड़ाता है ।।

सूर्य ही कर्मात्मा है, उसी के सहारे में सब लोग बेटे-पोतों वाले बूढ़े होकर भी सब कर्म पूरे करते हैं । सूर्य ही उस-उस रसाल पत्र पुष्प फलादि से स्वादु से स्वादु और मधुर से अति मधुर रस को जुटाता है ।। सायणाचार्योक्त ब्राह्मण का पाठ और अष्टाध्यायी ७ । १ । ३९ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।।

ऋ० १० । १२० । ३ में भी ।।३।।

अथ तृतीयतृचस्य—गृत्समद ऋषिः । इन्द्रो देवता । अष्टिश्छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१४८६—त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तुविशुष्म-
स्तृम्पत्सोममपिबद्विष्णुना सुतं यथावशम् ।
स ईं ममाद महि कर्म कर्तवे महामुरुं
सैनं सश्चद्देवो देवं सत्य इन्दुः सत्यमिन्द्रम् ॥१॥

इसकी व्याख्या (४५७) में हो गई है ॥१॥

अथ द्वितीया

१४८७—साकं जातः क्रतुना साकमोजसा ववक्षिथ
साकं वृद्धो वीर्यैः सासहिर्मृधो विचर्षणिः ।
दाता राध स्तुवते काम्यं वसु प्रचेतन सैनं
सश्चद्देवो देवं सत्य इन्दुः सत्यमिन्द्रम् ॥२॥

भावार्थः -- (**प्रचेतन**) चेताने वाले ! सूर्य ! (**क्रतुना**) कर्म और बुद्धि-तत्त्व के (**साकम्**) साथ और (**ओजसा**) आकर्षण बल के (**साकम्**) साथ (**जातः**) उदय हुआ (**वीर्यैः**) बलवान् किरणों के (**साकम्**) साथ (**वृद्धः**) वृद्धि को प्राप्त हुआ (**ववक्षिथ**) पृथिव्यादि लोकों को ढो रहा है । (**मृधः**) दुष्ट जन्तुओं को (**सासहिः**) तिरस्कृत करने वाला (**विचर्षणिः**) विशेषकर दृष्टि पर अनुग्रह करने वाला (**स्तुवते**) यजमान जो प्रशंसा करता है उसके लिये (**राधः**) कार्यों के साधन (**काम्यम्**) चाहने योग्य (**वसु**) धन धान्य का (**दाता**) देने वाला है ।

(एतम्) इस (सत्यम्) सच्चे (देवम्) देव (इन्द्रम्) सूर्य को (सत्यः) सच्चा (देवः) देव (इन्दुः) चन्द्रलोक वा सोम ओषधिराज (सश्चत्) प्राप्त होता है ।।

यह सूर्य सब जगत् का जगाने वाला होने से प्रचेतन है,धारण और आकर्षण के बल से पृथिव्यादि लोकों का वोढा (ले चलने वाला) और धारक है, प्रात: उदय होते ही किरणों से बढ़ता हुआ सब दुष्ट जन्तुओं का नाश करता है, सबकी आँखों का सहायक है, जो लोग इन सूर्य के गुणों को वेदसूक्तों द्वारा पढ़ते जानते और यज्ञ करते हैं उनकी धन और धान्य की वृद्धि करता है । इस ऐसे सूर्य लोक को प्रकाशार्थ चन्द्रमा और होम किया हुआ सोम आश्रय करता है ।। ऋ०२ । २२ । ३ का पाठभेद और अष्टाध्यायी २ । ३ । ६९ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।।२।।

अथ तृतीया

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
१४८८—अध त्विषीमाँ अभ्योजसा कुविं युधाभवदा

२र ३ २ ३ १ २
रोदसी अपृणदस्य मज्मना प्र वावृधे ।

१ २ ३ २ ३२३ १ २ ३ १ २ ३
अधत्तान्यं जठरे प्रेमरिच्यत प्र चेतय

१२ ३ २ ३२ ३ १ २र ३ १ २र
सैनं सश्चद् देवो देवं सत्य इन्दुः सत्यमिन्द्रम् ।।३।।

भावार्थः—(अध) सोमपान के पश्चात् (त्विषीमान्) तेजस्वी प्रकाशमान सूर्य (ओजसा) तेजोबल से (युधा) युद्ध से (कुविम्) कृमि कीटादि रूप वायुगत सूक्ष्म जन्तु रूप असुर को (अभि—अभवत्) तिरस्कृत करता है (अस्य) इस सोम के (मज्मना) बल से (प्रवावृधे) बढ़ता और (रोदसी) द्यावा भूमी को (आ—अपृणत्) आपूरित करता है (अन्यम्) सोम के एक भाग को (जठरे) पेट=अन्तरिक्ष में (अधत्त) धरता और (ईम्) इस दूसरे भाग को (प्र—अरिच्यत) अन्य देवों के लिये बचा देता है (प्रचेतय) और चन्द्रादि लोकों को चेताता =प्रकाश पहुँचाता है (सः एनम्०) इत्यादि पूर्व मन्त्रवत् जानो ।। ऋ० २।२२।२ में "प्रचेतय" पाठ नहीं है । अन्य सब पूर्ववत् है ।।३।।



इति त्रयोदशाऽध्यायस्य षष्ठः खण्डः ॥६॥
इति षष्ठः प्रपाठकः ॥६॥

इति श्रीमत्कण्ववंशावतंस श्रीमान् पण्डित हजारीलाल
स्वामी के पुत्र परीक्षित गढ़ (जिला—मेरठ)
निवासी तुलसीराम स्वामीकृत उत्तरार्चिक
सामवेदभाष्य में तेरहवां अध्याय
समाप्त हुआ ॥१३॥

ओ३म्

अथ चतुर्दशाध्यायः ॥

तत्र

प्रथमे खण्डे प्रथमतृचस्य—प्रियमेध ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१४८९—अभि प्र गोपतिं गिरेन्द्रमर्च यथा विदे ।
सूनुं सत्यस्य सत्पतिम् ॥१॥

इसकी व्याख्या (१६८) में हो गई है ॥१॥

अथ द्वितीया

१४९०—आ हरयः ससृज्रिरेऽरुषीरधि बर्हिषि ।
यत्राभि सन्नवामहे ॥२॥

भावार्थः—(**यत्र**) जिस (**बर्हिषि**) कुशास्तीर्ण यज्ञ में (**अरुषीः**) प्रकाशमान सूर्य किरणों (**अधि**) पर (**हरयः**) हरित सोम (**आ—ससृज्रिरे**) अग्नि में चारों ओर से होमे जाते हैं, उस यज्ञ में (**अभि—सं—नवामहे**) हम चारों ओर से भले प्रकार इन्द्र=सूर्य की प्रशंसा करते हैं ॥ ऋग्वेद ८ । ६९ । ५ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१४९१—इन्द्राय गाव आशिरं दुदुह्रे वज्रिणे मधु ।
यत्सीमुपह्वरे विदत् ॥३॥

भावार्थः—(**वज्रिणे**) बिजुलीयुक्त (**इन्द्राय**) मेघवर्षक सूर्य के लिये (**गावः**) उसकी किरणें (**मधु**) मधुर (**आशिरम्**) तावने योग्य घृतादि को (**दुदुह्रे**) दुहती हैं (**यत्**) जिससे (**उपह्वरे**) समीप वा यज्ञ में (**सीम्**) सर्वतः (**वीवत्**) पाता है ॥

ऋ० ८ । ६९ । ६ में भी ॥३॥

अथ प्रगाथात्मक द्वितीयसूक्तस्य -नृमेधपुरुमेधावृषी । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥ तत्र प्रथमा

१४६२—आ नो विश्वासु हव्यमिन्द्रं समत्सु भूषत ।
उप ब्रह्माणि सवनानि वृत्रहन्परमज्या ऋचीषम ॥१॥

इसकी व्याख्या (२६९) में हो गई है ॥१॥

अथ द्वितीया

१४६३—त्वं दाता प्रथमो राधसामस्यसि सत्य ईशानकृत् ।
तुविद्युम्नस्य युज्या वृणीमहे पुत्रस्य शवसो महः ॥२॥

भावार्थः—हे इन्द्र ! परमेश्वर (**त्वम्**) तू (**प्रथमः**) सबसे पहला अनादि (**राधसां दाता**) विद्यादि धनों का देने वाला (**असि**) है और तू (**सत्यः**) सच्चा (**ईशानकृत्**) स्वभक्तों को ऐश्वर्यसम्पन्न करने वाला (**असि**) है (**महः**) बड़े (**शवसः**) बल के (**पुत्रस्य**) पुत्र (**तुविद्युम्नस्य**) बहुत धन के (**युज्या**) योग्य कार्यों को (**वृणीमहे**) हम स्वीकार करें । यह हमारी प्रार्थना है ॥

ऋ० ८ । ९० । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीयतृचस्य—त्रसदस्युर्ऋषिः । सोमो देवता । विराड्बृहती, पादनिचृद्बृहती, बृहती च क्रमेण छन्दांसि ॥ तत्र प्रथमा

१४६४—प्रत्नं पीयूषं पूर्व्यं यदुक्थ्यं महो गाहाद्दिव आ निरधुक्षत ।
इन्द्रमभि जायमानं समस्वरन् ॥१॥

भावार्थः—(पूर्व्यम्) पूर्व उत्पन्न हुए अतएव (प्रत्नम्) पुरातन कारण रूप (पीयूषम्) पीने योग्य (यद्) जिस (उक्थ्यम्) प्रशंसनीय सोम को (महः) बड़े (गाहात्) अवगाहन (दिवः) द्युलोक से (आ-निरधुक्षत) सामने निरा दुहा था (जायमानम्) लतारूप से उत्पन्न हुए उसी सोम को (इन्द्रम्) सूर्य को (अभि) लक्ष्य करके (समस्वरन्) प्रशंसित करते हैं ॥

वह अमृतसमान पीने योग्य प्राचीन सनातन कारणरूप सोम जो इस द्युलोक में भरा है और जिसको सामने करके निरन्तर प्राकृत रसायनी संयोग दुहते हैं उसी सोम को जब वह लता वल्ली पत्र रूप से उत्पन्न होता है तब अभिषुत करके सूर्यार्थ होम करने को लक्ष्य करके स्तुत करते हैं ॥

ऋ० ९। ११०। ८ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥१॥

अथ द्वितीया

१४९५—आदीं के चित् पश्यमानास आप्यं वसुरुचो दिव्या। अभ्यनूषत। दिवो न वारं सविता व्यूर्णुते ॥२॥

भावार्थः (केचित्) कोई विद्वान् लोग (ईम्) इस (आप्यम्) जलोत्पन्न (वसु) धन=सोम को (आत्) दूर से (पश्यमानासः) देखने=जानते हुए (दिव्याः) द्युलोक की (रुचः) दीप्तियों को (अभि) [illegible] करके (अनूषत) स्तुत करते हैं। (दिवः) अन्तरिक्ष के (वारम्) आवरण करने वाले (न) से, सोम को (सविता) सूर्य (व्यूर्णुते) विविध प्रकार फैलाता—पूरता है ॥

ऋग्वेद ९। ११०। ६ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१४९६—अध यदिमे पवमान रोदसी इमा च विश्वा भुवनाभि मज्मना। यूथे न निष्ठा वृषभो वि राजसि ॥३॥

भावार्थः—(पवमान) सोम! (अध) फिर (यद्) जब कि तू (इमे) इन दोनों (रोदसी) द्युलोक और पृथिवी लोक को (च) और (इमा) इन (विश्वा) सब (भुवना) भुवनों को (मज्मना) बल से (यूथे) झुण्ड में

(निष्ठाः) स्थित (वृषभः) बैल के (न) समान (अभि) अभिव्याप कर (विराजसि) विराजता है, तब स्तुत किया जाता है ॥

ऋ० ६ । ११० । ६ में भी ॥

अथ चतुर्थतृचस्य—शुनःशेप ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः ॥
तत्र प्रथमा

१४९७—इममू षु त्वमस्माकं सनिं गायत्रं नव्यांसम् ।
अग्ने देवेषु प्र वोचः ॥१॥

इसकी व्याख्या (२८) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१४९८—विभक्तासि चित्रभानो सिन्धोरूर्मा उपाक आ ।
सद्यो दाशुषे क्षरसि ॥२॥

भावार्थः—(चित्रभानो) हे विचित्र लपटों वाले ! अग्ने ! तू (विभक्ता) विभाग करने वाला भेदक है, (आ) जैसे (सिन्धोः) समुद्र वा नदी की (ऊर्मौ) लहरों में (उपाके) समीप ही विभाग होता है तद्वत् । वह तू (दाशुषे) हव्य देने वाले यज्ञकर्त्ता के लिये (सद्यः) शीघ्र (क्षरसि) वर्षा करता है ॥

अग्नि द्वारा भेद को प्राप्त हुआ हव्य शीघ्र वृष्टिकारक होता है, यह तात्पर्य है ॥

ऋ० १ । २७ । ६ का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ तृतीया

१४९९—आ नो भज परमेष्वा वाजेषु मध्यमेषु ।
शिक्षा वस्वो अन्तमस्य ॥३॥

भावार्थः—अग्ने ! (परमेषु) द्युलोकस्थ परले (वाजेषु) अन्नों में (नः) हम को (आ भज) पहुंचा और (मध्यमेषु) अन्तरिक्षस्थ बीचले अन्नों में

(**आ**) हमें पहुँचा तथा (**अन्तमस्य**) वरले समीपस्थ भूलोक के (**वस्वः**) धन का (**शिक्ष**) हमें दान कर ॥

३ लोकों के धन धान्य होम किये अग्नि द्वारा हमें प्राप्त हों, यह भाव है ॥

ऋ० १ । २७ । ५ में भी ॥३॥

अथ पञ्चमतृचस्य—वत्स ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१५००—अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रह ।
अहं सूर्य इवाजनि ॥१॥

इसकी व्याख्या (१५२) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१५०१—अहं प्रत्नेन जन्मना गिरः शुम्भामि कण्ववत् ।
येनेन्द्रः शुष्ममिद्दधे ॥२॥

भावार्थः—जीवात्मा कहता है कि—(**अहम्**) मैं निष्पाप (**प्रत्नेन**) पूर्वले (**जन्मना**) जन्म के संस्कारबल से (**कण्ववत्**) बुद्धिमानों के समान [बिना पढ़े भी] (**गिरः**) वेदवाणियों को (**शुम्भामि**) अलंकृत करता हूँ (**येन**) जिस से (**इन्द्रः**) परमेश्वर (**इत्**) अवश्य (**शुष्मम्**) बल को (**दधे**) मुझे धारित करे ॥

ऋ० ८ । ६ । ११ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ तृतीया

१५०२—ये त्वामिन्द्र न तुष्टुवुर्ऋषयो ये च तुष्टुवुः ।
ममेद्वर्द्धस्व सुष्टुतः ॥३॥

भावार्थः—(**इन्द्र**) हे परमेश्वर ! (**ये**) जो नास्तिक (**त्वाम्**) आप की (**न तुष्टुवुः**) स्तुति नहीं करते (**च**) और (**ये**) जो (**ऋषयः**) मन्त्रों के द्रष्टा लोग (**तुष्टुवुः**) स्तुति करते हैं, उन दोनों में (**सुष्टुतः**) भले प्रकार स्तुत किये हुए आप (**मम**) मेरी (**इत्**) अवश्य (**वर्धस्व**) वृद्धि कीजिये ॥

ऋग्वेद ८ । ६ । १२ में भी ॥३॥

इति चतुर्दशाध्यायस्य प्रथमः खण्डः ॥१॥

अथ द्वितीये खण्डे प्रथमतृचस्य—अग्निर्ऋषिः। अग्निर्देवता । अनुष्टुप्छन्दः॥

तत्र प्रथमा

२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
१५०३—अग्ने विश्वेभिरग्निभिर्जोषि ब्रह्म सहस्कृत ।
१ २ ३ २९ ३ २ ३ १ २ ३ १२
ये देवत्रा य आयुषु तेभिर्नो महया गिरः ॥१॥

भावार्थः—(**सहस्कृत**) बल से अरणियों को रगड़ कर उत्पन्न किये ! (**अग्ने**) अग्ने ! तू (**विश्वेभिः**) सब (**अग्निभिः**) अग्नियों के साथ (**ब्रह्म**) हव्य अन्न को (**जोषि**) सेवन करता है (**ये**) जो अग्नि (**देवत्रा**) वायु आदि देवतों में हैं (**ये**) और जो (**आयुषु**) मनुष्यों में हैं (**तेभिः**) उन सबके साथ (**नः**) हमारी (**गिरः**) वाणियों को (**महय**) सत्कृत कर ॥

यज्ञ में बलपूर्वक अरणियों से उत्पादित हुए अग्नि मनुष्यों के देहस्थ और आकाश में वायु आदि में स्थित अग्नियों को अनुकूल बनाकर वाणी का सुधार करता है क्योंकि अन्यत्र भी कहा है कि "अग्नि वाणी होकर मुख में प्रवेश कर गया ॥"

ऋग्वेद ३ । २४ । ४ में केवल इस ऋचा का प्रथम पाद मिलता है, परन्तु अर्थ पूरे मन्त्र का लगभग इसी के समान है ॥१॥

अथ द्वितीया

१ २९ ३ १ २ ३ १ २९ ३ १ २
१५०४—प्र स विश्वेभिरग्निभिरग्निः स यस्य वाजिनः ।
१२ ३ २ ३ २उ ३ २उ ३ १ २
तनये तोके अस्मदा सम्यङ्वाजैः परीवृतः ॥२॥

भावार्थः—(सः) पूर्वोक्त (अग्निः) अग्नि (यस्य) जिस अग्नि के (वाजिनः) हव्य वाले होता लोग हैं (सः) वह (विश्वेभिः) सब (अग्निभिः) जाठरादि अग्नियों के सहित (वाजैः) बलों वा अन्नों से (परीवृतः) युक्त हुआ (अस्मत्) हम में (तनये) हमारे पुत्र में (तोके) हमारे पोते में (सम्यङ्) भले प्रकार वर्त्तने वाला (आ प्र) प्राप्त हो ॥

हमारे वंश में पुत्र पौत्रादि परम्परा अग्निहोत्र करने वाली हो, यह भाव है ॥२॥

अथ तृतीया

१५०५—त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्धय ।
त्वं नो देवतातये रायो दानाय चोदय ॥३॥

भावार्थः—(अग्ने) अग्नि ! (त्वम्) तू (अग्निभिः) अन्य अग्नियों सहित (नः) हमारे (यज्ञम्) यज्ञ (च) और (ब्रह्म) अन्न को (वर्धयः) बढ़ाता है (त्वम्) और तू ही (नः) हमारे (देवतातये) यज्ञ के लिये (रायः) धन के (दानाय) देने के लिये (चोदय) देवतों को प्रेरणा करता है ।

ऋ० १० । १४१ । ६ में भी ॥३॥

अथ द्वितीयतृचस्य—त्रसदस्युर्ऋषिः । सोमो देवता । ऊर्ध्वबृहती छन्दः ॥ तत्र प्रथमा

१५०६—त्वे सोम प्रथमा वृक्तबर्हिषो महे वाजाय श्रवसे धियं दधुः ।
स त्वं नो वीर वीर्याय चोदय ॥१॥

भावार्थः—(वीर) वीर्ययुक्त ! वीर्यवर्धक ! (सोम) सोम ! (प्रथमाः) मुख्य (वृक्तबर्हिषः) यज्ञार्थ कुशा काटने वाले यजमान (महे) बड़े (वाजाय) बल के लिये (श्रवसे) और यज्ञ के लिये (त्वे) मुझ में (धियम्) बुद्धि को (दधुः) धारण करते हैं, (सः) वह (त्वम्) तू (वीर्याय) वीरों के लिये हित के अर्थ (चोदय) बड़े बल और यज्ञ को प्रेरित कर ॥

ऋ० ६ । ११० । ७ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

३क२र ३ १ २र ३ २ ३ २ ३ १ २र ३ २ ३ १
१५०७—अभ्यभि हि श्रवसा ततर्दिथोत्सं न कञ्चिज्जनपानम-
१ २ ३ १ २र ३ १ २
क्षितम् । शर्याभिर्न भरमाणो गभस्त्योः ॥२॥

भावार्थः—सोम ! तू (**श्रवसा**) अन्न से (**गभस्त्योः**) द्यावा भूमियों के बीच में (**अभि, अभि**) ऊपर-ऊपर (**उत्सम्**) कुवा (**न**) सा (**ततर्दिथ**) तोड़ देता है (**न**) जैसे (**भरमाणः**) कुआ से पानी भरने वाला=कुआ चलाने वाला (**कंचित्**) किसी (**जनपानम्**) मनुष्यों के पीने के स्थान को जो (**अक्षितम्**) भरपूर हो उसको तोड़ता है तद्वत् ॥

ऋ० ९ । ११० । ५ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१५०८—अजीजनो अमृत मर्त्याय कमृतस्य धर्मन्नमृतस्य चारुणः ।
१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
सदासरो वाजमच्छा सनिष्यदत् ॥३॥

भावार्थः—(**अमृत**) हे अमृत ! सोम ! तू (**ऋतस्य**) सच्चे (**चारुणः**) सुन्दर (**अमृतस्य**) जल के (**धर्मन्**) धारक अन्तरिक्ष में (**कम्**) सुख को (**मर्त्याय**) मनुष्य के लिए (**अजीजनः**) उत्पन्न करता है तथा (**वाजम्** अन्न को (**सनिष्यदत्**) बांटता और (**अच्छ**) अच्छे प्रकार (**असरः**) चलता है ॥

ऋग्वेद ९ । ११० । ४ में भी ॥३॥

अथ तृतीयतृचस्य—विश्वमना ऋषिः । इन्द्रो देवता ।
उष्णिक्छन्दः ॥ तत्र प्रथमा

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र
१५०९—एन्दुमिन्द्राय सिञ्चत पिबाति सोम्यं मधु ।
१ २र ३ २
प्र राधांसि चोदयते महित्वना ॥१॥

इसकी व्याख्या (३८६) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१५१०—उपो हरीणां पतिं राधः पृञ्चन्तमब्रवम् ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २
नूनं श्रुधि स्तुवतो अश्व्यस्य ॥२॥

भावार्थः—(अश्वस्य) प्राण की (स्तुवतः) स्तुति प्रशंसा करने वाले मुझ मनुष्य की (नूनम्) अवश्य (श्रुधि) सुनाई कीजिए। हे ईश्वर ! इन्द्र ! (हरीणाम्) प्राणों के (पतिम्) पालक (राधः) धन को (पृञ्चन्तम्) देने वाले आपसे (उप्—उ—अब्रवम्) शरणागत होकर जो कुछ कहता हूँ ॥

ऋग्वेद ८ । २४ । १४ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ तृतीया

१ ३क २ ३ २ ३ २ ३२ ३ १२३ २
१५११—न ह्यां३ग पुरा च न जज्ञे वीरतरस्त्वत् ।
१ २ ३ २३ ३ २ ३ १ २
न की राया नैवथा न भन्दना ॥३॥

भावार्थः—(अंग) हे प्रिय ! इन्द्र परमेश्वर ! (पुराचन)पूर्वकाल में भी और वर्त्तमान में भी (त्वत्) आप से अधिक (वीरतरः) अत्यन्त वीर पुरुष कोई (नहि) नहीं (जज्ञे) उत्पन्न हुआ, (न) न तो (राया) धन से, (न) न (एवथा) रक्षा से (न) और न (भन्दना) स्तुत्यपने से,अर्थात् आप ही सर्वोपरि धनी, रक्षक और स्तुत्य हैं ॥

ऋ० ८ । २४ । १५ में भी ॥३॥

अथैकर्चस्य चतुर्थसूक्तस्य—प्रियमेध ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप्छन्दः। ॥ सेयम्

३ २ ३ १ २ ३ १ २र
१५१२—नदं व ओदतीनां नदं योयुवतीनाम् ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
पतिं वो अघ्न्यानां धेनूनामिषुध्यसि ॥१॥

भाषार्थः—(**वः**) तुम्हारी (**ओवतीनाम्**) उषाओं के (**नदम्**) प्रशंसक (**योयुवतीनाम्**) संयोजक चन्द्रकिरणों के (**नदम्**) प्रशंसक (**अघ्न्यानां धेनूनाम्**) न मारने योग्य गौओं के (**पतिम्**) पालक इन्द्र=परमेश्वर को (**इषुध्यसि**) प्रार्थित करता हूँ ॥ ऋ० ८ । ६९ । २ में भी ॥१॥

इति चतुर्दशाऽध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ॥२॥

अथ तृतीये खण्डे

अथ प्रगाथस्य तृतीयसूक्तस्य—वसिष्ठ ऋषिः। अग्निर्देवता। बृहती छन्दः॥

तत्र प्रथमा

१५१३—देवो वो द्रविणोदाः पूर्णां विवष्ट्वासिचम् ।
उद्वा सिञ्चध्वमुप वा पृणध्वमादिद्वो देव ओहते ॥१॥

इसकी व्याख्या (५५) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१५१४—तं होतारमध्वरस्य प्रचेतसं वह्निं देवा अकृण्वत ।
दधाति रत्नं विधते सुवीर्यमग्निर्जनाय दाशुषे ॥२॥

भाषार्थः (**देवाः**) देवतों ने (**तम्**) उस (**अग्निम्**) अग्नि को (**अध्वरस्य**) यज्ञ का (**प्रचेतसम्**) सचेत (**होतारम्**) होता (**अकृण्वत**) बनाया है। (**अग्निः**) वह अग्नि (**विधते**) अग्निपरिचर्या करने वाले (**दाशुषे**) दानी (**जनाय**) मनुष्य=यजमान के लिए (**रत्नम्**) रमणीय (**वीर्यम्**) बल को (**दधाति**) धारित करता है ॥

ऋ० ७ । १६ । १२ में भी ॥२॥

अथ तृचस्य द्वितीयसूक्तस्य—सोभरिर्ऋषिः। अग्निर्देवता। बृहती छन्दः॥

तत्र प्रथमा

१५१५—अदर्शि गातुवित्तमो यस्मिन्व्रतान्यादधुः ।
उपो षु जातमार्यस्य वर्धनमग्निं नक्षन्तु नो गिरः ॥१॥

इसकी व्याख्या (४७) में हो गई है ॥१॥

अथ द्वितीया

१५१६—यस्माद्रेजन्त कृष्टयश्चर्कृत्यानि कृण्वतः ।
सहस्रसां मेधसाताविव त्मनाग्निं धीभिर्नमस्यत ॥२॥

भावार्थः – (यस्मात्) जिस कारण (कृष्टयः) मनुष्य (चर्कृत्यानि) अग्नि से किये कामों को (कृण्वतः) करते हुए पुरुष से (रेजन्त) कांपते हैं, इस कारण हे याज्ञिको ! तुम (सहस्रसाम्) असंख्यदायक (अग्निम्) अग्नि की (त्मना) आत्मा के (इव) समान (नमस्यत) परिचर्या करो ॥

ऋ० ८ । १०३ । ३ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१५१७—प्र दैवोदासो अग्निर्देव इन्द्रो न मज्मना ।
अनु मातरं पृथिवीं वि वावृते तस्थौ नाकस्य शर्मणि ॥३॥

इसकी व्याख्या (५१) में हो चुकी है ॥३॥

अथ तृतीयतृचस्य—वैखानस ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१५१८—अग्न आयूंषि पवस आसुवोर्जमिषञ्च नः ।
आरे बाधस्व दुच्छुनाम् ॥१॥

इसकी व्याख्या (६२७) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१५१९—अग्निरृषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः ।
तमीमहे महागयम् ॥२॥

भावार्थः—(**ऋषिः**) दृष्टि का सहायक (**पवमानः**) शोधक (**पाञ्चजन्यः**) ब्रह्मा होता उद्गाता अध्वर्यु और यजमान इन ५ जनों का (**पुरोहितः**) आगे स्थापन किया हुआ (**अग्निः**) अग्नि है (**तम्**) उस (**महागयम्**) महाप्राण वाले अग्नि को (**ईमहे**) हम परिचरित करते हैं ॥

ऋ० ६ । ६६ । २० में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१५२०—अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम् ।
दधद्रयिम् मयि पोषम् ॥३॥

भावार्थः—(**अग्ने**) अग्ने! (**स्वपाः**) उत्तम कर्मकाण्ड का साधन तू (**अस्मे**) हमारे लिये (**सुवीर्यम्**) शोभन वीर्य सहित (**वर्चः**) तेज को (**पवस्व**) प्राप्त करा, तथा (**रयिम्**) धन और (**पोषम्**) पुष्टि को (**दधद्**) धारण करा ॥

ऋग्वेद ६ । ६६ । २१ में तथा यजुः ८ । ३८ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थतृचस्य—वसूयव ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१५२१—अग्ने पावक रोचिषा मन्द्रया देव जिह्वया ।
आ देवान्वक्षि यक्षि च ॥१॥

भावार्थः—(**अग्ने**) अग्ने ! (**पावक**) पावन ! (**देव**) देव ! तू (**मन्द्रया**) सुखदायिनी (**रोचिषा**) दीप्ति वाली (**जिह्वया**) लपट से (**देवान्**) वायु आदि देवतों को (**आ—वक्षि**) बुलाता (**च**) और (**यक्षि**) उन का यजन करता है ॥

ऋ० ५ । २६ । १ यजु० १७ । ८ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

१५२२—तं त्वा घृतस्नवीमहे चित्रभानो स्वर्दृशम् ।
देवां आ वीतये वह ॥२॥

भावार्थः—(चित्रभानो) हे विचित्र चिनगारी वा दीप्ति वाले (घृतस्नो) घृत को, जो होमा जाता है, देवों को पहुँचाने वाले ! (स्वर्दृशम्) सुख दिखाने वाले (तम्) उस (त्वा) तुझ को (ईमहे) चाहते हैं कि (देवान्) वायु आदि देवों को (वीतये) हव्य भक्षण के लिए (आ—वह) बुला ।।

ऋग्वेद ५ । २६ । २ में भी ।।२।।

अथ तृतीया

१५२३—वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि ।
अग्ने बृहन्तमध्वरे ।।३।।

भावार्थः—(कवे) क्रान्तदर्शिन् (अग्ने) अग्ने (वीतिहोत्रम्) हव्य भक्षक (द्युमन्तम्) दीप्ति वाले (बृहन्तम्) महान् (त्वा) तुझको हम (अध्वरे) यज्ञ में (समिधीमहि) समिधाओं से संदीप्त करते हैं ।।

ऋग्वेद ५ । २६ । ३ यजु: ११ । ४ में भी ।।३।।

इति चतुर्दशाऽध्यायस्य तृतीयः खण्डः ।।३।।

अथ चतुर्थे खण्डे प्रथमतृचस्य–गोतम ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः।।

तत्र प्रथमा

१५२४—अवा नो अग्न ऊतिभिर्गायत्रस्य प्र भर्मणि ।
विश्वासु धीषु वन्द्य ।।१।।

भावार्थः—(वन्द्य) हे वन्दनीय ! (अग्ने) प्रकाशस्वरूप ! परमेश्वर ! (गायत्रस्य) गीतियुक्त साम वा गायत्री छन्दोबद्ध मन्त्र के (प्रभर्मणि) सम्पादन यज्ञ में (विश्वासु) सब (धीषु) कर्मों में (नः) हमको (अव) रक्षित कीजिए ।।

ऋ० १ । ७९ । ७ में भी ।।१।।
































भावार्थः—(विश्वकर्मन्) हे विश्वस्रष्टः ! परमेश्वर ! (वावृधानः) जगत् की वृद्धि करते हुए आप (स्वाहिते) अपने आप आधान किये हुए (तन्वाम्) विस्तृत अग्निकुण्ड में (हविषा) हव्य से (स्वयम्) अपने आप (यजस्व) यजन करते हैं, (अन्ये) साधारण अन्य अज्ञानी (जनासः) मनुष्य (इह) इस विषय में (अभितः) सर्वतः (मुह्यन्तु) भूलते हैं तो भूलो परन्तु (अस्माकम्) हम में (मघवा) यज्ञवाला पुरुष (सूरिः) पण्डित जानने वाला और आपके यज्ञ को देख कर स्वयं यज्ञ करने वाला (अस्तु) होवे ॥

जगत् को धन धान्य आरोग्यादि से बढ़ाते हुए परमात्मा ने स्वयं सूर्यादि लोकरूप बड़े विस्तृत यज्ञकुण्डों में अग्न्याधान करके उनमें ओषधि वनस्पति आदि का होम कर रक्खा है जिसको प्रायः अज्ञानी लोग नहीं जानते सो मत जानो,परन्तु इसमें से याज्ञिक लोग इस रहस्य को जानने वाला और आपके यज्ञ को देखकर स्वयं यज्ञानुष्ठान करने वाला होवे ॥

निरुक्त १० । २५ ॥ १० । २६ ॥ १० । २७, सायणाचार्य इत्यादि प्रमाण और ऋ० १० । ८१ । ६ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥१॥

अथ पंचमस्य तृच सूक्तस्य—अनानतः पारुच्छेपिऋ षिः । सोमो देवता । अत्यष्टिश्छन्दः ॥ तत्र प्रथमा

१५६०—अया रुचा हरिण्या पुनानो विश्वा द्वेषांसि
तरति सयुग्वभिः सूरो न सयुग्वभिः ।
धारा पृष्ठस्य रोचते पुनानो अरुषो हरिः
विश्वा यद्रूपा परियास्यृक्वभिः सप्तास्येभिऋ क्वभिः ॥१॥

इसकी व्याख्या (४६३) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१५६१— प्राचीमनु प्रदिशं याति चेकितत्सं रश्मिभि-
र्यतते दर्शतो रथो दैव्यो दर्शतो रथः ।

अग्मन्नुक्थानि पौंस्येन्द्रं जैत्राय हर्षयन् ।
वज्रश्च यद्भवथो अनपच्युता समत्स्वनपच्युता ॥२॥

भावार्थः—जैसे (**चेकितत्**) चेतता हुआ (**दैव्यः**) दिव्य (**दर्शतः**) दिखाने वाला और स्वयं दर्शनीय (**रथः**) सूर्य का रमणीय गोला (**रश्मिभिः**) किरणों के (**सम्**) साथ (**प्राचीं दिशम्**) पूर्व दिशा को (**अनु**) आनुपूर्व्यसे (**प्रयाति**) परिक्रमा करता हुआ जाता है, (**यतते**) और आकर्षणादि यत्न भी करता है, तद्वत् (**दर्शतः**) दर्शनीय (**रथः**) विजयी महारथी इन्द्र राजा का रथ रमणीय यान होता है और (**पौंस्या**) लोगों के कहे (**उक्थानि**) स्तोत्र (**इन्द्रम्**) उस राजा को (**जैत्राय**) विजय के लिये (**हर्षयन्**) हर्ष दिलाते हुए (**अग्मन्**) प्राप्त होते हैं (**यत्**) जिससे (**वज्रः**) वज्र (**च**) और अन्य आयुध (**समत्सु**) संग्रामों में (**अनऽपच्युता**) खाली न जाने वाले=अकुण्ठित (**भवथः**) होते हैं। (**अनपच्युता**) यह दूसरी बार आदरार्थ वीप्सा का पाठ है ॥

जिस प्रकार रमणीय सूर्य का गोला रथ के समान पूर्व दिशा से क्रमपूर्वक अपनी किरणरूप शस्त्रास्त्रों सहित मानो रोग शोक अन्धकारादि शत्रुओं के नाशार्थ और पृथिव्यादि लोकों के धारणाऽऽकर्षणादि के लिए जाता है, इसी प्रकार राजा को भी दिग्विजयार्थ दुष्ट शत्रुओं के निवारण और धर्मात्माओं के धारण पालन-पोषण के लिये वज्रादि शस्त्रास्त्रों सहित गमन करना चाहिये जिससे हर्ष दिलाने वाले जी बढ़ाने वाले स्तुतिवचनों द्वारा प्रोत्साहित राजा के शस्त्राऽस्त्र संग्रामों में व्यर्थ न जायें=कुण्ठित न रहें ॥

ऋग्वेद ९ । १११ । ३ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१५६२—त्वं ह त्यत्पणीनां विदो वसु सं मातृभि-
र्मर्जयसि स्व आ दम ऋतस्य धीतिभिर्दमे ।
परावतो न साम तद्यत्रा रणन्ति धीतयः
त्रिधातुभिररुषीभिर्वयो दधे रोचमानो वयो दधे ॥३॥

भावार्थः सोम ! (**त्वम्**) तू (**त्यत्**) उस (**पणीनाम्**) व्यापारियों के (**वसु**) धन को (**विदः**) लब्ध करता है (**ह**) प्रसिद्ध है कि (**ऋतस्य**) यज्ञ की (**धीतिभिः**) धारने वाली (**मातृभिः**) माता के समान पोषण करने वाली सूर्य की किरणों से (**स्वे**) अपने (**दमे दमे**) घर घर में (**आ सं मर्जयसि**) चारों ओर से भले प्रकार शुद्धि करता है (**यत्र**) जिस यज्ञ में (**धीतयः**) कर्म के धारण करने वाले यजमान लोग (**आ रणन्ति**) आराम करते हैं (**तत्**) वह (**साम**) सामवेद गान (**न**) जैसे (**परावतः**) दूर से सुनाई देता है, इसी प्रकार दूर से तेरी किरणें भी शुद्धि करती हैं। तू (**त्रिधातुभिः**) तीनों लोकों को धारण करने वाली (**अरुषीभिः**) प्रकाशमान किरणों से (**वयः**) अन्न को (**दधे**)धारित कराता है, तू (**रोचमानः**) प्रकाशमान हुआ (**वयः**) अन्न को (**दधे**) धारित कराता है। द्विरुक्ति अतिशयार्थ है ॥

ऋग्वेद ९ । १११ । २ में भी ॥३॥

इति षोडशाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ॥२॥

अथ तृतीये खण्डे

प्रथमंकर्चसूक्तस्य —भरद्वाज ऋषिः । पूषा देवता । गायत्री छन्दः ॥ सैषा—

३१ २ ३२ ३ १२ ३ १ २३२३२

१५९३—उत नो गोषणिं धियमश्वसां वाजसामुत ।

३१ २ ३ १२

नृवत्कृणुह्यूतये ॥१॥

भावार्थः— हे सकलजगत्पोषक ! पूषन् ! परमेश्वर ! (**नः**) हमारी (**ऊतये**) रक्षा के लिये (**गोषणिम्**) गौ देने वाली (**उत**) और (**अश्वसाम्**) घोड़े देने वाली (**उत**) और (**वाजसाम्**) अन्न वा बल देने वाली (**धियम्**) बुद्धि को (**कृणुहि**) कीजिये ॥

सम्पूर्ण जगत् के पालक पोषक परमेश्वर वा सूर्यकिरण समूह के प्रसाद से मनुष्यों को वैसी बुद्धि प्राप्त होती है जिससे गौ, अश्व, अन्न, बल आदि सब सुख-भोग की सामग्री सुलभ हो ॥

ऋग्वेद ६ । ५३ । १० का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥१॥

अथैकर्चस्य द्वितीयसूक्तस्य गोतम ऋषिः। मरुतो देवता । गायत्री छन्दः॥सैषा–

१५६४—शशमानस्य वा नरः स्वेदस्य सत्यशवसः ।
विदा कामस्य वेनतः ॥१॥

भावार्थः—(**सत्यशवसः**) हे सत्य बल से बलिष्ठो ! (**नरः**) मरुतो ! ऋत्विजो ! मनुष्यो ! (**शशमानस्य**) स्तुति से तुम्हारी सेवा करने वाले (**स्वेदस्य**) स्तुति के मन्त्रोच्चारण में जिसको पसीना आ गया उस (**वेनतः**) स्तोता यजमान के (**कामस्य**) काम को (**विदा**) लब्ध कराओ ॥

निघण्टु ३ । १८ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये । भाव यह है कि श्रम से यज्ञ करने और याज्ञिक ऋत्विजों की प्रशंसा करने वाले श्रद्धालु यजमान के यज्ञ में वरण किये ऋत्विजों को वैसा यत्न करना चाहिये जिससे यजमान की कामना पूरी हो ॥

ऋग्वेद १ । ८६ । ८ में भी ॥१॥

अथैकर्चस्य तृतीयसूक्तस्य—ऋजिश्वा ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः ॥
गायत्री छन्दः ॥ सेयम्—

१५६५—उप नः सूनवो गिरः शृण्वन्त्वमृतस्य ये ।
सुमृडीका भवन्तु नः ॥१॥

भावार्थः—(**ये**) जो (**अमृतस्य**) अमर ईश्वर के (**सूनवः**) पुत्र हैं, वे (**नः**) हमारी (**गिरः**) वाणियों को (**शृण्वन्तु**) सुनें और (**नः**) हमारे लिए (**सुमृडीकाः**) सुन्दर सुखदायक (**भवन्तु**) हों ॥

ऋ० ६ । ५२ । ९ में भी ॥१॥

अथ तृचस्य चतुर्थसूक्तस्य—पुरुमीढोऽजमीढो वा ऋषिः । द्यावाभूमी देवते ।
गायत्री छन्दः ॥ तत्र प्रथमा

१५६६—प्र वां महि द्यवी अभ्युपस्तुतिं भरामहे ।
शुची उप प्रशस्तये ॥१॥

भावार्थः—हे (**शवी**) प्रकाशमान (**शुची**) शुद्ध पवित्र दोनों द्युलोक **और** पृथिवी लोको ! (**वाम्**) तुम दोनों की (**उपप्रशस्तये**) उपप्रशंसा के लिये (**महि**) बाहुल्य से (**उपस्तुतिम्**) उपप्रशंसा को, हम (**अभि प्र भरामहे**) सर्वतः उत्कर्ष से सम्पादन करते हैं ।।

द्यावाभूमी पद से द्युलोक और पृथिवी लोक में स्थित चराऽचर प्रजा की स्तुति की जाती है ।।

ऋग्वेद ४ । ५६ । ५ में भी ।।१।।

अथ द्वितीया

१५६७—पुनाने तन्वा मिथः स्वेन दक्षेण राजथः ।
उह्याथे सनादृतम् ॥२॥

भावार्थः—हे द्यौः ! और हे पृथिवी ! तुम दोनों (**मिथः**) एक-दूसरे को (**तन्वा**) अपने देह पिण्ड से (**पुनाने**) पवित्र करती हुई (**स्वेन**) अपने (**दक्षेण**) बल से (**राजथः**) विराजमान हो तथा (**सनात्**) सदा (**ऋतम्**) यज्ञ को(**उह्याथे**) ले चलती हो ।।

द्युलोक वृष्ट्यादि से भूमि को और भूमिलोक यज्ञयोग्य ओषधि वनस्पत्यादि की उत्पत्ति और उसके द्वारा हुए यज्ञों से द्युलोक को पवित्र करता है, इस प्रकार दोनों लोक एक-दूसरे के पावन हैं ।।

ऋ० ४ । ५६ । ६ में भी ।।२।।

अथ तृतीया

१५६८—मही मित्रस्य साधथस्तरन्ती पिप्रती ऋतम् ।
परि यज्ञं निषेदथुः ॥३॥

भावार्थः—(**मही**) महती द्यावाभूमि (**मित्रस्य**) प्राण को (**साधथः**) साधती हैं और (**ऋतम्**) अन्न को (**तरन्ती**) तिराती और (**पिप्रती**) भरती और (**यज्ञम्**) यज्ञ को (**परि-नि षेदथुः**) सर्वतः आश्रय करती हैं ।।

ऋग्वेद ४ । ५६ । ७ में भी ।।३।।

अथ तृचस्य पञ्चमसूक्तस्य–शुनःशेप ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥
तत्र प्रथमा

१५९९—अयमु ते समतसि कपोत इव गर्भधिम् ।
वचस्तच्चिन्न ओहसे ॥१॥

इसकी व्याख्या (१८३) में हो गई है ॥१॥

अथ द्वितीया

१६००—स्तोत्रं राधानां पते गिर्वाहो वीर यस्य ते ।
विभूतिरस्तु सूनृता ॥२॥

भावार्थः—(**वीर**) हे शूरवीर ! (**राधानां पते**) धनों के पति ! राजन्! वा परमेश्वर ! (**यस्य**) जिस (**गिर्वाहः**) स्तुतिरूप वाणियों से वहन किये हुए (**ते**) तेरी (**स्तोत्रम्**) स्तुति की जाती है । उस तेरी (**विभूतिः**) विभूति(**सूनृता**) प्यारी और सच्ची (**अस्तु**) होवे ॥

'परमेश्वर की विभूति प्यारी सच्ची होवे' कहने से यह तात्पर्य नहीं कि परमेश्वर के प्रति आशिष् हो किन्तु लोक में परमेश्वर की सच्ची और प्यारी विभूति विश्वास में आवे, यह लोक के प्रति आशिष् है ॥

ऋ० १ । ३० । ५ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१६०१—ऊर्ध्वस्तिष्ठा न ऊतयेऽस्मिन् वाजे शतक्रतो ।
समन्येषु ब्रवावहै ॥३॥

भावार्थः—(**शतक्रतो**) हे बहुकर्मन् ! इन्द्र ! राजन् ! वा परमेश्वर आप (**अस्मिन्**) इस (**वाजे**) संग्राम में वा काम क्रोधादि शत्रुओं के संग्राम में (**नः**) हमारे (**ऊर्ध्वः**) ऊपर (**तिष्ठ**) रहें, जिस से (**समन्येषु**) संग्राम के सम्बन्धी कार्यों में (**ब्रवावहै**) मैं और आप सम्मति कर सकें । अर्थात् राजा की सम्मति से

तदनुकूल योद्धा लड़ें और ईश्वरपक्ष में परमेश्वर की सम्मति वेदद्वारा लेकर कामादि शत्रुगण का सामना करें, यह तात्पर्य है ।। निघण्टु २ । १७ में प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।।३।। ऋ० १ । ३० । ६ में भी ।।

अथ षष्ठतृचस्य हर्यत ऋषि: । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्द: ।।
तत्र प्रथमा

२ ३ १२ ३२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१६०२—गाव उप वदावटे मही यज्ञस्य रप्सुदा ।
३ १ २र ३ १ २
उभा कर्णा हिरण्यया ।।१।।

इसकी व्याख्या (११७) में हो गई है ।।१।।

अथ द्वितीया

३ २ ३ १२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२
१६०३—अभ्यारमिदद्रयो निषिक्तं पुष्करे मधु ।
३ १ २ ३ १ २
अवटस्य विसर्जने ।।२।।

भावार्थ:—(**अवटस्य**) यज्ञकुण्ड रूप गर्त्त के (**विसर्जने**) विसर्जन करने पर (**पुष्करे**) आकाश में (**निषिक्तम्**) निषेक किये हुए (**मधु**) रस को (**अद्रय:**) मेघ (**अभि, आरम्, इत्**) सर्वत: वर्षाते हैं ।।

यज्ञ से मेघ होता है, ऐसा कृष्णभगवद्वचन भी एतन्मूलक है ।।

ऋ० ८ । ७२ । ११ में भी ।।२।।

अथ तृतीया

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१६०४—सिञ्चन्ति नमसावटमुच्चाचक्रं परिज्मानम् ।
३ १ २ ३ १ २
नीचीनवारमक्षितम् ।।३।।

भावार्थ:—(**उच्चाचक्रम्**) ऊंचे चक्र वाले (**परिज्मानम्**) चारों ओर से नमे हुए (**नीचीनवारम्**) नीचे किनारों के (**अक्षितम्**) अखण्ड (**अवटम्**) यज्ञ-कुण्ड वा महावीर पात्र को (**नमसा**) नम्रता से (**सिञ्चन्ति**) जल से धोते हैं ।।

यज्ञान्त में ऋत्विज् लोग यज्ञकुण्ड को वा महावीरोपलक्षित पात्रों को जल से अभ्युक्षण करके रखते हैं ।।

ऋ० ८ । ७२ । १० में भी ।।३।।

इति षोडशाऽध्यायस्य तृतीयः खण्डः ।।३।।

अथ चतुर्थे खण्डे प्रथमस्य प्रगाथात्मक सूक्तस्य—काण्वो देवातिथिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप्, निचृत् पङ्क्तिश्च क्रमेण छन्दसी ।।

तत्र प्रथमा

१६०५—मा भेम मा श्रमिष्मोग्रस्य सख्ये तव ।
महत्ते वृष्णो अभिचक्ष्यं कृतं पश्येम तुर्वशं यदुम् ।।१।।

भाषार्थः—हे इन्द्र=परमेश्वर ! (**उग्रस्य**) अति बलवान् (**तव**) तेरी (**सख्ये**) मित्रता में (**मा भेम**) हम किसी से न डरें (**मा श्रमिष्म**) न थकें (**ते**) तेरा (**वृष्णः**) कामनापूरक का (**महत्**) बहुत (**अभिचक्ष्यम्**) सर्वतः स्तुतियोग्य (**कृतम्**) कर्म है । हम (**तुर्वशम्**) समीपस्थ (**यदुम्**) मनुष्य को (**पश्येम**) देखें ।।

निघण्टु २ । ३ ।। २ । २६ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।।
ऋ० ८ । ४ । ७ में भी ।।१।।

अथ द्वितीया

१६०६—सव्यामनु स्फिग्यं वावसे वृषा न दानो अस्त रोषति ।
मध्वा सम्पृक्ताः सारघेण धेनवस्तूयमेहि द्रवा पिब ।।२।।

भाषार्थः—हे मनुष्य ! (**वृषा**) वृष्टिकर्त्ता इन्द्रदेव वा परमात्मा (**सव्याम्**) सीधा अनुकूल (**स्फिग्यम्**) करवट (**अनु**) को (**वावसे**) वर्त्तमान है और (**धेनवः**) पानयोग्य सोम (**सारघेण**) माक्षिक (**मध्वा**) मिठाई शहद से (**संपृक्ताः**) सने हुए—संस्कृत तैयार हैं (**अस्य**) इस इन्द्र वा परमेश्वर का (**दानः**) दान (**न**) नहीं मरता किन्तु सुखदायक ही होता है, (**द्रव**) दौड़ (**एहि**) आव और (**तूयम्**) सोमरस को (**पिब**) पी ।।

जब परमेश्वर वा इन्द्रदेव की अनुकूलता हो, सुन्दर वर्षा से पानयोग्य सोम उत्पन्न होकर मधु मिला तैयार हो तो ऐसे उत्तम अवसर पर सौभाग्य जानकर मनुष्य को आलस्य त्यागकर सोमरस पान में चूक न करनी चाहिए ।।

अमरकोष ३ । १ । ८४ ।। २ । ५ । २६ उणादिकोष ३ । ३२ ।। ३ । ३४ निघण्टु १ । १२ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।।

ऋ० ८ । ४ । ८ में भी ।।२।।

अथ द्वितीयप्रगाथसूक्तस्य–मेधातिथिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ।।

तत्र प्रथमा

१६०७—इमा उ त्वा पुरूवसो गिरो वर्धन्तु या मम ।
पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोऽभि स्तोमैरनूषत ।।१।।

इसकी व्याख्या (२५०) में हो गई है ।।१।।

अथ द्वितीया

१६०८—अयं सहस्रमृषिभिः सहस्कृतः समुद्र इव पप्रथे ।
सत्यः सो अस्य महिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये ।।२।।

भावार्थः—(**अयम्**) यह परमेश्वर इन्द्र (**सहस्रम्**) बहुत (**ऋषिभिः**) ऋषियों ने (**सहस्कृतः**) अपना बल बनाया है (**सः**) वह (**अस्य**) इसका (**महिमा**) बड़प्पन (**सत्यः**) सत्य है (**विप्रराज्ये**) विद्वानों ब्राह्मणों के राज्य में (**यज्ञेषु**) अग्निष्टोमादि यज्ञों में (शवः) उस बल की (**गृणे**) स्तुति करता हूँ ।।

परमेश्वर को असंख्य ऋषियों ने अपना बल बनाया है इसलिए उस आत्मिक बल की प्रशंसा स्तुति प्रार्थना प्रत्येक यज्ञ में जहाँ ब्राह्मणों की आज्ञा चलती है, करनी योग्य है ।। ऋ० ८ । ३ । ४ में ।।२।।

अथ प्रगाथात्मक तृतीयसूक्तस्य—पुष्टिगुः काण्व ऋषिः । इन्द्रो देवता । विराड्बृहती छन्दः ।।

तत्र प्रथमा

१६०९—यस्यायं विश्व आर्यो दासः शेवधिपा अरिः ।
तिरश्चिदर्ये रुशमे पवीरवि तुभ्येत्सो अज्यते रयिः ।।१।।

भावार्थः—(**यस्य**) जिस परमेश्वर का (**अयम्**) यह (**विश्वः**) सब (**आर्यः**) आर्यगण (**शेवधिपाः**) वेदविद्यारूप कोष का रक्षक (**दासः**) भृत्य वा सेवक वा भक्त और (**अरिः**) प्रापक है, उस (**अर्ये**) स्वामी (**रुशमे**) नियन्ता (**पीवरवि**) वाणी के पिता परमेश्वर में (**तिरः**) छिपा हुआ (**चित्**) भी (**सः**) वह (**रयिः**) वेद कोष का धन (**तुभ्यम्**) तुझ भक्त के लिए (**इत्**) अवश्य (**अज्यते**) प्रकट किया जाता है ॥

निरुक्त २ । ४ उणादि ४ । १३९ और सायणाचार्य के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋग्वेद ८ । ५१ । ९ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

१६१०—तुरण्यवो मधुमन्तं घृतश्चुतं विप्रासो अर्कमानृचुः ।
अस्मे रयिः पप्रथे वृष्ण्यं शवोऽस्मे स्वानास इन्दवः ॥२॥

भावार्थः—(**तुरण्यवः**) फुरतीले (**विप्रासः**) बुद्धिमान् ऋत्विज् (**मधुमन्तम्**) मधुक्षीरादि वाले (**घृतश्चुतम्**) जल वर्षाने वाले (**अर्कम्**) अर्चनीय वा यजनीय परमेश्वर वा इन्द्र को (**आनृचुः**) पूजते वा यजन करते हैं और चाहते हैं कि (**अस्मे**) हमारे लिये (**रयिः**) धन (**पप्रथे**) विस्तृत हो (**वृष्ण्यं शवः**) वीर्यवर्धक बल विस्तृत हो (**अस्मे**) हमारे लिये (**स्वानासः**) अभिषूयमाण (**इन्दवः**) सोमरस विस्तृत हों ॥

ऋग्वेद ८ । ५१ । १० का पाठान्तर संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ तृचस्य चतुर्थसूक्तस्य—पर्वतनारदावृषी । सोमो देवता । उष्णिक् छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१६११—गोमन्न इन्दो अश्ववत्सुतः सुदक्ष धनिव ।
शुचिञ्च वर्णमधि गोषु धारय ॥१॥

इसकी व्याख्या (५७४) में हो चुकी है ।।१।।

अथ द्वितीया

१६१२—स नो हरीणाम्पत इन्दो देव प्सरस्तमः ।
सखेव सख्ये नर्यो रुचे भव ।।२।।

भावार्थः—(**हरीणाम्**) हरने ले चलने वाली किरणों वा आत्माओं के (**पते**) स्वामिन् (**इन्दो**) गीले सोम ! वा परमेश्वर ! (**देव**) देव ! (**प्सरस्तमः**) अत्यन्त प्रकाशमान (**नर्यः**) नरों के हितकारी (**सः**) सो आप (**नः**) हमारे लिये (**रुचे**) प्रकाशार्थ (**भव**) हों । (**इव**) जैसे (**सख्ये**) मित्र के लिए (**सखा**) मित्र होता है तद्वत् ।। ऋ० ९ । १०५ । ५ में भी ।।२।।

अथ तृतीया

१६१३—सनेमि त्वमस्मदा अदेवङ्कञ्चिदत्रिणम् ।
साह्वां इन्दो परि बाधो अप द्वयुम् ।।३।।

भावार्थः—(**इन्दो**) हे सोम ! वा परमेश्वर ! (**त्वम्**) तू (**सनेमि**) सनातन पुरानी मित्रता को (**आ**) कर और (**अदेवम्**) देवविरोधी (**कञ्चित्**) किसी (**अत्रिणम्**) भक्षक राक्षस को (**अस्मत्**) हम से (**अप**) दूर कर (**बाधः**) बाधकों को (**साह्वान्**) तिरस्कृत करता हुआ तू (**परि**) हटा और (**द्वयुम्**) भीतर बाहर-बाहर भेद रखने वाले कपटी को वर्जित कर ।।

परमेश्वर की उपासना वा सोमयाग करने वाले मनुष्यों में इस प्रकार का बल उत्पन्न होता है जिससे वे अपने विरोधी सब अनिष्टों के निवारण में समर्थ होते हैं ।।

ऋग्वेद ९ । १०५ । ६ में भी ।।३।।

अथ पंचमस्य तृचसूक्तस्य—अत्रिर्ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ।।

तत्र प्रथमा

१६१४—अञ्जते व्यञ्जते समञ्जते
क्रतुं रिहन्ति मध्वाऽभ्यञ्जते ।

सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं
हिरण्यपावाः पशुमप्सु गृभ्णते ॥१॥

इसकी व्याख्या (६६४) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१६१५—विपश्चिते पवमानाय गायत
मही न धारात्यन्धो अर्षति ।
अहिर्न जूर्णामतिसर्पति त्वच-
मत्यो न क्रीडन्नसरद्वृषा हरिः ॥२॥

भाषार्थः—हे मनुष्यो ! (**विपश्चिते**) मेधा तत्त्व वाले (**पवमानाय**) शुद्धिकारक सोम के लिये (**गायत**) गान करो=उस के गुणों का कीर्तन करो । वह सोम (**मही**) बड़ी (**धारा**) वृष्टिधारा के (**इव**) समान (**अन्धः**) अन्न को (**अति**) बहुत (**अर्षति**) वर्षाता है । (**अहिः**) सर्प (**न**) जैसे (**जूर्णाम्**) पुरानी (**त्वचम्**) कांचली को (**अतिसर्पति**) त्याग जाता है (**वृषा**) वृष्टिकारक (**हरिः**) हरा सोम (**अत्यः**) अश्व (**न**) सा शीघ्रगामी (**असरत**) दौड़ता= वेगवान् होता और वेग उत्पन्न करता है ॥

भारी वृष्टि जैसे अन्न उत्पन्न करती है, तद्वत् सोम भी वर्षा द्वारा अन्न को उत्पन्न करता है, शुद्धिकारक है, सर्वत्र जीर्णता को नष्ट कर यौवन उत्पन्न करता है, फुरती को फैलाता है, इस प्रकार के गुणों से सोम की प्रशंसा वा कीर्त्तन करना चाहिए ॥ ऋ० ९ । ८६ । ४४ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१६१६—अग्रेगो राजाप्यस्तविष्यते विमानो अह्नाम्भुवनेष्वर्पितः ।
हरिर्घृतस्नुः सुदृशीको अर्णवे ज्योतीरथः पवते राय ओक्यः॥

भाषार्थः (**अग्रेगः**) नव ग्रहों में सबसे अग्रगामी (**राजा**) प्रकाशमान (**आप्यः**) जलमय सोम चन्द्रलोक (**तविष्यते**) वर्णित किया जाता है (**अह्नाम्**) तिथियों का (**विमानः**) बनाने वाला है क्योंकि चन्द्रमा की कलाओं के घटने-बढ़ने

के अधीन सब निधि हैं। (**भुवनेषु**) लोकों में (**अर्पितः**) परमेश्वर ने रखा है (**घृतस्नुः**) जल का टपकाने वाला है (**हरिः**) हरने वाला है (**सुदृशीकः**) उत्तम दर्शनीय है। इसी से लोक में भी दर्शनीय मुखों को चन्द्रमा की उपमा दी जाती है। (**अर्णवः**) गीली किरणों वाली होने से जलवान् है (**ज्योतीरथः**) सूर्य की ज्योति जिस का रमणीय रथ वा मार्ग है। (**रायः**) धनों को (**पवते**) बर्षाता है (**ओक्यः**) रहने योग्य है॥

ऋग्वेद ६। ८६। ४५ में भी॥३॥

इति सप्तमः प्रपाठकः॥७॥

इति षोडशाऽध्यायस्य चतुर्थः खण्डः॥४॥

इति श्रीमत्कण्ववंशावतंस श्रीमान् पण्डित हजारीलाल
स्वामी के पुत्र परीक्षित गढ़ (जिला—मेरठ)
निवासी तुलसीराम स्वामिकृत उत्तरार्चिक
सामवेदभाष्य में सोलहवां अध्याय
समाप्त हुआ॥१६॥

ओ३म्

अथ सप्तदशाऽध्यायः ॥

तत्र प्रथमे खण्डे प्रथमतृचस्य-शुनःशेप ऋषिः । अग्निर्देवता। गायत्री छन्दः॥
तत्र प्रथमा

१६१७—विश्वेभिरग्ने अग्निभिरिमं यज्ञमिदं वचः ।
चनो धा सहसो यहो ॥१॥

भावार्थः—(सहसः) बल के (यहो) पुत्र !(अग्ने) अग्ने (विश्वेभिः) सब (अग्निभिः) आहवनीयादि अग्नियों के साथ (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञ को (इदम्) और इस (वचः) वेदपाठ को संगत वा स्वीकृत कर और (चनः) अन्न को (धाः) धारित करा ॥

ऋ० १ । २६ । १० में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

१६१८—यच्चिद्धि शश्वता तना देवंदेवं यजामहे ।
त्व इद्धूयते हविः ॥२॥

भावार्थः—पूर्व मन्त्र से अनुवृत्ति लेकर—अग्ने ! (यत् चित् हि) यद्यपि (शाश्वता) सनातन (तना) विस्तृत यज्ञ से, हम (देवम् देवम्) प्रत्येक देवता का (यजामहे) यजन करते हैं, परन्तु (हविः) हव्य को (त्वे) तुझ में (इत्) ही (हूयते) होमा जाता है। अर्थात् अग्नि देवता में ही होम करके सब देवों का यजन होता है ॥

ऋ० १ । २६ । ६ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

३ १ २ ३ २ ३१ २ ३ १ २१
१६१९—प्रियो नो अस्तु विश्पतिर्होता मन्द्रो वरेण्यः ।
३ २ ३ १२ ३२
प्रियाः स्वग्नयो वयम् ॥३॥

भावार्थः—(**विश्पतिः**) प्रजापालक (**होता**) होम का साधक (**मन्द्रः**) दीप्त (**वरेण्यः**) वरणीय अग्नि (**नः**) हमारा (**प्रियः**) प्यारा (**अस्तु**) हो, तथा (**वयम्**) हम याज्ञिक लोग भी (**स्वग्नयः**) उत्तम अग्नि के आधान करने वाले (**प्रियाः**) परस्पर प्यार करने वाले हों ॥

ऋग्वेद १ । २६ । ७ में भी ॥३॥

अथ द्वितीयतृचस्य—मधुच्छन्दा ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१ २ २ २३ २३ १ २ ३ १२
१६२०—इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः ।
३ १ २ ३ १२
अस्माकमस्तु केवलः ॥१॥

भावार्थः—(**जनेभ्यः**) मनुष्योपलक्षित प्राणिमात्र के लिये (**वः**) तुम्हारे लिये (**विश्वतः**) सब से (**परि**) ऊपर विराजमान (**इन्द्रम्**) इन्द्रदेव को (**हवामहे**) हम याज्ञिक लोग अग्निदूत द्वारा बुलाते हैं जिससे (**अस्माकम्**) हमारा (**केवलः**) असाधारण वह इन्द्र (**अस्तु**) हो जावे ॥

ऋग्वेद १ । ७ । १० में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

१ २ ३ २ ३१ २१ ३ १ २
१६२१—स नो वृषन्नमुं चरुं सत्रादावन्नपा वृधि ।
३ २ ३ १ २
अस्मभ्यमप्रतिष्कुतः ॥२॥

भावार्थः—(**सत्रादावन्**) हे एक साथ दान करने वाले ! (**वृषन्**) वृष्टि करने वाले ! इन्द्र ! (**अप्रतिष्कुतः**) अप्रधृष्य (**सः**) वह तू (**नः**) हमारे

(अमुम) इस (चरुम्) अन्न को (अस्मभ्यम) हम याज्ञिकों के लिये (अपावृधि) उघाड़ ।।

ऋ० १ । ७ । ६ में भी ।।२।।

अथ तृतीया

१६२२—वृषा यूथेव वंसगः कृष्टीरियर्त्योजसा ।
ईशानो अप्रतिष्कुतः ।।३।।

भावार्थः – (ईशानः) शक्तिमान् (अप्रतिष्कुतः) जिस को रोकने को कोई बोल नहीं सकता (वृषा) वृष्टि करने वाला इन्द्र (कृष्टीः) मनुष्यों और तदुपलक्षित अन्य प्राणियों को (ओजसा) बल वा विद्युत्रूप से (इयर्त्ति) प्राप्त होता है (इव) जैसे (वंसगः) उत्तम गति वाला साण्ड (यूथा) गौवों के यूथों को प्राप्त होता है तद्वत् ।।

जैसे गौवों को बिजार अत्यन्त वीर्यप्रद है,वैसे इन्द्रदेव भी मनुष्यादि प्राणियों में बलवीर्यरूप से भीतर विराजमान रहता है ।।

ऋग्वेद १ । ७ । ८ में भी ।।३।।

अथ प्रगाथस्य तृतीयसूक्तस्य – तृणपाणिर्ऋषिः। अग्निर्देवता । बृहती छन्दः।।

तत्र प्रथमा

१६२३—त्वं नश्चित्र ऊत्या वसो राधांसि चोदय ।
अस्य रायस्त्वमग्ने रथीरसि विदा गाधं तुचे तु नः ।।१।।

इसकी व्याख्या (४१) में हो चुकी है ।।१।।

अथ द्वितीया

१६२४—पर्षि तोकं तनयं पर्तृभिष्ट्वमदब्धैरप्रयुत्वभिः ।
अग्ने हेडांसि दैव्या युयोधि नोऽदेवानि ह्वरांसि च ।।२।।

भावार्थः—(**अग्ने**) हे प्रकाशात्मक ! परमेश्वर ! वा अग्ने ! (**त्वम्**) तू (**अदब्धैः**) अनिवार्य (**अप्रयुत्वभिः**) अनेक साथ-साथ वर्त्तमान (**पर्तृभिः**) पालन के साधनों से (**नः**) हमारे (**तोकम्**) पुत्र (**तनयम्**) पौत्र को (**पाहि**) पालित करता है (**दैव्या**) दैवी (**हेडांसि**) कोपों (**च**) और (**अदेवानि**) आसुरी (**ह्वरांसि**) कुटिलताओं को (**युयोधि**) हम से वर्जता है ॥

ऋग्वेद ६ । ४८ । १० में भी ॥२॥

अथ चतुर्थस्य तृचसूक्तस्य—वसिष्ठ ऋषिः । विष्णुर्देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१६२५—किमित्ते विष्णो परिचक्षि नाम
प्र यद्ववक्षे शिपिविष्टो अस्मि ।
मा वर्पो अस्मदपगूह एतद्
यदन्यरूपः समिथे बभूथ ॥१॥

भावार्थः—(**विष्णो**) हे यज्ञ ! (**ते**) तेरा (**परिचक्षि**) सर्वत्र विख्यात (**नाम**) नाम (**किम्**) क्या (**इत्**) ही कहा जावे वह तो वर्णन से बाहर है (**यत्**) जो कि तू (**प्रववक्षे**) कहता है कि मैं (**शिपिविष्टः**) किरणों में प्रविष्ट (**अस्मि**) हूँ । (**एतत्**) इस किरणगत (**वर्पः**) रूप को (**अस्मत्**) हम याज्ञिकों से (**मा**) मत (**अपगूह**) छिपा (**यत्**) जो कि तू (**समिथे**) दुष्टशत्रुसमान नाना रोगों के साथ संग्राम में (**अन्यरूपः**) विलक्षण रूप वाला (**बभूथ**) होता है ॥

यज्ञ जब सूर्यकिरणों में जाता है तो शत्रुतुल्य नाना रोगों से संग्राम करता है और ऐसा भिन्न विलक्षण रूप धारण करता है तो छिप नहीं सकता और मानो यज्ञ कहने लगता है कि मैं सूर्य किरणों में प्रविष्ट हूँ । ऐसे यज्ञ के स्वरूप और फल का क्या वर्णन किया जावे ॥ निघण्टु ३ । १७ ॥ ३ । ७ ॥ २ । १७ निरुक्त ५।८ अष्टाध्यायी ७ । २ । ६४ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋग्वेद ७ । १०० । ६ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

१६२६—प्र तत्ते अद्य शिपिविष्ट हव्य-
मर्यः शंसामि वयुनानि विद्वान् ।
तन्त्वा गृणामि तवसमतव्यान्
क्षयन्तमस्य रजसः पराके ॥२॥

भावार्थ—(**तत्**) इस कारण (**शिपिविष्ट**) हे किरणव्याप्त यज्ञ ! (**ते**) तेरे (**वयुनानि**) प्रशंसनीय गुणों को (**विद्वान्**) जानता हुआ मैं (**अर्यः**) हव्यों का स्वामी यजमान (**अद्य**) आज यज्ञ के दिन (**हव्यम्**) हव्य पदार्थ को (**प्र—शंसामि**) प्रशंसापूर्वक होमता हूँ (**तम्**) उस प्रसिद्ध (**तवसम्**) बलवान् (**अस्य**) इस (**रजसः**) लोक—पृथिवी के (**पराके**) दूर (**क्षयन्तम्**) रहते हुए (**त्वा**) तुझ यज्ञ की (**अतव्यान्**) निर्बल वा कृश मैं (**गृणामि**) प्रशंसा करता हूँ ॥

ऋ० ७ । १०० । ५ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ तृतीया

१६२७—वषट् ते विष्णवास आ कृणोमि
तन्मे जुषस्व शिपिविष्ट हव्यम् ।
वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरो मे
यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥३॥

भावार्थः—(**शिपिविष्ट**) हे सूर्यकिरणों में व्याप्त ! (**विष्णो**) यज्ञ ! (**ते**) तेरे (**आस**) मुख में (**वषट्**) वषट्कारपूर्विका आहुति (**आकृणोमि**) करता हूँ (**तत्**) उस वषट्पूर्वक (**मे**) मेरे (**हव्यम्**) घृतादि को (**जुषस्व**) तू सेवित—स्वीकृत कर (**मे**) मेरी (**सुष्टुतयः**) सुन्दर स्तुतियुक्त (**वाचः**)

वाणियें (**त्वा**) तुझ यज्ञ को (**वर्धन्तु**) बढ़ावें (**यूयम्**) तुम (**स्वस्तिभिः**) कल्याणों भलाइयों से (**सदा**) सर्वदा (**नः**) हमारी (**पात**) रक्षा करो ॥

जो लोग यज्ञानुष्ठान करते, स्वाहा स्वधा वषट् श्रौषट् इत्यादि यथाविनियोग शब्दों के द्वारा उस यज्ञ के प्रचार तथा अनुष्ठान से लोक में यज्ञ को बढ़ाते हैं, यज्ञदेव सदा सब भलाइयों द्वारा उनकी रक्षा करता है । यह भाव है ॥

ऋग्वेद ७ । १०० । ७ में भी ॥३॥

इति उत्तरार्चिके सप्तदशाऽध्यायस्य प्रथमः खण्डः ॥१॥

उक्तो वाजपेयः ।

इदानीं राजसूय उच्यते इति विव० ॥

अथ द्वितीये खण्डे

प्रथमतृचस्य—वामदेव ऋषिः । इन्द्रवायू देवते । अनुष्टुप्छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २३ १ २
१६२८—वायो शुक्रो अयामि ते मध्वो अग्र दिविष्टिषु ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
आ याहि सोमपीतये स्पार्हो देव नियुत्वता ॥१॥

भावार्थः—(**देव**) दिव्यगुणयुक्त ! (**वायो**) पवन ! (**दिविष्टिषु**) देव यजनों में (**अग्रम्**) मुख्य (**मध्वः**) मधुर हव्य को (**ते**) तेरे लिये (**अयामि**) पहुंचाता हूँ (**शुक्रः**) वीर्यवान् (**स्पार्हः**) स्पृहणीय तू (**सोमपीतये**) सोमपानार्थ (**नियुत्वता**) वेगरूपी अश्व से (**आयाहि**) आ ।

ऋग्वेद ४ । ४७ । १ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

१ २ ३ १ २ ३ १२
१६२९—इन्द्रश्च वायवेषां सोमानाम्पीतिमर्हथः ।
३ १ २र ३ २उ ३ २ ३क २र
युवा हि यन्तीन्दवो निम्नमापो न सध्र्यक् ॥२॥

भावार्थः—(**वायो**) हे वायु ! तू (**च**) और (**इन्द्रः**) विजुली, दोनों (**एषाम्**) इन (**सोमानाम्**) सोमरसों के (**पीतिम्**) पान का (**अर्हथः**) योग्य हो (**इन्दवः**) सोम (**युवाम्**) तुम दोनों को (**यन्ति**) प्राप्त होते हैं (**हि**) निश्चय (**न**) जैसे (**निम्नम्**) नीचे स्थान को (**आपः**) जल (**सध्र्यक्**) साथ जाते हैं ॥

ऋग्वेद ४ । ४७ । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१६३०—वायविन्द्रश्च शुष्मिणा सरथं शवसस्पती ।
नियुत्वन्ता न ऊतये आ यातं सोमपीतये ॥३॥

भाषार्थः—(वायो) हे वायु ! तू (च) और (इन्द्रः) इन्द्र—बिजुली दोनों (शवसः) बल के (पती) २ पति (शुष्मिणा) २ बलवान् (नियुत्वन्ता) अपने नियुत्वत् संज्ञक वेगरूप अश्व वाले दोनों (सरथम्) समान=एक ही वेगरूप रथ पर [चढ़ कर] (नः) हमारी (ऊतये) रक्षार्थ (सोमपीतये) सोमपानार्थ (आयातम्) आओ ॥

ऋ० ४ । ४७ । ३ में भी ॥३॥

अथ द्वितीयतृचस्य—सूनुर्रभो वा ऋषिः । सोमो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१६३१—अध क्षपा परिष्कृतो वाजाँ अभि प्रगाहसे ।
यदी विवस्वतो धियो हरिं हिन्वन्ति यातवे ॥१॥

भाषार्थः—(क्षपा) रात्रि से (अध) पश्चात् प्रातः सवन में (परिष्कृतः) अभिषुत सोम (वाजान्) बलों को (अभि-प्र-गाहसे) व्यापता है (यदि) जब कि (विवस्वतः) सूर्य की (धियः) प्रेरणादि क्रियायें (हरिम्) हरे सोम को (यातवे) जाने को (हिन्वन्ति) प्रेरित करती हैं तब ॥

ऋग्वेद ९ । ९९ । २ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

१६३२—तमस्य मर्जयामसि मदो य इन्द्रपातमः ।
यं गाव आसभिर्दधुः पुरा नूनञ्च सूरयः ॥२॥

भाषार्थः—(अस्य) इस सोम के (तम्) उस रस को (मर्जयामसि) हम शोधते हैं (यः) जो रस (मदः) हृष्टिपुष्टिकारक (इन्द्रपातमः) इन्द्र से

अत्यन्त पिया जाता है। और (**गावः**) सूर्य किरणें (**च**) और (**सूरयः**) विद्वान् ऋत्विज् लोग (**यम्**) जिस रस को (**नूनम्**) निश्चय (**पुरा**) पूर्व काल में और अब भी (**आसभिः**) मुखों से (**बधुः**) धारते हैं=पीते हैं ॥

ऋग्वेद ९ । ९९ । ३ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१६३३—तं गाथया पुराण्या पुनानमभ्यनूषत ।
उतो कृपन्त धीतयो देवानां नाम बिभ्रतीः ॥३॥

भावार्थ—(**पुनानम्**) शोधे गए हुये (**तम्**) उस सोमरस को (**पुराण्या**) पुराणी सनातनी (**गाथया**) गीतरूप वेदवाणी से (**अभि-अनूषत**) चारों ओर बैठें ऋत्विज् स्तुत वा प्रशंसित करते हैं (**उतो**) और (**देवानाम्**) वायु, सूर्य, पूषा, अर्यमा आदि देवतों के (**नाम**) नामों को (**बिभ्रतीः**) धारती हुई (**धीतयः**) ऋत्विजों के हाथों की अंगुलियें (**कृपन्त**) समर्थ करती हैं ॥

ऋ० ९ । ९९ । ४ में भी ॥३॥

अथ तृतीयतृचस्य—शुनःशेप ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः॥

तत्र प्रथमा

१६३४—अश्वन्न त्वा वारवन्तं वन्दध्या अग्निन्नमोभिः ।
सम्राजन्तमध्वराणाम् ॥१॥

इसकी व्याख्या (१७) में हो गई है ॥१॥

अथ द्वितीया

१६३५—स घा नः सूनुः शवसा पृथुप्रगामा सुशेवः ।
मीढ्वाँ अस्माकं बभूयात् ॥२॥

भावार्थः—(**शवसा**) बल वेग से (**पृथुप्रगामा**) विस्तृत और उत्कृष्ट गति वाला, (**मीढ्वान्**) वृष्टिकारक (**अस्माकं सूनुः**) हमारा पुत्र तुल्य अरणियों

में उत्पादित (सः च) वही होम किया हुआ अग्नि (नः) हमारे लिये (सुशेवः) सुसुख (अभूयात्) होवे ॥

ऋ० १ । २७ । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१६३६—स नो दूराच्चासाच्च नि मर्त्यादघायोः ।
पाहि सदमिद्विश्वायुः ॥३॥

भावार्थः— (विश्वायुः) सर्वत्र गमन वाला (सः) वह होम किया हुआ अग्नि (आसात्) समीपस्थ (च) और (दूरात् च) दूरस्थ भी (अघायोः) पापी दुष्ट शत्रु (मर्त्यात्) मनुष्यादि प्राणी से (नः) हम को (सदम्, इत्) सर्दैव (नि पाहि) नितरां रक्षा करता है ॥

ऋ० १ । २७ । ३ में भी ॥३॥

अथ प्रगाथात्मक तृतीयसूक्तस्य–नृमेध ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः॥

तत्र प्रथमा

१६३७—त्वमिन्द्र प्रतूर्तिष्वभि विश्वा असि स्पृधः ।
अशस्तिहा जनिता वृत्रतूरसि त्वं तूर्य तरुष्यतः ॥१॥

इसकी व्याख्या (३११) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१६३८—अनु ते शुष्मं तुरयन्तमीयतुः क्षोणी शिशुन्न मातरा ।
विश्वास्ते स्पृधः श्नथयन्त मन्यवे वृत्रं यदिन्द्र तूर्वसि॥२॥

भावार्थ—(इन्द्र) विद्युत् वा वायु विशेष ! (क्षोणी) द्युलोक और पृथिवी (ते) तेरे (तुरयन्तम्) वेगवान् (शुष्मम्) बल को (अनु-ईयतुः) अनुकूल चलती हैं, (न) जैसे (मातरा) २ मातायें (शिशुम्) बच्चे का अनुगमन करती हैं । (यत्) जिस कारण (वृत्रम्) मेघ को (तूर्वसि) तू मार

गिराता है,इस कारण (ते) तेरे (मन्यवे) कोप के सामने (विश्वा:) सब (स्पृध:) स्पर्धा करने वाली मेघसेनायें (श्नथयन्त) शिथिल पड़ जाती हैं ।।

ऋग्वेद ८ । ६६ । ६ में भी ।।२।।

इति सप्तदशाध्यायस्य द्वितीय: खण्ड: ।।२।।

अथ तृतीये खण्डे

प्रथमतृचस्य—गोषूक्तिरश्वसूक्तिर्वा ऋषि। । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ।।

तत्र प्रथमा

१६३६—यज्ञ इन्द्रमवर्धयत् यद्भूमिं व्यवर्त्तयत् ।
चक्राण ओपशन्दिवि ।।१।।

इसकी व्याख्या (१२१) में हो चुकी है ।।१।।

अथ द्वितीया

१६४०—व्य३न्तरिक्षमतिरन्मदे सोमस्य रोचना ।
इन्द्रो यदभिनद्वलम् ।।२।।

भावार्थ:—(यत्) जब कि (इन्द्र:) इन्द्र (सोमस्य) सोमरस के (मदे) हर्ष में (रोचना) प्रकाशमान (अन्तरिक्षम्) आकाश को (वि-अतिरत्) उतरता है, तब (बलम्) मेघसैन्य को (अभिनत्) भिन्न करता है ।।

ऋग्वेद ८ । १४ । ७ में भी ।।२।।

अथ तृतीया

१६४१—उद्गा आजदङ्गिरोभ्य आविष्कृण्वन्गुहा सतीः ।
अर्वाञ्चन्नुनुदे बलम् ।।३।।



भावार्थः—(**ऋचीषम**) हे ऋचा में वर्णित स्तुति के अनुरूप ! (**इन्द्र**) राजन् ! (**नः**) हमारे लिये (**रायः**) धनों को (**आ**) लाकर (**पुरु**) बहुत (**शिक्ष**) दो, तथा (**पार्ये**) शत्रुओं से लाये (**धने**) रत्नादि धन में (**नः**) हमें (**अव**) रक्षित करो ॥

ऋ० ८ । ६२ । ६ में भी ॥३॥

अथ तृतीयतृचस्य–गोषूक्तिरश्वसूक्तिर्वा ऋषिः। इन्द्रो देवता। उष्णिक् छन्दः॥

तत्र प्रथमा

२३ १ २ ३२ ३ २उ३ १२३१ २र

१६४५—तव त्यदिन्द्रियं बृहत्तव दक्षमुत क्रतुम् ।

१२ ३२ ३ १२

वज्रं शिशाति धिषणा वरेण्यम् ॥१॥

भावार्थः—हे इन्द्र ! ईश्वर ! वा राजन् ! वा भौतिकेन्द्र देव ! (**तव**) तेरा (**त्यत्**) वह प्रसिद्ध (**बृहत्**) भारी (**इन्द्रियम्**) तुझ ईश्वर से सेवित, वा तुझ राजा के चिह्न, वा तुझ इन्द्रदेव के दिये (**दक्षम्**) बल (**उत**) और (**क्रतुम्**) कर्म वा पुरुषार्थ को और (**तव**) तेरे (**वरेण्यम्**) उत्तम (**वज्रम्**) प्रहरणसाधन शस्त्रास्त्रादि को (**धिषणा**) धारणावती बुद्धि (**शिशाति**) पैनाती है ॥

ईश्वर पक्ष और राजा पक्ष में उस ईश्वरीय वा राजकीय शक्ति के बुद्धिपूर्वक ज्ञान से पैनाना संगत है और भौतिक पक्ष में बुद्धितत्त्व से बल पौरुष आदि की विवक्षा ठीक है ॥

ऋग्वेद ८ । १५ । ७ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

२३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२

१६४६—तव द्यौरिन्द्र पौंस्यं पृथिवी वर्द्धति श्रवः ।

२र ३ १ २

त्वामापः पर्वतासश्च हिन्विरे ॥२॥

भावार्थः—हे (**इन्द्र**) राजन् ! वा ईश्वर ! भौतिकेन्द्रदेव ! (**तव**) तेरे (**पौंस्यम्**) पुरुषार्थ और (**श्रवः**) यश को (**द्यौः**) द्युलोक और (**पृथिवी**) पृथिवी लोक (**वर्धति**) बढ़ाता है (**त्वाम्**) तुझ को (**आपः**) नदी समुद्रादि के

जल (च) और (पर्वतासः) पर्वत (हिन्विरे) प्रसन्न करते हैं=स्वाभिभाव से प्राप्त होते हैं ।।

ऋग्वेद ८ । १५ । ८ में भी ।।२।।

अथ तृतीया

१६४७—त्वां विष्णुर्बृहन्क्षयो मित्रो गृणाति वरुणः ।
त्वां शर्द्धो मदत्यनुमारुतम् ।।३।।

भावार्थः—पूर्व मन्त्र से अनुवृत्ति लाकर हे इन्द्र ! (विष्णुः मित्रः वरुणः) विष्णुनामक, मित्रसंज्ञक और वरुणाख्य देव जो वायुभेद है (बृहत्) महान् (क्षयः) प्राणियों के निवास का हेतु (त्वाम्) तुझ इन्द्र की (गृणाति) प्रशंसा करता है (मारुतम्) मरुद्गणों का (शर्धः) बल भी (त्वाम्) तेरे (अनु) पीछे (मदति) हृष्टि करता है।

ऋग्वेद ८ । १५ । ९ में भी ।।३।।

इति सप्तदशाध्यायस्य तृतीयः खण्डः ।।३।।

अथ चतुर्थे खण्डे प्रथमतृचस्य—विरूप ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः ।। तत्र प्रथमा

१६४८—नमस्ते अग्न ओजसे गृणन्ति देव कृष्टयः ।
अमैरमित्र मर्दय ।।१।।

इसकी व्याख्या (११) में हो गई है ।।१।।

अथ द्वितीया

१६४९—कुवित्सु नो गविष्टयेऽग्ने संवेषिषो रयिम् ।
उरुकृदुरु णस्कृधि ।।२।।

भावार्थः—(**अग्ने**) हे अग्ने ! (**नः**) हमारे लिये (**गविष्टये**) गौवें ढूंढने को (**कुवित्**) बहुत (**रयिम्**) धन को (**सु-सं-वेषिषः**) भले प्रकार परोसते पहुंचाते हो सो तुम (**उरुकृत्**) बाहुल्य करने वाले (**नः**) हमारे लिये भी (**उरु**) बाहुल्य (**कृधि**) करो ॥

यजु: ५ । ४१ तथा ऋग्वेद ८ । ७५ । ११ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१६५०—मा नो अग्ने महाधने परावर्ग्भारभृद्यथा ।
संवर्गं सं रयिं जय ॥३॥

भावार्थः (**अग्ने**) हे अग्ने ! (**नः**) हम को (**महाधने**) संग्राम के बीच में (**मा**) मत (**परावर्क्**) छोड़ें (**यथा**) जैसे (**भारभृत्**) भार ले चलने वाला भार को निर्दिष्ट स्थान से बीच में ही नहीं छोड़ देता तद्वत् । (**वर्गम्**) शत्रुसमूह को (**सं जय**) भले प्रकार जीत और (**रयिम्**) धन को (**सम्**) भले प्रकार जीत ॥

ऋग्वेद ८ । ७५ । १२ में भी ॥३॥

अथ द्वितीयतृचस्य—वत्स ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१६५१—समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टयः ।
समुद्रायेव सिन्धवः ॥१॥

इसकी व्याख्या (१३७) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१६५२—वि चिद्वृत्रस्य दोधतः शिरो बिभेद वृष्णिना ।
वज्रेण शतपर्वणा ॥२॥

भावार्थः—प्रकरण से इन्द्र=विद्युत् रूप वृष्टिदेव (**दोधतः**) गर्जन से जगत् को कम्पाने वाले (**वृत्रस्य**) मेघमण्डल के (**शिरः**) उच्चभागरूप शिर को (**वृष्णिना**) वृष्टिकारक (**शतपर्वणा**) बहुत धार वाले (**वज्रेण**) प्रहार से (**वि-चित्-बिभेद**) अनेक प्रकार भी छिन्न-भिन्न करता है ।।

ऋग्वेद ८ । ६ । ६ में भी ।।२।।

अथ तृतीया

१६५३—ओजस्तदस्य तित्विष उभे यत्समवर्तयत् ।
इन्द्रश्चर्मेव रोदसी ।।३।।

भावार्थः—(**इन्द्रः**) इन्द्रदेव (**यत्**) जिस बल से (**उभे**) दोनों लोक (**रोदसी**) द्यौ और पृथिवी को (**समवर्त्तयत्**) मसलता है, (**चर्मइव**) जैसे चमड़े को मसलते हैं, (**तत्**) वह (**अस्य**) इस इन्द्र का (**ओजः**) बल (**तित्विषे**) चमक रहा है ।।

ऋग्वेद ८ । ६ । ५ में भी ।।३।।

अथ तृतीयतृचस्य—शुनःशेप ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ।।

तत्र प्रथमा

१६५४—सुमन्मा वस्वी रन्ती सूनरी ।।१।।

भावार्थः—(**सुमन्मा**) सुन्दर ज्ञानवती (**वस्वी**) धनवती (**रन्ती**) रमणीय (**सूनरी**) सूनृता सच्ची वाणी प्रवृत्त हुई यह अध्याहार शेष है ।। यह एकपदा गायत्री छन्द है ।।१।।

अथ द्वितीया

१६५५—सरूप वृषन्ना गहीमौ भद्रौ धुर्यावभि ।
ताविमा उप सर्पतः ।।२।।

भावार्थः—(**सरूप**) हे प्रत्येक वस्तु में समानरूप से वर्तमान ! (**वृषन्**)

वर्षाकारक ! सूर्य ! (**इमौ**) इन (**भद्रौ**) सुखदायक (**धुर्यौ**) धुरे में जुड़ने योग्य घोड़ों के समान सीधी और तिरछी किरणों को (**अभि**) व्यापकर, (**आगहि**) प्राप्त हो (**तौ**) वे (**इमौ**) ये दोनों प्रकार की किरणें (**उप सर्पतः**) पास जाती हैं ॥

सीधी तिरछी के भेद से दो प्रकार की किरणें सूर्य से संगत हैं, उन दोनों से सूर्य की धूप हमें प्राप्त होती रहे, यह भाव है ॥२॥

अथ तृतीया

२र ३ १ २ ३ २ ३ १ २
१६५६—नीव शीर्षाणि मृढ्वं मध्य आपस्य तिष्ठति ।
१ २ ३ १ २ २
शृङ्गेभिर्दशभिर्दिशन् ॥३॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! (**दशभिः**) दश (**शृंगेभिः**) अंगुलियों से(**दिशन्**) बताता हुआ (**इव**) सा, सूर्य इन्द्र (**आपस्य**) जल भरे आकाश के (**मध्ये**) बीच में (**तिष्ठति**) स्थित है, सो तुम (**शीर्षाणि**) शिर के ढकने के छत्रों को (**निमृढ्वम्**) रच लो ॥३॥

इति अष्टमप्रपाठकस्य-प्रथमाऽर्धः ॥
इति सप्तदशाऽध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ॥४॥

इति श्रीमत्कण्ववंशाऽवतंस श्रीमान् पं० हजारीलाल स्वामी के पुत्र परीक्षितगढ़ (जिला—मेरठ) निवासी तुलसीराम स्वामिकृत उत्तरार्चिक सामवेदभाष्य में सत्रहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥१७॥

ओ३म्

अथाऽष्टादशाध्यायः ॥

तत्र प्रथमे खण्डे

प्रथमतृचस्य–मेधातिथिराङ्गिरस ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१६५७—पन्यंपन्यमित्स्तोतार आ धावत मद्याय ।
सोमं वीराय शूराय ॥१॥

इसकी व्याख्या (१२३) में हो गई है ॥१॥

अथ द्वितीया

१६५८—एह हरी ब्रह्मयुजा शग्मा वक्षतः सखायम् ।
इन्द्रं गीर्भिर्गिर्वणसम् ॥२॥

भावार्थः—(**ब्रह्मयुजा**) परमेश्वर के जोते हुए (**शग्मा**) सुखदायक (**हरी**) दो घोड़ों के समान दो प्रकार के सूर्य किरण (**गिर्वणसम्**) वेदमन्त्रप्रतिपादनानुकूलवर्ती (**सखायम्**) हितकारी (**इन्द्रम्**) देवराज इन्द्र को (**गीर्भिः**) वेद मन्त्रों से (**इह**) यहां यज्ञ में (**आ वक्षत**) बुलावें ॥

सूर्य की सीधी तिरछी दो प्रकार की किरणें जो सूर्य के घोड़े हैं, सूर्य को हमारे किये यज्ञ तक पहुँचाती हैं जो कि वेदमन्त्रों में वैसा वर्णन किया है, अतः उन मन्त्रों को यज्ञ में उस समय पढ़ा जाता है और इन्द्र=सूर्य उन वेदवाणियों का सविभागपूर्वक सेवक=अनुकूलवर्ती है । ऋ० ८ । २ । २७ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१६५९—पाता वृत्रहा सुतमा घा गमन्नारे अस्मत् ।
नि यमते शतमूतिः ॥३॥

भावार्थः—(सुतम्) अभिषुत सोम को (पाता) पीने वाला (वृत्रहा) मेघ का मारने गिराने वाला (शतमूतिः) असंख्य प्रकार रक्षा वाला इन्द्र (अस्मत्) हमसे (आरे) दूर (घ) ही (न) न (आ गमत) आवे किन्तु समीप आवे (नियमते) और नियम में रक्खे ।। ऋ० ८ । २ । २६ में भी ॥३॥

अथ द्वितीयतृचस्य—सुकक्षः श्रुतकक्षोर्वाषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१६६०—आ त्वा विशन्त्विन्दवः समुद्रमिव सिन्धवः ।
न त्वामिन्द्रातिरिच्यते ॥१॥

इसकी व्याख्या (१९७) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१६६१—विव्यक्थ महिना वृषन्भक्षं सोमस्य जागृवे ।
य इन्द्र जठरेषु ते ॥२॥

भावार्थः—(वृषन्) हे वृष्टिकर ! (जागृवे) जागरूक ! (इन्द्र) इन्द्र! तू (महिना) बड़प्पन से (सोमस्य) सोम के (भक्षम्) भोजन को (विव्यक्थ) सर्वतः व्याप कर वर्त्तमान है (यः) जो सोम (ते) तेरे (जठरेषु) उदरों में है ॥ ऋग्वेद ८ । ९२ । २३ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१६६२—अरं त इन्द्र कुक्षये सोमो भवतु वृत्रहन् ।
अरं धामभ्य इन्दवः ॥३॥

भावार्थः – (**इन्द्र**) हे इन्द्र ! (**ते**) तेरी (**कुक्षये**) कुक्षि वा पेट के लिए (**सोमः**) सोमरस (**अरम्**) पर्याप्त (**भवतु**) हो, (**वृत्रहन्**) हे मेघनाशक ! (**इन्दवः**) सोम (**धामभ्यः**) तीनों लोकों के लिये (**अरम्**) पर्याप्त हों ।। ऋग्वेद ८ । ९२ । २४ में भी ।।३।।

अथ तृतीयतृचस्य—शुनःशेप ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः ।।

तत्र प्रथमा

१६६३—जराबोध तद्विविड्ढि विशेविशे यज्ञियाय ।
स्तोमं रुद्राय दृशीकम् ।।१।।

इसकी व्याख्या (१५) में हो गई ।।१।।

अथ द्वितीया

१६६४—स नो महाँ अनिमानो धूमकेतुः पुरुश्चन्द्रः ।
धिये वाजाय हिन्वतु ।।२।।

भावार्थः—(**महान्**) गुणों में बड़ा (**अनिमानः**) जो तोला नहीं जा सकता (**धूमकेतुः**) धुवां जिसकी ध्वजा है (**पुरुश्चन्द्रः**) बहुत आह्लादकारक (**सः**) वह अग्नि (**धिये**) बुद्धि और (**वाजाय**) बल के लिये (**नः**) हम को (**हिन्वतु**) उभारे=प्रेरित करे ।। ऋ० १ । २७ । ११ में भी ।।२।।

अथ तृतीया

१६६५—स रेवाँ इव विश्पतिर्दैव्यः केतुः शृणोतु नः ।
उक्थैरग्निर्बृहद्भानुः ।।३।।

भावार्थः—(**रेवान्**) धनवान् (**इव**) सा (**विश्पतिः**) प्रजापालक (**दैव्यः केतुः**) देवतों का ध्वजा वा दूत के समान ज्ञापक (**बृहद्भानुः**) बड़ी भारी तेज किरणों वाला (**सः**) वह (**अग्निः**) अग्नि (**नः**) हमारे (**उक्थैः**) स्तोत्रों को (**शृणोतु**) सुने=स्वीकारे ।।

यद्यपि जड़ अग्नि में श्रवण नहीं हो सकता,परन्तु वैदिक गुण वर्णन(स्तुति) के समान अग्नि की अनुकूलता होना ही श्रवण समझना चाहिये ॥

ऋग्वेद १ । २७ । १२ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थ तृचस्य–शंयुर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१६६६—तद्वो गाय सुते सचा पुरुहूताय सत्वने ।
शं यद्गवे न शाकिने ॥१॥

इसकी व्याख्या (११५) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१६६७—न घा वसुर्नि यमते दानं वाजस्य गोमतः ।
यत्सीमुपश्रवद्गिरः ॥२॥

भावार्थः—(**वसुः**) ८ वसुओं में एक इन्द्र = सूर्य (**गोमतः**) इन्द्रियों को जगाने की शक्ति वाले (**वाजस्य**) बल के (**दानम्**) दान को (**न घ**) नहीं (**नियमते**) रोकता (**यत् सीम्**) जब कि (**गिरः**) वेदमन्त्रोक्त स्तुतियों को (**उपश्रवत्**) स्वीकार करे ॥

जब कि सूर्य हमारी चाही बातों के अनुकूलवर्ती हो तो वह सब इन्द्रियों की शक्तिरूप बल प्रदान में कमी नहीं करता ॥ ऋ० ६ । ४५ । २३ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१६६८—कुवित्सस्य प्र हि व्रजं गोमन्तं दस्युहा गमत् ।
शचीभिरप नो वरत् ॥३॥

भावार्थः—(**कुवित्सस्य**) बहुत हिंसा करने वाले अयाज्ञिक पुरुष के (**गोमन्तम्**) गौवों भरे (**व्रजम्**) खरक को (**दस्युहा**) दुष्टशत्रुविनाशक इन्द्र (**हि**) निश्चय (**प्राऽगमत्**) प्रकर्ष से जावे और (**शचीभिः**) प्रजा वा बुद्धियों को (**अप वरत्**) रोक देवे ॥

जो पौराणिक मानते हैं कि १४ इन्द्र के समय तक एक इन्द्राणी रहती है, उनको इस मन्त्र के शचीभिः इस बहुवचन से विरोध जाता है ॥

ऋग्वेद ६ । ४५ । २४ में भी ॥३॥

इत्याष्टादशाऽध्यायस्य प्रथमः खण्डः ॥१॥

अथ द्वितीये खण्डे

षड्ऋचस्य प्रथम सूक्तस्य—मेधातिथिः काण्व ऋषिः । विष्णुर्देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१६६९—इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम् ।

समूढमस्य पांसुले ॥१॥

इसकी व्याख्या (२२२) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१६७०—त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ।

अतो धर्माणि धारयन् ॥२॥

भावार्थः—(अदाभ्यः) जो किसी से मारा नहीं जा सकता, (गोपाः) जो सब लोक-लोकान्तरों का रक्षक है, उस (विष्णुः) व्यापक ईश्वर ने (त्रीणि) तीन (पदा) स्थानों=तीनों लोकों को (विचक्रमे) विक्रान्त किया हुआ है (अत) इस कारण (धर्माणि) अग्निहोत्रादि धर्म कर्मों को वेद द्वारा (धारयन्) पोषण करा रहा है ॥ ऋग्वेद १ । २२ । १८ में तथा यजुर्वेद ३४ । ४३ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१६७१—विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे ।

इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥३॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! (विष्णोः) व्यापक अदृश्य भी परमेश्वर के (कर्माणि) कर्मों को (पश्यत) देखो (यतः) जिन कर्मों की सहायता से (व्रतानि) मनुष्य

धर्मकर्मों को (पस्पशे) अनुष्ठान की रीति से करता है, वह विष्णु (इन्द्रस्य) जीवात्मा का (युज्यः) योग्य (सखा) हितकारी मित्र है ॥

ऋग्वेद १ । २२ । १९ में और यजुः ६ —४ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थी

१६७२—तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततम् ॥४॥

भावार्थः—(सूरयः) विद्वान् ज्ञानी लोग (विष्णोः) विष्णु व्यापक अदृश्य परमात्मा के भी (तत्) उस (परमम्) अति सूक्ष्मतम (पदम्) स्वरूप को [जिस स्वरूप से उसने तीनों लोकों को व्याप रक्खा है] (सदा) सदा (पश्यन्ति) देखते हैं, अनुभव करते हैं (इव) जैसे (आततम्) पसारी हुई (चक्षुः) आँख (दिवि) आकाश में सब कुछ देखने योग्य दृश्य को देखती है तद्वत् ॥

अर्थात् जैसे हमारी आंख दृश्य पदार्थों को साक्षात् देखती हैं वैसे ही ज्ञानियों के आत्मा अदृश्य परमात्मा के स्वरूप का भी साक्षात् अनुभव करते हैं । इसमें आंख का दृष्टान्त ही दार्ष्टान्त की भिन्नता प्रतिपादन करके परमेश्वर के स्वरूप की अतीन्द्रियता वा अदृश्यता का बोध कराता है । इस दशा में वामनाऽवतार की शंकामात्र को भी अवकाश नहीं है ॥

ऋग्वेद १ । २२ । २० में तथा यजुः ६—५ में भी ॥४॥

अथ पञ्चमी

१६७३—तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते ।
विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥५॥

भावार्थः—(यत्) जो पूर्वोक्त (विष्णोः) विष्णु का (परमम्) सूक्ष्मतम (पदम्) स्वरूप है (तत्) उसको (विप्रासः) ऋतम्भरा प्रज्ञा वाले (विपन्यवः) विशेष करके स्तुतिपूर्वक भजन में तत्पर (जागृवांसः) स्तुति के शब्द और अर्थज्ञान में प्रमाद न करके जागने वाले योगी जन (समिन्धते) दूसरों के लिये प्रकाश करते=उपदेश द्वारा जताते हैं ॥

इसमें भी अयोगिगम्य न होने, योगिगम्य होने और योगियों द्वारा अन्यों के प्रतिजताने योग्य विष्णुपद का वर्णन अवतारवाद का विरोध करता है। अवतारवादानुसार तो विष्णुपद आंख का विषय ही कहा जाता, जिसका मन्त्र से विरोध है ॥

ऋ० १। २२। २१ यजुः ३४। ४४ में भी ॥५॥

अथ षष्ठी

१६७४—अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे।
पृथिव्या अधि सानवि ॥६॥

भावार्थः—(विष्णुः) परमेश्वर ने (यत्) जिस कारण (पृथिव्याः) पृथिवी के (अधि) ऊपर (सानवि) उच्च प्रदेश में भी (विचक्रमे) विशेष करके व्याप्त किया हुआ है (अतः) इस कारण परमेश्वराऽधिष्ठितता से (देवाः) पृथिवी आदि लोकलोकान्तर (नः) हमारी (अवन्तु) रक्षा करें ॥

ऋ० १। २२। १६ का पाठभेद संस्कृत भाष्य में देखिये ॥६॥

अथ प्रगाथस्य द्वितीय सूक्तस्य—वसिष्ठ ऋषिः। इन्द्रो देवता। बृहती छन्दः॥

तत्र प्रथमा

१६७५—मोषु त्वा वाघतश्च नारे अस्मन्नि रीरमन्।
आरात्ताद्वा सधमादं न आगहीह वा सन्नुप श्रुधि ॥१॥

इसकी व्याख्या (२८४) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१६७६—इमे हि ते ब्रह्मकृतः सुते सचा मधौ न मक्ष आसते।
इन्द्रे कामं जरितारो वसूयवो रथे न पादमा दधुः ॥२॥

भावार्थः—हे इन्द्र ! (इमे) ये (ब्रह्मकृतः) वेदोक्त कर्मकाण्डी (जरितारः) स्तोता आदि ऋत्विज् लोग (वसूयवः) धान्यादि धन चाहते हुए (ते) तेरे लिये (सुते) सोम अभिषुत हो जाने पर (हि) ही (सचा) साथ (आसते) बैठते हैं (न) जैसे (मधौ) शहद के निमित्त (मक्षः) मक्खियां (इन्द्रे) तुझ

इन्द्र आश्रय में (कामम्) अपनी कामना को (आवधुः) समर्पित कर देते हैं (न) जैसे (रथे) रथ में (पादम्) पांव रखते हैं ॥

ऋ० ७ । ३२ । २ में भी ॥२॥

अथ प्रगाथस्य तृतीयसूक्तस्य—प्रयुः काण्व ऋषिः । इन्द्रो देवता ।
विराड्बृहती, निचृत्पङ्क्तिश्चेति क्रमेण छन्दांसि ॥

तत्र प्रथमा

१ २ ३ १ २ ३ १ २र
१६७७—अस्तावि मन्म पूर्व्यं ब्रह्मेन्द्राय वोचत ।
३ २ ३ १ २ ३ १२ ३ २ ३ १ २
पूर्वीर्ऋतस्य बृहतीरनूषत स्तोतुर्मेधा असृक्षत ॥१॥

भावार्थः—हे मनुष्यो (इन्द्राय) वृष्टिकारक वायुभेद के लिये (पूर्व्यम्) सनातन (मन्म) मननयोग्य (ब्रह्म) वेदमन्त्र को (वोचत) बोलो (अस्तावि) इससे उसकी स्तुति होती है (ऋतस्य) सत्य वेद की (पूर्वीः) सनातन (बृहतीः) बृहतीछन्द की ऋचाओं को (अनूषत) स्तुत करो=पढ़ो । इससे (स्तोतुः) तुम में से स्तुति करने वाले की (मेधाः) धारणावती बुद्धियें (असृक्षत) इन्द्र से रची जाती हैं ॥ ऋ० ८ । ५२ । ९ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

२उ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २उ ३ १ २
१६७८—समिन्द्रो रायो बृहतीरधूनुत सं क्षोणी समु सूर्यम् ।
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २उ ३ २ ३ १ २
सं शुक्रासः शुचयः सं गवाशिरः सोमा इन्द्रममन्दिषुः॥२॥

भावार्थः—(इन्द्रः) वृष्टि का हेतु वायुदेव (बृहतीः) बहुत (रायः) धान्यादि धनों को (सम्-अधूनुत) भले प्रकार प्राप्त करावे (क्षोणीः) भूमियों वा खेतों को (सम्) भले प्रकार प्राप्त करावे (उ) और (सूर्यम्) सूर्य के प्रकाश को (सम्) भले प्रकार प्राप्त करावे (शुचयः) पवित्र निर्मल (शुक्रासः) वीर्यकारक पदार्थ (सम्) भले प्रकार प्राप्त करावे (गवाशिरः) दुग्ध घृतादि गौ के पदार्थों सहित (सोमाः) सोमरस (इन्द्रम्) इन्द्रदेव को (सम्-अमन्दिषुः) भले प्रकार हृष्टपुष्ट करते हैं ॥ ऋ० ८ । ५२ । १० में भी ॥२॥

अथ तृतीय तृचसूक्तस्य--अम्बरीष ऋजिष्वा ऋषिः । सोमो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥ तत्र प्रथमा

१६७६—इन्द्राय सोम पातवे वृत्रघ्ने परि षिच्यसे ।
नरे च दक्षिणावते वीराय सदनासदे ॥१॥

इसकी व्याख्या (१३१) में हो गई है ॥१॥

अथ द्वितीया

१६८०—तं सखायः पुरूरुचं वयं यूयं च सूरयः ।
अश्याम वाजगन्ध्यं सनेम वाजस्पत्यम् ॥२॥

भावार्थः—(सूरयः) हे विद्वानो ! (सखायः) मित्रो ! (पुरूरुचम्) बहुत दीप्तिमान् (वाजगन्ध्यम्) बलदायक सुगन्धयुक्त (वाजस्पत्यम्) बलदायक गृहयुक्त (तम्) उस सोम को (यूयम्) तुम (च) और (वयम्) हम सब (अश्याम) पीवें (सनेम) संभजन करें ॥ भाव यह है कि सोम के होम और पीने से बल अन्न गृहादि सुख होते हैं ॥ ऋ० ९ । ९८ । १२ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ तृतीया

१६८१—परि त्यं हर्यतं हरिं बभ्रुं पुनन्ति वारेण ।
यो देवान्विश्वां इत्परि मदेन सह गच्छति ॥३॥

इसकी व्याख्या (५५२) में हो चुकी है ॥३॥

अथ प्रगाथस्य पञ्चमसूक्तस्य वसिष्ठ ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः॥ तत्र प्रथमा

१६८२—कस्तमिन्द्र त्वा वसवा मर्त्यो दधर्षति ।
श्रद्धा हि ते मघवन्पार्ये दिवि वाजी वाजं सिषासति ॥१॥

इसकी व्याख्या (२८०) में हो गई है ॥१॥

अथ द्वितीया

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २र
१६८३—मघोनः स्म वृत्रहत्येषु चोदय ये ददति प्रिया वसु ।
२३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
तव प्रणीती हर्यश्व सूरिभिर्विश्वा तरेम दुरिता ॥२॥

भावार्थः—(हर्यश्व) हे हरणशील व्याप्ति वाले इन्द्र परमेश्वर ! (ये) जो लोग (प्रिया) प्यारे (वसु) धनों को (ददति) दान करते हैं,उन (मघोन:) धनवान् यजमानों को (वृत्रहत्येषु) दुष्टजन्तुविनाशक यज्ञों में (चोदय) प्रेरित करो, और हम (तव) तुम्हारे (प्रणीती) प्रणीत वेद से (सूरिभि:) विद्वानों के संगपूर्वक उनके साथ (विश्वा) सब (दुरिता) पापों को (तरेम स्म) पार हो जावें।।

ऋ० ७ । ३२ । १५ में भी ।।२।।

इत्यऽष्टादशाऽध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ॥२॥

अथ तृतीये खण्डे

प्रथम तृचस्य—विश्वमना ऋषिः । इन्द्रो देवता । उष्णिक्छन्द: ।।

तत्र प्रथमा

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१६८४—एदु मधोर्मदिन्तरं सिञ्चाध्वर्यो अन्धसः ।
३ २उ ३ १ २र ३ १ २
एवा हि वीर स्तवते सदावृधः ॥१॥

इसकी व्याख्या (३८५) में हो गई है ।।१।।

अथ द्वितीया

१ २ ३ १ २ ३ १ २
१६८५—इन्द्र स्थातर्हरीणां न किष्टे पूर्व्यस्तुतिम् ।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
उदानंश शवसा न भन्दना ॥२॥

भावार्थ:—हे (हरीणाम् स्थातः) सूर्यकिरणादि तेजों को स्थापक! (इन्द्र) परमेश्वर! (ते) तुम्हारी (पूर्व्यस्तुतिम्) सनातन वेदोक्त स्तुति को, कोई (नकि:) नहीं (उदानंश) पाता (शवसा) न तो बल से और (न) न (भन्दना) तेज से ।।

निघण्टु १। १६ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद ८। २४। १७ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१६८६—तं वो वाजानां पतिमहूमहि श्रवस्यवः ।
अप्रायुभिर्यज्ञेभिर्वावृधेन्यम् ॥३॥

भावार्थः—(**श्रवस्यवः**) यश वा अन्न चाहने वाले हम (**वाजानाम्**) बलों वा अन्नों के (**पतिम्**) पालक वा स्वामी, (**अप्रायुभिः**) निरन्तर होने वाले (**यज्ञेभिः**) यज्ञों से (**वावृधेन्यम्**) हमको बहुत बढ़ाने वाले (**तम्**) उस (**वः**) तुम परमेश्वर इन्द्र को (**अहूमहि**) पुकारते हैं ॥

ऋ० ८। २४। १८ में भी ॥३॥

अथ प्रगाथस्य द्वितीयसूक्तस्य—सोभरिर्ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृदुष्णिक्, विराट् पङ्क्तिश्च छन्दसी ॥

तत्र प्रथमा

१६८७—तं गूर्धया स्वर्णरं देवासो देवमरतिं दधन्विरे ।
देवत्रा हव्यमूहिषे ॥१॥

इसकी व्याख्या (१०६) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१६८८—विभूतरातिं विप्र चित्रशोचिषमग्निमीडिष्व यन्तुरम् ।
अस्य मेधस्य सोम्यस्य सोभरे प्रेमध्वराय पूर्व्यम् ॥२॥

भावार्थ—(**सोभरे**) हे भले प्रकार से भरण करने वाले (**विप्र**) ब्राह्मण विद्वन् ! तू (**अस्य**) इस (**सोम्यस्य**) सोमरस से साध्य (**मेधस्य**) यज्ञ के (**यन्तुरम्**) ले जाने वाले, (**विभूतरातिम्**) बड़े दाता (**चित्रशोचिषम्**) विचित्र प्रकाशवान्, (**पूर्व्यम्**) सनातन (**ईम्**) इस (**अग्निम्**) अग्नि वा परमेश्वर को (**अध्वराय**) यज्ञ के लिये (**प्र ईडिष्व**) प्रकर्ष से स्तुत कर ॥

ऋ० ८। १६। २ में भी ॥२॥

अथ प्रगाथस्य तृतीयसूक्तस्य—अग्निर्ऋषिः । सोमो देवता । उष्णिक् छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१६८९—आ सोम स्वानो अद्रिभिस्तिरो वाराण्यव्यया ।
जनो न पुरि चम्वोर्विशद्धरिः सदो वनेषु दध्रिषे ॥१॥

इसकी व्याख्या (५१३) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१६९०—स मामृजे तिरो अण्वानि मेष्यो मीढ्वान्त्सप्तिर्न वाजयुः ।
अनुमाद्यः पवमानो मनीषिभिः सोमो विप्रेभिर्ऋक्वभिः॥२॥

भाषार्थः—(वाजयुः) बल चाहने वाले (मीढ्वान्) सांड (सप्तिः) घोड़े के (न) समान वीर्यवान् (अनुमाद्यः) हर्षकारक (सः) वह (पवमानः) सोमरस, (मनीषिभिः) मेधावी (विप्रेभिः) ब्राह्मण (ऋक्वभिः) ऋत्विजों से (अण्वानि) सूक्ष्म=बारीक (मेष्यः) मेषरोम से बने दशापवित्रों को (तिरः) तिरछा करता हुआ (मामृजे) शोधा=छाना जाता है ॥

ऋग्वेद ९ । १०६ । ११ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ प्रगाथस्य चतुर्थतृचस्य—कलिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । पादनिचृद् बृहती, निचृत्पङ्क्तिश्च क्रमेण छन्दसी ॥

तत्र प्रथमा

१६९१—वयमेनमिदा ह्योऽपीपेमेह वज्रिणम् ।
तस्मा उ अद्य सवने सुतं भरा नूनं भूषत श्रुते ॥१॥

इसकी व्याख्या (२७२) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१६९२—वृकश्चिदस्य वारण उरामथिरा वयुनेषु भूषति ।
सेमं नः स्तोमञ्जुजुषाण आगहीन्द्र प्र चित्रया धिया ॥२॥

भावार्थः—(अस्य) इस परमेश्वर के (वयुनेषु) प्रज्ञानों में (उरामथिः) हृदयदु:खदायक (वारणः) मार्ग रोकने वाला लुटेरा (वृकः) चौर (चित्) भी (आ—भूवति) सीधा हो जाता है (सः) वह सर्वशक्तिमान् (इन्द्र) परमेश्वर ! तू (नः) हमारे (इमम्) इस (स्तोमम्) स्तोत्र को (जुजुषाणः) स्वीकृत करता हुआ (चित्रया) विचित्र (धिया) बुद्धि वा कर्म से (आगहि) प्राप्त हो ॥

क्रूरकर्मी चोर डाकू लुटेरे भी जिस परमेश्वर के सामने सीधे होकर निज-कर्म-फल भोग में परतन्त्र हो जाते हैं, वह सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर हमारी पुकार सुने और हमको विचित्र बुद्धि वा कर्म करने का पुरुषार्थ देवे ॥

ऋग्वेद ८ । ६६ । ८ में भी ॥२॥

अथ पञ्चमस्य तृचसूक्तस्य—विश्वामित्र ऋषिः । इन्द्राग्नी देवते ।
गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१ २ ३ १ ३ २ ३ १ २
१६६३—इन्द्राग्नी रोचना दिवः परि वाजेषु भूषथः ।
१ २ ३ १ ३क२र
तद्वां चेति प्र वीर्यम् ॥१॥

भावार्थः—(दिवः) आकाश के (रोचना) प्रकाशक (इन्द्राग्नी) बिजुली और अग्नि ! (वाजेषु) बलों वा संग्रामों में (परिभूषथः) सबको हरा सकते हो और पराजित करते हो, (तद्) इस बात को (वाम्) तुम्हारा (वीर्यम्) बल वीर्य (प्र—चेति) उत्कृष्टता से बतलाता है ॥

ऋग्वेद ३ । १२ । ९ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१६६४—इन्द्राग्नी अपसस्पर्यु पप्रयन्ति धीतयः ।
३ १ २ ३ २क १ २
ऋतस्य पथ्या३अनु ॥२॥

इसकी व्याख्या (१५७७) में हो चुकी है ॥२॥

अथ तृतीया

१ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१६६५—इन्द्राग्नी तविषाणि वां सधस्थानि प्रयांसि च ।
१ २ ३ १ २ ३ २
युवोरप्तूर्यं हितम् ॥३॥

इसकी व्याख्या (१५७८) में हो चुकी है ॥३॥

अथ षष्ठ्यृचस्य—मेधातिथि ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१६६६—क ईं वेद सुते सचा पिबन्तं कद्वयो दधे ।
अयं यः पुरो विभिनत्त्योजसा मन्दानः शिप्र्यन्धसः ॥१॥

इसकी व्याख्या (२९७) में हो गई है ॥१॥

अथ द्वितीया

१६६७—दाना मृगो न वारणः पुरुत्रा चरथं दधे ।
नकिष्ट्वा नि यमदा सुते गमो महांश्चरस्योजसा ॥२॥

भावार्थः—(न) जैसे (मृगः) वनचर (वारणः) हाथी (पुरुत्रा) बहुत स्थलों पर (चरथम्) चरणशील (दाना) निज मद को (दधे) धारण करता फिरता है, वैसे ही (ओजसा) बल से (महान्) महान् इन्द्र भी (चरसि) विचरता है (त्वा) उस को (न किः) कोई नहीं (नियमत्) निगृहीत करता, वह (सुते) सोम अभिषुत होने पर (आगमः) हमें प्राप्त होवे ॥

जैसे जङ्गली हाथी मदमाता निरंकुश स्वेच्छाचारी मद चुवाता घूमता है, उसे कोई निगृहीत नहीं करता, इसी प्रकार बल से अति बली इन्द्र जो वायु विशेष वर्षा करता हुआ स्वतन्त्र घूमता है, हम चाहते हैं कि हमारे सोमयज्ञ में प्राप्त होकर वह सोमाहुति ग्रहण करे ॥ ऋ० ८ । ३३ । ८ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१६६८—यः उग्रः सन्ननिष्टृतः स्थिरो रणाय संस्कृतः ।
यदि स्तोतुर्मघवा शृणवद्धवं नेन्द्रो योषत्या गमत् ॥३॥

भावार्थः—(यः) जो (उग्रः) उद्गीर्ण बल वाला (अनिष्टृतः) मेघरूपी शत्रुओं से न पार पाया (सन्) हुआ (रणाय) मेघों से युद्ध के लिये (संस्कृतः) सन्नद्ध और (स्थिरः) दृढ़ होता है, वह (मघवा) यज्ञभागग्राही (इन्द्रः) इन्द्र

(यदि) यदि (स्तोतुः) स्तुति प्रशंसा करने वाले की (हवम्) पुकार को (शृणवत्) सुने अर्थात् स्तुति के अनुकूलवर्ती हो जावे तो (न) नहीं (योषति) जावे, किन्तु (आगमत्) आवे ॥

ऋग्वेद ८ । ३३ । ६ में भी यही पाठ है, परन्तु मूल में स्पष्ट शृणवत् पाठ देखते लिखते हुए भी पं० ज्वालाप्रसाद भाष्यकार ने कलकत्ता एसियाटिक सोसाइटी के छपे पुस्तकस्थ सायणभाष्य में अशुद्ध छपे शृणवन् पाठ को ही उद्धृत कर लिया है ॥३॥

इत्यष्टादशाऽध्यायस्य तृतीयः खण्डः ॥३॥

अथ चतुर्थे खण्डे प्रथमतृचस्य—निध्रुविर्ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥ तत्र प्रथमा

१६९९—पवमाना असृक्षत सोमाः शुक्रास इन्दवः ।
अभि विश्वानि काव्या ॥१॥

भावार्थः—(शुक्रासः) शुक्र = वीर्य वाले (इन्दवः) गीले वा तर (पवमानाः) शोधे हुए (सोमाः) सोम (विश्वानि) सब (काव्या) काव्यों = वेदवचनों को (अभि) आनुकूल्य करके (असृक्षत) अग्नि में छोड़े जाते हैं ॥

ऋग्वेद ९ । ६३ । २५ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

१७००—पवमाना दिवस्पर्यन्तरिक्षादसृक्षत ।
पृथिव्या अधि सानवि ॥२॥

भावार्थः—(पवमानाः) सोम (दिवः) प्रकाशमान (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से (परि) सब ओर (पृथिव्याः) भूमि से (अधि) ऊपर (सानवि) पर्वतों के शिखर पर (असृक्षत) वर्षते हैं, मेघ के साथ ॥

ऋग्वेद ९ । ६३ । २७ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१७०१—पवमानास आशवः शुभ्रा असृग्रमिन्दवः ।
२ ३ २ ३ २ ३ १ २
घ्नन्तो विश्वा अप द्विषः ॥३॥

भावार्थः—(आशवः) वेगवान् (शुभ्राः) श्वेतवर्ण शुभ्र उज्ज्वल (पवमानासः) शोध्यमान (इन्दवः) सोम (विश्वाः) सब (द्विषः) हानिकारकों को (अप घ्नतः) नाशते हुए (असृग्रम्) अग्नि में छोड़े होमे जाते हैं ॥

ऋग्वेद ९ । ६३ । २६ में भी ॥३॥

अथ द्वितीयतृचस्य—विश्वामित्र ऋषिः । इन्द्राग्नी देवते । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २
१७०२—तोशा वृत्रहणा हुवे सजित्वानापराजिता ।
३ १ २ ३ १ २
इन्द्राग्नी वाजसातमा ॥१॥

भावार्थः—(तोशा) दुष्टों के बाधक (वृत्रहणा) पाप के नाशक (सजित्वाना) समान जयशील (अपराजिता) न हारने वाले (वाजसातमा) अन्न वा बल के अत्यन्त देने वाले (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि को (हुवे) होम वा तदर्थ आह्वान करता हूँ ॥ ऋग्वेद ३ । १२ । ४ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१७०३—प्र वामर्चन्त्युक्थिनो नीथाविदो जरितारः ।
१ २ ३ २३ १ २
इन्द्राग्नी इष आ वृणे ॥२॥

इसकी व्याख्या (१५७५) में हो गई है ॥१॥

अथ तृतीया

१ २ ३ १ २र ३ १ २
१७०४—इन्द्राग्नी नवतिं पुरो दासपत्नीरधूनुतम् ।
३ १ २र३ १ २
साकमेकेन कर्मणा ॥३॥

इसकी व्याख्या (१५७६) में हो गई ॥१॥

अथ तृतीय तृचस्य—भरद्वाज ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१ २ ३ १२ ३ १२
१७०५—उप त्वा रण्वसंदृशं प्रयस्वन्तः सहस्कृत ।
१ २ ३ २३ १२
अग्ने ससृज्महे गिरः ॥१॥

भावार्थः—(सहस्कृत) बल से मथकर उत्पन्न किये हुए (अग्ने) हे अग्ने (रण्व—संदृशम्) रमणीय दर्शनीय (त्वा) तेरे प्रति (प्रयस्वन्तः) हव्यरूप अन्न वाले हम यजमान (गिरः) वेदमन्त्रों को (उप ससृज्महे) वेदी के समीप बैठकर उच्चारण करते हैं ॥ ऋग्वेद ६ । १६ । ३७ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

१ २ ३ १ २३ २ ३१२ ३ १ २ ३२
१७·६—उप च्छायामिव घृणेरगन्म शर्म ते वयम् ।
२ ३ १२
अग्ने हिरण्यसंदृशः ॥२॥

भावार्थः—(अग्ने) हे पावक ! (हिरण्यसंदृशः) सुवर्णतुल्य तेज वाले (घृणेः) प्रदीप्त (ते) तेरे (शर्म) सुख को (वयम्) हम यजमान लोग (उप—अगन्म) उपासित करें=भोगें । दृष्टान्त—(छायामिव) जैसे सन्तप्त लोग छाया के पास जाते हैं, तद्वत् ॥ ऋग्वेद ६ । १६ । ३८ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

२ ३१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २१
१७०७—य उग्र इव शर्यहा तिग्मशृङ्गो न वंसगः ।
२ ३ १२ ३१ २
अग्ने पुरो रुरोजिथ ॥३॥

भावार्थः—(अग्ने) पावक ! तू (पुरः) आगे आये हुए दुष्ट जन्तु वा अन्य जो हो उसको (रुरोजिथ) भग्न और भस्म कर देता है । (यः) जो तू (शर्यहा) बलों के नाशक (उग्रः) उद्‌गीर्णबल धनुर्धारी (इव) सा, और (तिग्मशृंगः) तीक्ष्णशृङ्ग वाले (वंसगः) बैल (न) सा, वर्त्तमान है कि जिसके सामने कोई ठहर नहीं सकता ॥ ऋ० ६ । १६ । ३९ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थतृचस्य—भरद्वाज ऋषिः । वैश्वानरोऽग्निर्देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१७०८—ऋतावानं वैश्वानरमृतस्य ज्योतिषस्पतिम् ।
अजस्रं घर्ममीमहे ॥१॥

भावार्थः—(ऋतावानम्) यज्ञवान् (वैश्वानरम्) सबके नेता (ऋतस्य) सच्चे (ज्योतिषः) तेज के (पतिम्) स्वामी (अजस्रम्) निरन्तर (घर्मम्) गर्म अग्नि को (ईमहे) हम चाहते हैं ॥१॥

अथ द्वितीया

१७०९—य इदं प्रतिपप्रथे यज्ञस्य स्वरुत्तिरन् ।
ऋतूनुत्सृजते वशी ॥२॥

भावार्थः—(यः) जो अग्नि (इदम्) इस (स्वः) आकाश को (उत्तिरन्) तिरता हुआ (प्रति पप्रथे) सब ओर फैलता है और (वशी) बल से वश करने वाला (ऋतून्) वसन्तादि ऋतुओं को (उत्सृजते) उत्तम बनाता है । अर्थात् उस-उस ऋतु में अग्न्याधान करने से अग्नि उस-उस ऋतु को सुधारता है । यही अभिप्राय सायणाचार्य निकालते हैं ॥२॥

अथ तृतीया

१७१०—अग्निः प्रियेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य ।
सम्राडेको विराजति ॥३॥

भावार्थः—(भूतस्य) पूर्वकालस्थ और (भव्यस्य) भविष्यत् प्राणी अप्राणियों का (कामः) चाहा हुआ (सम्राट्) सम्यक् प्रकाशमान (एकः)

अद्वितीय (अग्निः) अग्नि (प्रियेषु) प्यारे (धामसु) तीनों लोकों में (विराजति) विराजता है ।।३।।

इत्यष्टादशाऽध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ।।४।।

इत्यष्टमस्य द्वितीयोऽर्धप्रपाठकः ।।

इति श्रीमत्कण्ववंशाऽवतंस श्रीयुत पण्डित हजारीलाल स्वामी के पुत्र परीक्षितगढ़ (जिला—मेरठ) निवासी तुलसीराम स्वामिकृत उत्तरार्चिक सामवेदभाष्य में अठारहवां अध्याय समाप्त हुआ ।।१८।।

ओ३म्

अथैकोनविंशाऽध्यायः

तत्र प्रथमे खण्डे

प्रथम तृचस्य—विरूप ऋषिः। अग्निर्देवता। गायत्री छन्दः॥

तत्र प्रथमा

१७११—अग्निः प्रत्नेन जन्मना शुम्भानस्तन्वा३स्वाम्।
कविर्विप्रेण वावृधे॥१॥

भावार्थः—(कविः) कान्तकर्मा (अग्निः) अग्नि (प्रत्नेन) पुराणे (जन्मना) जन्म से=सनातन स्वरूप से (स्वाम्) अपने (तन्वम्) तेजःस्वरूप को (शुम्भानः) शोभित करता हुआ (विप्रेण) ब्राह्मण ऋत्विज् से (वावृधे) बढ़ाया जाता है॥ ऋ० ८। ४४। १२ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये॥१॥

अथ द्वितीया

१७१२—ऊर्जो न पातमा हुवेऽग्निं पावकशोचिषम्।
अस्मिन् यज्ञे स्वध्वरे॥२॥

भावार्थः—(ऊर्जोनपातम्) बल को न गिराने वाले बलरक्षक बलवर्धक बलवान् (पावकशोचिषम्) शुद्धिकारक लपटों वा तेजों वाले (अग्निम्) अग्नि को (अस्मिन्) इस (स्वध्वरे) शोभन और हिंसारहित (यज्ञे) यज्ञ में (आहुवे) बुलाता=आधान करता हूं॥ ऋ० ८। ४४। १३ में भी॥२॥

अथ तृतीया

१७१३—स नो मित्रमहस्त्वमग्ने शुक्रेण शोचिषा।
देवैरा सत्सि बर्हिषि॥३॥

भावार्थः—(अग्ने) हे अग्ने ! (सः) वह (त्वम्) तू (मित्रमहः) मित्रों से सत्कार पाने योग्य (शुक्रेण) शुद्ध (तेजसा) तेज से (नः) हमारे (बर्हिषि) यज्ञ में (देवैः) अन्य देवों वायु आदि के सहित (आसत्सि)विराजमान होता है ।। ऋग्वेद ८ । ४४ । १४ में भी ।।३।।

अथ द्वितीयसूक्तस्य चतुर्ऋचस्य—अवत्सार ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ।।

तत्र प्रथमा

१७१४—उत्ते शुष्मासो अस्थू रक्षो भिन्दन्तो अद्रिवः ।
नुदस्व याः परिस्पृधः ।।१।।

भावार्थः—(अद्रिवः) हे मेघ वाले ! सोम ! (ते) तेरे (शुष्मासः) वेग (रक्षः) दुष्ट प्राणी को (भिन्दन्तः) नष्ट करते हुए (उत् अस्थुः) उठते हैं और (याः) जो (स्पृधः) स्पर्धा करने वाली शत्रुसेना हम से द्वेषपूर्वक बाधा करती हैं उनको (परि नुदस्व) बाधा करके हटा ।।

ऋग्वेद ९ । ५३ । १ में भी ।।१।।

अथ द्वितीया

१७१५—अया निजघ्निरोजसा रथसंगे धने हिते ।
स्तवा अबिभ्युषा हृदा ।।२।।

भावार्थः—(अया) इस तेरे सेवन से आप्यायित (ओजसा) बलवान् (अबिभ्युषा) निर्भय (हृदा) हृदय से (निजघ्निः) निरा शत्रुसंहारी मैं (रथसंगे) रथ फंसने वाले संग्राम में और (धने) धन (हिते) जहां निहित हो वहां (स्तवै) तेरी प्रशंसा करता हूं ।। ऋ० ९ । ५३ । २ में भी ।।२।।

अथ तृतीया

१७१६—अस्य व्रतानि नाधृषे पवमानस्य दूढ्या ।
रुज यस्त्वा पृतन्यति ।।३।।

भावार्थः—(अस्य) इस हमारे वर्त्ताव में आने वाले (पवमानस्य) सोम के (व्रतानि) कर्म (दूढ्यः) दुर्बुद्धि दुष्ट मनुष्य से (नाधृषे) धर्षणा नहीं किये जा सकते, अतः (यः) जो दुर्बुद्धि (त्वा) उस सोम को (पृतन्यति) द्वेष करता है, उसको (तम) बाधता है ॥ ऋ० ९ । ५३ । ३ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थी

१७१७—तं हिन्वन्ति मदच्युतं हरिं नदीषु वाजिनम् ।
इन्दुमिन्द्राय मत्सरम् ॥४॥

भावार्थः—(तम्) उस (मत्सरम्) हर्षकारक (मदच्युतम्) हर्ष के वर्षाने वाले (हरिम्) हरे (वाजिनम्) बलवान् (इन्दुम्) सोम को (नदीषु) प्रवाहों के निमित्त (इन्द्राय) वर्षा करने वाले वायुविशेष=इन्द्र के लिये (हिन्वन्ति) होम द्वारा भेजते हैं ॥ ऋ० ९ । ५३ । ४ में भी ॥४॥

अथ तृचस्य तृतीयसूक्तस्य—विश्वामित्र ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१७१८—आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः ।
मा त्वा केचिन्नियेमुरिन्न पाशिनोऽति धन्वेव ताँ इहि ॥१॥

इसकी व्याख्या (२४६) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१७१९—वृत्रखादो वलं रुजः पुरां दर्मो अपामजः ।
स्थाता रथस्य हर्योरभिस्वर इन्द्रो दृढा चिदारुजः ॥२॥

भावार्थः—सूर्य की शक्ति का वर्णन करते हैं कि—(वृत्रखादः) मेघ का भक्षक हिंसक है, (वलंरुजः) चराचर के बल का भंग करने वाला है, (पुरां दर्मः) ग्रामनगरादि और देहों को पुराना करने वाला–विदीर्ण करने वाला है, (अपामजः) आकाश मण्डल में मेघस्थ जलों का प्रेरक है (हर्योः) सीधी-तिरछी दो प्रकार की किरणों रूपी घोड़ों के (रथस्य) रथ का (स्थाता) बैठने वाला है, (इन्द्रः)सो

इन्द्र (अभिस्वरे) अपने सर्वतोव्यापी उपताप वा गरमी में (दृढा) दृढ पदार्थों को (चित्) भी (आरुजः) भग्न कर देता है ॥ ऋग्वेद ३ । ४५ । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१७२०—गम्भीराँ उदधीँरिव क्रतुं पुष्यसि गा इव ।
प्र सुगोपा यवसं धेनवो यथा ह्रदं कुल्या इवाशत ॥३॥

भावार्थः—फिर सूर्य की ही शक्ति कहते हैं—सूर्य (इव) जैसे (गम्भीरान्) गहरे (समुद्रान्) समुद्रों को (पुष्यसि) पुष्ट करता भरता है, वैसे ही (क्रतुम्) यज्ञ को पुष्ट करता है (सुगोपाः) अच्छा गोपालक (इव) जैसे (गाः) गौवों को पुष्ट करता है, वैसे सूर्य भूमियों का पोषण करता है, (यथा) जैसे (धेनवः) गौवें (यवसम्) तृणादि भक्ष्य वा चारे को (प्र) प्राप्त होती है, वैसे सूर्य किरणें यज्ञ से भाग लेती हैं, (इव) और जैसे (कुल्याः) छोटी नदियें (ह्रदम्) गहरे जलाशय को (आशत) प्राप्त होती हैं, वैसे सूर्यकिरणगत सोमादि ओषधियों के रस आकाश समुद्र को व्यापते हैं ॥ ऋ० ३ । ४५ । ३ में भी ॥३॥

अथ प्रगाथस्य चतुर्थसूक्तस्य—देवातिथि ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१७२१—यथा गौरो अपाकृतं तृष्यन्नेत्यवेरिणम् ।
आपित्वे नः प्रपित्वे तूयमागहि कण्वेषु सु सचा पिब ॥१॥

इसकी व्याख्या (२५२) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१७२२—मन्दन्तु त्वा मघवन्निन्द्रेन्दवो राधोदेयाय सुन्वते ।
आमुष्या सोममपिबश्चमू सुतं ज्येष्ठं तद्दधिषे सहः ॥२॥

भावार्थः—(मघवन्) हे यज्ञ वाले कर्मकर्ता ! (इन्द्र) इन्द्रियाधिष्ठातः जीवात्मन् ! (सुन्वते) सोम अभिषुत करके सोमयाग करने वाले यजमान के लिये

(राधः) धन के (देयाय) देने को (त्वा) तुझे (इन्दवः) सोम रस (मन्दन्तु) हृष्ट करें (अनुष्य) इस यजमान के (चमू) अधिषवण फलकों वा चमसों में (सुतम्) अभिषुत किये हुए (सोमम्) सोमरस को (आ अपिबः) तू पीता है और (तत्) उस सोमरसोत्पन्न (ज्येष्ठम्) बड़े (सहः) बल को (दधिषे) धारता है ॥ ऋग्वेद ८ । ४ । ४ में भी ॥२॥

अथ प्रगाथात्मक पञ्चमसूक्तस्य—गोतम ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१७२३—त्वमङ्ग प्र शंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम् ।
न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः ॥१॥

इसकी व्याख्या (२४७) में हो गई है ॥१॥

अथ द्वितीया

१७२४—मा ते राधांसि मा त ऊतयो
वसोऽस्मान् कदा चना दभन् ।
विश्वा च न उपमिमीहि मानुष
वसूनि चर्षणिभ्य आ ॥२॥

भावार्थः—(मानुष) हे मनुष्यमात्र के हितकारी ! (वसो) वसाने वाले! इन्द्र=परमेश्वर ! (ते) तेरे (राधांसि) उत्पन्न किये अन्न गेहूं आदि (अस्मान्) हमको (कदाचन) कभी (मा आदभन्) दुःख न दें, न मारें (ते) तेरी की हुई (ऊतयः) रक्षायें (मा) दुःख न दें (च) और (विश्वा) सब (वसूनि) विद्यादि धन (नः) हम (चर्षणिभ्यः) मनुष्यों के लिये (आ—उप—मिमीहि) सर्वतः दीजिये ॥ ऋग्वेद १ । ८४ । २० में भी ॥२॥

इत्येकोनविंशाऽध्यायस्य प्रथमः खण्डः ॥१॥

अथ द्वितीये खण्डे

प्रथम तृचस्य सूक्तस्य—पुरुमीढोऽजमीढो वा ऋषिः। उषा देवता। गायत्री छन्दः॥

तत्र प्रथमा

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
१७२५—प्रतिष्या सूनरी जनी व्युच्छन्ती परि स्वसुः।
३ १ २ ३ २
दिवो अदर्शि दुहिता ॥१॥

भावार्थ—(**स्या**) वह प्रकट होती हुई, (**सूनरी**) मनुष्यों को सुमार्ग पर ले चलने वाली, (**जनी**) फलों की जनने वाली, (**स्वसुः**) अपनी बहिन रात्रि के (**परि**) अन्त में (**व्युच्छन्ती**) अन्धकार को निवारती और प्रकाश को फैलाती हुई (**दिवः**) सूर्य वा द्युलोक की (**दुहिता**) पुत्री के तुल्य उषा (**अदर्शि**) दीख रही है॥ ऋग्वेद ४। ५२। १ में भी॥१॥

अथ द्वितीया

१ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २
१७२६—अश्वेव चित्रारुषी माता गवामृतावरी।
१ २ ३ २ ३ २
सखा भूदश्विनोरुषाः ॥२॥

भावार्थः—(**उषा**) प्रातर्वेला, (**अश्वा इव**) बिजली सी (**चित्रा**) चमत्कार वाली, (**अरुषी**) अरुण वर्ण से उदय होने वाली, (**गवां माता**) किरणों की जननी, (**ऋतावरी**) हितकारिणी, (**अश्विनोः सखा**) प्राण अपान की सखी (**अभूत**) है॥ ऋ० ४। ५२। २ में भी॥२॥

अथ तृतीया

३ १ २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २र
१७२७—उत सखास्यश्विनोरुत माता गवामसि।
३ २ ३ १ २
उतोषो वस्व ईशिषे ॥३॥

भावार्थः—हे (**उषः**) उषा! तू (**उत**) और भी (**अश्विनोः**) प्राणाऽपानों की (**सखा**) सहचरी (**असि**) है, (**उत**) और (**गवाम्**) किरणों की (**माता**) जननी (**असि**) है, (**उत**) और (**वस्वः**) विद्यादि धन की (**ईशिषे**) स्वामिनी है॥ ऋग्वेद ४। ५२। ३ में भी॥३॥

अथ द्वितीयतृचस्य—प्रस्कण्व ऋषिः । अश्विनौ देवते । गायत्री छन्दः ।।

तत्र प्रथमा

१७२८—एषो उषा अपूर्व्या व्युच्छति प्रिया दिवः ।
स्तुषे वामश्विना बृहत् ॥१॥

इसकी व्याख्या (१७८) में हो चुकी है ।।१।।

अथ द्वितीया

१७२९—या दस्रा सिन्धुमातरा मनोतरा रयीणाम् ।
धिया देवा वसुविदा ॥२॥

भाषार्थः—(**या**) जो, (**सिन्धुमातरा**) जिनकी माता समुद्र है वे, (**रयीणाम्**) धनों के (**मनोतरा**) मन से तिराने वाले (**धिया**) कर्म से (**वसुविदा**) धन के लभाने वाले (**दस्रा**) प्राण अपान वा सूर्य चन्द्रमा (**देवा**) दो देवता हैं [उनकी स्तुति=प्रशंसा करता हूँ—] यह पूर्व मन्त्र से आहृत है ।।

ऋग्वेद १ । ४६ । २ में भी ।।२।।

अथ तृतीया

१७३०—वच्यन्ते वां ककुहासो जूर्णायामधि विष्टपि ।
यद्वां रथो विभिष्पतात् ॥३॥

भावार्थः—(**वाम्**) तुम दोनों प्राणाऽपानों का (**रथः**) रमणीय वेग (**यत्**) जिस कारण (**जूर्णायाम्**) गर्म (**विष्टपि**) आकाश में (**अधि**) ऊपर (**विभिः**) पक्षिगणों के साथ (**पतात्**) जाता है अतः (**वाम्**) तुम्हारे (**ककुहासः**) महत्त्व (**वच्यन्ते**) मन्त्रों द्वारा कहे जाते हैं ।।

ऋग्वेद १ । ४६ । ३ में भी ।।३।।

अथ तृतीयतृचस्य—गोतम ऋषिः । उषा देवता । उष्णिक् छन्दः ।।

तत्र प्रथमा

१७३१—उषस्तच्चित्रमा भरास्मभ्यं वाजिनीवति ।
येन तोकं च तनयं च धामहे ॥१॥

भावार्थः—(**वाजिनीवति**) हे हव्यान्नयुक्ते ! (**उषः**) उषा ! (**अस्मभ्यम्**) प्रातः उठकर तेरा सेवन और योग करने वाले हम लोगों के लिये (**चित्रम्**) आदरणीय (**तत्**) उस धन को (**आभर**) ला (**येन**) जिससे हम (**तोकं च**) पुत्र और (**तनयं च**) पौत्र का (**धामहे**) धारण करें ॥ निरुक्तकृत व्याख्यान संस्कृत-भाष्य में देखिये ॥ ऋ० १ । ९२ । १३ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

१७३२—उषो अद्येह गोमत्यश्वावति विभावरि ।
रेवदस्मे व्युच्छ सूनृतावति ॥२॥

भावार्थः—(**गोमति**) हे गौवों वा किरणों वाली (**अश्वावति**) घोड़ों वा प्राणों वाली !(**विभावरि**) प्रकाश वाली (**सूनृतावति**) प्रिय सत्य वाणी वाली! (**उषः**) प्रभातवेला ! तू (**अस्मे**) हम तेरे यजन करने वालों के लिये (**अद्य**) अब (**इह**) यहां (**रेवत्**) धनयुक्त अन्य भोग्य पदार्थ हों, ऐसा (**व्युच्छ**) अन्धकार को निवृत्त कर ॥

उषः काल में उत्तम सुन्दर गौवें वा किरणें हों, उत्तम घोड़े वा प्राण हों, सुन्दर प्रकाश हो, मनुष्य पशु पक्षी आदि प्यारी वाणी को बोल रहे हों, उषा का यज्ञ हो रहा हो, ऐसी उषा=प्रभात वेला हमको हों, जिससे धन धान्य आदि सुख-वृद्धिपूर्वक अन्धकार का निवारण नित्य हुआ करे ॥

ऋ० १ । ९२ । १४ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१७३३—युङ्क्ष्वा हि वाजिनीवत्यश्वाँ अद्यारुणाँ उषः ।
अथा नो विश्वा सौभगान्या वह ॥३॥

भावार्थः— (**वाजिनीवति**) हे हव्य अन्न पाई हुई ! (**उषः**) प्रातर्वेला ! तू अपने (**अरुणान्**) लाल (**अश्वान्**) घोड़ों=किरणों को (**हि**) निश्चय (**युङ्क्ष्व**) जोत (**अथ**) फिर (**नः**) हमारे लिये (**विश्वा**) सब (**सौभगा**) सौभाग्यों को (**आवह**) पहुंचा ॥

जो लोग उषःकाल में उठकर यज्ञ करते हैं वे उस यज्ञ द्वारा उषा को हव्याऽन्नवती बनाते हैं, और वे अरुणोदय के उस उत्तम प्रभाव से सब सौभाग्य पाते हैं ॥

ऋ० १ । ९२ । १५ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थतृचस्य—गोतम ऋषिः । अश्विनौ देवते । उष्णिक् छन्दः ॥
तत्र प्रथमा

१ २ ३ २ ३ १ २र ३ १ २
१७३४—अश्विना वर्तिरस्मदा गोमद्दस्रा हिरण्यवत् ।
३ २उ ३ १२ ३ १ २
अर्वाग्रथं समनसा नि यच्छतम् ॥१॥

भावार्थः—(अश्विनौ) व्यापनशील (दस्रा) वातपित्तादि दोषों के नाशक (समनसा) समान मन रखने वाले प्राणाऽपान ! दोनों (गोमद्) इन्द्रिय सामर्थ्य सहित (हिरण्यवत्) तेजोयुक्त (वर्त्तिः) परिवर्त्ती (रथम्) अपने गमनागमन को (अस्मद्) हम युक्ताऽऽहार विहार वालों से (अर्वाक्) अनुकूल (आ—नि—यच्छतम्) वर्त्तावो ॥ ऋ० १ । ६२ । १६ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

२उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र
१७३५—एह देवा मयोभुवा दस्रा हिरण्यवर्तनी ।
३ १ २ ३ १ २
उषर्बुधो वहन्तु सोमपीतये ॥२॥

भावार्थः—(उषर्बुधः) प्रभात समय जाग उठने वाले मनुष्य (इह) इस लोक में (मयोभुवा) सुखदायी (दस्रा) दोष शमन करने वाले (हिरण्यवर्त्तनी) तेजस्वि मार्ग वाले (देवा) प्राण अपान वा प्राण उदान वायु देवों को (सोमपीतये) सोमादि उत्तम ओषधिरस के पानार्थ (आ वहन्तु) आवाहन करके सेवन करें ॥ ऋ० १ । ६२ । १८ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

२ ३ २उ ३ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २
१७३६—यावित्था श्लोकमा दिवो ज्योतिर्जनाय चक्रथुः ।
२ ३ १ २ ३ २
आ न ऊर्जं वहतमश्विना युवम् ॥३॥

भावार्थः (अश्विना) हे अश्विनौ देवो ! (यौ) जो तुम दोनों (दिवः आ) द्युलोक से प्रारम्भ करके (जनाय) मनुष्यादि प्राणिवर्ग के लिये (ज्योतिः) प्रकाश को (इत्था) इस प्रकार हमारे अनुभव में आई रीति से (चक्रथुः) करते हो, (युवम्) वे तुम दोनों (श्लोकम्) प्रशंसनीय (ऊर्जम्) बलदायक अन्नरस को (नः) हमारे लिये (आ वहतम्) लाते हो ॥

अश्विनौ का अर्थ निरुक्त १२ । १ में बहुत प्रकार से किया है । यथा—कोई द्युलोक पृथिवीलोक को, कोई दिन रात्रि को, कोई सूर्य चन्द्रमा को अश्विनौ कहते हैं, इत्यादि संस्कृतभाष्य में निरुक्त प्रमाण उद्धृत है ॥

ऋग्वेद १ । ९२ । १७ में भी ॥३॥

इत्येकोनविंशाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ॥२॥

अथ तृतीये खण्डे

प्रथम तृचस्य—वसुश्रुत ऋषिः । अग्निर्देवता । पङ्क्तिश्छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१७३७—अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः ।
अस्तमर्वन्त आशवोऽस्तं नित्यासो वाजिन इषं
स्तोतृभ्य आभर ॥१॥

इसकी व्याख्या (४२५) में हो गई है ॥१॥

अथ द्वितीया

१७३८—अग्निर्हि वाजिनं विशे ददाति विश्वचर्षणिः ।
अग्नी राये स्वाभुवं स प्रीतो याति वार्य्यमिषं
स्तोतृभ्य आभर ॥२॥

भावार्थः—(अग्निः) अग्नि (हि) ही (विशे) प्रजा के लिये (वाजिनम्) बलयुक्त अन्नादि (ददाति) देता है, (विश्वचर्षणिः) सब को देखने का सामर्थ्य देने वाला (अग्निः) अग्नि (स्वाभुवम्) सुन्दर सर्वतोव्याप्त (वार्यम्) वरणीय तेज को (याति) प्राप्त कराता है (सुप्रीतः) शोभन होम से प्रसन्न किया हुआ अग्नि (राये) धनादि ऐश्वर्य के लिये (स्तोतृभ्यः) ऋत्विज् आदि को (इषम्) अन्न (आभर) लाकर देता है ॥ ऋ० ५ । ६ । ३ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१७३९—सो अग्निर्यो वसुर्गृणे सं यमायन्ति धेनवः।
समर्वन्तो रघुद्रुवः सं सुजातासः सूरय इषं
स्तोतृभ्य आभर ॥३॥

भावार्थ (**सः**) वह (**अग्निः**) अग्नि (**यः**) जो (**वसुः**) वसु है (**यम्**) जिस का (**धेनवः**) वाणियें (**सम् - आ—यन्ति**) समागम करती हैं, (**रघुद्रुवः**) शीघ्रगामी (**अर्वन्तः**) घोड़ों वा प्राण [श० ५ । २ । ४ । ६] (**सम्**) समागम करते हैं, (**सुजातासः**) सुफल शोभन जन्म वाले (**सूरयः**) विद्वान् (**सम्**) समागम करते हैं, उसको (**गृणे**) मैं प्रशंसित करता हूँ, वह (**स्तोतृभ्यः इषम्-आ भर**) ऋत्विज् आदि को अन्न प्राप्त कराता है ॥

ऋग्वेद ५ । ६ । ४ यजुः. १५ । ४३ में भी ॥३॥

अथ द्वितीय तृचस्य —सत्यश्रवा वत्सोवर्षिः । उषा देवता । पङ्क्तिश्छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१७४०—महे नो अद्य बोधयोषो राये दिवित्मती।
यथाचिन्नो अबोधयः सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते
अश्वसूनृते ॥१॥

इसकी व्याख्या (४२१) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१७४१—या सुनीथे शौचद्रथे व्यौच्छो दुहितर्दिवः।
सा व्युच्छ सहीयसि सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते
अश्वसूनृते ॥२॥

भावार्थः—(**सुमीथे**) सुन्दर प्राप्ति वाली ! (**शोचद्रथे**) प्रकाशक रथ= रमणीय स्वरूप वाली ! (**सहीयसि**) अत्यन्त बलवती (**सत्यश्रवसि**) सच्चे यश वाली ! (**अश्वसूनृते**) व्यापक प्यारे शब्द वाली ! (**दिवः दुहितः**) द्युलोक वा सूर्य की पुत्री ! उषा ! देवि ! (**या**) जो तू (**व्यौच्छः**) पूर्व अन्धकार का नाश करती थी (**सा**) वही तू (**व्युच्छ**) अब भी अन्धकार को निवार ।।

उषा=प्रभात वेला की स्तुति के बहाने मनुष्यों और स्त्रियों को परमात्मा का उपदेश है कि जो लोग उषःकाल में उठते हैं वे बड़े धन धान्यादि ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं, और जिन घरों में उषा के तुल्य गुणवती स्त्रियां होती हैं वहां भी धन धान्यादि की वृद्धि होती है । जैसे उषा का सुन्दर दर्शनीय जन्म सबको आह्लाद उत्पन्न करता है, जैसे उषःकाल में सब जन्तु प्यारा शब्द करते हैं, जैसे उषा सब ओर विस्तृत होती है, और जैसे प्रकाशमान है, वैसे ही उत्तम स्त्रियों को भी बनना चाहिये ।। ऋ० ५ । ७६ । २ में भी ।।२।।

इस मन्त्र में सुजाते अश्वसूनृते शब्दों पर जो महाभाष्यक र पतञ्जलि मुनि ने अर्धएकार, अर्धओकार की आशंका और समाधान किया है उसको यहां सत्यव्रत सामश्रमी जी ने टिप्पणी में अंकित किया है ।

अथ तृतीया

१७४२—सा नो अद्याभरद्वसुर्व्युच्छा दुहितर्दिवः ।
यो व्यौच्छः सहीयसि सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते
अश्वसूनृते ।।३।।

भावार्थः—(**दिवः**) द्युलोक वा सूर्य की (**दुहितः**) बेटी ! उषा !(**या**) जो तू (**आभरद्वसुः**) धनादि धारण करती हुई (**व्यौच्छः**) अब से पहले अन्धकार को हटाती थी, (**सा उ**) वही तू (**अद्य**) आज भी (**नः**) हमारे (**व्युच्छ**) अन्धकार को मिटा ।। ऋ० ५ । ७६ । ३ में भी ।।३।।

अथ तृतीय तृचस्य—अवस्युर्ऋषि.। अश्विनौ देवते। पङ्क्तिश्छन्दः॥

तत्र प्रथमा

१७४३ - प्रति प्रियतमं रथं वृषणं वसुवाहनम्।
स्तोता वामश्विना वृषि स्तोमेभिर्भूषति प्रति माध्वी
मम श्रुतं हवम्॥१॥

इसकी व्याख्या (४१८) में हो चुकी है॥१॥

अथ द्वितीया

१७४४—अत्यायातमश्विना तिरोऽश्विना अहं सना।
दस्रा हिरण्यवर्तनी सुषुम्णा सिन्धुवाहसा माध्वी
मम श्रुतं हवम्॥२॥

भावार्थः—(**दस्रा**) दोषों के उपक्षय करने वालो! (**हिरण्यवर्त्तनी**) तेजयुक्तमार्ग वालो! (**सुषुम्णा**) सुन्दर सुख देने वालो! (**सिन्धुवाहसा**) वर्षा से नदियों के प्रवाह चलाने वालो! (**माध्वी**) मधुर मनोहरो! (**अश्विना**) सूर्यचन्द्रा वा प्राण उदानो! वा प्राण अपानो! तुम दोनों (**आयातम्**) मुझे प्राप्त होओ और (**मम**) मुझ यजमान के (**हवम्**) आवाहन को (**श्रुतम्**) सुनो=स्वीकार करो (**अहम्**) मैं यजमान (**विश्वाः**) सब अपनी विरोधी प्रजाओं को (**अति**) पार करके (**तिरः**) तिरस्कृत कर सकूं॥

ऋग्वेद ५।७५।२ में भी॥२॥

अथ तृतीया

१७४५—आ नो रत्नानि बिभ्रतावश्विना गच्छतं युवम्।
रुद्रा हिरण्यवर्तनी जुषाणा वाजिनीवसू माध्वी
मम श्रुतं हवम्॥३॥

भाषार्थः—(**रत्नानि**) रमणीय पदार्थों को (**बिभ्रती**) धारण करते हुए (**अश्विना**) सूर्यचन्द्रो ! वा प्राणाऽपानो ! (**युवम्**) तुम दोनों (**नः**) हम यजमानों को (**आ—गच्छतम्**) प्राप्त होओ (**दस्रा**) भयोत्पादको !(**हिरण्यवर्त्तनी**) तेजयुक्त मार्ग वालो ! (**जुषाणा**) यज्ञ को सेवन करते हुओ ! (**वाजिनी**) बलवानो ! (**वसू**) आठ ८ वसुओं के अन्तर्गतो ! (**माध्वी**) मनोहारी ! (**मम हवं-श्रुतम्**) मेरे आवाहन को स्वीकार करो ॥

ऋ० ५ । ७५ । ३ में भी ॥३॥

इत्येकोनविंशाऽध्याये तृतीयः खण्डः ॥३॥

अथ चतुर्थे खण्डे

प्रथम तृचस्य—बुधो गविष्ठिरो वा ऋषिः। अग्निर्देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१७४६——अबोध्यग्निः समिधा जनानां
प्रति धेनुमिवायतीमुषासम् ।
यह्वा इव प्र वयामुज्जिहानाः
प्र भानवः सस्रते नाकमच्छ ॥१॥

इसकी व्याख्या (७३) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१७४७—अबोधि होता यजथाय देवान्
ऊर्ध्वो अग्निः सुमनाः प्रातरस्थात् ।
समिद्धस्य रुशदर्शि पाजो
महान् देवस्तमसो निरमोचि ॥२॥

भावार्थः—(**होता**) होम का सिद्ध करने वाला (**अग्निः**) अग्नि (**देवान्**) वायु आदि देवों को (**यजथाय**) यजन करने के लिये (**अबोधि**) प्रदीप्त किया जाता=जगाया जाता है, (**प्रातः**) प्रातःकाल में (**सुमनाः**) मन को प्रसन्न करने वाला मनभावना अग्नि (**ऊर्ध्वःअस्थात्**) लपटरूप से उठता है, (**समिद्धस्य**) प्रदीप्त अग्नि का (**रुशत्**) प्रकाशमान (**पाजः**) बल=ज्वालारूपी (**अदर्शि**) दीखता है, सो यह (**महान्**) बड़ा (**देवः**) देव=अग्नि (**तमसः**) अन्धकार से (**निरमोचि**) जगत् को छुड़ाता है ॥

ऋग्वेद ५ । १ । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१७४८—यदीं गणस्य रशनामजीगः शुचिरङ्क्ते ।
शुचिभिर्गोभिरग्निः । आद्दक्षिणा युज्यते वाजयन्त्युत्तानामूर्ध्वो अधयज्जुहूभिः ॥३॥

भावार्थः—(**यत्**) जबकि (**ईम्**) यह (**अग्निः**) अग्नि (**गणस्य**) समूहात्मक जगत् के (**रशनाम्**) रस्सी रूप से व्यापार के बांधने=रोकने वाले अन्धकार को (**अजीगः**) निगलता है, खा जाता है, प्रकाश फैला देता है (**शुचिः**) शुद्ध अग्नि (**शुचिभिः गोभिः**) शुद्ध किरणों से (**अङ्क्ते**) प्रकट होता है (**आत्**) तभी (**दक्षिणा**) दक्षिण हाथ से दक्षिणा के समान दान की हुई घृत की धारा (**वाजयन्ती**) बल चाहती हुई (**युज्यते**) युक्त की जाती है=छोड़ी जाती है (**उत्तानाम्**) ऊपर फैली हुई उस धारा को (**ऊर्ध्वः**) ऊपर को उठता हुआ अग्नि (**जुहूभिः**) जुहू नामक पात्रों से (**अधयत्**) पीता है ॥

ऋग्वेद ५ । १ । ३ में भी ॥३॥

अथ द्वितीय तृचस्य—कुत्स ऋषिः । उषा देवता त्रिष्टुप् छन्दः ॥
तत्र प्रथमा

१७४९—इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच्
चित्रः प्रकेतो अजनिष्ठ विभ्वा ।

२ ३ १२ ३२ ३२३
यथा प्रसूता सवितुः सवायैं—
२उ ३२३ १२
व(रात्र्युषसे योनिमारैक् ॥१॥

भावार्थः—(ज्योतिषाम्) ग्रहनक्षत्रादि ज्योतियों में (इदम्) यह उषा रूप (ज्योतिः) ज्योति (श्रेष्ठम्) श्रेष्ठ (आगात्) उदय होती है (विभ्वा) व्याप्ति से, यह (चित्रः) विचित्र (प्रकेतः) प्रज्ञान (अजनिष्ट) उत्पन्न होता है (यथा) जैसे (सवितुः) सूर्य से (प्रसूता) उत्पन्न गर्भ वाली भूमि प्रसव को प्राप्त हुई (सवाय) ओषधि आदि के जनने को (योनिम्, आरैक्) गर्भाशय को रिक्त करती है (एवा) ऐसे ही (रात्री) रात्रि भी (उषसे) उषा के उत्पादनार्थ स्थान को रिक्त करती है। इसका निरुक्तकृत व्याख्यान निरु० २। १६ के अनुसार संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० १। ११३। १ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

१२ ३१२ ३२३१२ ३१ २र
१७५०—रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागादारैगु कृष्णा सदनान्यस्याः ।
३ १२ ३१२ ३२उ ३१२ ३२
समानबन्धू अमृते अनूची द्यावा वर्णं चरत आमिनाने ॥२॥

भावार्थः (रुशती) प्रकाशमाना (रुशद्वत्सा) प्रकाशमान सूर्य वा दिन वत्सवाली (श्वेत्या) उषा (आगात्) आती उदय होती है (उ) और (कृष्णा) रात्रि (अस्याः) इस उषा के (सदनानि) स्थानों को (आरैक्) रिक्त कर देती है। (समानबन्धू) ये दोनों रात्रि और उषा समान नियमरूपी बन्धन से बन्धी हैं (अमृते) अमर हैं कालरूप से नित्य होने से (अनूची) एक-दूसरे के पश्चात् चलने वाली हैं (वर्णम्) एक-दूसरे के रंग को (आमिनाने) नष्ट करती हैं और (द्यावा) आकाश मार्ग से सदा (चरतः) चलती हैं ॥

निरुक्त २। २० का व्याख्यान संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ भाव यह है कि जब चमकते हुए सूर्य वा दिन को उत्पन्न करने वाली चमकती हुई उषा आती है तो रात्रि उस आती हुई उषा के स्थानों को अपने शेष आधे प्रहर में खाली कर देती है, इस प्रकार सूर्य के उदय अस्त के पीछे-पीछे ये रात्रि और उषा घूमती रहती हैं, जब एक देश में दिन होता है तो उससे पश्चिम में उषा और उषा से पश्चिम में रात्रि, इसी प्रकार आगे-पीछे चक्र चलता रहता है। सूर्य को उषा का वत्स (पुत्र वा बछड़ा) इस लिये कहा है कि गौ के पीछे बछड़े के समान आगे-आगे उषा और उसके पीछे-पीछे

सूर्य चलता जान पड़ता है। अथवा रस खींचने से दूध खींचने=दूहने वाले बछड़े की उपमा है। कृष्ण शब्द कृष धातु से बना है उसका अर्थ=निकृष्ट रंग है।

ऋ० १। ११३। २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१७५१—समानो अध्वा स्वस्रोरनन्तस्तमन्यान्या चरतो देवशिष्टे।
न मेथेते न तस्थतुः सुमेके नक्तोषासा समनसा विरूपे ॥

भावार्थः—(**स्वस्रोः**) रात्रि और उषा दोनों बहिनों का (**समानः**) एक सा (**अनन्तः**) अनन्त (**अध्वा**) मार्ग है (**तम्**) उस मार्ग को (**देवशिष्टे**) परमेश्वर की आज्ञा पालने वाली (**अन्या अन्या**) एक-एक पृथक्-पृथक् (**चरतः**) दोनों चलती हैं। (**समनसा**) मन को समान रखने वाली (**विरूपे**) एक का रूप अन्धकार, दूसरी का प्रकाश इस प्रकार परस्पर विरुद्ध रूप वाली (**सुमेके**) भले प्रकार सींचने वाली (**नक्तोषासा**) रात्रि और उषा दोनों (**न मेथेते**) न तो लड़ती हैं, और (**न तस्थतुः**) न ठहरती हैं, किन्तु निरन्तर चलती रहती हैं।

ऋ० १। ११३। ३ में भी ॥३॥

अथ तृतीयतृचस्य अत्रिर्ऋषिः। अश्विनौ देवते। त्रिष्टुप्छन्दः॥

तत्र प्रथमा

१७५२—आ भात्यग्निरुषसामनीकमुद्विप्राणां देवया वाचो अस्थुः।
अर्वाञ्चा नूनं रथ्येह यातं पीपिवांसमश्विना घर्ममच्छ ॥१॥

भावार्थः—(**उषसाम्**) प्रातः समयों का (**अनीकम्**) मुखरूप (**अग्निः**) अग्नि (**आभाति**) प्रज्वलित होकर चमकता है, (**विप्राणाम्**) यज्ञ करने वाले मेधावी ब्राह्मणों की (**देवयाः वाचः**) देवकामा वाणी [वेद मन्त्र] (**उत अस्थुः**) उच्चारित होती हैं, (**अर्वाञ्चा**) सम्मुख आने वाले (**रथ्या**) रम्य गति वाले (**अश्विना**) प्राण और उदान वायु (**नूनम्**) निश्चय (**पीपिवांसम्**) पुष्टिकारक (**घर्मम्**) शुद्धिकारक यज्ञ को (**इह**) इस यज्ञदेश में (**अच्छ**) भले प्रकार (**यातम्**) प्राप्त होते हैं॥ ऋ० ५। ७६। १ में भी ॥१।

अथ द्वितीया

१७५३—न संस्कृतं प्र मिमीतो गमिष्ठान्ति नूनमश्विनोपस्तुतेह ।
दिवाभिपित्वेऽवसा गमिष्ठा प्रत्यवर्त्तिं दाशुषे ।
शम्भविष्ठा ॥२॥

भावार्थः—(**इह**) इस यज्ञ में (**उपस्तुता**) प्रशंसित (**अश्विना**) प्राणोदान वा सूर्य चन्द्र (**संस्कृतम्**) यज्ञ संस्कार से संस्कृत पुरुष को (**न**) नहीं (**प्रमिमीतः**) मारते किन्तु रक्षा करते हैं (**नूनम्**) निश्चय (**अन्ति**) समीप में (**गमिष्ठा**) अतिशीघ्रगामी वे दोनों अश्विनौ (**दिवाऽभिपित्वे**) दिन निकलते ही (**अवसा**) अपने धर्म=रक्षण के साथ (**आगमिष्ठा**) अत्यन्त आने वाले हैं और (**अवर्त्तिम्**) अमार्ग - अन्धे के (**प्रति**) प्रति (**दाशुषे**) ज्ञानादि देने वाले के लिये (**शम्**) सुख को (**भविष्ठा**) अत्यन्त हुवाने वाले हैं ।।

ऋ० ५ । ७६ । २ में भी ।।२।।

अथ तृतीया

१७५४—उतायातं संगवे प्रातरह्नो मध्यन्दिन उदिता सूर्यस्य ।
दिवा नक्तमवसा शन्तमेन नेदानीं पीतिरश्विना ततान॥३॥

भावार्थः—(**अश्विना**) दोनों अश्विनौ (**इदानीम्**) अब यज्ञ समय में (**न**) नहीं (**उत**) किन्तु (**संगवे**) सायंकाल में (**प्रातः**) प्रातःकाल में (**अह्नः मध्यन्दिने**) दिन के मध्याह्न काल में और कहां तक कहें (**सूर्यस्य उदिता दिवा**) सूर्य के उदय में दिन भर और (**नक्तम्**) रात्रि में भी (**आयातम्**) हमें प्राप्त हों (**पीतिः**) सोमादिपान (**ततान**) विस्तृत है ।।

ऋ० ५ । ७६ । ३ में ।।३।।

इत्येकोनविंशाऽध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ॥४॥

अथ पञ्चमे खण्डे

प्रथम तृचस्य—गोतम ऋषिः । उषा देवता । जगती छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१७५५—एता उ त्या उषसः केतुमक्रत
पूर्वे अर्धे रजसो भानुमञ्जते ।
निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः
प्रति गावोऽरुषीर्यन्ति मातरः ॥१॥

भावार्थः (गाव) चलने वाली (अरुषीः) अरुणवर्णा प्रकाशमान (मातरः) प्रकाश की जननी (उ) ही (एताः) ये (त्याः) उक्त लक्षणों वाली (उषसः) उषा देवियें (केतुम्) प्रकाश को (अक्रत) सूर्य से खींचतीं हैं और (रजसः) अन्तरिक्ष के (पूर्वे) पूर्व की ओर वाले (अर्धे) अर्ध भाग में (भानुम्) सूर्य को (अञ्जते) प्रकट करती है, पश्चिमार्ध में पृथिवी की अपनी छाया का अन्धेरा रहता है (इव) जैसे (धृष्णवः) विजयी योद्धा लोग (आयुधानि) असि=तलवार आदि शस्त्रों को (निष्कृण्वानाः) सैकल करते पैनाते हुए हों वैसे शस्त्र से चमकती हुई उषायें (प्रति) नित्य (यन्ति) घूमती हैं। निरुक्त १२।७ का व्याख्यान संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋ० १।९२।१ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

१७५६—उदपप्तन्नरुणा भानवो वृथा स्वायुजो अरुषीर्गा अयुक्षत ।
अक्रन्नुषासो वयुनानि पूर्वथा रुशन्तं भानुमरुषीरशिश्रयुः॥२॥

भावार्थः—(अरुणाः) रक्तवर्ण वाली (भानवः) उषा की दीप्तियें (वृथा) यूं ही स्वाभाविक रीति से (उदाऽपप्तन्) उदय हो जाती हैं और (स्वा-

युज:) सुगमता से जुतने वाली (**अरुषी:**) शुभ्र उज्ज्वल (**गा:**) गौओं के समान किरणों को (**अयुक्षत**) जोतती है और (**पूर्वथा**) पूर्व के समान नियमानुसार (**उषास:**) उषा देवियें (**वयुनानि**) ज्ञानों को (**अक्रन्**) उत्पन्न कर देती हैं। उष:काल में ही सब प्राणी स्वाभाविक नियम से ज्ञान को प्राप्त होते हैं। फिर—(**अरुषी:**) अरुण वर्ण की वे चमकती उषा की किरणें (**रुशन्तम्**) प्रकाशमान (**भानुम्**) सूर्य का (**अशिश्रयु:**) आश्रय करती हैं अर्थात् सूर्य के साथ मिलकर एक हो जाती हैं॥ ऋ० १। ९२। २ में भी ॥२॥

अथ द्वितीया

१७५७—अर्चन्ति नारीरपसो न विष्टिभिः

समानेन योजनेना परावतः ।

इषं वहन्तीः सुकृते सुदानवे

विश्वेदह यजमानाय सुन्वते ॥३॥

भावार्थ:—(**सुकृते**) सुकर्मी (**सुदानवे**) सुदानी (**सुन्वते**) सोमाभिषवी (**यजमानाय**) यजमान के लिये (**विश्वा इत् अह**) सब ही (**इषम्**) अन्नादि को (**वहन्तीः**) पहुंचाती हुई (**नारी:**) ज्ञान प्रकाश से नेता का काम करने वाली उषायें (**विष्टिभि:**) निवेश करानें वाले अपने तेजों से (**समानेन योजनेन**) एक ही उद्योग से (**आ परावतः**) दूरस्थों को भी (**अर्चन्ति**) सत्कृत करती हैं। (**अपस: न**) जैसे जलों को ।

ऋग्वेद १। ९२। ३ में भी ॥३॥

अथ द्वितीय तृचस्य—दीर्घतमा ऋषि:। अश्विनौ देवते। जगती छन्द: ॥

तत्र प्रथमा

१७५८—अबोध्यग्निर्ज्म उदेति सूर्यो

व्यु३षाश्चन्द्रा मह्यावो अर्चिषा ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३
आयुक्षातामश्विना यातवे रथं
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
प्रासावीद् देवः सविता जगत् पृथक् ॥१॥

भावार्थः—(अग्निः) अग्नि (अबोधि) होमार्थ प्रदीप्त किया गया और (ज्म) पृथिवी से (सूर्यः) सूर्य (उदेति) उदय हुआ । (चन्द्रा मही उषा) आह्लादनी बड़ी उषा ने (अर्चिषा) तेज से (वि आवः) अन्धेरा मिटाया और (अश्विना) प्राण अपानों ने (रथम्) रथ को (यातवे) यानार्थ (आयुक्षाताम्) जोता । इतने ही (देवः) दिव्य (सविता) जगत् के प्रेरक सविता देव ने (पृथक्) भिन्न-भिन्न (जगत्) जगत् को (प्रासावीत्) प्रवृत्त किया ॥ कैसा चमत्कार है ! देखिये और लाभ उठाइये !!

ऋग्वेद १ । १५७ । १ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
१७५६—यद् युञ्जाथे वृषणमश्विना रथं
२ १ २ ३ १ २ ३ १ २
घृतेन नो मधुना क्षत्रमुक्षतम् ।
३ २ ३ २ ३ १ २
अस्माकं ब्रह्म पृतनासु जिन्वतं
३ २ ३ ३ १ २
वयं धना शूरसाता भजेमहि ॥२॥

भावार्थः—(अश्विना) हे प्राणोदानो ! वा सूर्यचन्द्रो ! वा द्युलोकभूमिलोको ! (यत्) जब कि (वृषणम्) वर्षा करने वाले (रथम्) रमणीय रथ को (युञ्जाथे) तुम जोतते हो तब (नः) हमारे (क्षत्रम्) बाहुबल को (घृतेन-मधुना) मधुर घृत वा जल से (उक्षतम्) सींचते हो बढ़ाते हो । (अस्माकम्) हमारे (ब्रह्म) ब्रह्मवर्चस तेज को (पृतनासु) सेनाओं में (जिन्वतम्) पुष्ट करो (वयम्) हम (शूरसाता) शूरों के भागधेय (धना) धनों को (भजेमहि) पावें ॥ ऋग्वेद १ । १५७ । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१७६०—अर्वाङ् त्रिचक्रो मधुवाहनो रथो
जीराश्वो अश्विनोर्यातु सुष्टुतः ।
त्रिवन्धुरो मघवा विश्वसौभगः
शन्न आ वक्षद् द्विपदे चतुष्पदे ॥३॥

भाषार्थः—(**अर्वाङ्**) अनुकूल चलने वाला (**त्रिचक्रः**) ३ पहिये का (**मधुवाहनः**) मधुर चाल का (**जीराश्वः**) शीघ्रगामी घोड़ों का (**त्रिवन्धुरः**) ३ जुओं वाला (**मघवा**) धनयुक्त (**विश्वसौभगः**) सर्वसौभाग्यसम्पन्न (**अश्विनोः-रथः**) अश्विनों का रथ (**यातु**) चले और (**नः**) हमारे (**द्विपदे**) दुपाये मनुष्य वर्ग में और (**चतुष्पदे**) चौपाये गौ आदि पशुवर्ग में (**शम्**) सुख को (**आवक्षत्**) लावे ॥

अश्विनोः पद से प्राण और उदान वायुओं के ग्रहण करने में नाभि के ३ चक्र उसके ३ पहिये समझो । इडा पिंगला सुषुम्णा ३ नाड़ी ३ जुवे जानो ॥

और सूर्य चन्द्र का ग्रहण करें तो शीतकाल, ग्रीष्म काल, वर्षा काल भेद से दो-दो ऋतु के ३ तीन ऋतुओं को ३ चक्र गिनो और दक्षिण उत्तर मध्यम गतिभेद से ३ जुए समझने चाहियें, शेष समान है ॥ ऋ० १ । १५७ । ३ में भी ॥३॥

अथ चतुर्ऋचस्य तृतीय सूक्तस्य—प्रवत्सार ऋषिः । सोमो देवता ।
गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१७६१—प्र ते धारा असश्चतो दिवो न यन्ति वृष्टयः ।
अच्छा वाजं सहस्रिणम् ॥१॥

भाषार्थः—अगले मन्त्र में हरि पद देखने के प्रकरण से—हे सोम ! (**असश्चतः**) संगरहित (**ते**) तेरी (**धाराः**) धारें (**सहस्रिणं वाजम्**) अतुल

अन्न को (प्र यन्ति) देती हैं (न) जैसे (वृष्टयः) वर्षायें (दिवः) आकाश से (अच्छ) अच्छे प्रकार होती हैं, तद्वत् ॥ ऋग्वेद ९ । ५७ । १ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

१७६२—अभि प्रियाणि काव्या विश्वा चक्षाणो अर्षति ।
हरिस्तुञ्जान आयुधा ॥२॥

भावार्थः—(हरिः) हरा सोमरस (विश्वा) सब (प्रियाणि) प्यारे (काव्या) कवितायुक्त वेदवचनों को (चक्षाणः) सामने करता हुआ (आयुधा) स्रुवादि होम पात्रों को (तुञ्जानः) चमकाता हुआ (अभि अर्षति) धूमरूप से सब ओर फैलता है ॥ ऋग्वेद ९ । ५७ । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१७६३—स मर्मृजान आयुभिरिभो राजेव सुव्रतः ।
श्येनो न वंसु षीदति ॥३॥

भावार्थः—(सुव्रत) सुकर्मा (सः) वह सोम (आयुभिः) ऋत्विज् मनुष्यों से (मर्मृजानः) अत्यन्त शोधा जाता हुआ (वंसु) वसतीवरी संज्ञक जलों में (सीदति) रहता है । (राजा) प्रकाशमान तेजस्वी (इभः) हस्ती (इव) सा, मदपूरित है और (श्येनः) शिकरे पक्षी (न) सा बली है ॥

ऋग्वेद ९ । ५७ । ३ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थी

१७६४—स नो विश्वा दिवो वसूतो पृथिव्या अधि ।
पुनान इन्दवा भर ॥४॥

भावार्थः—(इन्दो) सोम ! (पुनानः) अभिपुत किया जाता हुआ (सः) वह तू (नः) हमारे लिये (दिवः) आकाश के (उतो) और (पृथिव्याः)

पृथिवी के (विश्वा) सब (वसु) धन (अभि) अधिकता से (आभर) ला दे ॥
ऋग्वेद ६ । ५७ । ४ में भी ॥४॥

इत्यष्टमः प्रपाठकः ॥८॥

इति श्रीमत्कण्ववंशावतंस श्रीमान् पण्डित हजारीलाल स्वामी के पुत्र
परीक्षित गढ़ (जिला - मेरठ) निवासी तुलसीराम
स्वामिकृत उत्तरार्चिक सामवेदभाष्य में
उन्नीसवां अध्याय समाप्त
हुआ ॥१९॥

ओ३म्

अथ विंशाध्यायः ॥

तत्र

प्रथमे खण्डे

प्रथमतृचस्य—नृमेध ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१७६५—प्रास्य धारा अक्षरन्वृष्णः सुतस्यौजसः ।
देवाँ अनु प्रभूषतः ॥१॥

भाषार्थः—(वृष्णः) वृष्टिकारक (ओजसः) बलवान् (देवान् अनुप्रभूषतः) देवों को तुष्टि देने वाले (सुतस्य) अभिषुत (अस्य) इस सोम की (धाराः) धारें (प्र-अक्षरन्) गगनमण्डल को सींचती हैं ॥

ऋ० ९ । २९ । १ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

१७६६—सप्तिं मृजन्ति वेधसो गृणन्तः कारवो गिरा ।
ज्योतिर्जज्ञानमुक्थ्यम् ॥२॥

भाषार्थः—(वेधसः) बुद्धिमान् विद्वान् (कारवः) कर्मकर्त्ता अध्वर्यु आदि ब्राह्मण लोग (गिरा) वेदमन्त्रों से (गृणन्तः) वर्णन करते हुए (जज्ञानम्) अभिषूयमाण (ज्योतिः) ज्योति (उक्थ्यम्) प्रशंसनीय (सप्तिम्) रपटने चलने वाले सोम को (मृजन्ति) शोधते हैं ॥ ऋ० ९ । २९ । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१७६७—सुषहा सोम तानि ते पुनानाय प्रभूवसो ।
वर्धा समुद्रमुक्थ्य ॥३॥

भावार्थः—(**प्रभूवसो**) हे पुष्कलधन ! (**उक्थ्य**) प्रशंसनीय (**सोम**) सोम ! (**पुनानाय**) अभिषुत किये जाते हुए (**ते**) तेरे (**तानि**) वे तेज (**सुषहा**) भले प्रकार सहनयोग्य हैं, अतः (**समुद्रम्**) आकाश को (**वर्ष**) रस से पूर्ण करदे ॥

ऋग्वेद ६ । २६ । ३ में भी ।।३॥

अथ द्वितीयस्य तृचस्य—नृमेधो वामदेवो वा ऋषिः । इन्द्रो देवता । द्विपदा पंक्तिश्छन्दः ॥ तत्र प्रथमा

१७६८—एष ब्रह्मा य ऋत्विय इन्द्रो नाम श्रुतो गृणे ॥१॥

इसकी व्याख्या (४३८) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१७६९—त्वामिच्छवसस्पते यन्ति गिरो न संयतः ॥२॥

भावार्थः—(**शवसस्पते**) हे बलपते ! इन्द्र ! (**संयतः**) भले प्रकार यत्न करके बोलने वाले की (**न**) सी (**गिरः**) वेदोक्त वाणियें (**त्वाम्**) तुझको (**इत्**) ही (**यन्ति**) जाती हैं ॥ अर्थात् इन्द्रसूक्तों की प्रशंसा तुझ में ही चरितार्थ होती है ॥२॥

अथ तृतीया

१७७०—वि स्रुतयो यथा पथा इन्द्र त्वद्यन्तु रातयः ॥३॥

इसकी व्याख्या (४५३) में हो गई है ॥१॥

अथ द्वितीया

अथ तृतीयतृचस्य-प्रियमेध ऋषिः । इन्द्रो देवता । १ अनुष्टुप् २।३ गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१७७१—आ त्वा रथं यथोतये सुम्नाय वर्तयामसि ।
तुविकूर्मिमृतीषहमिन्द्रं शविष्ठ सत्पतिम् ॥१॥

इसकी व्याख्या (३५४) में की गई है ॥१॥

अथ द्वितीया

१७७२—तुविशुष्म तुविक्रतो शचीवो विश्वया मते ।
आ पप्राथ महित्वना ॥२॥

भावार्थः—आत्मिक बल वाले महात्मा का वर्णन करते हैं:—(**तुविशुष्म**) हे महाबल ! (**तुविक्रतो**) अतएव बहुपुरुषार्थयुक्त ! (**शचीवः**) वाग्बलवन् ! भाषणशक्तिमन् (**मते**) बुद्धिमन् ! तू (**विश्वया**) सारे (**महित्वना**) बड़प्पन से (**आपप्राथ**) सर्वतः विस्तार को प्राप्त होता है ॥

ऋ० ८ । ६८ । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१७७३—यस्य ते महिना महः परि ज्मायन्तमीयतुः ।
हस्ता वज्रं हिरण्ययम् ॥३॥

भावार्थः—(**महिना**) बड़प्पन से (**महः**) बड़े (**यस्य**) जिस पूर्वमन्त्रोक्त महाबलादि लक्षण वाले (**ते**) तेरे (**हस्ता**) दोनों हाथ (**ज्मायन्तं**) पृथिवी भर पर जाने वाले (**हिरण्ययम्**) तेजस्वी (**वज्रम्**) शस्त्रास्त्रसमूह को (**परि ईयतुः**) सर्वतः ग्रहण करते हैं [सो तू सर्वत्र विस्तार को प्राप्त होता है] यह पूर्व मन्त्र से अध्याहार है ॥

ऋग्वेद ८ । ६८ । ३ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थ तृचस्य—दीर्घतमा ऋषिः । अग्निर्देवता । विराट् छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१७७४—आ यः पुरं नार्मिणीमदीदेदत्यः कविर्नभन्यो३नार्वा ।
सूरो न रुरुक्वां छतात्मा ॥१॥

भावार्थः—(**यः**) जो अग्नि (**अत्यः**) निरन्तर चलने वाला (**कविः**) क्रान्तदर्शी (**नभन्यः**) आकाशीय (**अर्वा**) अश्व (**न**) सा और (**शतात्मा**) बहुत रूप वाला (**रुक्मवान्**) प्रकाशमान (**सूरः**) सूर्य (**न**) सा है, वह (**नार्मिणीम्**) मनुष्यों के मनभावनी (**पुरम्**) यज्ञभूमि को (**अवीवेत्**) प्रकाशमान करे ॥

ऋग्वेद १ । १४९ । ३ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

१७७५—अभिद्विजन्मा त्रीरोचनानि
विश्वा रजांसि शुशुचानो अस्थात् ।
होता यजिष्ठो अपां सधस्थे ॥२॥

भावार्थः—(**द्विजन्मा**) दो अरणियों से उत्पन्न होने से द्विजन्मा वा एक बार मन्थन से और दूसरी बार आधान पवमान इष्टि आदि संस्कार से जन्म होने के कारण से द्विजन्मा अथवा—द्युलोक भूलोक से उत्पत्ति के कारण से द्विजन्मा अग्नि (**त्री**) तीन (**रोचनानि**) प्रकाशमान पृथिव्यादि ३ लोकों वा गार्हपत्यादि ३ अपने भेदों को और (**विश्वा**) सब (**रजांसि**) लोकान्तरों को (**शुशुचानः**) प्रकाशता हुआ (**होता**) देवों का आवाहन करने वाला (**यजिष्ठः**) उनका अत्यन्त यजन करने वाला (**अभि**) चारों ओर (**अपाम्**) प्रोक्षणी पात्रादिस्थ जलों के (**सधस्थे**) सहवर्त्ती यज्ञदेश में (**अस्थात्**) स्थित हो=स्थापित किया जावे ॥

ऋ० १ । १४९ । ४ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१७७६—अयं स होता यो द्विजन्मा विश्वा दधे वार्याणि श्रवस्या ।
मर्त्तो यो अस्मै सुतुको ददाश ॥३॥

भावार्थः—(**यः**) जो (**अयम्**) यह (**द्विजन्मा**) द्विजन्मा है (**सः**) वह (**होता**) होमसाधक अग्नि (**श्रवस्या**) यश की इच्छा से (**विश्वाः**) सब (**वार्याणि**) वरणीय श्रेष्ठ पदार्थों को (**दधे**) धारण करता है (**यः**) जो

(मर्त्तः) यजमान पुरुष (अस्मै) इस अग्नि के लिये (ददाश) हव्य देता है, वह (सुतुकः) सुन्दर पुर वाला होता है ॥ ऋ० १ । १४६ । ५ में भी ॥३॥

अथ पञ्चम तृचस्य –वामदेव ऋषिः । अग्निर्देवता । पदपङ्क्तिश्छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१७७७—अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रं हृदिस्पृशम् ।
ऋध्यामा त ओहैः ॥१॥

इसकी व्याख्या (४३४) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१७७८—अधा ह्यग्ने क्रतोर्भद्रस्य दक्षस्य साधोः ।
रथीर्ऋतस्य बृहतो बभूथ ॥२॥

भावार्थः—(अध हि) फिर (अग्ने) अग्ने ! तू (भद्रस्य, दक्षस्य, साधोः) भद्रपुरुष, चतुर और परोपकारी यजमान के (ऋतस्य, बृहतः, क्रतोः) सच्चे, बड़े यज्ञ का (रथीः) नेता (बभूथ) हो जाता है ॥

ऋ० ४ । १० । २ में, तथा यजुः १५ । ४५ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१७७९—एभिर्नो अर्कैर्भवा नो अर्वाङ्स्वा३र्ण ज्योतिः ।
अग्ने विश्वेभिः सुमना अनीकैः ॥३॥

भावार्थः—(स्वः) सूर्य (न) सा (ज्योतिः) ज्योति वाला तू (नः) हमारे (एभिः) इन (अर्कैः) मन्त्रों से वा हव्यों से (विश्वेभिः) अपने सब (अनीकैः) तेजों से (नः) हमारे लिए (सुमनाः) मनभावना और (अर्वाक्) अनुकूल सन्मुख (भव) हो ॥

ऋ० ४ । १० । ३ तथा यजुः १५ । ४६ में भी ॥३॥

इति उत्तरार्चिके विंशाऽध्यायस्य प्रथमः खण्डः ॥१॥

अथ द्वितीये खण्डे

प्रगाथात्मकस्य प्रथम सूक्तस्य–प्रस्कण्व ऋषिः । अग्निर्देवता । जगती छन्द ।।

तत्र प्रथमा

१७८०—अग्ने विवस्वदुषसश्चित्रं राधो अमर्त्य ।
आ दाशुषे जातवेदो वहा त्वमद्या देवाँ उषर्बुधः ॥१॥

इसकी व्याख्या (४०) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१७८१—जुष्टो हि दूतो असि हव्यवाहनोऽग्ने रथीरध्वराणाम् ।
सजूरश्विभ्यामुषसा सुवीर्यमस्मे धेहि श्रवो बृहत् ॥२॥

भावार्थः—(**अग्ने**) अग्ने ! तू (**हि**) ही (**हव्यवाहनः**) हव्य पहुँचाने वाला (**दूतः**) देवतों का दूत (**अध्वराणाम्**) यज्ञों का (**रथीः**) नेता (**असि**) है । सो तू (**जुष्टः**) हमसे सेवित हुआ (**अश्विभ्याम्**) प्राणोदानों, वा सूर्य चन्द्रों, वा द्युलोक पृथिवी लोकों वा दिन रात्रियों और (**उषसा**) उषा देवी के साथ (**सजूः**) मिला हुआ (**अस्मे**) हम यजमानों में (**सुवीर्यम्**) सुन्दर वीर्ययुक्त (**बृहत्**) बड़े भारी (**श्रवः**) अन्न वा यश को (**धेहि**) धारण करावे ।।

ऋग्वेद १ । ४४ । २ में भी ।।२।।

अथ तृचस्य द्वितीयसूक्तस्य—बृहदुक्थ ऋषिः । इन्द्रो देवता ।
त्रिष्टुप्छन्दः ।। तत्र प्रथमा

१७८२—विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार ।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान ॥१॥

इसकी व्याख्या (३२५) में हो चुकी है ।।१।।

अथ द्वितीया

१७८३—शाक्मना शाको अरुणः सुपर्ण
आ यो महः शूरः सनादनीडः ।

२ ३ १२ ३ २उ ३
यच्चिकेत सत्यमित्तन्न मोघं
१२ ३१३२उ ३१ २र
वसु स्पार्हमुत जेतोत दाता ॥२॥

भावार्थः—(यः) जो (शक्मना) बल से (शाकः) शक्तिमान् (अरुण) रक्तवर्ण (सुपर्णः) उत्तम पक्ष वाला=सहायवान् (महः) विशाल देह वाला (शूरः) शूरवीर (सनात्) पुराणा अनुभवी (अनीडः) दुर्ग वा किले से बाहर निर्भय रहने वाला हो, वह इन्द्र=राजा (यत्) जो (आचिकेत) प्रतिज्ञा करे (तत्) वह (सत्यम्) सच हो (मोघम्) झूठ (न) न हो (उत) और (स्पार्हम्) चाहने योग्य (वसु) धन को (जेता) जीतेगा (उत) और (दाता) देवेगा ॥

ऋग्वेद १० । ५५ । ६ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१२ ३२ ३१ २ ३२३१२ ३१२ ३२
१७८४—एभिर्ददे वृष्ण्या पौंस्यानि येभिरौक्षद् वृत्रहत्याय वज्री ।
१ २र ३१२ ३१ २ ३२३१२ ३२
ये कर्मणः क्रियमाणस्य मह्न ऋते कर्ममुद जायन्त देवाः ॥

भावार्थः—(ये) जो (देवाः) दिव्य बलशाली शूर लोग (क्रियमाणस्य) किये जाते हुए (कर्मणः) कर्म के (मह्ना) महत्त्व से=पुरुषार्थ से, न कि प्रारब्ध के भरोसे (उदऽजायन्त) उन्नति को प्राप्त करते हैं, (येभिः) और जिन शूरों से (वज्री) वज्रवान् सेनापति वा राजा (वृत्रहत्याय) दुष्ट शत्रुगण के हननार्थ (औक्षत्) बाणादि वृष्टि करता है (एभिः) इन्हीं वीरों से (वृष्ण्या) वीर्ययुक्त (पौंस्यानि) पौरुषों को (ऋतेकर्मम्) सत्यव्यवहार में (आददे) ग्रहण करता है ॥

ऋ० १० । ५५ । ७ में भी ॥ "ऋतेकर्मम्" यह एक विलक्षण समास किया हुआ वैदिकपद है जो ७ भिन्न-भिन्न स्थान के पुस्तकों में, सायणभाष्य और पदपाठ में भी ऐसा ही मिलता है ॥३॥

अथ तृचस्य तृतीयसूक्तस्य—बिन्दुः पूतदक्षो वा ऋषिः । मरुतो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

२ ३ १२ ३२ ३१ २र ३१२
१७८५—अस्ति सोमो अयं सुतः पिबन्त्यस्य मरुतः ।
३२ ३१२ ३ १२
उत स्वराजो अश्विना ॥१॥

इसकी व्याख्या (१७४) में हो गई है ॥१॥

अथ द्वितीया

१७८६—पिबन्ति मित्रो अर्यमा तना पूतस्य वरुणः ।
त्रिषधस्थस्य जावतः ॥२॥

भावार्थः—(मित्रः) मित्र (अर्यमा) अर्यमा (वरुणः) वरुण इन नामों वाले वायुभेद मरुत्, (तना) दशापवित्र से (पूतस्य) शोधे हुए (त्रिषधस्थस्य) १—द्रोणकलश २—आधवनीय ३—पूतभृत इन ३ स्थानों में रखे जाने वाले (जावतः) ताजे अभिषुत सोम को (पिबन्ति) पीते हैं ॥

ऋ० ८ । ९४ । ५ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१७८७— उतो न्वस्य जोषमा इन्द्रः सुतस्य गोमतः ।
प्रातर्होतेव मत्सति ॥३॥

भावार्थः—(इन्द्रः) इन्द्रदेव (अस्य) इस (सुतस्य) अभिषुत (गोमतः) इन्द्रियों को शक्ति देने वाले सोम के (जोषम्) सेवन को (आ मत्सति) चाहता है (इव) जैसे (होता) होता नाम वाला ऋत्विज् (प्रातः) प्रातः सवन में सोम सेवन चाहता है, तद्वत् । (उतो, नु) पाद पूरणार्थ अव्यय हैं ॥

ऋग्वेद ८ । ९४ । ६ में भी ॥३॥

अथ प्रगाथात्मकस्य चतुर्थसूक्तस्य–जमदग्निऋर्षिः । सूर्यो देवता । जगती छन्दः ॥ तत्र प्रथमा

१७८८—बण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि ।
महस्ते सतो महिमा पनिष्टम मह्ना देव महाँ असि ॥१॥

इसकी व्याख्या (२७६) में हो गई है ॥१॥

अथ द्वितीया

१७८९—बट् सूर्य श्रवसा महाँ असि सत्रा देव महाँ असि ।
मह्ना देवानामसुर्यः पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम् ॥२॥

भावार्थः—सूर्य के दृष्टान्त से राजा की प्रशंसा कहते हैं—(सूर्य) सूर्य ! तू (बट्) सचमुच (श्रवसा) यश से (महान्) बड़ा (असि) है (सत्रा) सचमुच ही (देव) देव सूर्य ! तू (महान्) अन्य लोकों से बड़ा (असि) है (मह्ना) बड़ा होने से तू (देवानाम्) पृथिवी आदि लोकों का (पुरोहितः) पुरोहित है (असुर्यः) असुरों का नाशक है और (अदाभ्यम्) किसी से न नष्ट की जाने वाली (विभु) सर्वत्र फैली (ज्योतिः) ज्योति है ॥

ऋ० ८ । १०१ । १२ में भी ॥२॥

इति उत्तरार्चिके विंशाऽध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ॥२॥

अथ तृतीये खण्डे

प्रथम तृचस्य—सुकक्ष ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१७९०—उप नो हरिभिः सुतं याहि मदानां पते ।
उप नो हरिभिः सुतम् ॥१॥

इसकी व्याख्या (१५०) में हो गई है ॥१॥

अथ द्वितीया

१७९१—द्विता यो वृत्रहन्तमो विद इन्द्रः शतक्रतुः ।
उप नो हरिभिः सुतम् ॥२॥

भावार्थः—(यः) जो (इन्द्रः) इन्द्र वा परमेश्वर (वृत्रहन्तमः) मेघ वा पाप का अत्यन्त नाशक (शतक्रतुः) असंख्य कर्मों वाला है वह (द्विता) दो

प्रकार का (**विदे**) जाना जाता है । वृत्रनाशादि उग्र कर्मों से उग्र और जगद्रक्षादि शान्तकर्मों से शान्त । (**हरिभिः**) व्यापक किरणों से (**नः**) हमारे (**सुतम्**) अभिषुत सोम को (**उप**) प्राप्त हो । **ईश्वर पक्ष में** — (**नः**) हम में से (**सुतम्**) स्तुतिकर्त्ता भक्त उपासक को (**हरिभिः**) व्यापक गुणों से (**उप**) प्राप्त हो [याहि] क्रियापद पूर्व मन्त्र में आया है, उसी से अध्याहार है ॥

ऋ० ८ । ९३ । ३२ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१७९२—त्वं हि वृत्रहन्नेषां पाता सोमानामसि ।
उप नो हरिभिः सुतम् ॥३॥

भावार्थः **भौतिक पक्ष में** -- (**वृत्रहन्**) मेघहन्ता ! (**त्वम्**) तू (**हि**) ही (**एषाम्**) इन अभिषूयमाण (**सोमानाम्**) सोमों का (**पाता**) पीने वाला (**असि**) है । **ईश्वर पक्ष में** - (**वृत्रहन्**) पापनाशक! (**त्वं हि**) तू ही (**एषाम्**) इन हमारे संस्कार किये हुए (**सोमानाम्**) सौम्य चित्त के भावों का (**पाता**) ग्राहक (**असि**) है । शेष पूर्व मन्त्र के समान है ॥

ऋ० ८ । ९३ । ३३ में भी ॥३॥

अथ द्वितीय तृचस्य—वसिष्ठ ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिपदा विराट् छन्दः ।

तत्र प्रथमा

१७९३—प्र वो महे महेवृधे भरध्वं प्रचेतसे प्र सुमतिं कृणुध्वम् ।
विशः पूर्वीः प्र चर चर्षणिप्राः ॥१॥

इसकी व्याख्या (३२८) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१७९४—उरुव्यचसे महिने सुवृक्तिमिन्द्राय ब्रह्म जनयन्त विप्राः ।
तस्य व्रतानि न मिनन्ति धीराः ॥२॥

भावार्थः—(**विप्राः**) विद्वान् ब्राह्मण (**उरुव्यचसे**) बहुत विस्तृत (**महते**)बड़े (**इन्द्राय**) परमेश्वर वा राजा के लिये (**सुवृक्तिम्**) सुन्दर प्रशस्ति को (**ब्रह्म**) वेद द्वारा (**जनयन्त**) प्रकट करते हैं (**धीराः**) बुद्धिमान् जन (**तस्य**) उस परमेश्वर वा राजा के (**व्रतानि**) नियमों को (**न**) नहीं (**मिनन्ति**) तोड़ते ॥

ऋग्वेद ७ । ३१ । ११ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

२ ३ २ ३ १२ ३ २ ३ १ २१ ३ १२

१७९५—इन्द्रं वाणीरनुत्तमन्युमेव सत्रा राजानं दधिरे सहध्यै ।

१२ ३ २ ३२

हर्यश्वाय बर्हया समापीन् ॥३॥

भावार्थः—हे मनुष्य ! (**हर्यश्वाय**) तुरगादि बल वाले राजा वा सबको प्राप्त होने वाली है व्याप्ति जिसकी उस परमेश्वर के लिए (**आपीन्**) सब भाइयों को (**संबर्हय**) भले प्रकार सुशीलतादि सदाचार से बढ़ा । क्योंकि (**सत्रा**) सबके (**राजानम्**) राजा (**अनुत्तमन्युम्**) जिसका क्रोध किसी से न सहारा जाए वा न हटाया जाए उस (**इन्द्रम्**) राजा वा ईश्वर को (**एव**) निश्चय करके (**वाणीः**) प्रशंसारूप वेदवचन (**सहध्यै**) शत्रुओं के तिरस्कार करने को (**दधिरे**) धारित करते हैं अर्थात् तदनुकूलतया प्रवृत्त होते हैं ॥

ऋग्वेद ७ । ३१ । १२ में भी ॥३॥

अथ तृतीयस्य प्रगाथस्य—वसिष्ठ ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१ २ ३ १ २३ १ ३ १२३१ २

१७९६—यदिन्द्र यावतस्त्वमेतावदहमीशीय ।

३ २ ३ १२ ३ १ २ ३ १ २

स्तोतारमिद्दिधिषे रदावसो न पापत्वाय रंसिषम् ॥१॥

इसकी व्याख्या (३१०) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१२ ३ १ २३ २ ३ १ २ ३१ २१ ३ १ २

१७९७—शिक्षेयमिन्महयते दिवेदिवे राय आ कुहचिद्विदे ।

२१ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३२ ३ २

न हि त्वदन्यन्मघवन्न आप्यं वस्यो अस्ति पिता च न ॥२॥

भावार्थः—(**मघवन्**) हे सर्वधनपते! परमेश्वर ! इन्द्र ! मैं (**दिवे दिवे**) प्रतिदिन (**मह्यते**) यज्ञादि परोपकार करने वाले (**कुह चिद्विदे**) कहीं भी मिलने वाले जन के लिए (**रायः**) धनों को (**आ**) सर्वतः (**शिक्षेयम्**) देऊं (**इत्**) ही ऐसी बुद्धि कर दो क्योंकि (**त्वत्**) आपके (**अन्यत्**) अतिरिक्त कोई (**नः**) हमारा (**वस्यः**) उत्तम (**आप्यम्**) बन्धु (**न हि**) नहीं (**अस्ति**) है (**च**) और (**पिता**) पालक भी (**न**) नहीं है ॥

ऋग्वेद ७ । ३२ । १९ में भी ॥२॥

अथ चतुर्थ तृचसूक्तस्य—वसिष्ठ ऋषिः । इन्द्रो देवता । विराट् छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१७९८—श्रुधी हवं विपिपानस्याद्रेर्बोधा विप्रस्यार्चतो मनीषाम् ।
कृष्वा दुवांस्यन्तमा सचेमा ॥१॥

भावार्थः—हे परमेश्वर ! इन्द्र ! (**विपिपानस्य**) जल भरे (**अद्रेः**) मेघ की (**हवम्**) ध्वनि गर्जना को (**श्रुधि**) सुनवाइये अर्थात् भले प्रकार वर्षा कराइये और (**अर्चतः**) आपकी स्तुति करते हुए (**विप्रस्य**) मेधावी ब्राह्मण की(**मनीषाम्**) मति को (**बोध**) चेताइये (**इमा**) इन (**दुवांसि**) हम से की हुई सेवाओं को (**अन्तमा**) बुद्धिस्थ (**सचा**) सहायक होते हुए (**कृष्व**) कीजिये ॥

ऋ० ७ । २२ । ४ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

१७९९—न ते गिरो अपि मृष्ये तुरस्य न सुष्टुतिमसुर्यस्य विद्वान् ।
सदा ते नाम स्वयशो विवक्मि ॥२॥

भावार्थः—हे परमेश्वर ! मैं सेवक (**तुरस्य**) दुष्टों के नाशक (**ते**) तुम्हारी (**गिरः**) वेदोक्त दण्डाज्ञाओं को (**मृष्ये अपि न**) सह भी नहीं सकता और (**असुर्यस्य**) योगिगम्य वा मेघसहायक आपकी (**सुष्टुतिम्**) उत्तम स्तुति को (**न**) नहीं (**विद्वान्**) जानता । किन्तु (**ते**) तुम्हारे (**स्वयशः**) असाधारण यश वाले (**नाम**) नाम को (**विवक्मि**) अनेक प्रकार से कीर्त्तन करता हूँ ॥ वेदादि न पढ़े हुए प्राणियों को परमेश्वर के नाम स्मरण का माहात्म्य इसमें कहा गया है ॥

ऋ० ७ । २२ । ५ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१८००—भूरि हि ते सवना मानुषेषु भूरि मनीषी हवते त्वामित् ।
मारे अस्मन्मघवं ज्योक्कः ॥३॥

भावार्थः—(**मघवन्**) हे सर्वधनवान् ! इन्द्र ! परमेश्वर ! (**मानुषेषु**) मनुष्यलोकों में (**ते**) तेरे (**सवना**) उत्पादन (**भूरि**) बहुत हों, (**इत्**) क्योंकि (**त्वाम्**) तुझ को (**मनीषी**) विद्वान् उपासक (**भूरि**) बहुत (**हवते**) स्तुति-पूर्वक भजता है, पुकारता है (**अस्मत्**) हमसे (**आरे**) समीप में वर्त्तमान तू (**ज्योक्**) देरी (**मा**) न (**कः**) कर, शीघ्र हमारी पुकार सुन ॥

ऋग्वेद ७ । २२ । ६ में भी ॥३॥

इति विंशाऽध्यायस्य तृतीयः खण्डः ॥३॥

अथ चतुर्थे खण्डे

प्रथम तृचस्य—सुदाम ऋषिः । इन्द्रो देवता । महापंक्तिश्छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१८०१—प्रो ष्वस्मै पुरोरथमिन्द्राय शूषमर्चत
अभीके चिदु लोककृत्संगे समत्सु वृत्रहा ।
अस्माकं बोधि चोदिता नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥१॥

भावार्थ—(**अस्मै**) इस (**इन्द्राय**) परमेश्वर वा राजा के लिये अर्थात् उसकी प्रसन्नतार्थ (**पुरः**) नगरों (**रथम्**) सवारियों (**उ**) और (**शूषम्**) बल सेना आदि को (**सु—प्र—अर्चत**) संस्कृत करो ! वह (**वृत्रहा**) पापियों का नाशक (**लोककृत्**) लोकों को उत्पादक वा वर्धक (**समत्सु**) संग्रामों में (**अभीके चित् उ**) कामादि वा पर वीरों के सामीप्य में भी (**संगे**) मिले हुए शत्रु बल

पर (**अस्माकम्**) हमारा (**चोदिता**) प्रेरक (**बोधि**) हमको चेताता है। जिससे (**अन्येषाम्**) अन्य दुष्टों की (**ज्याकाः**) बुरी प्रत्यञ्चायें (**अधि धन्वसु**) धनुषों पर चढ़ी हुई भी (**नमन्ताम्**) नष्ट हो जावें ॥

निघण्टु २।६॥ ३।२६॥ २।१७॥ २।१६ और अष्टाध्यायी ६।३।८४॥ ३।२।४८ वा ५।३।७१॥ ५।३।७४ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋग्वेद १०।१३३।१ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

१८०२—त्वं सिन्धूँरवासृजोऽधराचो अहन्नहिम् ।
अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे विश्वं पुष्यसि वार्यम् ।
तन्त्वा परि ष्वजामहे नमन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु॥

भावार्थः—(**इन्द्र**) हे परमेश्वर ! वा राजन् ! वा वायुविशेष ! (**त्वम्**) तू (**अधराचः**) नीचे को प्रवाहित होने वाले (**सिन्धून्**) नदी नदों वा नहरों को (**अवासृजः**) उत्पन्न करने वाला है क्योंकि (**अहिम्**) मेघ को (**अहन्**) हनन करने वर्षाने वाला है इससे (**वार्यम्**) जलोपजीवी (**विश्वम्**) जगत् वा प्रजावर्ग का (**पुष्यसि**) पालन करता है (**अशत्रुः**) शत्रुरहित तू (**जज्ञिषे**) प्रकट होता है (**तम्**) उक्तगुणविशिष्ट (**त्वा**) तुझ को (**परिष्वजामहे**) हम उपासित करते हैं (**नमन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु**) पूर्व मन्त्र के समान है ॥

ऋग्वेद १०।१३३।२ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१८०३–वि षु विश्वा अरातयोऽर्यो नशन्त नो धियः ।
अस्तासि शत्रवे वधं यो न इन्द्र जिघांसति
या ते रातिर्ददिर्वसु नमन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु॥३॥

भावार्थः—(इन्द्र) हे परमेश्वर ! वा राजन् ! वा वायु विशेष ! (यः) जो (नः) हमको (जिघांसति) मारना चाहता है उस (शत्रवे) हमारे शत्रु के लिये (वधम्) अस्त्र को (अस्ता) फेंकने वाला (असि) तू है । (नः) हमारी (विश्वाः) सब (अर्यः) सामना करने वाली (अरातयः) अदाता शत्रु-भूत प्रजायें (वि नशन्त) नष्ट हों और (धियः) बुद्धियें (सु) अच्छी हों (या) जो (ते) तेरी (रातिः) दान है वह (वसु) धन को (ददिः) देने वाली हो । अन्य समान है ॥

ऋग्वेद १० । १३३ । ३ में भी ॥३॥

अथ द्वितीयतृचस्य–मेधातिथिः प्रियमेधा वा ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥ तत्र प्रथमा

३२उ ३१२ ३ १ २र ३ १ २
१८०४—रेवाँ इद्रेवत स्तोता स्यात्वावतो मघोनः ।
१२ ३१ २
प्रेदु हरिवः सुतस्य ॥१॥

भावार्थः—(हरिवः) हे हरणशील किरणरूप,वा वाणरूप, वा व्याप्तिरूप वा प्राणरूप अश्वों वाले ! इन्द्र ! (रेवतः) तुझ धनी का (स्तोता) स्तुति करने वाला उपासक (रेवान्) धनवान् (स्यात्) होगा, क्योंकि (त्वावतः) तुझसे (मघोनः) धनवान् (सुतस्य) ऐश्वर्यवान् वा किसी अन्य का भी स्तोता (प्र, इत्, उ) अवश्य धनी हो जाता है तब तेरे स्तोताओं का तो कहना ही क्या है ॥

ऋग्वेद ८ । २ । १३ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

३ २ ३ २ ३ १२३ १ २ ३ १ २र
१८०५—उक्थं च न शस्यमानं नागो रयिरा चिकेत ।
१ २ ३ २ ३ १ २
न गायत्रं गीयमानम् ॥२॥

इसकी व्याख्या (२२५) में हो चुकी है ॥२॥

अथ तृतीया

१ २ ३ २ ३ १ २र३ १२
१८०६—मा न इन्द्र पीयत्नवे मा शर्धते परा दाः ।
१ २ ३ १ २
शिक्षा शचीवः शचीभिः ॥३॥

भावार्थ: – (**इन्द्र**) हे इन्द्र ! तू (**पीयत्नवे**) हिंसक दुष्ट प्राणी के लिये (**नः**) हमको (**मा**) मत (**परावाः**) छोड़ (**मा**) और मत (**शर्धते**) तिरस्कार करते हुए के लिये छोड़, किन्तु (**शचीवः**) हे बुद्धिमाण्डागार ! (**शचीभिः**) बुद्धियों से (**शिक्ष**) हमको शिक्षा दे ।।

ऋ० ८ । २ । १५ में भी ।।३।।

अथ तृतीयतृचस्य —काण्वोनीपातिथिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप् छन्दः।।

तत्र प्रथमा

१८०७—**एन्द्र याहि हरिभिरुप कण्वस्य सुष्टुतिम् ।**
दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ।।१।।

इसकी व्याख्या (३४८) में हो चुकी है ।।१।।

अथ द्वितीया

१८०८—**अत्रा विनेमिरेषामुरां न धूनुते वृकः ।**
दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ।।२।।

भावार्थः – (**अत्र**) यहां यज्ञदेश में (**एषाम्**) इन अभिषवग्रावों की (**नेमिः**) कोर (**वृकः**) भेड़िया (**उराम्**) मेंढी को (**न**) जैसे (**विधूनुते**) पीसता है । अतः (**दिवावसो**) हे स्वर्ग में वसाने वाले ! इन्द्र ! परमेश्वर ! (**दिवः**) सुखदायी स्थान के (**शासतः**) राजा (**अमुष्य**) आपके (**दिवम्**) सुख को (**यय**) प्राप्त कराओ ।। सोमयाजी स्वर्ग पाते हैं, यह भाव है ।।

ऋग्वेद ८ । ३४ । ३ में भी ।।२।।

अथ तृतीया

१८०९—**आ त्वा ग्रावा वदन्निह सोमी घोषेण वक्षतु ।**
दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ।।३।।

भावार्थः—प्रकरण से—हे इन्द्र ! (**सोमी**) सोमरस वाला (**ग्रावा**) सोमाऽभिषवसाधन बट्टा (**वदन्**) शब्द करता हुआ (**घोषेण**) अभिषव शब्द से (**त्वा**) तुझको (**इह**) यहां यज्ञ में (**आ वक्षतु**) बुलावे। शेष पूर्ववत् ॥

ऋग्वेद ८। ३४। २ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥३॥

अथ चतुर्थतृचस्य—जमदग्निर्ऋषिः। पवमानः सोमो देवता।

भुरिगार्ची द्विपदा विराड् गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१८१०—पवस्व सोम मन्दयन्निन्द्राय मधुमत्तमः ॥१॥

भावार्थः—(**सोम**) सोमरस! (**मधुमत्तमः**) अतिशय मधुररस माक्षिकादि-मिश्रित तू (**मन्दयन्**) हर्ष उत्पन्न करता हुआ (**इन्द्राय**) वायुविशेष वा राजा वा सूर्य के लिये (**पवस्व**) शुद्ध कर ॥

ऋ० ९। ६७। १६ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

१८११—ते सुतासो विपश्चितः शुक्रा वायुमसृक्षत ॥२॥

भावार्थः—(**सुतासः**) अभिषुत किये हुए (**विपश्चितः**) बुद्धितत्त्वयुक्त बुद्धिवर्धक (**शुक्राः**) वीर्यवान् वीर्यवर्धक (**ते**) वे सोम (**वायुम्**) इन्द्रनामक वायुविशेष को (**असृक्षत**) उत्पन्न करते बढ़ाते हैं ॥

ऋग्वेद ९। ६७। १८ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ तृतीया

१८१२—असृग्रं देववीतये वाजयन्तो रथा इव ॥३॥

भावार्थः—(**रथा इव**) रथों के समान वेगवान् (**वाजयन्तः**) यजमान

के बल को चाहते हुए सोम (देववीतये) देवों के भक्षणार्थ (असृग्रन्) अग्नि में छोड़े—होमे जाते हैं ॥

ऋ० ९ । ६७ । १७ में भी ॥३॥

इति विंशाऽध्याये चतुर्थः खण्डः ॥१॥

अथ पञ्चमे खण्डे

प्रथमतृचस्य—परुच्छेप ऋषिः । अग्निर्देवता । अत्यष्टिश्छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१८१३—अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसोः सूनुं सहसो
जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम् ।
य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा ।
घृतस्य विभ्राष्टिमनु शुक्रशोचिष आजुह्वानस्य सर्पिषः॥१॥

इसकी व्याख्या (४६५) में हो चुकी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१८१४—यजिष्ठं त्वा यजमाना हुवेम ज्येष्ठमङ्गिरसां
विप्र मन्मभिर्विप्रेभिः शुक्र मन्मभिः
परिज्मानमिव द्यां होतारं चर्षणीनाम् ।
शोचिष्केशं वृषणं यमिमा विशः प्रावन्तु जूतये विशः ॥२॥

भावार्थः—(शुक्र) श्वेत ! उज्ज्वल ! (विप्र) बुद्धितत्त्व के जगाने वाले ! अग्ने ! (यजमानाः) हम यजमान लोग, (यजिष्ठम्) अत्यन्त यजनीय—(अंगिरसाम्) दहकने वाले अंगारे वालों में (ज्येष्ठम्) बड़े (त्वा) तुझ को (मन्मभिः) मननशील (विप्रेभिः) ब्राह्मण ऋत्विजों के साथ (मन्मभिः) मन्त्रों से (हुवेम) हवन करते हैं । (विशः) बैठने वाली (विशः) प्रजायें (चर्षणीनाम्) मनुष्यों के (होतारम्) होता —(परि) सर्वतः (ज्मानम्) गतिमान् (द्याम्) द्युलोक वा सूर्य के (न) समान (शोचिष्केशम्) चमकीले केशों सी किरणों वाले —(वृषणम्) वर्षा करने वाले (यम्) जिस अग्नि को (जूतये) स्वर्गादि अभिमत फलप्राप्ति के लिये (प्राऽवन्तु) बाहुल्य से रक्षा करें ॥

निरुक्त ३ । १७ का सायणोद्धृत प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥

ऋग्वेद १ । १२७ । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१८१५—स हि पुरु चिदोजसा विरुक्मता दीद्यानो
भवति द्रुहन्तरः परशुर्न द्रुहन्तरः ।
वीडुचिद्यस्य समृतौ श्रुवद्वनेव यत्स्थिरम्
निष्षहमाणो यमते नायते धन्वासहा नायते ॥३॥

भावार्थः—(सः) वह अग्नि (हि) ही (विरुक्मता) विशेष प्रकाश वाले (ओजसा) बल से (दीद्यानः) प्रकाशमान हुआ (पुरुचित्) बहुत ही (द्रुहन्तरः) द्रोह करने वाले प्राणियों को पार करने वाला (भवति) है (न) जैसे (परशुः) फरसा (द्रुहन्तरः) शत्रुओं को पार करने वाला होता है, तद्वत् । (यस्य) जिस अग्नि के (समृतौ) संयम होते ही (वीडु) दृढ़ (चित्) भी (यत्) जो (स्थिरम्) स्थिर पदार्थ हो वह भी (वनेव) पानी सा (श्रुवत्) सुन पड़ेगा, नष्ट होता हुआ (निष्षहमाणः) शत्रुओं के निःशेष करके तिरस्कार

करता हुआ अग्नि (यमते) उपरत होता है (न यमते) नहीं हटता (धन्वासहाः) धनुर्धारी शत्रु के अभिभव करने वाला (न) सा (यमते) चलता है ॥

ऋ० १ । १२७ । ३ में भी ॥३॥

इति नवमस्य प्रथमोऽर्धः प्रपाठकः

इति श्रीमत्कण्ववंशावतंस श्रीमान् पण्डित हजारीलाल स्वामी के पुत्र परीक्षित गढ़ (जिला—मेरठ) निवासी तुलसीराम स्वामिकृत उत्तरार्चिक सामवेदभाष्य में बीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥२०॥

ओ३म्

अथैकविंशाऽध्यायः ॥

तत्र

षडृचात्मक प्रथमसूक्तस्य—अग्निऋषिः । अग्निर्देवता । १, ३, ४ पंक्तिः, २ भुरिक् पंक्तिः, ५ संस्तारपंक्तिः, ६ विराट् त्रिष्टुप् च छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१८१६—अग्ने तव श्रवो वयो महि भ्राजन्ते अर्चयो विभावसो ।
बृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्यां३दधासि दाशुषे कवे ॥१॥

भावार्थः—(अग्ने) अग्ने ! (तव) तेरा (वयः) हव्य अन्न (श्रवः) कीर्त्तनीय है (विभावसो) विशेष प्रकाशरूप धन वाले अग्ने (कवे) दृष्टिसहायक! तेरी (अर्चयः) ज्वालायें (महि) बहुत (भ्राजन्ते) प्रकाशती हैं (बृहत्भानो) हे प्रौढदीप्ते ! (शवसा) बल के सहित वर्त्तमान (उक्थ्यम्) प्रशंसनीय (वाजम्) अन्न को (दाशुषे) देने वाले यजमान के लिये (दधासि) तू धारण करता=देता है ॥

ऋ० १० । १४० । १ यजुः १२ । १०६ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

१८१७—पावकवर्चाः शुक्रवर्चा अनूनवर्चा उदियर्षि भानुना ।
पुत्रो मातरा विचरन्नुपावसि पृणक्षि रोदसी उभे ॥२॥

भावार्थः—(पावकवर्चाः) शोधक किरणों वाला (शुक्रवर्चाः) निर्मल श्वेत किरणों वाला (अनूनवर्चाः) पूरे तेज वाला अग्नि (भानुना) लपट से

(उदियर्षि) ऊपर को जाता है और (मातरा) मातृतुल्य दो अरणियों वा द्युलोक भूलोकों में (पुत्रः) पुत्र के समान (विचरन्) विचरता हुआ (उपाऽवसि) उपगत यजमानों की रक्षा करता और (उभे) दोनों (रोदसी) द्यावाभूमी का (पृणक्षि) भरता है=हव्य से द्युलोक और वर्षा से भूलोक को ॥

ऋ० १० । १४० । २ यजु: १२ । १०७ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१८१८—ऊर्जो नपाज्जातवेदः सुशस्तिभिर्मन्दस्व धीतिभिर्हितः ।
त्वे इषः सं दधुर्भूरिवर्पसश्चित्रोतयो वामजाताः ॥३॥

भावार्थः —(**ऊर्जः**) बल के (**नपात्**) न गिराने वाले ! रक्षक ! (**जातवेदः**) ज्ञान=प्रकाश के उत्पन्न करने और फैलाने वाले ! अग्ने ! (**सुशस्तिभिः**) उत्तम स्तुतिमन्त्रों के साथ (**धीतिभिः**) अंगुलियों से (**हितः**) आधान किया हुआ=स्थापित किया हुआ तू (**मन्दस्व**) प्रदीप्त हो (**भूरिवर्पसः**) अनेक देशोत्पन्न होने से अनेक रूपों वाले (**चित्रोतयः**) विचित्र रक्षा वाले (**वामजाताः**) कमनीय जन्म वाले यजमान लोग (**त्वे**) तुझ में (**इषः**) हव्यों को (**संदधुः**) होमें ॥

ऋग्वेद १० । १४० । ३ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थी

१८१९—इरज्यन्नग्ने प्रथयस्व जन्तुभिरस्मे रायो अमर्त्य ।
स दर्शतस्य वपुषो वि राजसि पृणक्षि दर्शतं क्रतुम् ॥४॥

भावार्थः—(**अमर्त्य**) देव ! (**अग्ने**) अग्ने ! (**इरज्यन्**) ऐश्वर्य करता हुआ तू (**जन्तुभिः**) अपने जायमान तेजों से (**अस्मे**) हमारे (**रायः**) धन धान्यादि को (**प्रथयस्व**) बढ़ा । (**सः**) वह तू (**दर्शतस्य**) दर्शनीय (**वपुषः**) रूप के [मध्य में] (**विराजसि**) अपना ऐश्वर्य करता है और (**दर्शतम्**) दर्शनीय कमनीय (**क्रतुम्**) यज्ञ को (**पृणक्षि**) संपृक्त करता=फल से संयुक्त करता है ॥

निघण्टु २ । २१ ॥ ३ । ७ अष्टाध्यायी ७ । १ । ३९ ॥ ६ । १ । १७१ के प्रमाण और ऋ० १० । १४० । ४ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखिये ॥४॥

अथ पञ्चमी

३ १२ ३२ ३ १२ ३ १२३ १२ ३२
१८२०—इष्कर्त्तारमध्वरस्य प्रचेतसं क्षयन्तं राधसो महः ।
३ २ ३१२ ३१२ ३२४ ३ १२ ३२ ३२
रातिं वामस्य सुभगां महीमिषं दधासि सानसिं रयिम् ॥५॥

भाषार्थः—(**अध्वरस्य**) हिंसारहित यज्ञ के (**इष्कर्त्तारम्**) संस्कार करने वाले, (**प्रचेतसम्**) बहुत चेताने वाले, (**महः**) बड़े (**राधसः**) धन धान्यादि के (**क्षयन्तम्**) ऐश्वर्य करने वाले, (**वामस्य**) कमनीय पदार्थ के (**रातिम्**) दाता [अग्नि की प्रशंसा करता हूँ। वह तू अग्नि] (**सुभगाम्**) ऐश्वर्यशाली (**महीम्**) बड़े (**इषम्**) अन्न को तथा (**सानसिम्**) भजनीय (**रयिम्**) धन को (**दधासि**) धारण करता है ॥

अष्टाध्यायी ३।१।८५ निघण्टु २ । २१ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद १० । १४० । ५ में भी ॥५॥

अथ षष्ठी

३ १२ ३२ ३ १२ ३ २ ३ १२ ३१ २४
१८२१—ऋतावानं महिषं विश्वदर्शतमग्निं सुम्नाय दधिरे पुरो जनाः।
१ २ ३१२ ३२७ ३ १२ ३२
श्रुत्कर्णं सप्रथस्तमं त्वा गिरा दैव्यं मानुषा युगा ॥६॥

भाषार्थः—अग्ने ! (**जनाः**) यजमान लोग (**ऋतावानम्**) यज्ञ वाले (**महिषम्**) बड़े वा अर्चनीय (**विश्वदर्शतम्**) सब को दिखाने वाले (**त्वा**) तुझ (**अग्निम्**) अग्नि को (**सुम्नाय**) सुखप्राप्ति के लिये (**पुरः**) आगे (**दधिरे**) आधान की रीति से रखते हैं वा आहवनीय रूप से पूर्व दिशा में आधान करते हैं (**श्रुत्कर्णम्**) सुनने वाले हैं कान जिस के उस (**सप्रथस्तमम्**) अति विस्तार्यमाण (**दैव्यम्**) हवि पहुंचाने वाला होने से देवों के सम्बन्धी तुझ को (**गिरा**) मन्त्रपूर्वक (**मानुषा युगा**) मनुष्यों के जोड़े पत्नी और यजमान मिलकर आधान करते हैं ॥

अष्टाध्यायी ५।२।१२२॥६।२। १०६ के प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋग्वेद १० । १४० । ६ में भी ॥६॥

इति एकविंशाऽध्यायस्य प्रथमः खण्डः ॥१॥

अथ द्वितीये खण्डे—प्रगाथस्य प्रथम सूक्तस्य – सौभरिऋषिः। अग्निर्देवता।

ककुप्छन्दः ॥ तत्र प्रथमा

१८२२—प्र सो अग्ने तवोतिभिः सुवीराभिस्तरति वाजकर्मभिः।
यस्य त्वं सख्यमाविथ ॥१॥

इसकी व्याख्या (१०८) में हो गई ॥१॥

अथ द्वितीया

१८२३—तव द्रप्सो नीलवान्वाश ऋत्विय इन्धानः सिष्णवा ददे।
त्वं महीनामुषसामसि प्रियः क्षपो वस्तुषु राजसि ॥२॥

भावार्थः—(सिष्णो) हे सोम से हूयमान अग्ने ! (तव) तेरा (द्रप्सः) द्रवीभूत (नीलवान्) नीलधूम में परिणत (वाशः) कमनीय (ऋत्वियः) वसन्तादि ऋतु का उपजा हुआ (इन्धानः) प्रदीप्त करता हुआ (आददे) होमार्थ जुहू आदि पात्रों में ग्रहण किया जाता है। (त्वम्) तू (महीनाम्) विस्तृत (उषसाम्) उषाओं का (प्रियः) प्यारा (असि) है "उषः काल में होमार्थ अग्नि प्रज्ज्वलित किये जाते हैं" सायणाचार्य। (क्षपः) रात्रि के (वस्तुषु) घटपटादि वस्तुओं पर (राजसि) प्रकाश करता है ॥

ऋ० ८। १९। ३१ में भी ॥२॥

अथैकर्चद्वितीयसूक्तस्य–अरुण ऋषिः। अग्निर्देवता। त्रिष्टुप्छन्दः॥ सेयम्—

१८२४—तमोषधीर्दधिरे गर्भमृत्वियं तमापो अग्निं जनयन्त मातरः।
तमित्समानं वनिनश्च वीरुधोऽन्तर्वतीश्च सुवते च विश्वहा॥

भावार्थः—(ओषधीः) यवादि ओषधियें (तम्) उस (ऋत्वियम्) अपने ऋतुसमयी (गर्भम्) गर्भ को (दधिरे) धारण करती हैं (तम् अग्निम्) उस अग्नि को (मातरः) माता रूप (आपः) जल [वाडवाऽनलरूप से] (जनयन्त) उत्पन्न करते हैं (समानम्) ऐसे ही (तम्) उस को (इत्) ही (वनिनः) वन की (वीरुधः) वनस्पतियें (च) भी (विश्वहा) सब दिनों

(अन्तर्वतीः) गर्भ में धारण करतीं (च) और (सुवते च) जनती भी हैं ॥
ऋग्वेद १० । ९१ । ६ में भी ॥११॥

अथैकर्चस्य तृतीयसूक्तस्य—अग्निः प्रजापतिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता ।
गायत्री छन्दः ॥ सेयम्—

१८२५—अग्निरिन्द्राय पवते दिवि शुक्रो वि राजति ।
महिषीव वि जायते ॥१॥

भावार्थः—(अग्निः) यज्ञों में अग्रणी होने वाला अग्नि (इन्द्राय) देवों के लिये (पवते) हमारे दिये हव्य से अधिकाऽधिक सेचन करता है (शुक्रः) बलवीर्यवान् अग्नि (दिवि) आकाश में (विराजति) विराजता है और दृष्टान्त—(महिषीव) भैंस के समान=जैसे भैंस तृणादि पाकर अनेक प्रकार के दुग्ध घृतादि पदार्थ उत्पन्न करती हैं, वैसे अग्नि हव्य पाकर देवों के निमित्त अनेक प्रकार के अन्नादि उत्पन्न करता है ॥१॥

अथैकर्चस्य चतुर्थसूक्तस्य—अवत्सार ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥
सेयम्—

१८२६—यो जागार तमृचः कामयन्ते
यो जागार तमु सामानि यन्ति ।
यो जागार तमयं सोम आह
तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥१॥

भावार्थः—(यः) जो मनुष्य (जागार) जागता है (तम्) उस को (ऋचः) ऋग्वेदमन्त्र (कामयन्ते) चाहते हैं (यः) जो (जागार) जागता है (तम्) उस को (उ) ही (सामानि) सामवेदवचन (यन्ति) प्राप्त होते हैं (यः) जो (जागार) जागता है (तम्) उस को (अयम्) यह (सोमः)

सोमादि ओषधिगण (**आह**) कहता है कि (**अहम्**) मैं (**न्योकाः**) नियत स्थान वाला (**तव**) तेरी (**सख्ये**) मैत्री में (**अस्मि**) हूँ ॥

जो पुरुष आलसी निद्रालु बहुत सोने वाले पुरुषार्थरहित हैं उनको न तो ऋग्वेदादि से ज्ञान प्राप्त होता है, न सोमादि ओषधियें काम देती हैं, परन्तु जो निरालस्य पुरुषार्थी जागरूक पुरुष हैं उनको वेद फलीभूत होते हैं और सोमादि ओषधिगण हितार्थ सामने हाथ जोड़े खड़े रहते हैं कि हम तुम्हारे ही लिये हैं और तुम्हारे ही हैं। इस वेदाज्ञा के पालनार्थ मनुष्यमात्र को पुरुषार्थी आलस्यरहित होना योग्य है ॥

ऋ० ५। ४४। १४ में भी ॥१॥

अथैकर्चस्य पंचमसूक्तस्य—ऋष्यादयः पूर्ववत् ज्ञेयाः ॥ सेयम्—

३ १ २ ३ १ २र ३
१८२७—अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते-

१ २ ३ २३ १ २
ऽग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति ।

३ १ २ ३ २३१ २र ३
अग्निर्जागार तमयं सोम आह

१३ १२ ३ १ २
तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥२॥

भावार्थः—(**अग्निः**) अग्नि (**जागार**) जागता है (**तम्**) उसको (**ऋचः**) ऋचायें (**कामयन्ते**) चाहती हैं (**अग्निः**) अग्नि (**जागार**) जागता है (**तम्**) उसको (**उ**) ही (**सामानि**) साम (**यन्ति**) प्राप्त होते हैं (**अग्निः**) अग्नि (**जागार**) जागता है (**तम्**) उसको (**अयम्**) यह (**सोमः**) ओषधिगण (**आह**) कहता है कि (**अहम्**) मैं (**न्योकाः**) नियतस्थानस्थित (**तव**) तेरी (**सख्ये**) मित्रता में (**अस्मि**) हूं ॥

भाव यह है कि पूर्वमन्त्र में जागरणशील होने की महिमा कही थी, अब इस मन्त्र में यह बताया है कि जो जागरूक रहना चाहते हैं, और ज्ञान तथा कर्म से अपना और संसार का भला करना चाहते हैं, उनको अग्नितत्त्व का बाहुल्य से सेवन और प्रयोग समझकर करना चाहिये क्योंकि अग्नि ही प्रकाश का हेतु, अन्धकार आलस्य नपुंसकता = पुरुषार्थहीनता का नाशक इत्यादि विशेषणविशिष्ट होने

से सर्व होमादि और औषधप्रयोग तथा शिल्प कलाकौशल में प्रयुक्त होकर मनुष्यों को जागरण का फल देता है ॥

ऋग्वेद ५ । ४४ । १५ में भी ॥१॥

अथ षष्ठस्य तृचसूक्तस्य—मृग ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१८२८—नमः सखिभ्यः पूर्वसद्भ्यो नमः साकंनिषेभ्यः ।
युञ्जे वाचं शतपदीम् ॥१॥

भावार्थः—(**पूर्वसद्भ्यः**) पहले से विराजमान (**सखिभ्यः**) मित्रों को (**नमः**) नमस्कार करता हूँ (**साकंनिषेभ्यः**) साथ-साथ आकर बैठे मित्रों को भी (**नमः**) नमस्कार । (**शतपदीम्**) असंख्य पदों की (**वाचम्**) प्रशस्ति वाणी का (**युञ्जे**) प्रयोग करता हूँ ॥

सभा आदि वा यज्ञ में सदस्यों को नमस्कार करने का क्या उत्तम उपदेश मधुर शब्दों में वेद में दिया है ॥१॥

अथ द्वितीया

१८२९—युञ्जे वाचं शतपदीं गाये सहस्रवर्तनि ।
गायत्रं त्रैष्टुभं जगत् ॥२॥

भावार्थः—(**शतपदीम्**) अनेक पदों वाली मनोहर श्रवणप्रिय (**वाचम्**) वाणी को (**युञ्जे**) बोलता प्रयुक्त करता हूँ,(**सहस्रवर्त्तनि**) अनेक प्रकार के रागों में (**गायत्रम्**) गायत्री छन्द के (**त्रैष्टुभम्**) त्रिष्टुप् छन्द के और (**जगत्**) जगती छन्द के सामों को (**गाये**) गाता हूँ ॥२॥

अथ तृतीया

१८३०—गायत्रं त्रैष्टुभं जगद्विश्वा रूपाणि सम्भृता ।
देवा ओकांसि चक्रिरे ॥३॥

भावार्थः—(विश्वा) सब (रूपाणि) रूपों को (संभृता) धारण करने वाले (गायत्रं त्रैष्टुभं जगत्) गायत्री त्रिष्टुप् जगती छन्दों को (देवाः) देवों ने (ओकांसि) निवासस्थान (चक्रिरे) कर लिया है ॥३॥

इदानीं ज्योतींषि ज्योतिष्टोमे इति विवरणकारः ॥

अथ सप्तमस्य तृचसूक्तस्य—प्रजापतिऋर्षिः । अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१८३१—अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निरिन्द्रोज्योतिर्ज्योतिरिन्द्रः ।
सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः ॥१॥

भावार्थः—(अग्निः) अग्नि (ज्योतिः) ज्योतिरूप है, काष्ठादि रूप नहीं। (ज्योतिः) ज्योति (अग्निः) अग्निरूप है, तद्भिन्न नहीं। (इन्द्रः) अन्तरिक्षस्थान देवगणान्तर्गत वायुविशेष वा विद्युद्विशेष इन्द्र (ज्योतिः) एक प्रकार का प्रकाश है (ज्योतिः) वह ज्योति (इन्द्रः) इन्द्र कहाता है। (सूर्यः) सूर्यलोक (ज्योतिः) प्रत्यक्ष ज्योतिरूप है (ज्योतिः) वह ज्योति (सूर्यः) सूर्य कहाता है ॥

इस मन्त्र में इन्द्र सूर्य और ज्योति की एकात्मता बताई गई है ॥

यजुर्वेद ३। ९ में भी पाठभेद से यह ऋचा पाई जाती है, वहां भाष्यकार महीधर कहते हैं कि "यहां से प्रारम्भ करके 'उपप्रयन्तः' से पूर्व अग्निहोत्र होम के मन्त्र हैं। सामान्य से इन मन्त्रों का प्रजापति ऋषि है परन्तु जहां अनुक्रमणीकारों ने ऋषिविशेष कहा है वहां दोनों भी ऋषि समझने चाहियें (एक अनुक्रमणीकारोक्त दूसरा प्रजापति सामान्य से)" इत्यादि ॥१॥

अथ द्वितीया

१८३२—पुनरूर्जा नि वर्तस्व पुनरग्न इषायुषा ।
पुनर्नः पाह्यंहसः ॥२॥

भावार्थः—अग्निहोत्र नित्य करने का फल – (अग्ने) अग्नि ! (पुनः) वारम्वार (ऊर्जा:) दुग्ध घृतादि रस के साथ (निवर्तस्व) हमको अभिमुख करके आवे (इषा) अन्न यव गोधूमादि (आयुषा) आयु के रक्षक वा प्राणों के रक्षक के

साथ (पुनः) वारम्वार प्राप्त होवे । (पुनः) वारम्वार (नः) हम यजमानों को (अंहसः) पापरोगादि शत्रु से (पाहि) बचावे ।।

यजुर्वेद १२ । ६ तथा १२ । ४० में भी ।।२।।

अथ तृतीया

१८३३—सह रय्या नि वर्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया ।
विश्वप्स्न्या विश्वतस्परि ।।३।।

भावार्थ—(अग्ने) अग्नि ! तू (रय्या) रमणीय धन के (सह) साथ (निवर्तस्व) हमारे पास लौट आ, और (विश्वतः) सब से (परि) ऊपरि वर्त्तमान (विश्वप्स्न्या) अपनी विश्वव्यापिनी (धारया) घृतादि की धार से (पिन्वस्व) पुष्ट हो ।।

यजुर्वेद १२ । १० तथा १२ । ४५ में भी ।।३।।

इति एकविंशाऽध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ।।२।।

तत्र तृतीये खण्डे प्रथमतृचस्य—गोषूक्तिरश्वसूक्तिर्वा ऋषि. ।
इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ।।

तत्र प्रथमा

१८३४—यदिन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत् ।
स्तोता मे गोसखा स्यात् ।।१।।

इसकी व्याख्या (१२२) में हो चुकी है ।।१।।

अथ द्वितीया

१८३५—शिक्षेयमस्मै दित्सेयं शचीपते मनीषिणे ।
यदहं गोपतिः स्याम् ।।२।।

भावार्थः—(शचीपते) हे बुद्धि के स्वामी ! इन्द्र ! (यद्) यदि (अहम्) मैं (गोपतिः) जितेन्द्रिय वाणी का पति (स्याम्) हो जाऊं तो (अस्मै) इस उपस्थित (मनीषिणे) बुद्धिमान् जिज्ञासु को (शिक्षेयम्) शिक्षा दूं और (दित्सेयम्) दान की इच्छा करूं ।।

ऋ० ८ । १४ । २ में भी ।।२।।

अथ तृतीया

१८३६—धेनुष्ट इन्द्र सूनृता यजमानाय सुन्वते ।
गामश्वं पिप्युषी दुहे ।।३।।

भावार्थः – (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (ते) आप की (धेनुः) वेदवाणी रूपिणी गौ (सूनृता) सच्ची (पिप्युषी) वृद्धि करने वाली (सुन्वते) सोमयाजी (यजमानाय) यजमान के लिए (गाम्) गौ (अश्वम्) घोड़े इत्यादि धन को (दुहे) दुहती=भरपूर करती है ।।

ऋ० ८ । १४ । ३ में भी ।।३।।

अथ द्वितीयतृचस्य—त्रिशिराः सिन्धुद्वीपो वा ऋषिः । आपो देवताः । गायत्री छन्दः ।।

तत्र प्रथमा

१८३७—आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन ।
महे रणाय चक्षसे ।।१।।

भावार्थः—(आपः) जल (हि) निश्चय (मयोभुवः) सुखदायक (स्थ) हैं (ताः) वे (नः) हम को (ऊर्जे) रस के लिए (महे) और बड़े (रणाय) रमणीय (चक्षसे) दर्शन के लिए (दधातन) धारण करें ।। निरुक्त ६ । २७ का प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ।।

ऋ० १० । ६ । १ यजु० ११ । ५० में भी ।।१।।

अथ द्वितीया

१८३८—यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः ।
उशतीरिव मातरः ॥२॥

भावार्थः—(वः) तुम जलों का (यः) जो (शिवतमः) अति सुखदायी (रसः) रस है (अस्मान्) हम को (तस्य) उस रस का (भाजयत) सेवन कराओ (इव) जैसे (उशतीः) पुत्र की भलाई चाहती हुई (मातरः) माताएं पुत्रों को दुग्ध का सेवन कराती हैं तद्वत् ॥ ऋ० १० । ६ । २ में तथा यजुः ११।५१ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१८३९—तस्मा अरंगमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ ।
आपो जनयथा च नः ॥३॥

भावार्थ—(आपः) जलो! तुम (यस्य) जिस अशुद्धयादि पाप के (क्षयाय) नाशार्थ (वः) तुम को, हम (अरम्) पूर्णतया (गमाम) प्राप्त करते हैं (तस्मै) उस अशुद्धयादि नाश के लिए (जिन्वथ) प्रसन्न तृप्त करो (च) और (नः) हम विधिपूर्वक जल का सेवन करने वालों को (जनयथ) उत्पन्न करो, सन्तानों से बढ़ाओ ॥

जो मनुष्य विधिपूर्वक जल का सेवन करते हैं, वे सर्वाङ्गशुद्ध नीरोग होते हुए पुत्रादि सन्तति से बढ़ते हैं ॥

ऋ० १० । ६ । ३ तथा यजुर्वेद ११ । ५२ में भी ॥३॥

अथ तृतीय तृचस्य—वातायन उल ऋषिः । वायुर्देवता । गायत्री छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१८४०—वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे ।
प्र न आयूंषि तारिषत् ॥१॥

इसकी व्याख्या (१४८) में हो गई है ॥१॥

अथ द्वितीया

३१ २ ३ १ २ ३२उ ३ २ ३ १ २
१८४१—उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा ।
१ २ ३ १ २
स नो जीवातवे कृधि ॥२॥

भावार्थः—(उत) और (वात) हे वायो ! तू (नः) हमारा (पिता) पालक (उत) और (भ्राता) सहायक (उत) और (नः) हमारा (सखा) मित्र हितकर (असि) है (सः) वह तू (नः) हमको (जीवातवे) जीवन के लिये (कृधि) समर्थ कर ॥

यथाविधि वायु का सेवन करने वालों का वायु ही पिता भ्राता और मित्र के समान गुणकारी उपकारी होकर उनको दीर्घजीवन देता है । वायु जीवन है । इसमें सन्देह नहीं ॥

ऋ० १० । १८६ । २ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

२ ३ १ २ ३ २ २ ३ १ २ ३ १ २
१८४२—यददो वात ते गृहेऽमृतं निहितं गुहा ।
१ २ ३ १ २
तस्य नो धेहि जीवसे ॥३॥

भावार्थः—(वात) वायो ! (यत्) जो (अदः) यह (गुहा) छिपी जगह में (निहितम्) रखा हुआ (ते) तेरे (गृहे) घर=फेफड़ों में (अमृतम्) जीवन है, (तस्य) उस अमृत=जीवन का (नः) हम को (जीवसे) जीवित रहने के लिए (धेहि) धारण करावे ॥

ऋ० १० । १८६ । ३ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थतृचस्य—सुपर्ण ऋषिः । सूर्यो देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

३ २ ३ २ ३ १२ ३ १२ ३ २३ २ ३१ २ ३ २
१८४३—अभि वाजी विश्वरूपो जनित्रं हिरण्ययं बिभ्रदत्कं सुपर्णः ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २
सूर्यस्य भानुमृतुथा वसानः परि स्वयं मेधमृज्रो जजान ॥१॥

भावार्थः—(वाजी) बलवान् (विश्वरूपः) सबको रूपवान् करने वाला, (सुपर्णः) सुन्दर ज्वालारूप परों वाला, (ऋतुथा) प्रत्येक ऋतु में(सूर्यस्य भानुम्) सूर्य की किरणों को (वसानः) वस्त्र के समान परिधान करता हुआ, (हिरण्ययम्) तेजोमय (अत्कम्) अपने तेज से भरपूर (जनित्रम्) उत्पत्ति के स्थान अरणि रूप बिल को (बिभ्रद्) पुष्ट करता हुआ, (ऋञ्जः) दाहक पाचक अग्नि (स्वयम्) अपने आप (मेधम्) यज्ञ को (परि) सर्वतः (अभि) लक्ष्य करके (जजान) उत्पन्न होता है ॥१॥

अथ द्वितीया

३ १ २र ३ १ २ ३
१८४४—अप्सु रेतः शिश्रिये विश्वरूपं
१ २ ३ २उ ३ २ २ ३ १२
तेजः पृथिव्यामधि यत्सं बभूव ।
३ १२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २
अन्तरिक्षे स्वं महिमानं मिमानः
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२
कनिक्रन्ति वृष्णो अश्वस्य रेतः ॥२॥

भावार्थः—(यत्) जो (अप्सु) जलों में (रेतः) बीजरूप (शिश्रिये) आश्रित है और जो (पृथिव्याम्) पृथिवी में (अधि) आधिक्य से (संबभूव) उत्पन्न होता है वह (विश्वरूपम्) अनेक [२४] रूपों वाला (तेजः) तेजस्वी, (वृष्णः अश्वस्य रेतः) वर्षा करने वाली बिजुली का वीर्य सोम (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (स्वम्) अपने (महिमानम्) महत्त्व को (मिमानः) फैलाता हुआ (कनिक्रन्ति) अग्नि में हुत होता हुआ शब्द करता है ॥

सायणाचार्य ने सोम के जलों में लीन रहने और बिजुली का वीर्य होने में दो श्रुतियें प्रमाण में प्रस्तुत की हैं उनको संस्कृतभाष्य में देखिये ॥२॥

अथ तृतीया

३ २ ३ २ ३ १२ ३ १ २र ३
१८४५—अयं सहस्रा परि युक्ता वसानः
१ २ ३ २ ३ १ २
सूर्यस्य भानुं यज्ञो दाधार ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सहस्रदाः शतदा भूरिदावा
३ २ १ २ २र ३ १ २
धर्त्ता दिवो भुवनस्य विश्पतिः ॥३।

भावार्थः—(**अयम्**) यह (**यज्ञः**) यज्ञ वा अग्नि (**युक्ता**) अपने साथ जुड़े हुए (**सहस्रा**) सहस्रों किरण जालों को (**परि**) सब ओर (**वसानः**) पहरे हुए (**सूर्यस्य**) सूर्य के (**भानुम्**) प्रकाश को (**दाधार**) धारण करता है (**सहस्रदा**) सहस्रों का दाता (**शतदाः**) सैकड़ों का दाता (**भूरिदावा**) कहां तक कहें अपरिमित फलों का दाता (**दिवः धर्त्ता**) अन्तरिक्षस्थ मेघ मण्डलादि का धर्त्ता (**भुवनस्य**) जगत् की (**विश्पतिः**) प्रजाओं का पालक है ॥३॥

"इदानीं परिमदोऽहर्गणेषु तद्देतेषु क्षिप्तेषु यज्ञपात्रेषु त्रिः-छन्दोगः परिगायेत् 'नाके सुपर्णम्' इति" इति विव० ॥

अथ पञ्चमतृचस्य—वेनोभार्गव ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१ २ ३२उ ३ १ २र ३ १ २र ३ १ २
१८४६—नाके सुपर्णमुप यत्पतन्तं हृदा वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा ।
१२ ३ १२ ३२ ३१ ३ १ २ ३१ २३ २
हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य योनौ शकुनं भुरण्युम्॥१॥

इसकी व्याख्या (३२०) में हो गई है ॥१॥

अथ तृतीया

३ १ २ ३२उ ३ १ २
१८४७—ऊर्ध्वो गन्धर्वो अधिनाके अस्थात्
३ २ ३ १ २र ३ १ २
प्रत्यङ् चित्रा बिभ्रदस्यायुधानि ।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
वसानो अत्कं सुरभिं दृशे कं
१ २र ३ १ २
स्वा३र्ण नाम जनत प्रियाणि ॥२॥

भावार्थः—(**नाके अधि**) द्युलोक में (**ऊर्ध्वः**) ऊपर (**गन्धर्वः**) सूर्य (**अस्थात्**) स्थित है, जो (**चित्रा**) सात रंग के विचित्र (**अस्य**) इस के (**आयुधानि**) शस्त्रास्त्रवत् प्रहार के साधन किरणों को (**बिभ्रत्**) धारण कर रहा है और (**दृशे**) संसार को दिखाने के लिये (**सुरभिम्**) सुन्दर (**कम्**)

सुखद (अत्कम्) व्यापने वाले स्वरूप को (वसानः) धारण कर रहा है तथा (नाम) नम्र (प्रियाणि) प्यारे जलों को (जनत) उत्पन्न करता है वर्षा द्वारा (न) जैसे (स्वः) अन्तरिक्ष में हैं वैसे ।।

ऋ० १० । १२१ । ७ में भी ।। सायणाचार्य के दिये प्रमाण संस्कृतभाष्य में भी देखिये ।।२।।

अथ तृतीया

१८४८—द्रप्सः समुद्रमभि यज्जिगाति
पश्यन् गृध्रस्य चक्षसा विधर्मन् ।
भानुः शुक्रेण शोचिषा चकान-
स्तृतीये चक्रे रजसि प्रियाणि ।।३।।

भावार्थः—(भानुः) सूर्य (द्रप्सः) अपनी कक्षा में वेग से दौड़ने-घूमने वाला (विधर्मन्) विधारक अन्तरिक्ष में (गृध्रस्य) गीध के सी दूर का देखने वाली (चक्षसा) दृष्टि से (पश्यन्) दिखाता हुआ (शुक्रेण शोचिषा) उज्ज्वल ज्योति से (चकानः) चमकता हुआ (यत्) जिस कारण से (तृतीये) तीसरे (रजसि) द्युलोक में (समुद्रम्) अन्तरिक्ष को चारों ओर करके (जिगाति) घूमता है इस कारण से (प्रियाणि) लोक में हितकारी कामों को (चक्रे) करता रहता है ।।

ऋग्वेद १० । १२३ । ८ में भी ।।३।।

इति एकविंशाऽध्यायस्य तृतीयः खण्डः ।।३।।

इति नवमस्य द्वितीयोऽर्धप्रपाठकः ।।

समाप्तानि एकाहाऽहीनसत्रप्रायश्चित्तक्षुद्रक्लृप्तेषु सामानि "छन्दोगानां मन्त्रभूतानि०" इत्यादि विवरणकारः ॥

इति श्रीमत्कण्ववंशाऽवतंस श्रीमान् पं० हजारीलाल स्वामी के पुत्र परीक्षितगढ़ (जिला – मेरठ) निवासी तुलसीराम स्वामिकृत उत्तरार्चिक सामवेदभाष्य में इक्कीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥२१॥

ओ३म्

अथ द्वाविंशाध्यायः ॥

तत्र

प्रथमे खण्डे प्रथमतृचस्य—प्रजापतिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

तत्र प्रथमा

१८४९—आशुः शिशानो वृषभो न भीमो
घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम् ।
सङ्क्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः
शतं सेना अजयत्साकमिन्द्रः ॥१॥

भावार्थः—इन्द्र = राजा का वर्णन करते हैं—(**इन्द्रः**) इन्द्रदेव (**आशुः**) शीघ्रकारी फुरतीला (**शिशानः**) तीक्ष्ण (**वृषभः न भीमः**) सांड के समान डरावना (**घनाघनः**) प्रहार करने में चतुर (**चर्षणीनां क्षोभणः**) मनुष्यों के मध्य में क्षोभ वाला (**संक्रन्दनः**) विधिपूर्वक शत्रु पर प्रहार करने वाला (**अनिमिषः**) आलस्य-प्रमादरहित (**एकवीरः**) अद्वितीय शूरवीर (**शतं सेनाः**) असंख्य सेनाओं को (**साकम्**) एक साथ (**अजयत्**) जीतता है ॥

मध्यस्थान देवगणान्तर्गत इन्द्र सब देवों का राजा है, वह राजसी शक्ति वाला है, मनुष्यों में भी जिन-जिन में ऊपर कहे मन्त्र के गुण होते हैं वे सब भी इन्द्र-तत्त्व की प्रधान सहायता और प्रसाद से होते हैं, उन्हीं गुणों से राजा, राजा का सेनापति और शूरवीर राजपुरुष इन्द्रपदवाच्य होता है, जहां तक उसमें इन्द्रत्व हो उतने अंश में यह बात चरितार्थ होती है ॥

कर्मकाण्ड विषय में विवरणकार कहते हैं कि "अब साग्निचित्य क्रतु में ब्रह्मा अप्रतिरथ का जप करे । इस कथन वाला ब्रह्मापन त्रयी विद्या से किया जाता है ।

इस कारण से उद्गाताओं को भी मास की परिसमाप्ति से ब्रह्मापन माना गया है। इस कारण सब शाखाओं में अप्रतिरथ पढ़ा जाता है। सब (अप्रतिरथ) का इन्द्र देवता प्रजापति ऋषि और त्रिष्टुप् छन्द है"।

सायणाचार्य कहते हैं कि "यहां ऐन्द्र अप्रतिरथ ऋषि,त्रिष्टुप् छन्द और इन्द्र देवता है। साग्निचित्य क्रतु में अग्निप्रणयन के समय ब्राह्मण को यह अध्याय जपना चाहिये"।

श्रीमान् स्वामी दयानन्दसरस्वती जी यजुर्वेदभाष्य में कहते हैं कि "अब सेनापति के कृत्य बताते हैं"।

ऋ० १० । १०३ । १ यजुर्वेद १७ । ३३ में भी है ॥१॥

अथ द्वितीया

१८५०—सङ्क्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुना
युत्कारेण दुश्च्यवनेन धृष्णुना।
तदिन्द्रेण जयत तत्सहध्वं युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा ॥२॥

भावार्थः—(युधः) हे युद्ध करने वाले (नरः) नायको ! तुम (संक्रन्दनेन) भले प्रकार विधिपूर्वक प्रहार करने में चतुर (अनिमिषेण) आलस्यवर्जित (जिष्णुना) जयशील (युत्कारेण) युद्ध करने वाले (दुश्च्यवनेन) न हटने वाले (धृष्णुना) दूसरों को धमका सकने वाले (इषुहस्तेन) बाण हाथ में लेने वाले (वृष्णा) बाण वृष्टि करने वाले (इन्द्रेण) इन्द्र के साहाय्य से (तत्) उस सामने आये शत्रुसैन्य को (जयत) जीतो और (तत्) उसको (सहध्वम्) अभिभूत=तिरस्कृत करो।

ऋग्वेद १० । १०३ । २ यजु: १७ । ३४ में भी है ॥२॥

अथ तृतीया

१८५१—स इषुहस्तैः स निषङ्गिभिर्वशी
संस्रष्टा स युध इन्द्रो गणेन।

३ १ २ ३ १ २ ३ २
संसृष्टजित्सोमपा बाहुशर्ध्यू-

१ २ ३ १ २ ३ १ २
ऽ३ग्रधन्वा प्रतिहिताभिरस्ता ॥३॥

भावार्थः—पूर्वमन्त्र में इन्द्र से जय करना कहा था, इस मन्त्र में इन्द्र के जयसाधनों का सामर्थ्य कहते हैं: —(**सः**) वह (**इन्द्रः**) राजा (**इषुहस्तैः**) बाण हाथ में रखने वाले भटों सहित (**सः**) वह (**निषङ्गिभिः**) खड्गधारियों सहित (**वशी**) वशवर्ती भटों सहित (**गणेन**) समूह से (**संसृष्टा**) संसर्ग रखने वाला (**सः**) वह (**युधः**) युद्ध करने वाला इन्द्र (**संसृष्टजित्**) संसर्ग युक्तों को जीतने वाला (**सोमपाः**) सोमपान करने वाला (**बाहुशर्धी**) बाहुबल वाला (**उग्रधन्वा**) धनुष् को उद्यत रखने वाला (**प्रतिहिताभिः**) शत्रुओं पर फेंकी हुई शक्ति इत्यादिकों से (**अस्ता**) फेंक करने वाला है। इस प्रकार के इन्द्र राजा के साहाय्य से जय करो यह पूर्व मन्त्र से अन्वय है॥

ऋग्वेद १०। १०३। ३ यजुः १७। ३५ में भी है॥३॥

अथ द्वितीय तृचस्य ऋष्यादिकं पूर्ववत्॥
तत्र प्रथमा

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २
१८५२—बृहस्पते परि दीया रथेन रक्षोहामित्राँ अपबाधमानः।

३ १ २र ३ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १
प्रभञ्जन्त्सेनाः प्रमृणो युधा जयन्नस्माकमेध्यविता

२र
रथानाम् ॥१॥

भावार्थः - (**बृहस्पते**) हे बड़ों के पति ! इन्द्र ! राजन् ! आप (**रथेन**) संग्रामसम्बन्धी रथ से (**परिदीय**) शत्रु पर चढ़िये (**रक्षोहा**) राक्षसों –अन्यायियों के हन्ता (**अमित्रान् अपबाधमानः**) शत्रुओं के बाधक (**सेनाः**) शत्रु सेनाओं को (**प्रभञ्जन्**) नष्ट करते हुए (**प्रमृणः**) उग्रता से मारिये और (**युधा**) युद्ध द्वारा (**जयन्**) जीतते हुए (**अस्माकम्**) हम रथी वा अतिरथी वा महारथियों के (**रथानाम्**) रथों के (**अविता**) रक्षक (**एधि**) हूजिये॥

ऋ० १०। १०३। ४ तथा यजुः १७। ३६ में भी है॥१॥

अथ द्वितीया

१८५३—बलविज्ञायः स्थविरः प्रवीरः
सहस्वान्वाजी सहमान उग्रः ।
अभिवीरो अभिसत्वा सहोजा
जैत्रमिन्द्र रथमातिष्ठ गोवित् ॥२॥

भावार्थः (**इन्द्र**) हे इन्द्र ! राजन् ! (**बलविज्ञाय:**) बल का जानने वाला (**स्थविरः**) पूर्ण हृष्टपुष्टांग (**प्रवीरः**) उत्तम कक्ष का वीर (**सहस्वान्**) शत्रुओं के तिरस्कार का सामर्थ्य रखने वाला (**वाजी**) बलवान् वा अन्नादि सामग्री साथ रखने वाला (**सहमानः**) शत्रुओं पर प्रभाव डालने वाला (**उग्रः**) बल को उगलने वाला (**अभिवीरः**) अपने सब ओर वीरों का रखने वाला (**अभिसत्वा**) अपने सब ओर युद्धविद्याचतुर रक्षकों का रखने वाला (**सहौजाः**) ओजस्वी (**गोवित्**) इन्द्रियों के सामर्थ्य को पाने वाला तू (**जैत्रं रथम्**) विजयी रथ पर (**आतिष्ठ**) सवार हो ।।

ऋग्वेद १० । १०३ । ५ यजुः १७ । ३७ में भी है ।।२।।

अथ तृतीया

१८५४—गोत्रभिदं गोविदं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा ।
इमं सजाता अनुवीरयध्वमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम् ॥३॥

भावार्थः—(**सजाताः**) हे समान आयु के वीरो ! (**सखायः**) मित्रो ! योद्धाओ ! तुम (**गोत्रभिदम्**) पहाड़ों के तोड़ने वाले (**गोविदम्**) इन्द्रियों की शक्ति से सम्पन्न (**वज्रबाहुम्**) वज्रादि हाथ में धारण करने वाले (**जयन्तम्**) जय करते हुए (**अज्म**) सामने आते शत्रुबल को (**ओजसा**) बलसे (**प्रमृणन्तम्**) अत्यन्त नष्ट करते हुए (**इमम्**) इस (**इन्द्रम्**) इन्द्र राजा के (**अनुवीरयध्वम्**) अनुसारी होकर वीरता दिखाओ (**अनुसंरभध्वम्**) अनुकूल होकर दौड़ो ।।

ऋ० १० । १०३ । ६ यजुः १७ । ३८ में भी ।।६।।

अथ तृतीय तृचस्य—ऋष्यादिकं पूर्ववत् ॥ तत्र प्रथमा

१८५५—अभि गोत्राणि सहसा गाहमानो-
ऽदयो वीरः शतमन्युरिन्द्रः ।
दुश्च्यवनः पृतनाषाडयुध्यो-
ऽस्माकं सेना अवतु प्र युत्सु ॥१॥

भावार्थः—(**गोत्राणि**) पर्वतवृन्दों में (**सहसा**) बल से (**अभि**) सन्मुख (**गाहमानः**) घुस जाता हुआ (**अदयः**) शत्रुओं परे दया न करने वाला (**वीरः**) वीर (**शतमन्युः**) अत्यन्त क्रोध वाला (**दुश्च्यवनः**) न हटने वाला (**पृतनाषाड्**) शत्रु सेनाओं का तिरस्कार करने वाला (**अयुध्यः**) शत्रु जिससे न लड़ सकें (**इन्द्रः**) ऐसा सेनापति (**अस्माकम्**) हमारी (**सेनाः**) सेनाओं को (**प्रयुत्सु**) संग्रामों में (**अवतु**) रक्षित करे ॥ ऋ० १० । १०३ । ७ यजुः १७ । ३९ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

१८५६—इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः ।
देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम् ॥२॥

भावार्थः—(**अभिभञ्जतीनाम्**) सामने मारती हुई (**जयन्तीनाम्**) विजय करती हुई (**आसाम्**) इन (**देवसेनानाम्**) धर्मात्मा देवों की सेनाओं का (**नेता**) सेनापति=नायक (**इन्द्रः**) इन्द्र (**पुरः**) आगे (**एतु**) जावे (**बृहस्पतिः**) समूह का पति बृहस्पतिसंज्ञक (**दक्षिणा**) दाहिनी ओर जावे (**यज्ञः**) संगमनीय यज्ञसंज्ञक सेनानी उत्तर में जावें (**सोमः**) सेना का प्रेरक सोमसंज्ञक पीछे की ओर जावे (**मरुतः**) मरने से न डरने वाले मरुद्गण शूरवीर (**अग्रम्**) आगे (**यन्तु**) जावें ॥

इसमें प्राकृत देवाऽसुरसंग्राम के दृष्टान्त से युद्धविद्या का उपदेश है । जैसे आकाश में अन्धकार मेघ आदि दुष्ट असुरों के विनाशार्थ इन्द्र देवसेना के सहित युद्ध करता है, उसमें मरुत्=वायुविशेष और सोम बृहस्पति तथा इन्द्र उचित स्थान पर युद्ध करते हैं, वैसे ही मनुष्यों के युद्धों में भी व्यूहरचना करके विधिवद्ध युद्ध होना चाहिये ॥ ऋग्वेद १० । १०३ । ८ यजुः १७ । ४० में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१८५७—इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ
आदित्यानां मरुतां शर्ध उग्रम् ।
महामनसां भुवनच्यवानां
घोषो देवानां जयतामुदस्थात् ॥३॥

भावार्थः—(**इन्द्रस्य**) ऐश्वर्यवान् (**वृष्णः**) कामनापूरक वा बाणवर्षक वा मेघवर्षक (**वरुणस्य**) वरणीय (**राज्ञः**) राजा का और (**आदित्यानाम्**) सूर्यवत्प्रकाशमान तेजस्वी वीरों (**मरुताम्**) मरणार्थ उद्यत वीर योद्धाओं का (**शर्धः**) बल (**उग्रम्**) उग्र होवे। (**महामनसाम्**) बड़े मन वाले (**भुवनच्यवानाम्**) भुवनों को भगा देने वाले (**देवानाम्**) युद्धविद्याप्रकाशक (**जयताम्**) जीतते हुओं का (**घोषः**) जयघोष (**उदऽस्थात्**) उठे ॥

जिस प्रकार आकाश में लोक-लोकान्तर परस्पर अपनी मर्यादा की रक्षा में जुटे हुए युद्धार्थ उद्यत रहते हैं इस प्रकार वीर राजवर्ग को दैवयुद्ध, विजय और रक्षा की शिक्षा ग्रहण करके वर्त्तना चाहिये ॥

ऋग्वेद १० । १०३ । ९ यजुः १७ । ४१ में भी ॥३॥

अथ चतुर्थसूक्तस्य—ऋष्यादिकमुक्तवत् ॥ तत्र प्रथमा

१८५८—उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत्सत्वनां मामकानां मनांसि ।
उद्वृत्रहन्वाजिनां वाजिनान्युद्रथानां जयतां यन्तु
घोषाः ॥१॥

भावार्थः—(**मघवन्**) हे धनवन् ! (**मामकानाम्**) मेरे (**सत्वनाम्**) वीर प्राणियों के (**आयुधानि**) तलवार आदि शस्त्रों को (**उद्हर्षय**) हर्षपूर्वक उद्यत कराव (**मनांसि**) उनके चित्तों को (**उत्**) हर्ष से उभार (**वृत्रहन्**) हे दुष्टदस्युनाशन ! (**वाजिनाम्**) घोड़ों के (**वाजिनानि**) वेगों को (**उत्**) हर्ष से उभार (**जयताम्**) जीतते हुए (**रथानाम्**) संग्रामस्थ रथों के (**घोषाः**) घोष (**उद् यन्तु**) ऊपर को उठें ॥

ऋ० १० । १०३ । १० यजुः १७ । ४२ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया

१८५९—अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्व-
स्माकं या इषवस्ता जयन्तु ।
अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्व-
स्माँ उ देवा अवता न हवेषु ॥२॥

भावार्थः—(**इन्द्रः**) इन्द्र राजा (**अस्माकम्**) हम धार्मिक पुरुषों की (**समृतेषु ध्वजेषु**) शत्रुसैन्य में ध्वजायें पहुँचने पर रक्षक हो। (**याः**) जो (**अस्माकम्**) हमारे (**इषवः**) बाण हैं (**ताः**) वे (**जयन्तु**) जीतें (**अस्माकम्**) हमारे (**वीराः**) वीर (**उत्तरे**) अगुवा (**भवन्तु**) होवें (**उ**) और (**देवाः**) देवता (**आहवेषु**) संग्रामों में (**अस्मान्**) हमारी (**अवत**) रक्षा करें ॥

ऋग्वेद १० । १०३ । ११ यजुः १७ । ४३ में भी ॥२॥

अथ तृतीया

१८६०—असौ या सेना मरुतः परेषाम-
भ्येति न ओजसा स्पर्धमाना ।
तां गूहत तमसापव्रतेन
यथैतेषामन्यो अन्यं न जानात् ॥३॥

भावार्थः—(**मरुतः**) हे मरुतो वीरो ! (**असौ**) यह (**या**) जो (**परेषाम्**) शत्रुओं की (**सेना**) सेना (**ओजसा**) बल से (**स्पर्धमाना**) स्पर्धा करती हुई (**नः**) हमारे (**अभ्येति**) सन्मुख आ रही है (**ताम्**) उसको (**अपव्रतेन**) काम बन्द करने वाले (**तमसा**) अन्धकार से (**गूहत**) ढक दो (**यथा**) जैसे (**एतेषाम्**) इन शत्रुओं में (**अन्यः अन्यम्**) एक दूसरे को (**न**) नहीं (**जानात्**) जान पावे ॥

अपने वीरों को चाहिये कि जब शत्रुसैन्य सामने बढ़ा आता हो तो अस्त्रों के प्रयोग से ऐसा घना अन्धकार शत्रुसेना में फैलादें कि वे परस्पर एक दूसरे को देख न सकें, अन्धे से हो जावें ॥ यजुः १७ । ४७ में भी ॥३॥

अथ पञ्चमतृचस्य—ऋष्यादिकं पूर्वसूक्त तुल्यम् ॥ तत्र प्रथमा

१८६१—अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि ।
अभिप्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम् ॥

भावार्थः—(**अप्वे**) भय ! तू (**अमीषाम्**) इन हमारे उपस्थित शत्रुओं के (**चित्तम्**) चित्तों को (**प्रतिलोभयन्ती**) मुग्ध करता हुआ (**अंगानि**) इनके देहों को (**गृहाण**) जकड़ कर पकड़ ले (**हृत्सु**) हृदयों को (**शोकैः**) शोकों से (**निर्दह**) निरा फूंक दे (**परेहि**) दूर भगा (**अभिप्रेहि**) व्यापजा, (**अमित्राः**) शत्रु लोग (**अन्धेन**) गहरे (**तमसा**) अन्धकार से (**सचन्ताम्**) संयुक्त हों ॥

निरुक्त ६ । १२ ॥ ६ । ३३ महीधरभाष्य इत्यादि प्रमाण संस्कृतभाष्य में देखिये ॥ ऋ० १० । १०३ । १२ यजुर्वेद १७ । ४४ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया अनुष्टुप्छन्दः ॥

१८६२—प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु ।
उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथासथ ॥२॥

भावार्थः—(**नरः**) हे वीर पुरुषो ! (**प्रेत**) उत्कृष्टता से बड़प्पन से जाओ और (**जयत**) शत्रुओं को जीतो (**इन्द्रः**) सेनापति (**वः**) तुम को (**शर्म**) सुख (**यच्छतु**) देवे (**यथा**) जिस प्रकार (**अनाधृष्याः**) दूसरों से न दबने वाले (**असथ**) होओ, उस प्रकार (**वः**) तुम्हारी (**बाहवः**) भुजाएं (**उग्राः**) उग्र (**सन्तु**) होवें ॥ ऋ० १० । १०३ । १३ । यजुः १७ । ४६ में भी ॥२॥

अथ तृतीया—इषुर्देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

१८६३—अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते ।
गच्छामित्रान्प्रपद्यस्व मामीषां कं च नोच्छिषः ॥३॥

भावार्थः—(**ब्रह्मसंशिते**) धनुर्वेदज्ञ ब्रह्मा से तीक्ष्ण किये हुए (**शरव्ये**) हिंसा में अकुण्ठित बाण ! तू (**अवसृष्टा**) फेंका वा चलाया हुआ (**परापत**) शत्रुओं पर गिर (**अमित्रान्**) शत्रुओं को (**गच्छ**) प्राप्त हो (**प्रपद्यस्व**) उनके हृदय आदि को बींध (**अमीषाम्**) इन शत्रुओं में से (**कंचन**) किसी को (**मा**) मत (**उच्छिषः**) शेष छोड़=निःशेष करके नष्ट कर ॥

ऋ० ६ । ७५ । १६ यजुः १७ । ४५ में भी ॥३॥

अथ षष्ठसूक्ते प्रथमायाः—प्रजापतिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ।

३ १ २ ३ १ २र ३
१८६४—कङ्काः सुपर्णा अनुयन्त्वेनान्
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
गृध्राणामन्नमसावस्तु सेना ।
१ २ ३ १ ३ २ ३
मैषां मोच्यघहारश्च नेन्द्र
१ २ ३ १ २ ३ १ २
वयांस्येनाननुसंयन्तु सर्वान् ॥१॥

भावार्थः—(**कंकाः**) कच्चा मांस खाने वाले (**सुपर्णाः**) पक्षिगण (**एनान्**) इन शत्रुओं को जो हमने मारे हैं (**अनुयन्तु**) प्राप्त हो जावें (**असौ**) यह (**सेना**) शत्रु की सेना (**गृध्राणाम्**) गिद्धों का (**अन्नम्**) अन्न (**अस्तु**) हो जावे (**इन्द्र**) हे सेनापते ! (**एषाम्**) इन शत्रुओं में (**चन**) कोई भी (**अघहारः**) पापी (**मा**) न (**मोचि**) छूटने पावे, किन्तु (**एनान्**) इन (**सर्वान्**) सबको (**वयांसि**) मांसभक्षी पक्षी (**अनुसंयन्तु**) पूर्ण प्रकार से प्राप्त हो जावें ॥

अथ द्वितीयायाः अप्रतिरथोग्निर्वा ऋषिः । इन्द्राग्नी देवते । अनुष्टुप्छन्दः ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
१८६५—अमित्रसेनां मघवन्नस्माञ्छत्रुयतीमभि ।
३ १ २र ३ १ २ ३ १ २
उभौ तामिन्द्र वृत्रहन्नग्निश्च दहतं प्रति ॥२॥

भावार्थः—(**वृत्रहन्**) दुष्टदस्युनाशक ! (**मघवन्**) यज्ञादि परोपकार वाले ! (**इन्द्र**) राजन् ! वा सेनापते ! आर (च) और (**अग्निः**) अग्नि (**उभौ**) दोनों (**ताम्**) उस (**अस्मान् अभि शत्रुयतीम्**) हमारे सामने शत्रुता करती हुई (**अमित्रसेनाम्**) शत्रु की सेना को (**प्रति**) सामना करके (**दहतम्**) फूंक दो ॥२॥

अथ तृतीयायाः—अप्रतिरथः पायुर्भारद्वाज ऋषिः । ब्रह्मणस्पतिरदितिश्च देवते । पङ्क्तिश्छन्दः ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
१८६६—यत्र बाणाः संपतन्ति कुमारा विशिखा इव ।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३१ २ ३ १ २
तत्र नो ब्रह्मणस्पतिरदितिः शर्म यच्छतु ।
३ २ ३ १ २
विश्वाहा शर्म यच्छतु ॥३॥

भावार्थः—(**यत्र**) जिस संग्राम में (**विशिखाः**) मुण्डित (**कुमाराः**) बालक (**इव**) से (**बाणाः**) बाण (**संपतन्ति**) एक पर दूसरे के फेंके सर्वतः गिरते हैं (**तत्र**) उस संग्राम में (**ब्रह्मणस्पतिः**) बड़ों का बड़ा पालक (**अदितिः**) अन्यों से न चोट पाया हुआ इन्द्र सेनानी (नः) हमारे लिये (**शर्म**) सुख को (**यच्छतु**) देवे (**विश्वाहा**) जिस से सब दिन (**शर्म**) सुख को (**यच्छतु**) देवे ॥

महीधर ने भी यजुः १७ । ४८ में इस मन्त्र के ब्रह्मणस्पतिः और अदितिः पदों को इन्द्र का विशेषण ही माना है ॥ ऋ० ६ । ७५ । १७ में भी ॥३॥

अथ सप्तमतृचे प्रथमद्वितीययोः अप्रतिरथः ऋषिः शासो भारद्वाजो वा । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप्छन्दः ॥

२ऊ ३ १ २र ३ २ ३२ ३ १२
१८६७—वि रक्षो विमृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज ।
२ऊ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः ॥१॥

भावार्थः—(**वृत्रहन्**) हे शत्रु नाशन ! (**इन्द्र**) इन्द्र (**रक्षः**) राक्षस-गण को (**विजहि**) नष्ट कर (**मृधः**) शत्रुओं को (**वि**) नष्ट कर (**वृत्रस्य**) रोकने वाले (**अभिदासतः**) सामना करने और हिंसा करने वाले (**अमित्रस्य**) शत्रु की (**हनु**) दोनों गलाफुवों को (**वि-रुज**) फाड़ डाल और (**मन्युम्**) उस के क्रोध को (**वि**) नष्ट कर ॥ ऋ० १० । १५२ । ३ में भी ॥१॥

अथ द्वितीया—

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
१८६८—वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः ।
२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
यो अस्माँ अभिदासत्यधरं गमया तमः ॥२॥

भावार्थः—(**इन्द्रः**) हे इन्द्र ! (**नः**) हमारे (**मृधः**) शत्रुओं को (**विजहि**) विनष्ट कर (**पृतन्यतः**) युद्ध चाहने वालों को भी (**नीचा यच्छ**) नीचे गिरा (**यः**) जो (**अस्मान्**) हम को (**अभिदासति**) मारता है उस को (**अधरम्**) नीचे (**तमः**) अन्धेरे=मृत्यु को (**गमय**) पहुँचा ॥

ऋ० १० । १५२ । ४ यजुः ८ । ४४ तथा १८ । ७० में भी ॥२॥

अथ तृतीयायाः—विराड्जगती छन्दः ॥

१ २ ३ १ २र ३ १ २
१८६९—इन्द्रस्य बाहू स्थविरौ युवाना-
३ १ २ ३ १ २ ३ २
वनाधृष्यौ सुप्रतीकावसह्यौ ।

तौ युञ्जीत प्रथमौ योग आगते

याभ्यां जितमसुराणां सहो महत् ॥३॥

भावार्थः—(**इन्द्रस्य**) वीर पुरुष की (**बाहू**) दो भुजाएं (**स्थविरौ**) मोटी (**युवानौ**) जवान (**अनाधृष्यौ**) शत्रुओं से न धमकाई जाने वाली (**सुप्रतीकौ**) देखने में सुन्दर (**असह्यौ**) शत्रु से न सही जाने वाली होती हैं (**याभ्याम्**) जिन बाहुओं से (**असुराणाम्**) दुष्ट दस्यु राक्षसों का (**महत्**) बड़ा (**सहः**) बल (**जितम्**) जीता जाता है (**योगे**) अवसर [**संग्राम**] (**आगते**) आने पर (**तौ प्रथमौ**) उन भुजाओं को पहले (**युञ्जीत**) काम में लावे ॥३॥

अथाष्टमसूक्तस्य प्रथमायाः—अप्रतिरथः पायुर्वा भरद्वाज ऋषिः । सोमो वरुणश्च देवते । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

१८७०—मर्माणि ते वर्मणाच्छादयामि

सोमस्त्वा राजामृतेनानुवस्ताम् ।

उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वानु देवा मदन्तु ॥

भावार्थः—हे राजन् (**ते**) तेरे (**मर्माणि**) जिन स्थानों में चोट आने से मर जावे उन मर्म स्थलों को (**वर्मणा**) कवच से (**छादयामि**) छादन करता हूँ (**सोमः**) सोम (**राजा**) ओषधिराज (**त्वा**) तुझ को (**अमृतेन**) अमृत से (**अनुवस्ताम्**) बसावे (**वरुणः**) वरुण देव (**ते**) तेरे (**उरोः**) बहुत से (**वरीयः**) बहुत सुख को (**कृणोतु**) करे (**जयन्तम्**) जीतते हुए (**त्वा**) तुझ को (**देवाः**) देवता (**अनुमदन्तु**) उत्साहित करें ॥

ऋ० ६ । ७५ । १८ यजुः १७ । ४९ में भी ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—ऋषिः देवता चोक्ते एव । अनुष्टुप्छन्दः ॥

१८७१—अन्धा अमित्रा भवताशीर्षाणोऽहय इव ।

तेषां वो अग्निनुन्नानामिन्द्रो हन्तु वरं वरम् ॥२॥

भावार्थः—(**अमित्राः**) हे दुष्ट दस्यु शत्रुओ ! तुम (**अशीर्षाणः**) शिर कटे वा फणकटे (**अहय इव**) सांप से (**अन्धाः**) अन्धे वा मरे (**भवत**) हो जाओ

(**तेषाम्**) उन (**अग्निनुन्नानाम्**) अस्त्र प्रयुक्त अग्नि से फुंके हुए (**वः**) तुम में से (**वरम्, वरम्**) अच्छे-अच्छे को छांट छांटकर (**इन्द्रः**) राजा (**हन्तु**) मारे ॥२॥

अथ तृतीयायाः—अप्रतिरथः ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । पंक्तिश्छन्दः ॥

१८७२—यो नः स्वोऽरणो यश्च निष्ठ्यो जिघांसति ।
देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरं शर्म वर्म
ममान्तरम् ॥३॥

भावार्थः (**स्वः**) अपना=हमारा (**यः**) जो (**अरणः**) अधर्मी (**च**) और (**यः**) जो (**निष्ठ्यः**) दूरस्थ गुप्तरूप **से** (**नः**) हमको (**जिघांसति**) मारना चाहता है (**तम्**) उसको (**सर्वे**) सब (**देवाः**) देवता (**धूर्वन्तु**) मारें और (**मम**) मेरा (**ब्रह्म**) धनुर्वेद (**वर्म**) कवच (**अन्तरम्**) बचाव हो, (**शर्म**) सुखदायी (**वर्म**) कवच (**मम**) मेरा (**अन्तरम्**) बचाव हो ॥

ऋग्वेद ६ । ७५ । १९ में भी ॥३॥

अथ नवमसूक्तस्य प्रथमायाः—अप्रतिरथ ऐन्द्रावायव ऋषिः ।
इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

१८७३—मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः
परावत आ जगन्था परस्याः ।
सृकं संशाय पविमिन्द्र तिग्मं
वि शत्रून्ताढि वि मृधो नुदस्व ॥१॥

भावार्थः (**इन्द्र**) राजन् ! आप (**मृगः न**) सिंह के समान (**भीमः**) शत्रु को भयदायक (**कुचरः**) पृथिवी पर विचरने वाले (**गिरिष्ठाः**) पर्वतस्थ वा दुर्ग=किले में स्थित (**परस्याः**) अन्य दिशा से (**परावतः**) दूर से (**आजगन्थ**) आते हो और आकर (**सृकम्**) चलाऊ (**तिग्मम्**) तीक्ष्ण (**पविम्**) वज्र को (**संशाय**) भले प्रकार से पैना कर, तेज करके (**शत्रून्**) अधर्मी दुष्ट दस्युओं को (**वि-ताढि**) विशेष करके ताड़ित करो और (**मृधः**) युद्ध करते हुए दुष्टों को (**वि-नुदस्व**) विशेष करके दूर भगाओ ॥

ज्वालाप्रसाद भार्गव भाष्यकार की धृष्टता पर आश्चर्य होता है कि उन्होंने इस मन्त्र के व्याख्यान में मूलविरुद्ध निर्मूल नृसिंहादि अवतारों का वर्णन कर डाला ॥

न तो संस्कृतभाष्य में लिखे निरुक्त १ । २० में अवतार का वर्णन है। न ऋग्वेद १० । १८० । २ में सायणाचार्य ने अवतार बताये । न महीधर ने यजुर्वेद १८ । ७१ में अवतारपरक व्याख्या की, और न ही अथर्ववेद ७ । ८४ । ३ में आये इस मन्त्र पर सायणाचार्य ने अवतार की चर्चा तक की है ॥१॥

अथ द्वितीयायाः—अप्रतिरथ ऋषिः । राहूगणो गोतमो वा ।
विश्वेदेवाः देवता । त्रिष्टुप्छन्दः ॥

१८७४—भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥२॥

भावार्थः—(यजत्राः) हे यजनीय ! (देवाः) देवो ! हम आपके प्रसाद से (कर्णेभिः) कानों से (भद्रम्) अच्छा वचन (शृणुयाम) सुनें (अक्षभिः) आंखों से (भद्रम्) अच्छा दृश्य (पश्येम) देखें (स्थिरैः) दृढ़ (अंगैः) हस्त चरणादि अंगों से और (तनूभिः) देहों से (यत्) जितनी (देवहितम्) ईश्वर-स्थापित ११६ व १२० वर्ष की (आयुः) आयु है, उसको (व्यशेमहि) विशेष करके भोगें वा पावें ॥

ऋ० १ । ८९ । ८ यजु: २५ । २१ में भी ॥२॥

अथ तृतीयायाः—ऋषिः देवते उक्ते । स्वराट् त्रिष्टुप्छन्दः ॥

१८७५—स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः
स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो
बृहस्पतिर्दधातु । स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥३॥

भावार्थः—(**वृद्धश्रवाः**) जिसका सबसे बढ़कर यश है वा सबसे अधिक वेद मन्त्रों में श्रवण है वह (**इन्द्रः**) इन्द्र देवराज (**नः**) हमारे लिए (**स्वस्ति**) सुख कल्याण वा अविनाश को (**दधातु**) धारण करे। (**विश्ववेदाः**) सबका लाभ कराने वा ज्ञान कराने वाला वा जानने वाला (**पूषा**) पोषण करने वाला पूषा देव (**नः**) हमारे लिए (**स्वस्ति**) सुख कल्याण वा अविनाश को धारण करे। (**अरिष्टनेमिः**) जिसकी नेमि=नीति वा चाल रोगरहित है वह (**तार्क्ष्यः**) विद्युद्विशेष देव (**नः**) हमारे लिये (**स्वस्ति**) सुख, कल्याण वा अविनाश को धारण करे (**बृहस्पतिः**) बृहस्पतिसंज्ञक, बड़े-बड़े सूर्यादि का भी धारक पालक-पोषक देव-विशेष (**नः**) हमारे लिये (**स्वस्ति**) सुख कल्याण वा अविनाश को परमेश्वर की कृपा से धारण करे ॥

ईश्वर पक्ष में—इन्द्रपूषा तार्क्ष्य और बृहस्पति सब उसी के गुणकृत नाम हैं ॥ (स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु) इतना पाठ दोबार ग्रन्थ-समाप्तिसूचनार्थ है ॥३॥

इति श्रीमत्कण्ववंशाऽवतंस श्रीयुत पण्डित हजारीलाल स्वामी के पुत्र परीक्षितगढ़ (जिला—मेरठ) निवासी तुलसीराम स्वामिकृत उत्तरार्चिक सामवेदभाष्य में बाईसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥२२॥

यस्य निश्वसितं वेदा यो वेदाञ्जगतेऽखिलान् ।
निर्ममे तमहं वन्दे परमात्मानमव्ययम् ॥१॥
आगमप्रवणश्चाहं नाऽपवाद्यः स्खलन्नपि ।
नहि सद्वर्त्मना गच्छन्स्खलितेष्वप्यपोद्यते ॥२॥

अर्थ—जिस के निश्वास वेद हैं, जो जगत् के हितार्थ सब (चारों) वेदों को रचता है, उस अविनाशी परमात्मा को प्रणाम करता हूं ॥१॥ और वेद के आगे झुकता हुआ कहीं मैं गिर पड़ूं (कोई भूल भाष्य में कर पाऊं) तो भी कुछ निन्दनीय नहीं, क्योंकि उत्तम मार्ग पर चलता हुआ पुरुष यदि कहीं रपट कर गिर पड़ता है, तो उसकी निन्दा वा अपवाद नहीं किया जाता है ॥२॥

उत्तरार्चिकं समाप्तम्
समाप्ता चैषा सामवेदसंहिता ॥

ओ३म्

